Bhasha Vigyan Evam Hindi Bhasha

DHIN501

भाषाविज्ञान और हिंदी भाषा

BHASHA VIGYAN AUR HINDI BHASHA

पाठ्यक्रम (SYLLABUS)

भाषाविज्ञान और हिंदी भाषा

उद्देश्य:

1. विद्यार्थियों को भाषा संबंधी सम्पूर्ण ज्ञान प्रदान करना।
2. विद्यार्थियों को हिंदी भाषा परिवार उन के इतिहास, उत्पत्ति एवं विकास की जानकारी प्रदान करना।
3. विद्यार्थियों को लिपि का ज्ञान प्रदान करना।
4. विद्यार्थियों को हिंदी भाषा एवं हिंदी भाषा परिवार की जानकारी प्रदान करना।

Sr. No.	Content
1	भाषा और भाषाविज्ञान: भाषा की परिभाषा,अर्थ,प्रकृति,महत्त्व,एवं विशेषताएं। भाषा संरचना एवं भाषा के आधार। भाषाविज्ञान का स्वरूप एवं क्षेत्र। भाषाविज्ञान ह अध्ययन की दिशाएं-वर्णनात्मक,ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक। भाषा की उत्पत्ति एवं भाषा-विकास के कारण। भाषा के विविध रूप-उच्चरित एवं लिखित भाषा,मातृभाषा,राष्ट्रभाषा राजभाष,बोली एवं अन्तरराष्ट्रीय भाषा।
2	ध्वनि की परिभाषा एवं उसका वैज्ञानिक आधार,ध्वनि की उत्पत्ति,प्रक्रिया एवं ध्वनि यंत्र। ध्वनि के प्रका: स्वरों के वर्गीकरण,व्यंजनों के वर्गीकरण। ध्वनि परिवर्तन के कारण एवं दिशाएं,हिन्दी की ध्वनियां, वर्गीकरण व परिचय।
3	रूप विज्ञान -शब्द और उनकी रूप रचना। पद निर्माण पद्धति और उसके भेद। शब्द और अर्थ का संबंध। शब्द के प्रकार।
4	रूप परिवर्तन की दिशाएं। वाक्य की अवधारणा,वाक्य परिवर्तन के कारण एवं दिशाएं। वाक्य के भेद,वाक्य विश्लेषण ,वाक्य के प्रकार
5	अर्थ विज्ञान की अवधारणा,शब्द और अर्थ का सम्बन्ध। अर्थ परिवर्तन के कारण एवं दिशाएं।

6	हिन्दी एव भारतीय भाषा परिवार (अर्थ,द्राविड.नाग)। प्राचीन एव मध्यकालीन आर्य भाषाएँ,उद्भव एव विकास। सस्कृत ,पालि,प्राकृत ,अपभ्रश और उसकी विशेषताएं
7	आधुनिक आर्य भाषाएं,आर्य भाषाएं एव उनका वर्गीकरण। आधुनिक आर्य भाषाओं का भौगोलिक विस्तार एव परिचय। हिन्दी का भौगोलिक विस्तार एव परिचय। हिन्दी की उपभाषाओं पश्चिमी हिन्दी एव पूर्वी हिन्दी।
8	हिन्दी की प्रमुख बोलियां। हिन्दी भाषा के विविध रूप। सम्पर्क भाषा,राष्ट्र भाषा
9	हिन्दी की सवैधानिक स्थिति। भाषा एव लिपि का सबध। भारत की प्राचीन लिपियां (ब्राह्मी एव खरोष्ठी)।
10	देवनागरी लिपि का नामकरण। देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता अथवा गुण। देवनागरी लिपि के दोष एव सुधार एव देवनागरी का वर्तमान मानक रूप

अनुक्रमणिका (Contents)

इकाई 1: भाषा की परिभाषा, प्रकृति, महत्त्व एवं विशेषताएँ

नोट

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- भाषा एवं भाषा की प्राकृति से को समझने में,
- मानव जीवन में भाषा के महत्त्व को समझने में,

प्रस्तावना

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज में रहने के नाते उसे आपस में सर्वदा ही विचार-विनिमय करना पड़ता है। कभी वह शब्दों या वाक्यों द्वारा अपने आपको प्रकट करता है तो कभी सिर हिलाने से उसका काम चल जाता है। समाज के उच्च और शिक्षित वर्ग में लोगों को निमंत्रित करने के लिए निमंत्रण-पत्र छपवाये जाते हैं तो देहात के अनपढ़ और निम्नवर्ग में निमंत्रित करने के लिये हल्दी, सुपारी या इलायची बाँटना पर्याप्त समझा जाता रहा है। रेलवे गार्ड और रेल-चालक का विचार-विनिमय झंडियों से होता है, तो बिहारी के पात्र 'भरे भवन में करता है नैनन ही सो बात।' चोर अँधेरे में एक-दूसरे का हाथ छूकर या दबाकर अपने आपको प्रकट कर लिया करते हैं। इसी तरह हाथ से संकेत, करतल-ध्वनि, आँख टेढ़ी करना, मारना या दबाना, खाँसना, मुँह बिचकाना तथा गहरी साँस लेना आदि अनेक प्रकार के साधनों से हमारे विचार-विनिमय का काम चलता है। ऐसे ही यदि पहले से निश्चित कर लिया जाए तो स्वाद या गंध द्वारा भी अपनी बात कही जा सकती है। उदाहरण के लिए, 'यदि मैं कॉफी पिलाऊँ तो समझ जाना कि मेरे पास समय है, तुम्हारा काम करूँगा, किन्तु यदि चाय पिलाऊँ तो समझ जाना कि समय नहीं है, काम नहीं करुँगा, या 'यदि मेरे कमरे में गुलाब की अगरबत्ती जलती मिले तो समझना कि तुम्हारा काम हो गया है, किन्तु यदि चंदन की अगरबत्ती जलती मिले तो समझ जाना कि काम नहीं हुआ है।' आशय यह कि गंध-इंद्रिय, स्वाद-इंद्रिय, स्पर्श-इंद्रिय, दृग-इंद्रिय तथा कर्ण-इंद्रिय इन पाँचों ज्ञान-इंद्रियों में किसी के भी माध्यम से अपनी बात कही जा सकती है। यों इनमें पहली तथा दूसरी का प्रयोग प्रायः नहीं होता, हाँ, किया जा सकता है, स्पर्श-इंद्रिय का भी प्रयोग कम ही होता है। इससे अधिक प्रयोग आँख का होता है, जैसे रेल का सिगनल, गार्ड की हरी या लाल झंडी, सिर हिलाकर 'हाँ' या 'नहीं' करना,

नोट

आदि। किन्तु इन सभी में सबसे अधिक प्रयोग कर्ण-इंद्रिय का होता है। अपनी सामान्य बातचीत में हम इसी का प्रयोग करते हैं। वक्ता बोलता है और श्रोता सुनकर विचार या भाव को ग्रहण करता है।

भाषा शब्द संस्कृत की भाष् धातु से निर्मित है। इसका शाब्दिक अर्थ है–व्यस्त वाणी अर्थात् बोलना या कहना।

1.1 भाषा की परिभाषा

किसी वस्तु या शब्द की पूर्ण स्पष्ट तथा वैज्ञानिक परिभाषा करना अत्यंत दुष्कर कार्य है। न्यायशास्त्र में आदर्श परिभाषा की अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव दोषों से मुक्त होना आवश्यक कहा गया है। इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखकर समय-समय पर भाषा की परिभाषा की गई है।

(क) संस्कृत आचार्यों की परिभाषाएँ

1. **महर्षि पतंजलि** ने पाणिनि की अष्टाध्यायी के महाभाष्य में भाषा की परिभाषा इस प्रकार दी गई है–

   व्यक्ता वाचि वर्णा येषां त इमे व्यक्तवाचः।

2. **भर्तृहरि** ने शब्द उत्पत्ति और ग्रहण के आधार पर भाषा को परिभाषित किया है–

   शब्द कारणमर्थस्य स हि तेनोपजन्यते।

   तथा च बुद्धिविषयादर्थाच्छब्दः प्रतीयते।

   बुद्धयर्थादेव बुद्धयर्थे जाते तदानि दृश्यते।

3. **अमर कोष** में भाषा की वाणी का पर्याय बताते हुए कहा गया है–

   ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर् वाक् वाणी सरस्वती।

(ख) आधुनिक भारतीय वैयाकरणों, भाषाविदों की परिभाषाएँ

आधुनिक युग में भाषा की परिभाषा पर कुछ नए ढंग से विचार करने के प्रयत्न किए गए हैं। इस संदर्भ की कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं–

1. **पं. कामताप्रसाद गुरु** ने अपनी पुस्तक'हिंदी-व्याकरण' में भाषा की परिभाषा इस प्रकार दी है–"भाषा वह साधन है जिसके द्वारा मनुष्य अपने विचार दूसरों पर भली-भांति प्रकट कर सकता है और दूसरों के विचार आप स्पष्टतया समझ सकते हैं।"
2. **दुनीचंद** ने 'हिंदी-व्याकरण' में भाषा की परिभाषा को इस प्रकार लिपिबद्ध किया है–"हम अपने मन के भाव प्रकट करने के लिए जिन सांकेतिक ध्वनियों का उच्चारण करते हैं, उन्हें भाषा कहते हैं।"
3. **आचार्य किशोरीदास वाजपेयी** के अनुसार "विभिन्न अर्थों में सांकेतिक शब्द-समूह ही भाषा है जिसके द्वारा हम अपने विचार या मनोभाव दूसरों के प्रति बहुत सरलता से प्रकट करते हैं।"
4. **डॉ. राम बाबू सक्सेना** के मतानुसार–"जिन ध्वनि-चिह्नों द्वारा मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय करता है, उसे भाषा कहते हैं।"
5. **श्यामसुन्दर दास** ने 'भाषा-विज्ञान' में भाषा के विषय में लिखा है–"मनुष्य और मनुष्य के बीच वस्तुओं के विषय में अपनी इच्छा और मति का आदान-प्रदान करने के लिए व्यक्त ध्वनि-संकेतों का जो व्यवहार होता है, उसे भाषा कहते हैं।"
6. **डॉ. भोलानाथ तिवारी** ने भाषा को परिभाषित करते हुए 'भाषा-विज्ञान' में लिखा है–"भाषा उच्चारण अवयवों से उच्चारित मूलतः प्रायः यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिसके द्वारा किसी भाषा समाज के लोग आपस में विचारों का आदान-प्रदान करते हैं।"
7. **आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा** ने 'भाषा-विज्ञान की भूमिका' में लिखा–"उच्चारित ध्वनि-संकेतों की सहायता से

भाव या विचार की पूर्ण अभिव्यक्ति भाषा है।"

8. **डॉ. सरयूप्रसाद अग्रवाल** के अनुसार–"भाषा वाणी द्वारा व्यक्त स्वच्छंद प्रतीकों की वह रीतिबद्ध पद्धति है, जिससे मानव समाज में अपने भावों का परस्पर आदान-प्रदान करते हुए एक-दूसरे को सहयोग देता है।"
9. **डॉ. देवीशंकर द्विवेदी** के मतानुसार–"भाषा यादृच्छिक वाक्यप्रतीकों की वह व्यवस्था के, जिसके माध्यम से मानव समुदाय परस्पर व्यवहार करता है।"

(ग) पाश्चात्य विद्वानों की परिभाषाएँ

पाश्चात्य विद्वानों ने भी भाषा को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। कुछ प्रमुख परिभाषाएँ इस प्रकार हैं–

1. **प्लेटो** ने विचार को भाषा का मूलाधार मानते हुए कहा है–"विचार आत्मा की मूक बातचीत है, पर वही जब ध्वन्यात्मक होकर होंठों पर प्रकट है, तो उसे भाषा की संज्ञा देते हैं।"
2. **मैक्समूलर के अनुसार–**"भाषा और कुछ नहीं है, केवल मानव की चतुर बुद्धि द्वारा आविष्कृत ऐसा उपाय है जिसकी मदद से हम अपने विचार सरलता और तत्परता से दूसरों पर प्रकट कर सकते हैं और चाहते हैं, कि इसकी व्याख्या प्रकृति की उपज के रूप में नहीं बल्कि मनुष्यकृत पदार्थ के रूप में करना उचित है।"
3. **ब्लाक और ट्रेगर के शब्दों में** "A language is a system of arbitrary vocal symbols by means of which a social group co-operates" अर्थात् भाषा, मुखोच्चरित यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिसके माध्यम से एक समुदाय के सदस्य परस्पर विचार विनिमय करते हैं।
4. **हेनरी स्वीट** का कथन है–"Language may be defined as expression of thought by means of speech-sound." अर्थात् जिन व्यक्त ध्वनियों द्वारा विचारों की अभिव्यक्ति होती है, उसे भाषा कहते हैं।
5. **ए. एच. गार्डियर** का मंतव्य है–"The common definition of speech is the use of articulate sound symbols for the expression of thought." अर्थात् विचारों की अभिव्यक्ति के लिए जिन व्यक्त एवं स्पष्ट ध्वनि-संकेतों का व्यवहार किया जाता है, उनके समूह को भाषा कहते हैं।

1.2 भाषा की प्रकृति (विशेषताएँ)

भाषा के सहज गुण-धर्म को भाषा की प्रकृति कहते हैं। इसे ही भाषा की विशेषता या लक्षण कह सकते हैं। भाषा-प्रकृति को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। भाषा की प्रथम प्रकृति वह है जो सभी भाषाओं के लिए मान्य होती है; इसे भाषा की सर्वमान्य प्रकृति कह सकते हैं। द्वितीय प्रकृति वह है जो भाषा विशेष में पाई जाती है। इससे एक भाषा से दूसरी भाषा की भिन्नता स्पष्ट होती है। हम इसे विशिष्ट भाषागत प्रकृति कह सकते हैं।

यहाँ मुख्यत: ऐसी प्रकृति के विषय में विचार किया जा रहा है, जो विश्व की समस्त भाषाओं में पाई जाती है–

1. भाषा सामाजिक संपत्ति है– सामाजिक व्यवहार, भाषा का मुख्य उद्देश्य है। हम भाषा के सहारे अकेले में सोचते या चिंतन करते हैं, किंतु वह भाषा इस सामान्य यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीकों पर आधारित भाषा से भिन्न होती है। भाषा आद्योपांत सामज से संबंधित होती है। भाषा का विकास और अर्जन समाज में होता है और उसका प्रयोग भी समाज में ही होता हैं यह तथ्य द्रष्टव्य है कि जो बच्चा जिस समाज में पैदा होता तथा पलता है, वह उसी समाज की भाषा सीखता है।

2. भाषा पैतृक संपत्ति नहीं है– कुछ लोगों का कथन है कि पुत्र की पैतृक संपत्ति (घर, धन, बाग आदि) के समान भाषा की भी प्रापित होती है। अत: उनके अनुसार भाषा पैतृक संपत्ति है, किंतु यह सत्य नहीं हैं यदि किसी भारतीय बच्चे को एक-दो वर्ष की अवस्था (शिशु-काल) मं किसी विदेशी भाषा-भाषी के लोगों के साथ कर दिया जाए, तो वह उनकी ही भाषा बोलेगा। इसी प्रकार यदि विदेशी भाषा-भाषी परिवार के शिशु का हिंदी भाषी परिवार में पालन-पोषण करें, तो वह सहज रूप में हिंदी भाषा ही सीखेगा और बोलेगा। यदि भाष पैतृक संपत्ति होती, तो वह बालक बोलने के यौग्य होने पर अपने माता-पिता की ही भाषा बोलता, किंतु ऐसा नहीं होता है।

नोट

3. भाषा व्यक्तिगत संपत्ति नहीं है– भाषा सामाजिक संपत्ति है। भाषा का निर्माण भी समाज के द्वारा होता है। कोई भी साहित्यकार या भाषा-प्रेमी भाषा में एक शब्द को जोड़ या उसमें से एक शब्द को भी घटा नहीं सकता है। इससे स्पष्ट होता है कि कोई साहित्यकार या भाषा-प्रेमी भाषा का निर्माता नहीं हो सकता है। भाषा में होने वाला परिवर्तन व्यक्तिकृत न होकर समाजकृत होता है।

4. भाषा अर्जित संपत्ति है– भाषा परंपरा से प्राप्त संपत्ति है, किंतु यह पैतृक संपत्ति की भाँति नहीं प्राप्त होती है। मनुष्य को भाषा सीखने के लिए प्रयास करना पड़ता है। प्रयास के अभाव में विदेशी और अपने देश की भाषा नहीं, मातृभाषा का भी ज्ञान असंभव है। भाषा-ज्ञानार्जन का सतत प्रयास उसमें गंभीरता और परिपक्वता लाता है। निश्चय ही भाषा-ज्ञान प्रयत्नज है ओर भाषा ज्ञान प्रयत्न की दिशा और गति के अनुसार शिथिल अथवा व्यवस्थित होता है। मनुष्य अपनी मातृभाषा के समान प्रयत्न कर अन्य भाषाओं को भी प्रयोगार्थ सीखता है। इससे स्पष्ट होता है, भाषा अर्जित संपत्ति है।

5. भाषा व्यवहार-अनुकरण द्वारा अर्जित की जाती है– शिशु बौद्धिक विकास के साथ अपने आस-पास के लोगों की ध्वनियों के अनुकरण के आधार पर उन्हीं के समान प्रयोग करने का प्रयत्न करता है। प्रारंभ में वह प, अ, ब आदि ध्वनियों का अनुकरण करता है, फिर सामान्य शब्दों को अपना लेता हैं यह अनुकरण तभी संभव होता है जब उसे सीखने योग्य व्यावहारिक वातावरण प्राप्त हो। वैसे व्याकरण, कोश आदि से भी भाषा सीखी जा सकती है, किंतु व्यावहारिक आधार पर सीखी गई भाषा इनकी आधार भूमि हैं। यदि किसी शिशु को निर्जन स्थान पर छोड़ दिय जाए, तो वह बोल भी नहीं पाएगा, क्योंकि व्यवहार के अीाव में उसे भाषा का ज्ञान नहीं हो पाएगा। हिंदी-व्यवहार के क्षेत्र में पलने वाला शिशु यदि अनुकरण आधार पर हिंदी सीखता है, तो पंजाबी-व्यवहार के क्षेत्र का शिशु पंजाबी ही सीखता है।

6. भाषा सामाजिक स्तर पर आधारित होती है– भाषा का सामाजिक स्तर पर भेद हो जाता है। विस्तृत क्षेत्र में प्रयुक्त किसी भी भाषा की आपसी भिन्नता देख सकते हैं। सामान्य रूप में सभी हिंदी भाषा-भाषी हिंदी का ही प्रयोग करते हैं, किंतु विभिन्न क्षेत्रों की हिंदी में पर्याप्त भिन्नता है। यह भिन्नता उनकी शैक्षिक, आर्थिक, व्यावसायिक तथा सामाजिक आदि स्तरों के कारण होती है। भाषा के प्रत्येक क्षेत्र की अपनी शब्दावली होती है, जिसके कारण भिन्नता दिखाई पड़ती है। शिक्षित व्यक्ति जितना सतर्क रहकर भाषा का प्रयोग करता है, सामान्य अिवा अशिक्षित व्यक्ति उतनी सतर्कता से भाषा का प्रयोग नहीं कर सकता है। यह स्तरीय तथ्य किसी भी भाषा के विभिन्न कालों के भाषा-प्रयोग से भी अनुभव कर सकते हैं। गाँव की भाषा शिथिल व्याकरणसम्मत होती है, तो शहर की भाषा का व्याकरणसम्मत होना स्वाभाविक है।

7. भाषा सर्वव्यापक है– यह सर्वमान्य है कि विश्व के समस्त कार्यों का संपादक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से भाषा के ही माध्यम से होता है। समस्त ज्ञान भाषा पर आधारित हैं वयक्ति-व्यक्ति का संबंध या व्यक्ति-समाज का संबंध भाषा के अभाव में अंतर है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा है–

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुबिद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते। (वाक्यपदीय 123-24)

मनुष्य के मनन, चिंतन तथा भावाभिव्यक्ति का मूल माध्यम भाषा है, यह भी भाषा की सर्वव्यापकता का प्रबल प्रमाण है।

8. भाषा सतत प्रवाहमयी है– मनुष्य के साथ भाषा सतत गतिशील रहती है। भाषा की उपमा प्रवाहमान जलस्रोत नदी से दी जा सकती है, जो पर्वत से निकलकर समुद्र तक लगातार बढ़ती रहती है, अपने मार्ग में वह कहीं सूखती नहीं है। समाज के साथ भाषा का आरंभ हुआ और आज तक गतिशील है। मानव समाज जब तक रहेगा तब तक भाषा का स्थायित्व पूर्ण निश्चित हैं किसी व्यक्ति या समाज के द्वारा भाषा में अल्पाधिक परिवर्तन किया जा सकता है, किंतु उसे समाप्त करने की किसी में शक्ति नहीं होती है। भाषा की परिवर्तनशीलता को व्यक्ति या समाज द्वारा रोका नहीं जा सकता है।

9. भाषा संप्रेषण मूलतः वाचिक है– भाव-संप्रेषण सांकेतिक, आंगिक, लिखित और यांत्रिक आदि रूपों में होता है, किंतु इनकी कुछ सीमाएँ हैं अर्थात् इन सभी माध्यमों के द्वारा पूर्ण भावाभिव्यक्ति संभव नहीं है। स्पर्श तथा संकेत भाषा तो निश्चित रूप से अपूर्ण है, साथ ही लिखित भाषा से भी पूर्ण भावाभिव्यक्ति संभव नहीं है। वाचिक भाषा में आरोह-अवरोह तथा विभिन्न भाव-भंगिमाओं के आधार पर सर्वाधिक सशक्त भावाभिव्यक्ति संभव होती है। इन्हीं विशेषताओं के कारण वाचिक भाषा को सजीव तथा लिखित आदि भाषाओं को सामान्य भाषा कहते हैं। वाचिक भाषा का प्रयोग सर्वाधिक रूप में होता है। अनेक अनपढ़ व्यक्ति लिखित भाषा से अनभिज्ञ होते हैं, किंतु वाचिक भाषा का सहज, स्वाभाविक तथा आकर्षक प्रयोग करते हैं।

10. भाषा चिरपरिवर्तनशील है– संसार की सभी वस्तुओं के समान भाषा भी परिवर्तनशील है। किसी भी देश के एक काल की भाषा परवर्ती काल में पूर्ववत नहीं रह सकती, उसमें कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य हो जाता है। यह परिवर्तन अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण होता है। संस्कृत में 'साहस' शब्द का अर्थ अनुचित या अनैतिक कार्य के लिए उत्साह दिखना था, तो हिंदी में यह शब्द अच्छे कार्य में उत्साह दिखाने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। भाषा अनुकरण के माध्यम से सीखी जाती है। मूल (वाचिक) भाषा का पूर्ण अनुकरण संभव नहीं है। इसके कारण हैं–अनुकरण की अपूर्णता, शारीरिक तथा मानसिक भिन्नता एवं भौगोलिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों की भिन्नता। इन्हीं आधारों पर भाषा प्रतिपल परिवर्तित होती रहती है।

11. भाषा का प्रारंभिक रूप उच्चरित होता है– भाषा के दो रूप मुख्य हैं- मौखिक तथा लिखित। इनमें भाषा का प्रारंभिक रूप मौखिक है। लिपि का विकास तो भाषा के जन्म के पर्याप्त समय बाद हुआ है। लिखित भाषा में ध्वनियों का ही अंकन किया जाता है। इस प्रकार कह सकते हैं, कि ध्वन्यात्मक भाषा के अभाव में लिपि की कल्पना भी असंभव हैं उच्चरित भाषा के लिए लिपि आवश्यक माध्यम नहीं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि आज भी ऐसे अनगिनत व्यक्ति मिल जाएँगे जो उच्चरित भाषा का सुंदर प्रयोग करते हैं, किंतु उन्हें लिपि का ज्ञान नहीं होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि भाषा का प्रारंभिक रूप उच्चरित या मौखिक है और उसका परवर्ती-विकसित रूप लिखित है।

12. भाषा का आरंभ वाक्य से हुआ है– सामान्यतः भाव या विचार पूर्णता के द्योतक होते हैं। पूर्ण भाव की अभिव्यक्ति सार्थक, स्वतंत्र और पूर्ण सार्थक इकाई-वाक्य से ही संभव है। कभी-कभी तो एक शब्द से भी पूर्ण अर्थ का बोध होता है; यथा- 'जाओ', 'आओ' आदि। वास्तव में ये शब्द न होकर वाक्य के एक विशेष रूप में प्रयुक्ति हैं। ऐसे वाक्यां में वाक्यांश छिपा होता है। यहाँ पर वाक्य का उद्देश्य-अंश 'तुम' छिपा है। श्रोता ऐसे वाक्यों को सुनकर प्रसंग-आधार पर व्याकरणिक ढंग से उसकी पूर्ति कर लेता है। श्रोता ऐसे वाक्यों को सुनकर प्रसंग-आधार पर व्याकरणिक ढंग से उसकी पूर्ति कर लेता है। इस प्रकार ये वाक्य बन जाते हैं- 'तुम आओ।' 'तुम जाओ।' बच्चा एक ध्वनि या वर्ण के माध्यम से भाव प्रकट करता है। बच्चे की ध्वनि भावात्मक दृष्टि से संबंधित होने के कारण एक सीमा में पूर्ण वाक्य के प्रतीक रूप में होती है; यथा-'प' से भाव निकलता है- 'मुझे प्यास लगी है या मुझे दूध दे दो या मुझे पानी दे दो।' यहाँ 'खग खने ख की भाषा' का सिद्धांत अवश्य लागू होता है। जिसके हृदय में ममता और वात्सल्य का भाव होगा, वह ही बच्चे के ऐसे वाक्यों की अर्थ-अभिव्यक्ति को ग्रहण कर सकेगा। प्रसंग के ज्ञान के बिना अर्थ-ग्रहण संभव नहीं होता है।

13. भाषा मानकीकरण पर आधारित होती है– भाषा परिवर्तनशील है, यही कारण है कि प्रत्येक भाषा एक युग के पश्चात दूसरे युग में पहुँचकर पर्याप्त भिन्न हो जाती है। इस प्रकार परिवर्तन के कारण भाषा में विविधता आ जाती है। यदि भाषा-परिवर्तन पर बिलकुल ही नियंत्रण न रखा जाए तो तीव्रगति के परिवर्तन के परिणामस्वरूप कुछ ही दिनों में भाषा का रूप अबोध्य हो जाएगा। भाषा-परिवर्तन पूर्ण रूप से रोका तो नहीं जा सकता, किंतु भाषा में बोधगम्यता बनाए रखने के लिए उसके परिवर्तनक्रम का स्थिरीकरण अवश्य संभव है। इस प्रकार की स्थिरता से भाषा का मानकीकरण हो जाता है।

14. भाषा संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर बढ़ती है– विभिन्न भाषाओं के प्राचीन, मध्ययुगीन तथा वर्तमान रूपों के अध्ययन से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि भाषा का प्रारंभिक रूप संयोगावस्था में होता है। इसे संश्लेषावस्था भी कहते हैं। धीरे-धीरे इसमें परिवर्तन आता है और वियोगावस्था या विश्लेषावस्था आ जाती हैं भाषा की संयोगावस्था

नोट

में वाक्य के विभिन्न अवयव आपस में मिले हुए लिखे-बोले जाते हैं। परवर्ती अवस्था में यह संयोगावस्था धीरे-धीरे शिथिल होती जाती है; यथा–

रमेशस्य पुत्रः गृहं गच्छति।
रमेश का पुत्र घर जाता है।

'रमेशस्य' तथा 'गच्छति' संयोगावस्था में प्रयुक्त पद हैं। जबकि परवर्ती भाषा हिंदी में 'रमेश का' और 'जाता है।' वियोगावस्था में है।

15. भाषा का अंतिम रूप नहीं है– वस्तु बनते-बनते एक अवस्था में पूर्ण हो जाती है, तो उसका अंतिम रूप निश्चित हो जाता हैं भाषा के विषय में यह बात सत्य नहीं है। भाषा चिरपरिवर्तनशील हैं इसलिए किसीभी भाषा का अंतिम रूप ढूँढ़ना निरर्थक है और उसका अंतिम रूप प्राप्त कर पाना असंभव है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि यह प्रकृति जीवित भाषा के संदर्भ में ही मिलती है।

16. भाषा का प्रवाह कठिन से सरलता की ओर होता है– विभिन्न भाषाओं के ऐतिहासिक अध्ययन के पश्चात यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि भाषा का प्रवाह कठिनता से सरलता की ओर होता है। मनुष्य स्वभावतः अल्प परिश्रम से अधिक कार्य करना चाहता है। इसी आधार पर किया गया प्रयत्न भाषा में सरलता का गुण भर देता है। उच्चरित भाषा में इस प्रकृति का उदाहरण द्रष्टव्य है—डॉक्टर साहब > डाक्टर साहब > डाक्ट साहब झडाक्ट साब > डाक साब > डाक्साब

17. भाषा नैसर्गिक क्रिया है– मातृभाषा सहज रूप में अनुकरण के माध्यम से सीखी जाती है। अन्य भाषाएँ भी बौद्धिक प्रयत्न से सीखी जाती हैं। दोनों प्रकार की भाषाओं के सीखने में अंतर यह है कि मातृभाषा तब सीखी जाती है जब बुद्धि अविकसित होती है, अर्थात् बुद्धि-विकास के साथ मातृभाषा सीखी जाती है। इससे ही इस संदर्भ में होने वाले परिश्रम का ज्ञान नहीं होता है। हम जब अन्य भाषा सीखते हैं, तो बुद्धि-विकसित होने के कारण श्रम-अनुभव होता है। किसी भाषा के सीख लेने के बाद उसका प्रयोग बिना किसी कठिनाई से किया जा सकता है। जिस प्रकार शारीरिक चेष्टाएँ स्वाभाविक रूप से होती हैं, ठीक उसी प्रकार भाषा-विज्ञान के पश्चात उसका भी प्रयोग सहज-स्वाभाविक रूप होता है।

18. भाषा की निश्चित सीमाएँ होती हैं– प्रत्येक भाषा की अपनी भौगोलिक सीमा होती है, अर्थात् एक निश्चित दूरी तक एक भाषा का प्रयोग होता है। भाषा-प्रयाग के विषय में यह कहावत प्रचलित है– "चार कोस पर पानी बदले, आठ कोस पर बानी।" एक भाषा से अन्य भाषा की भिन्नता कम या अधिक हो सकती है, किंतु सीमा प्रारंभ हो जाती है; यथा-असमी भाषा असम-सीमा में प्रयुक्त होती है, उसके बाद बंगला की सीमा शुरू हो जाती है। प्रत्येक भाषा की अपनी ऐतिहासिक सीमा होती है। एक निश्चित समय तक भाषा प्रयुक्त होती है, उससे पूर्ववर्ती तथा परवर्ती भाषा उससे भिन्न होती है। संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिंदी के निश्चित प्रयोग-समय से यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है।

स्व-मूल्यांकन

सही विकल्प चुनिए–

निम्नलिखित परिभाषाओं का संबंध किससे है?

1. "विचार आत्मा की मूक बातचीत है पर वही जब ध्वन्यात्मक होकर होंठों पर प्रकट होती है तो उसे भाषा कहते हैं।"
   (क) श्यामसुंदर दास (ख) भर्तृहरि (ग) प्लेटो
2. "जिन ध्वनि चिह्नों द्वारा मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय करता है, उसे भाषा कहते हैं।"।
   (क) ए.एच. गार्डिनर (ख) रामबाबू सक्सेना (ग) कामता प्रसाद गुरु
3. "जिन व्यक्ति ध्वनियों द्वारा विचारों की अभिव्यक्ति होती है, उसे भाषा कहते हैं।"
   (क) हेनरी स्वीट (ख) किशोरी दास वाजपेयी (ग) प्लेटो

नोट

1.3 भाषा का महत्त्व

भाषा मनोगत भाव प्रकट करने का सर्वोत्कृष्ट साधन है। यद्यपि आँख, सिर और हाथ आदि अंगों के संचालन से भी भाव प्रकट किए जा सकते हैं। किंतु भाषा जितनी शीघ्रता, सुगमता और स्पष्टता से भाव प्रकट करती हैं उतनी सरलता से अन्य साधन नहीं। यदि भाषा न होती तो मनुष्य, पशुओं से भी बदतर होता; क्योंकि पशु भी करुणा, क्रोध, प्रम, भय आदि कुछ भाव अपने कान, पूँछ हिलाकर या गरजकर, भूँककर व्यक्त कर लेते हैं। भाषा के अविर्भाव से सारा मानव संसार गूंगों की विराट बस्ती बनने से बच गया।

भाषा की उपयोगिता पर एक संक्षिप्त नोट लिखिए।

ईश्वर ने हमें वाणी दी और बुद्धि भी। हमने इन दोनों के उचित संयोग से भाषा का अविष्कार किया। भाषा ने भी बदले में हमें इस योग्य बनाया कि हम अपने मन की बात एक दूसरे से कह सकें। परंतु भाषा की उपयोगिता केवल कहने-सुनने तक ही सीमित नहीं हैं कहने सुनने के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि हम जो कुछ कहना चाहें वह सब ऐसे नपे-तुले शब्दों में इस ढंग से कह सकें कि सुनने वाला शब्दों के सहारे हमारी बात ठीक-ठीक समझ जाए। ऐसा न हो कि हम कहें खेत की वह सुने खलिहान की। बोलने और समझने के अतिरिक्त भाषा का उपयोग पढ़ने और लिखने में भी होता है। कहने और समझन भाँति लिखने और पढ़ने में भी उपयुक्त शब्दों के द्वारा भाव प्रकट करने उसे ठीक-ठीक पढ़कर समझने की आवश्यकता होती है। अत: भाषा मनुष्य के लिए माध्यम है ठीक-ठीक बोलने, समझने, लिखने और पढ़ने का।

1.4 सारांश

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज में रहने के नाते उसे आपस में सर्वदा ही विचार-विनिमय करना पड़ता है। कभी वह शब्दों या वाक्यों द्वारा अपने आपको प्रकट करता है तो कभी सिर हिलाने से उसका काम चल जाता है। समाज के उच्च और शिक्षित वर्ग में लोगों को निमंत्रित करने के लिए निमंत्रण-पत्र छपवाये जाते हैं तो देहात के अनपढ़ और निम्नवर्ग में निमंत्रित करने के लिये हल्दी, सुपारी या इलायची बाँटना पर्याप्त समझा जाता रहा है। रेलवे गार्ड और रेल-चालक का विचार-विनिमय झंडियों से होता है, तो बिहारी के पात्र 'भरे भवन में करता है नैनन ही सो बात।'

किसी वस्तु या शब्द की पूर्ण स्पष्ट तथा वैज्ञानिक परिभाषा करना अत्यंत दुष्कर कार्य है। न्यायशास्त्र में आदर्श परिभाषा की अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव दोषों से मुक्त होना आवश्यक कहा गया है। इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखकर समय-समय पर भाषा की परिभाषा की गई है।

पं. कामताप्रसाद गुरु ने 'हिंदी-व्याकरण' के पृष्ठ 1 पर भाषा की परिभाषा इस प्रकार दी है–"भाषा वह साधन है जिसके द्वारा मनुष्य अपने विचार दूसरों पर भली-भांति प्रकट कर सकता है और दूसरों के विचार आप स्पष्टतया समझ सकते हैं।" **डॉ. राम बाबू सक्सेना** के मतानुसार–"जिन ध्वनि-चिह्नों द्वारा मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय करता है, उसे भाषा कहते हैं।"

पाश्चात्य विद्वानों ने भी भाषा को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। कुछ प्रमुख परिभाषाएँ इस प्रकार हैं–

प्लेटो ने विचार को भाषा का मूलाधार मानते हुए कहा है–"विचार आत्मा की मूक बातचीत है, पर वही जब ध्वन्यात्मक होकर होंठों पर प्रकट होती है, तो उसे भाषा की संज्ञा देते हैं।" किसी भाषा के इतिहास के अध्ययन से यह पता चलता है कि ध्वनियों एवं ध्वनि-संयोगों में, धीरे-धीरे जैसे-जैसे भाषा आगे बढ़ती है, सरलता आती जाती है। यहाँ इस सरल होने से ये निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आरम्भिक भाषा में आज की विकसित भाषाओं की तुलना में ध्वनियाँ बहुत कठिन रही होंगी। यहाँ कठिन से आशय उच्चारण में कठिन संयुक्त व्यंजन (जैसे आरंभ में प्स, क्न, ह्म आदि) ध्वनि आदि हैं।

नोट

व्याकरण–प्रारम्भिक भाषा में शब्दों के अपेक्षाकृत अधिक रूप रहे होंगे, जो बाद में सादृश्य या ध्वनि परिवर्तन आदि के कारण आपस में मिल कर कम हो गये। भाषा का जितना ही विकास होता है, उसकी अभिव्यंजना-शक्ति उतनी ही बढ़ती जाती है। साथ ही सामान्य और सूक्ष्म भावों के प्रकट करने के लिए शब्द बन जाते हैं। भाषा वाक्य पर आधारित रहती है। वाक्य के शब्दों का विश्लेषण करके हमने उन्हें अलग-अलग कर लिया है और उनके नियमों का अध्ययन कर व्याकरण बनाया है। यह क्रिया भाषा और उनके साथ हमारे विचारों के बहुत विकसित होने पर की गई है।

भाषा अपने प्रारम्भिक रूप में संगीतात्मक थी। इसमें वाक्य शब्द की भाँति थे। अलग-अलग शब्दों में वाक्य के विश्लेषण की कल्पना नहीं की गई थी। स्पष्ट अभिव्यंजन का अभाव था। कठिन ध्वनियाँ अधिक थीं। स्थूल और विशिष्ट के लिए शब्द थे। सूक्ष्म और सामान्य का पता नहीं था। व्याकरण-सम्बन्धी नियम नहीं थे। केवल अपवाद ही अपवाद थे। इस प्रकार भाषा प्रत्येक दृष्टि से लँगड़ी और अपूर्ण थी।

भाषा मनोगत भाव प्रकट करने का सर्वोत्कृष्ट साधन है। यद्यपि आँख, सिर और हाथ आदि अंगों के संचालन से भी भाव प्रकट किए जा सकते हैं। किंतु भाषा जितनी शीघ्रता, सुगमता और स्पष्टता से भाव प्रकट करती हैं उतनी सरलता से अन्य साधन नहीं। यदि भाषा न होती तो मनुष्य, पशुओं से भी बदतर होता; क्योंकि पशु भी करुणा, क्रोध, प्रम, भय आदि कुछ भाव अपने कान, पूँछ हिलाकर या गरजकर, भूँककर व्यक्त कर लेते हैं। भाषा के अविर्भाव से सारा मानव संसार गूंगों की विराट बस्ती बनने से बच गया।

1.5 शब्दकोश

1. **अव्यापित–** व्याप्त न होने की अवस्था, लक्षण का लक्ष्य पर घटित न होना।
2. **यादृच्छिक–** स्वतंत्र, ऐच्छिक, अप्रत्याशित
3. **संश्लेषण–** जोड़ना, मिलाना, बंधन मिलान करना
4. **अभिव्यंजना–** विचारों एवं भावों को प्रकट करना, अभिव्यक्ति

1.6 अभ्यास प्रश्न

1. भाषा का अर्थ स्पष्ट करते हुए भाषा की परिभाषा दीजिए।
2. भाषा की प्रकृति अथवा विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
3. भाषा के महत्त्व पर एक संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन

1. (ग) **2.** (ख) **3.** (क)

1.7 संदर्भ पुस्तकें

1. *भाषा विज्ञान* – डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, किताब महल, इलाहाबाद
2. *हिंदी भाषा का संरचनात्मक अध्ययन* – डॉ॰ सत्यव्रत, मिलिंद प्रकाशन, हैदराबाद
3. *भाषा और भाषा विज्ञान* – गरिमा श्रीवास्तव, संजय प्रकाशन, दिल्ली

इकाई 2: भाषा की संरचना एवं भाषिक आधार

नोट

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- भाषा की संरचना से परिचित होंगे।
- भाषा के आधार से अवगत होंगे।

प्रस्तावना

भाषा यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीकों की संरचनात्मक व्यवस्था है। अर्थात् इस व्यवस्था की अपनी विशेष प्रकार की संरचना होती है; साथ ही इस संरचना में केवल एक स्तर नहीं होता, इसमें कई स्तर होते हैं। प्रत्येक स्तर की अपनी अलग संरचना होती है।

नोट

2.1 भाषा की संरचना

भाषा-संरचना का मूलाधार संरचनात्मक पद्धति है। जिस प्रकार भवन-रचना में ईंट, सीमेंट लोहा, शक्ति अर्थात् मजदूर और कारीगर की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार भाषा-संरचना में ध्वनि, शब्द, पद, वाक्य, प्रोक्ति और अर्थ की अपनी-अपनी भूमिका होती है।

2.1.1 ध्वनि-संरचना

सामान्यतः किन्हीं दो या दो से अधिक वस्तुओं के आपस में टकराने से वायु में कंपन होता है। जब यह कंपन कानों तक पहुँचता है, तो इसे ध्वनि कहते हैं। भाषाविज्ञान में मानव के मुखांगों से निकली ध्वनियों का अध्ययन किया जाता है। ध्वनि भाषा की लघुतम, स्वतंत्र और महत्त्वपूर्ण इकाई है। यदि सभी भाषा की ध्वनियों में सैद्धांतिक रूप से कुछ समानताएँ होती हैं, तो प्रत्येक भाषा की ध्वनियों में कुछ अपनी विशेषताएँ भी होती हैं।

(क) वर्गीकरण: भाषा-ध्वनियों का अध्ययन करते हैं, तो दो मुख्य वर्ग सामने आते हैं-स्वर और व्यंजन।

(i) **स्वर:** भाषा में कुछ ऐसी ध्वनियाँ होती हैं जिनके उच्चारण में किसी अन्य ध्वनि का सहयोग नहीं लेना पड़ता है। इन ध्वनियों के उच्चारण में किसी प्रकार का अवरोध नहीं होता अर्थात् इनके उच्चारण में फेफड़े से आने वाली वायु अबाध गति से बाहर आती है और इनका उच्चारण जितनी देर चाहें कर सकते हैं।

विभिन्न भाषाओं में स्वर ध्वनियों की संख्या भिन्न-भिन्न होती है; यथा-वर्तमान समय में हिंदी की स्वर ध्वनियाँ हैं–

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ए, ऐ, ओ, औ।

अंग्रेजी में स्वरों की संख्या पाँच है– a, e, i, o, u.

विभिन्न भाषाओं में स्वर-ध्वनियों के स्थान-व्यवस्था में भी भिन्नता है। किसी भाषा में समस्त ध्वनियाँ पूर्ववर्ती या परवर्ती एक स्थान पर व्यवस्थित होती है, तो किसी भाषा में व्यंजन ध्वनियों के मध्य व्यवस्थित होती हैं।

हिंदी की सभी स्वर ध्वनियाँ व्यंजन से पूर्व एक स्थान पर व्यवस्थित हैं–

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ए, ऐ, ओ, औ।

अंग्रेजी में स्वरों की व्यवस्था व्यंजनों के मध्य है–

abcde..........hij..........nop..........tuv..........z

(ii) **व्यंजन:** जिन ध्वनियों के उच्चारण में स्वर ध्वनियों का सहयोग अनिवार्य हो और जिनके उच्चारण में फेफड़े से आने वाली वायु मुख के किसी भाग में अल्पाधिक रूप से अवरुद्ध होने के कारण घर्षण के साथ बाहर आए, उन्हें व्यंजन ध्वनि कहते हैं। हिंदी में व्यंजन ध्वनियों को स्वर के बाद स्थान दिया गया है, जबकि अंग्रेजी में स्वर ध्वनि के साथ मिश्रित रूप में।

हिंदी में कुछ व्यंजन ध्वनियों का प्रयोग स्वर के रूप में होता है। इन्हें अर्धस्वर कहते हैं; यथा-य् व्।

हिंदी में महाप्राण ध्वनियों के लिए स्वतंत्र चिह्नों की व्यवस्था है; यथा-प्रत्येक वर्ग की दूसरी और चौथी ध्वनियाँ–

कवर्ग	–	ख्, घ्
चवर्ग	–	छ्, झ्
टवर्ग	–	ठ्, ढ्
तवर्ग	–	थ्, ध्
पवर्ग	–	फ्, भ्

कुछ भाषाओं में महाप्राण ध्वनियों के अस्तित्व की स्वीकृति नहीं मिली है। ऐसी अवस्था में अन्य भाषा की महाप्राण ध्वनियों को लिपिबद्ध करने के लिए विशेष प्रक्रिया अपनाते हैं। अंग्रेजी भाषा में हिंदी की महाप्राण ध्वनियों का रेखांकन इस प्रकार होता है–

नोट

अल्पप्राण		**महाप्राण**	**अल्पप्राण**		**महाप्राण**
क् = k	>	ख् = kh	ग् = g	>	य् = gh
च् = ch	>	छ् = chh	ज् = j	>	झ् = jh
ट् = t	>	ठ् = th	ड् = d	>	ढ् = dh
त् = t	>	थ् = th	द् = d	>	ध् = dh
प् = p	>	फ् = ph	ब् = b	>	भ् = bh

महाप्राणत्व का यह रूप ऐतिहासिक विकास में देख सकते हैं–

अब ही	>	अभी
कब ही	>	कभी
सब ही	>	सभी

क्या आप जानते हैं हिंदी में कुछ व्यंजन ध्वनियों का प्रयोग स्वर के रूप में होता है। इन्हें अर्धस्वर कहते हैं। यथा- य्, व्।

(ख) बलाघात: भाषा में विभिन्न ध्वनियों के एक साथ प्रयोग होने पर भी उनके उच्चारण में प्रयुक्त बल में पर्याप्त भिन्नता होती है। जब किसी ध्वनि पर अपेक्षाकृत अधिक दबाव होता है, उसे ध्वनि बलाघात कहते हैं, यथा–'आम' शब्द में 'आ' और 'म' दो ध्वनियाँ है। 'आ' पर म की अपेक्षा अधिक बल दिया जाता है।

हिंदी ध्वनियों में बलाघात के विषय में यह ध्यातव्य है कि यह प्रभाव सदा स्वर पर ही होता है।

जब एक वाक्य में किसी शब्द की सभी ध्वनियाँ अन्य शब्दों की ध्वनियों की अपेक्षा अधिक सशक्त रूप से प्रयुक्त होती हैं, तो उसे शब्द बलाघात कहते हैं; यथा–

(क) मुझे **एक रंगवाली** कलम चाहिए। (एक रंग की कलम)

(ख) मुझे एक **रंगवाली** कलम चाहिए। (रंगवाली एक कलम)

यहाँ 'क' वाक्य में 'एक रंगवाली' शब्द की ध्वनियों पर बलाघात है, तो 'ख' वाक्य में 'रंगवाली' शब्द की ध्वनियों पर। इस प्रकार दोनों वाक्यों के अर्थ में भिन्नता आ गई है।

(ग) संधि: कभी-कभी दो भाषिक ध्वनि इकाइयाँ मिलकर एक हो जाती हैं, ऐसे ध्वनि-परिवर्तन को संधि कहते हैं। प्रत्येक भाषा के संधि-नियमों को अपनी विशेषताएँ होती हैं। उच्चरित हिंदी में कई प्रकार की संधियाँ मिलती हैं; यथा–
विशेषताएँ होती हैं। उच्चरित हिंदी में कई प्रकार की संधियाँ मिलती हैं; यथा–

(*i*) **ह्रस्वीकरण:** हिंदी तद्भव शब्दों में यह प्रक्रिया मिलती है–

आप + ना	(आ > अ)	=	अपना
आधा + खिला	(आ > अ)	=	अधखिला
भीख + आरी	(ई > इ)	=	भिखारी

(*ii*) **दीर्घीकरण:**

मुख्य + अर्थ	(अ + अ = आ)	=	मुख्यार्थ
कवि + इंद्र	(इ + इ = ई)	=	कवींद्र

नोट

(*iii*) **घोषीकरण:**

डाक + घर	(क > ग)	=	डाग्घर
धूप + बत्ती	(प > ब)	=	धूबबत्ती

(*iv*) **लोप:**

घोड़ा + दौड़	(आ लोप)	=	घुड़दौड़
पानी + घाट	(ई और आ लोप)	=	पनघट

(*v*) **आगम:**

मूसल + धार	(आ आगम)	=	मूसलाधार
दीन + नाथ	(आ आगम)	=	दीनानाथ
विश्व + मित्र	(आ आगम)	=	विश्वामित्र

2.1.2 शब्द-संरचना

भाषा की लघुतम, स्वतंत्र और सार्थक इकाई को शब्द की संज्ञा दी जाती है। शब्द-संरचना का अध्ययन उपसर्ग, प्रत्यय, समास तथा पुनरुक्ति आदि रूपों में करते हैं।

उपसर्ग: उपसर्ग वह भाषिक इकाई है, जो शब्द के पूर्व में प्रयुक्त होती है, किंतु इसका स्वतंत्र प्रयोग नहीं होता। ऐसी इकाई शब्द-संरचना का मुख्य आधार है। इसे मुख्यत: दो भागों में विभक्त कर सकते हैं।

प्रथम-अपनी भाषा के उपसर्ग; यथा-हिंदी में अ, कु, स, सु आदि।

अ	–	धर्म	> अधर्म,	दुर्	–	दिन	> दुर्दिन
स	–	जीव	> सजीव,	सु	–	गंध	> सुगंध

द्वितीय-दूसरी भाषा के उपसर्ग; यथा–

बे	–	बेकाम (फा. + हिं)
बे	–	बेसिर (फा + हि.)

प्रत्यय: प्रत्यय वह भाषिक इकाई है, जो स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त न होकर शब्द के अंत में प्रयुक्त होती है। प्रत्यय को भी मुख्यत: दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं।

प्रथम-निज भाषा के प्रत्यय

कार	=	साहित्यकार, नाटककार, स्वर्णकार
आनी	=	जेठानी, सेठानी, देवरानी
ता	=	सफलता, असफलता, सुंदरता

द्वितीय-कभी-कभी शब्द के साथ भिन्न भाषा के उपसर्ग प्रयुक्त होते हैं; यथा–

ई	=	डॉक्टरी [डॉक्टर (अंग्रेजी) + ई (हिंदी प्रत्यय)]
दारी	=	वफादारी [वफा (अ.) + दार (फा.)]
दार	=	जड़दार [जड़ (हि.) + दार (फा.)]
ची	=	संदूकची [संदूक (अ.) + ची (तु)]

समास-समास में दो शब्द जुड़कर एक सामासिक शब्द का रूप धारण कर लेते हैं। ऐसे रूप को समस्त पद या सामासिक

नोट

पद कहते हैं; यथा–

माता और पिता > माता-पिता

राजा का पुत्र > राजपुत्र

समास प्रक्रिया में दो शब्दों के मध्य से कारक चिह्न का लोप हो जाता है; यथा–

घोड़ों की दौड़ > घुड़दौड़

अर्थ संदर्भ में सामासिक शब्दों को दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं–

प्रथम वर्ग में उन सामासिक शब्दों को रख सकते हैं, जिनके अर्थ वही रह जाते हैं, जो समास के पूर्व होते हैं; यथा–

माता और पिता = माता-पिता

राजा और रानी = राजा-रानी।

दूसरे वर्ग में उन सामासिक शब्दों को रख सकते हैं, जिनके अर्थ में भिन्नता आ जाती है; यथा–

जल और वायु = जलवायु

यहाँ विग्रह रूप में पानी और हवा का ज्ञान होता है, सामासिक रूप में विशेष अर्थ वातावरण का ज्ञान होता है।

उपसर्ग तथा प्रत्ययों का स्वतंत्र रूप में प्रयोग नहीं होता, किंतु शब्द संरचना का ये मुख्य आधार हैं।

शब्द-संरचना-परिवर्तन: भाषा में एक प्रकार के शब्दों को दूसरे प्रकार के शब्दों में बदलने के लिए नियमानुसार शब्द-संरचना बदलनी होती है; यथा-संज्ञा से विशेषण–

परिवर्तन–

भूख	>	भूखा	कृपा	>	कृपालु
समाज	>	सामाजिक	शरीर	>	शारीरिक

शब्दों की व्याकरणिक संरचना बदलते हुए उससे संबंधित नियमों का ध्यान रखना पड़ता है; यथा– पुल्लिंग से स्त्रीलिंग परिवर्तन–

ई	=	नर	>	नारी	पुत्र	>	पुत्री
आ	=	बाल	>	बाला	सुत	>	सुता

2.1.3 पद संरचना

जब शब्द वाक्य निर्माणार्थ निर्धारित व्याकरणिक क्षमता प्राप्त कर लेता है, तो उसे पद की संज्ञा दी जाती है। पद संरचना में शब्दों के विभिन्न व्याकरणिक रूपों का अध्ययन किया जाता है। रूप संरचना संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि विभिन्न धरातलों पर अध्ययन करते हैं। संज्ञा के रूप में मुख्यत: वचन पर चिंतन करते हैं;

यथा–एकवचन से बहुवचन परिवर्तन–

लड़का > लड़के, लड़कों

गुड़िया > गुड़ियाँ, गुड़ियो, गुड़ियों।

इस प्रकार विभिन्न प्रत्ययों के योग से पद संरचना होती है।

सर्वनाम के साथ विभिन्न कारक चिह्नों के योग से पद संरचना सामने आती है; यथा–

नोट

तुम > तुम ने, तुम से, तुम में, तुम को आदि।

आप > आप ने, आप से, आप में, आप को आदि।

क्रिया-पद की संरचना में भी प्रत्यय की विशेष भूमिका होती है।

चलना > चलें, चलो, चलूँगा, चलिएगा, चलोगी आदि।

दौड़ना > दौड़ें, दौड़ो, दौड़ूँगा, दौड़िएगा, दौड़ोगी आदि।

यदा-कदा संयुक्त क्रिया के प्रयोग-आधार पर क्रिया-पद की विशेष संरचना होती है; यथा–

आना > आ जाओ

मारना > मार डाला/मार दिया

खाना > खा लिया/खा डाला

काँपना > काँप उठा/काँप गया

2.1.4 वाक्य संरचना

भाषा की स्वतंत्र, पूर्ण सार्थक, सहज इकाई को वाक्य कहते हैं। वाक्य में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कम-से-कम एक क्रिया का होना अनिवार्य है। वाक्य संरचना में मुख्यत: उद्देश्य तथा विधेय दो भाग होते हैं; यथा–

''मोहन जा रहा है'' में ''मोहन'' उद्देश्य और ''जा रहा है'' विधेय है।

वाक्य में उद्देश्य छिपा भी सकता है; यथा–

जाओ > (तुम) जाओ।

खाइए > (आप) खाइए।

वाक्य की स्पष्ट संरचना का भावाभिव्यक्ति में विशेष महत्व होता है; यथा–

रोको मत जाने दो। – **रोको** मत जाने दो।

यहाँ प्रथम वाक्य-संरचना में 'जाने देने' की भावाभिव्यक्ति है, तो दूसरी वाक्य-संरचना में रोकने की।

वाक्य को संरचनात्मक आधार पर सरल, संयुक्त और मिश्र वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। एक प्रकार के वाक्य को दूसरे प्रकार के वाक्य में परिवर्तित कर सकते हैं; यथा-निषेधात्मक वाक्य निर्माण प्रक्रिया–

(क) वह योग्य है > वह अयोग्य नहीं है।

(ख) तुम यहाँ से जाओ > तुम यहाँ न रुको।

2.1.5 प्रोक्ति संरचना

भाषा को महत्तम इकाई प्रोक्ति है। ध्वनि यदि भाषा की लघुत्तम इकाई है, तो प्रोक्ति महत्तम और पूर्ण अभिव्यक्ति करने वाली इकाई है। वाक्य के द्वारा प्रोक्ति के समकक्ष अभिव्यक्ति संभव नहीं है; यथा–

(क) गौरव अच्छा लड़का है।

(ख) गौरव एम.ए. का छात्र है।

(ग) गौरव नियमित परिश्रम करता है।

(घ) गौरव को परीक्षा में प्रथम स्थान मिला।

यहाँ गौरव के विषय में चार वाक्य दिए गए हैं। आपसी संबंधों के अभाव में यहाँ पूर्ण स्पष्ट और सहज अभिव्यक्ति नहीं है। प्रोक्ति का रूप आते ही भावाभिव्यक्ति पूर्ण स्पष्ट हो जाती है–

''गौरव अच्छा लड़का है। नियमित परिश्रम करने के कारण उसे एम.ए. की परीक्षा में प्रथम स्थान मिला।'

यह एक लघु प्रोक्ति है। प्रोक्ति का स्वरूप तो उपन्यास या महाकाव्य के प्रथम शब्द से अंतिम शब्द तक विस्तृत हो सकता है। आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' में महावाव्य की कल्पना की है। उन्होंने लिखा है–''वाक्योच्चयो महावाक्यम्।'' वाक्यों का उच्चय (उत् + चय) एक-दूसरे के ऊपर सटा रूप महावाक्य है। इस प्रकार विभिन्न वाक्यों के एक-दूसरे के ऊपर रूप महावाक्य है। इस प्रकार विभिन्न वाक्यों के एक-दूसरे के साथ समाहित होने के स्वरूप को महावाक्य कहते हैं। महावाक्य या प्रोक्ति के विभिन्न घटक रूपी वाक्य भिन्न-भिन्न अर्थ रखते हुए भी परस्पर मिलते हुए भी एक समझता बोधक अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं। इस प्रकार वाक्य से कहीं विस्तृत अर्थ और संरचना का ज्ञान होता है। इस प्रक्रिया से जुड़े विभिन्न वाक्यों का समूह विशेष भाव और संरचना संदीं में भाषा की महत्तम इकाई का बोध कराता है। **आचार्य विश्वनाथ** ने इसे 'महावाक्य' कहा, तो डॉ. रामचन्द्र वर्मा ने इसे 'वाक्यबंध' नाम से अभिहित किया है। उनकी धारणा है कि यदि पद से विभिन्न पदों के योग पर पदबंध बनाता है तो वाक्य को विभिन्न वाक्यों के योग से वाक्यबंध बनना चाहिए।

डॉ. भोलानाथ तिवारी ने आचार्य के मंतव्य पर सहमति व्यक्त करते हुए लिखा है, ''यह अजीब-सी बात है कि अपनी परंपरा के इस पुराने शब्द महावाक्य को छोड़कर आज हमने इस अर्थ में एक नया शब्द प्रोक्ति बनाया है और स्वीकार किया है। ऐसा करके हमने अपनी परंपरा के प्रति बहुत न्याय नहीं किया है।''

डॉ. रामचन्द्र वर्मा ने प्रोक्ति को इस प्रकार परिभाषित किया है, ''अर्थ की दृष्टि से परिपूर्ण वाक्यों को सुसंबद्ध इकाई का नाम प्रोक्ति है।''

प्रोक्ति की संरचना, आंतरिक अर्थ-संदर्भ और अभिव्यक्ति को ध्यान में रखकर इसे निम्नलिखित तत्त्व-रूपों में देख सकते हैं–

(क) एकाधिक वाक्य।

(ख) आंतरिक सुसंबद्धता या संबद्धता।

(ग) तत्त्व-सरणि : वक्ता, श्रोता, वक्तव्य, संदर्भ, शैली-प्रकार।

(घ) संप्रेषणीयता।

(ङ) संरचना और संप्रेषणीयता में एक इकाई स्वरूप।

प्रोक्ति-भेद: इसे निम्नलिखित आधारों पर विभक्त कर सकते हैं–

1. कथन आधार-प्रत्यक्ष-परोक्ष कथन।
2. कथन-शैली आधार-औपचारिक-अनौपचारिक।
3. स्थान आधार-स्थानीय-सार्वभौम।
4. काल आधार-वर्तमान, भूत, भविष्यत्, सार्वकालिक।

स्व-मूल्यांकन

रिक्त स्थान की पूर्ति करें–

1. कभी-कभी दो भाषिक ध्वनि इकाइयाँ मिलकर एक हो जाती हैं, ऐसे ध्वनि परिवर्तन को .... कहते हैं।
2. हिंदी में कुछ व्यंजन ध्वनियों का प्रयोग स्वर के रूप में होता है, उन्हें .... कहते हैं।
3. आचार्य विश्वनाथ ने .... में महावाक्य की कल्पना की है।
4. जब शब्द वाक्य निर्माणार्थ-निर्धारित व्याकरणिक क्षमता प्राप्त कर लेता है तो उसे .... की संज्ञा देते हैं।
5. भाषा विज्ञान के अद्यतन स्वरूप में भाषा के .... आधार निश्चित किए गए हैं।

नोट

2.1.6 अर्थ-संरचना

ध्वनि, शब्द, पद और वाक्य आदि भाषा की शारीरिक इकाइयाँ हैं, तो अर्थ भाषा की आत्मा है। अर्थ को मुख्यतः सात वर्गों में विभक्त कर सकते हैं–

(क) **मुख्यार्थ–**पानी, गाय, विद्यालय आदि।

(ख) **लक्ष्यार्थ–**वह तो गधा है।

(ग) **व्यंजनार्थ–**यहाँ परंपरा से अदि जोड़ते हैं; यथा– गंगाजल (पवित्रता का प्रतीक)

(घ) **सामाजिक–**'you' शब्द के लिए हिंदी में विभिन्न संदर्भों के लिए, तू, तुम और आप का प्रयोग करते हैं।

तू–(छोटे के लिए, गुस्से में) तू जा, तू खा।

तुम–(बराबर के लिए) तुम चलो, तुम लिखो।

आप–(आदरसूचक, बड़ों के लिए) आप चलिए, आप लिखिए।

(ङ) **बलात्मक–**प्रमोद रोटी खाएगा > रोटी खाएगा प्रमोद।

(घ) **शैलीय अर्थ–**हिंदुस्तानी, उर्दू, हिंदी शैली।

आप बैठिए, आप तशरीफ रखिए, आप विराजिए।

पर्यायता: कुछ शब्दों को पर्यायी या समानार्थी शब्द कहते हैं। वास्तव में पर्यायी शब्दों के वर्ग हैं–

(क) **पूर्ण पर्यायी–**Dog > कुत्ता, कुक्कुर Man > आदमी, मनुष्य।

(ख) **आंशिक पर्यायी–**भीगा-गीला, छोटा-नाटा, सुंदर-अच्छा, बढ़िया–स्वादिष्ट।

विलोम–विलोम अर्थ अभिव्यक्ति हेतु मूल यौगिक रूपों में शब्दों का निर्माण किया जाता है।

मूल–जड़-चेतन, सुख-दुःख, दिन-रात आदि।

यौगिक–इसमें कभी उपसर्ग लगाते हैं, कभी प्रत्यय।

यथा–शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित (उपसर्ग-आधार)

कृतज्ञ-कृतघ्न (प्रत्यय-आधार)

अर्थ-संरचना में समास की भी विशेष भूमिका होती है; यथा–

दुआ–बद्दुआ स्वदेश-परदेश (विदेश)

स्वतंत्र-परतंत्र, बुद्धिमान-बुद्धिहीन

इसी प्रकार अनेकार्थी शब्दों की संरचना में भी विविधता देखी जा सकती है, जो भाषा-संरचना का महत्त्वपूर्ण अंश है।

यौगिक शब्दों के लिए पाठ से इतर उपसर्ग तथा प्रत्यय शब्दों के कुछ दाहरण दीजिए।

2.2 भाषिक-आधार

भाषा के तीन आधार यहाँ दिए जा रहे हैं। पहला मानसिक आधार (Intellectual basis), दूसरा भौतिक आधार (physical basis), सामाजिक आधार (Social basis)।

नोट

2.2.1 मानसिक आधार (Intellectual Basis)

भाषा की आत्मा है तो भौतिक आधार उसका शरीर। मानसिक आधार या आत्मा से आशय हे, वे विचार या भाव जिनकी अभिव्यक्ति के लिए वक्ता भाषा का प्रयोग करता है और भाषा के भौतिक आधार के सहारे श्रोता जिनको ग्रहण करता है। भौतिक आधार या शरीर से आश्य है—भाषा में प्रयुक्त ध्वनियाँ (वर्ण, सुर और स्वराघात आदि) जो भावों और विचारों की वाहिका है, जिनका आधार लेकर वक्ता अपने विचारों या भावों को व्यक्त करता है ओर जिनका आधार लेकर श्रोता विचारों या भावों को ग्रहण करता है। उदाहरणार्थ, हम 'सुन्दर' शब्द लें। इसका एक अर्थ है। इसके उच्चारण करने वाले के मस्तिष्क में वह अर्थ होगा और सुनने वाला भी इसे सुनकर अपने मस्तिष्क में उस अर्थ को ग्रहण कर लेगा। यही अर्थ 'सुन्दर' की आत्मा है। दूसरे शब्दों में यही है मानसिक पक्ष।

2.2.2 भौतिक आधार (Physical Basis)

मानसिक पक्ष सूक्ष्म है, अत: उसे किसी स्थूल का सहारा लेना पड़ता है। यह स्थूल हैं स् + उ + न् + द् अ+ र्। सुन्दर के भाव या विचार को व्यक्त करने के लिए वक्ता इन ध्वनि-समूहों का सहारा लेता है, और इन्हें सुनकर श्रोता 'सुन्दर' अर्थ ग्रहण करता है, अतएव ये ध्वनियाँ उस अर्थ की वाहिका, शरीर या भौतिक आधार हैं। भौतिक आधार तत्वत: अभिव्यक्ति का साधन है, और मानसिक आधार साध्य। दोनों के मिलने से भाषा बनती है। कभी-कभी इन्हीं को क्रमश: बाह्य भाषा (outer speech) तथा आन्तरिक भाषा (inner speech) भी कहा गया है। प्रथम को समझने के लिए शरीर विज्ञान तथा भौतिकशास्त्र की सहायता लेनी पड़ती है, और दूसरे को समझने के लिए शरीर विज्ञान तथा भौतिकशास्त्र की सहायता लेनी पड़ती है, और दूसरे को समझने के लिए मनोविज्ञान की।

कुछ लोग वक्ता और श्रोता के मानसिक व्यापार को भी भाषा का मानसिक आधार मानते हैं और इसी प्रकार बोलने और सुनने की प्रक्रिया बोलने और सुनने की प्रक्रिया को भी भौतिक आधार। एक दृष्टि से यह भी ठीक है। यों तो उच्चारणावयवों एवं ध्वनि ले जाने वाली तरंगों को भी भौतिक आधार तथा मस्तिष्क को मानसिक आधार माना जा सकता है, किन्तु परंपरागत रूप में भाषाविज्ञान में केवल ध्वनियाँ, जो बोली और सुनी जाती हैं, भौतिक आधार मानी जाती हैं, और विचार, जो वक्ता द्वारा अभिव्यक्त किये जाते हैं और श्रोता द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, मानसिक आधार माने जाते हैं।

2.2.3 सामाजिक आधार (Social Basis)

मनुष्य एक सामाजिक प्रणी है। समाज में रहते हुए उसे अपनी मूलभूत आवश्यकताओं के लिए एक-दूसरे पर निर्भर रहना पड़ता है। एक-दूसरे के साथ विचारों का आदान-प्रदान करने के लिए, एक-दूसरे को अपनी आवश्यकताएँ बताने के लिए और उन को पूरा करने के लिए; वह जिस माध्यम का प्रयोग करते हैं वह भाषा ही है। यही समाजिक-प्रवृत्ति 'भाषा' का सामाजिक आधार है। बच्चा अपने माता-पिता तथा परिवार के अन्य सदस्यों से भाषा सीखता है। यदि इस के स्थान पर किसी बालक को जन्म के उपरान्त समाज से अलग रखा जाये, उससे खाने-पीने के अतिरिक्त किसी भी प्रकार का सम्पर्क स्थापित न किया जाए तो वह भाषा के अस्तित्व से अनभिज्ञ रहेगा। समाज एक ऐसा स्थान है जहाँ मनुष्य का मानिसक विकास होता है। जैसे समाज होता है उस की भाषा भी वैसी होती है। किसी भी व्यक्ति का कि वह किस क्षेत्र अथवा समाज से सम्बंधित है? इसका अन्दाजा उसकी भाषा तथा बोलचाल के लहजे से लगाया जा सकता है। भाषा की प्रकृति अनुकरणात्मक होती है जिससे सम्पर्क पैदा होता है, जो भाषा को सामाजिक आधार प्रदान करता है। भाषा-शिक्षण को प्रभावशाली बनाने के लिए विद्यार्थियों को सामाजिक आधार प्रदान करना अत्यन्त आवश्यक है।

यह तीनों आधार भाषा में अपनी-अपनी ठोस एवं सक्रिय भूमिका रखते हैं, इनमें से एक की कमी भाषा को अपंग कर जाती है। यदि अध्यापक को इस का ज्ञान होगा तभी वह व्यक्तिगत विभिन्नताओं को ध्यान में रख कर विचारों और भावों को आदान-प्रदान हेतु अवसर जुटाकर इनके सुदृढ़ योगदान से भाषा में प्रभावोत्पादकता, शुद्धता तथा सुचारुता उत्पन्न कर सकता है।

नोट

2.3 सारांश

भाषा-संरचना का मूलाधार संरचनात्मक पद्धति है। जिस प्रकार भवन-रचना में ईंट, सीमेंट लोहा, शक्ति अर्थात् मजदूर और कारीगर की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार भाषा-संरचना में ध्वनि, शब्द, पद, वाक्य, प्रोक्ति और अर्थ की अपनी-अपनी भूमिका होती है।

सामान्यत: किन्हीं दो या दो से अधिक वस्तुओं के आपस में टकराने से वायु में कंपन होता है। जब यह कंपन कानों तक पहुँचता है, तो इसे ध्वनि कहते हैं। भाषाविज्ञान में मानव के मुखांगों से निकली ध्वनियों का अध्ययन किया जाता है। ध्वनि भाषा की लघुतम, स्वतंत्र और महत्त्वपूर्ण इकाई है। यदि सभी भाषा की ध्वनियों में सैद्धांतिक रूप से कुछ समानताएँ होती हैं, तो प्रत्येक भाषा की ध्वनियों में कुछ अपनी विशेषताएँ भी होती हैं।

भाषा की लघुतम, स्वतंत्र और सार्थक इकाई को शब्द की संज्ञा दी जाती है। शब्द-संरचना का अध्ययन उपसर्ग, प्रत्यय, समास तथा पुनरुक्ति आदि रूपों में करते हैं।

भाषा की स्वतंत्र, पूर्ण सार्थक, सहज इकाई को वाक्य कहते हैं। वाक्य में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कम-से-कम एक क्रिया का होना अनिवार्य है। वाक्य संरचना में मुख्यत: उद्देश्य तथा विधेय दो भाग होते हैं; यथा–

''मोहन जा रहा है'' में ''मोहन'' उद्देश्य और ''जा रहा है'' विधेय है।

भाषा को महत्तम इकाई प्रोक्ति है। ध्वनि यदि भाषा की लघुत्तम इकाई है, तो प्रोक्ति महत्तम और पूर्ण अभिव्यक्ति करने वाली इकाई है। वाक्य के द्वारा प्रोक्ति के समकक्ष अभिव्यक्ति संभव नहीं है।

ध्वनि, शब्द, पद और वाक्य आदि भाषा की शारीरिक इकाइयाँ हैं, तो अर्थ भाषा की आत्मा है। अर्थ को मुख्यत: सात वर्गों में विभक्त कर सकते हैं– मुख्यार्थ, लक्ष्यार्थ, व्यंजनार्थ, सामाजिक, बलात्मक, शैलीय अर्थ, पूर्ण पर्यायी, आंशिक पर्यायी।

भाषा के दो आधार हैं एक मानसिक (Psychical aspect) और दूसरा भौतिक (physical aspect)। मानसिक आधार भाषा की आत्मा है तो भौतिक आधार उसका शरीर। मानसिक आधार या आत्मा से आशय हे, वे विचार या भाव जिनकी अभिव्यक्ति के लिए वक्ता भाषा का प्रयोग करता है और भाषा के भौतिक आधार के सहारे श्रोता जिनको ग्रहण करता है। भौतिक आधार या शरीर से आश्य है–भाषा में प्रयुक्त ध्वनियाँ (वर्ण, सुर और स्वराघात आदि) जो भावों और विचारों की वाहिका है, जिनका आधार लेकर वक्ता अपने विचारों या भावों को व्यक्त करता है ओर जिनका आधार लेकर श्रोता विचारों या भावों को ग्रहण करता है।

2.4 शब्दकोश

1. प्रोक्ति– कही गई बात, उक्ति।
2. सार्वभौम– सारीभूमि संबंधी, सारी पृथ्वी पर शासन कारने वाला, विश्वविख्यात।

2.5 अभ्यास प्रश्न

1. भाषा की संरचना को विस्तार से समझाइए।
2. भाषिक आधार पर संक्षिप्त नोट लिखए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन

1. संधि 2. अर्धस्वर 3. साहित्य दर्पण 4. पद 5. तीन

2.6 संदर्भ पुस्तकें

1. *भाषा विज्ञान*– डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, किताब महल, इलाहाबाद
2. *हिंदी भाषा का संरचनात्मक अध्ययन*– डॉ॰ सत्यव्रत, मिलिंद प्रकाशन, हैदराबाद
3. *अग्रोन्मुख हिंदी शिक्षण*–ज्योति शर्मा 'भनोत' टंडन पब्लिकेशनन्स, लुधियाना

नोट

इकाई 3: भाषाविज्ञान का स्वरूप एवं क्षेत्र, भाषा विज्ञान के अध्ययन की दिशाएँ: वर्णनात्मक, ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- भाषाविज्ञान के स्वरूप एवं क्षेत्र से परिचित होंगे।
- भाषाविज्ञान के अध्ययन की दिशाओं से परिचित होंगे।

प्रस्तावना

मनुष्य अपनी वाक्-शक्ति से ज्ञान-विज्ञान आदि अनेकानेक क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण पहचान बना चुका है। वैदिक ऋषियों ने भी भाषा और उसकी कलात्मक परिणति के संकेत किये हैं। ऋग्वेद के वाग् सूक्त में 8 मन्त्र इस आशय के संकेत देते हैं। वहाँ कहा गया है कि वाक्तत्व या भाषा ही वह दिव्य ज्योति है जो मानव को ऋषि, देवता या विद्वान् बनाती है।

3.1 भाषाविज्ञान का स्वरूप

भाषाविज्ञान के स्वरूप को निश्चित करने में पाँच तत्त्वों का होना अनिवार्य है।

(क) मानव मुखोच्चारित–भाषा-विज्ञान के अंतर्गत मुख्यत: सांकेतिक, स्पर्श, यंत्राधारित आदि भाषाओं का अध्ययन न करके मानव मुख के विभिन्न अवयवों के सहयोग से उच्चरित भाषा का अध्ययन किया जाता है। विशेष संदर्भों में कुछ अन्य सार्थक ध्वनि-संकेतों का भी प्रयोग किया जाता है; यथा-कार का हॉर्न, मंदिर की घंटियाँ बजना आदि, किंतु भाषाविज्ञान में इनका अध्ययन नहीं किया जाता है।

(ख) यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीक–ध्वनि और अर्थ के परस्पर संबंध से उभरने वाली संकल्पना को ध्वनि-प्रतीक कहते हैं। इसे दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि ध्वनि सुनने के पश्चात् जो चित्र-संकल्पना उभरती है, वह प्रतीक है। ऐसी

नोट

संकल्पना में ध्वनि ही सर्वाधिक सशक्त माध्यम है। यह संकल्पित रूप या नाम पहले एक व्यक्ति के द्वारा अपनाया जाता है। फिर उसे समाज सापेक्ष स्वीकृति मिलती है। इस संकल्पना में कुछ ध्वनियों का क्रमिक प्रयोग किया जाता है। यह ध्वनि-क्रम उस भाषा-समुदाय में सर्वमान्य होता है। अर्थ अभिव्यक्ति की यह संकल्पना पूर्णत: यादृच्छिक होती है। एक भाषा में एक संकल्पना के लिए एक विशेष ध्वनि-प्रतीक-क्रम का प्रयोग होता है, तो दूसरी भाषा में उसी के लिए भिन्न ध्वनि-प्रतीकों के भिन्न क्रम का प्रयोग होता है; यथा–

हिन्दी	**संस्कृत**	**अंग्रेजी**
घर	गृह	House
लड़की	बालिका	Girl
लड़का	बालक	Boy

भाषा की यादृच्छिकता व्यक्ति स्तर पर न होकर समाज स्तर पर होती है। एक भाषा-समाज में एक यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीक एक ही अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार निश्चित ध्वनियों से निश्चित जीव या वस्तु का बोध होता है। इससे स्पष्ट होता है कि भाषा यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीक पर आधारित होती है।

(ग) व्यवस्था–भाषा की संरचना यादृच्छिक आधार पर होती है, किंतु प्रत्येक भाषा की अपनी व्यवस्था होती है। यह व्यवस्था ध्वनि, शब्द, पद, वाक्य और अर्थ आदि स्तरों पर होती हैं। एक भाषा समुदाय के सभी सदस्य इसी व्यवस्था-आधार पर भाषा बोलते, सुनते तथा अर्थग्रहण करते हैं। दो भाषाओं की कुछ व्यवस्थाओं का समान होना संयोग की बात मान सकते है, किंतु समस्त व्यवस्थाएँ समान नहीं हो सकती हैं। यदि हिंदी, संस्कृत और अंग्रेजी की पुरुष संबंधी अन्य, मध्यम और उत्तम पुरुषों की सामान्य व्यवस्था समान है, तो लिंग व्यवस्था में पर्याप्त भिन्नता है, हिंदी में पुल्लिंग और स्त्रीलिंग, दो लिंग हैं, तो संस्कृत में पुल्लिंग, स्त्रीलिंग के साथ नपुंसक लिंग, तीन लिंगों की व्यवस्था है। अंग्रेजी में Masculine, Feminine Neuter और Common चार लिंग हैं। भाषा के विभिन्न संदर्भो की व्यवस्था एक-दूसरे पर आधारित होती है; यथा-शब्द की चर्चा करते हुए एक तरफ उससे संबंधित विभिन्न ध्वनियों पर विचार करते हैं, तो आर्थी संरचना में वाक्यगत प्रयोग पर भी विचार करते हैं। इस प्रकार कह सकते हैं, कि भाषा भावाभिव्यक्ति का ऐसा आधार है, जो कि विभिन्न आधारों की सबल व्यवस्था पर निर्मित है।

हिंदी में दो लिंग प्रचलित हैं– स्त्रीलिंग, पुल्लिंग जबकि नपुंसकलिंग संस्कृत में तीन लिंग प्रचलन में हैं– स्त्रीलिंग, पुल्लिंग।

(घ) सामाजिक आधार–मनुष्य सामाजिक प्राणी है। भाषा मानवीय संस्कृति, सभ्यता और सामाजिकता का मूलाधार है। एक समुदाय विशेष में विभिन्न सदस्यों के आपसी संबंधों की निकटता और परस्पर विचार-विनिमय के कारण एक भाषा का प्रयोग होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि भाषा विशेष, समाज के समुदाय विशेष पर आधारित होती है। भाषा-समुदाय का विस्तार क्षेत्र विशेष, प्रदेश विशेष से लेकर राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय सीमाओं तक हो सकता है। इन रूपों में क्रमश: अवधी, पंजाबी, हिंदी और अंग्रेजी को देख सकते हैं। भाषा निश्चय ही मानव-समुदाय पर आधारित होती है।

(ङ) विचार-विनिमय–भाषा का मुख्य गुण है–संप्रेषणीयता। मानव भाषा के माध्यम से चिंतन और मनन के साथ अपने विचारों को दूसरों तक पूर्ण सफलता से पहुँचा पाता है। भाव-अभिव्यक्ति या विचार आदान-प्रदान की विभिन्न मानवीय व्यवस्थाओं में भाषा-व्यवस्था सर्वाधिक प्रभावशाली और सफल है। भावाभिव्यक्ति के अन्य माध्यम मुख्यत: संकेत सीमा तक कार्य कर पाते हैं, जिसके कारण सूक्ष्म तथा मौलिक अभिव्यक्ति संभव नहीं होती है। चौराहे की लाल, हरी बत्ती होने और मंदिर की घंटी बजने से संकेत-भाव का ज्ञान होता है। भाषा मानव विचारों की पूर्ण सार्थक और सशक्त संवाहिका है, जिसके माध्यम से स्पष्ट तथा सरल रूप में विचार-विनिमय संभव होता है।

3.2 भाषाविज्ञान का क्षेत्र

भाषाविज्ञान पूर्ण रूप से विकसित, पल्लवित तथा पुष्पित वह वृक्ष है जिसकी चार मुख्य शाखाएँ हैं-

ध्वनि विज्ञान, रूप विज्ञान, अर्थ विज्ञान तथा वाक्य विज्ञान।

सामान्यत: भाषाविज्ञान की उपर्युक्त चार शाखाएँ ही मानी जाती हैं। न केवल हिन्दी में अपितु अंग्रेजी, फ्रैंच, जर्मन आदि भाषाओं में भी ये ही चार शाखाएँ मानी जाती हैं। वहाँ इन्हें क्रमश: Phonetics, Morphology, Semantics तथा Syntax के नाम से जाना जाता है।

भाषाविज्ञान की उपर्युक्त चार शाखाओं के विषय में भारतीय भाषावैज्ञानिक एक-मत नहीं है। भाषविज्ञान की शाखाओं के सम्बन्ध में प्राप्त मतों को तीन वर्गों के अन्तर्गत रखा जा सकता है। पहला वर्ग वह जो छ: शाखाएँ मानता है, दूसरा वर्ग वह जो पाँच शाखाएँ मानता है तथा तीसरा वर्ग वह जिसके अनुसार चार शाखाएँ ही हैं।

प्रथम वर्ग अर्थात् भाषाविज्ञान की छ: शाखायें मानने वाले भाषा वैज्ञानिकों में डॉ. श्यामसुन्दर दास प्रमुख हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'भाषाविज्ञान' में छ: शाखाओं का उल्लेख कया है-

(1) ध्वनि विचार, (2) ध्वनि शिक्षा, (3) रूप विचार, (4) वाक्य विचार, (5) अर्थ विचार (6) प्राचीन शोध।

उपर्युक्त शाखाओं पर यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ध्वनि-विचार और ध्वनि-शिक्षा नामक दोनों शाखाएँ वस्तुत: एक हैं।

दूसरे वर्ग अर्थात् भाषाविज्ञान की पाँच शाखाएँ मनाने वाले भाषावैज्ञानिकों में प्रमुख हैं-डॉ. मंगलदेव शास्त्री और डॉ. भोलानाथ तिवारी।

डॉ. मंगलदेव शास्त्री के अनुसार भाषाविज्ञान की पाँच शाखाएँ इस प्रकार हैं–

(1) वाक्य-विज्ञान, (2) पद-विज्ञान, (3) ध्वनि-विज्ञान, (4) अर्थ-विज्ञान तथा (5) प्रागैतिहासिक अनुसन्धान।

इन शाखाओं में अन्तिम 'प्रागैतिहासिक अनुसन्धान' तथा डॉ. श्यामसुन्दर दास की छठी शाखा प्राचीन शोध में कोई अन्तर नहीं है।

डॉ. भोलानाथ तिवारी ने भी भाषाविज्ञान की पाँच शाखाएँ स्वीकार की हैं–

(1) वाक्य-विज्ञान (Syntax) (2) रूप-विज्ञान (Morphology) (3) शब्द-विज्ञान (Wordology) (4) ध्वनि-विज्ञान (Phonetics) तथा (5) अर्थ-विज्ञान (Sementics)।

डॉ. तिवारी ने मान्य चार शाखाओं में 'शब्द-विज्ञान' नामक नई शाखा जोड़ने के औचित्य को सिद्ध करते हुए अपनी 'भाषा-विज्ञान' नामक पुस्तक में लिखा है–

"Wordology शब्द मेरा अपना बनाया हुआ है। वस्तुत: भाषा-विज्ञान में केवल चार ही शाखाएँ मानी जाती हैं-Syntax, Morphology, Sementics तथा Phonetics। ..... किन्तु मेरा विचार है कि एक पाँचवी शाखा भी मानी जानी चाहिए। इसी आधार पर मैंने एक नई शाखा जोड़ने का दुस्साहस किया है। यह इसलिए करना पड़ा है कि इसमें जो विवेचन किया जा सकता है, उपर्युक्त चार में से किसी में नहीं रखा जा सकता।" भाषा-विज्ञान की चार शाखाएँ मानने वाले तीसरे वर्ग के भाषाविदों में प्रमुख हैं डॉ. बाबूराम सक्सेना तथा प्रो. नलिनीमोहन सान्याल।

डॉ. बाबूराम सक्सेना के अनुसार भाषाविज्ञान की चार शाखाएँ इस प्रकार हैं–

(1) वाक्य विज्ञान (2) पद विज्ञान (3) ध्वनि वज्ञान (4) अर्थ विज्ञान।

प्रो. नलिनीमोहन सान्याल ने भी भाषाविज्ञान की चार शाखायें मानी हैं। पर ये चार शाखायें डॉ. सक्सेना की उपर्युक्त चार शाखाओं से कुछ भिन्न हैं–

(1) ध्वनि तत्व (Phonology) (2) ऐतिहासिक व्याकरण या गठन-तत्व (Phology) (3) आपेक्षिक विन्यास तत्व (Comparative Synatax) और (4) अर्थ (Semactalogy)।

नोट

इस प्रकार उपर्युक्त तीन वर्गों के भाषावैज्ञानिकों द्वारा प्रस्तुत भाषाविज्ञान की शाखाओं पर विचार करते हुए हम देखते हैं कि इनकी संख्या बहुत अधिक हो जाती है। परन्तु इन विभिन्न शाखाओं में एक बात ध्यान देने योग्य है कि लगभग सभी भाषावैज्ञानिकों ने वाक्य विज्ञान, रूप विज्ञान, ध्वनि विज्ञान, अर्थ विज्ञान इन चार शाखाओं को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। वस्तुत: ये चार शाखाएँ ही भाषाविज्ञान के प्रमुख चार अंगों के रूप में अधिक मान्य है। ये चार शाखायें ही भाषाविज्ञान के प्रमुख चार अंग पाश्चात्य भाषा वैज्ञानिकों द्वारा भी Syntax, Morphology, Phonetics तथा Semantics के रूप में स्वीकार किये गये हैं। अत: भाषाविज्ञान की जिन चार शाखाओं पर विचार किया जायेगा, ये हैं-

(1) ध्वनि विज्ञान

(2) रूप विज्ञान

(3) वाक्य विज्ञान

(4) अर्थ विज्ञान

भारतीय एवं पारचात्य अधिकांश भाषा वैज्ञानिकों ने किसी-किसी रूप में भाषाविज्ञान की प्रमुख चार शाखाओं– ध्वनि विज्ञान, रूप विज्ञान, वाक्य विज्ञान तथा अर्थ विज्ञान को ही भाषा विज्ञान के अंग माना है।

(1) ध्वनि विज्ञान-भाषा के अन्दर ध्वनि का बहुत महत्व है, वस्तुत: ध्वनि भाषा की वह लघुतक इकाई है जिसका पुन: विभाजन नहीं किया जा सकता, ध्वनि विज्ञान के अन्तर्गत उन्हीं ध्वनियों का अध्ययन होता है जिनके संयोग से भाषा का निर्माण होता है।

ध्वनियों के साथ-साथ इनके उच्चारण स्थान का भी अध्ययन ध्वनि विज्ञान के अन्तर्गत होता है। ध्वनियों का उच्चारण जिन अंगों से होता है उन्हें समग्र रूप से 'वाग्यन्त्र' कहते हैं। ध्वनि विज्ञान के अन्तर्गत इस वाग्यन्त्र की रचना, इससे विभिन्न ध्वनियों का उच्चारण होता है। जैसे ओष्ठ्य अंग से पवर्ग ध्वनियों का, कण्ठ अंग से 'कवर्ग' की ध्वनियों का उच्चारण होता है। ध्वनि विज्ञान के अन्दर इन ध्वनियों के साथ-साथ ध्वनि उच्चारण के स्थानों का भी सम्यक् अध्ययन होता है।

वाग्यन्त्र के साथ-साथ ध्वनि विज्ञान के अन्तर्गत ध्वनियों के अन्दर जो विभिन्न प्रकार के परिवर्तन होते हैं उनके कारणों और दिशाओं के भी अध्ययन का आधार वैज्ञानिक होता है अर्थात् सम्यक् रूप से यह अनुशलीन होता है कि ध्वनि परिवर्तन के इन कारणों और दिशाओं का आधार क्या है और इन परिवर्तनों का रूप क्या होता है।

ध्वनि विज्ञान के अन्तर्गत ध्वनि सम्बन्धी एक और महत्वपूर्ण विषय का अध्ययन होता है, जिसका नाम है ध्वनि नियम। ये ध्वनि नियम विभिन्न प्रकार के ध्वनि परिवर्तनों को ध्यान में रखकर बनाये जाते हैं। इसके अन्तर्गत इस बात का अध्ययन होता है कि इन नियमों का सम्बन्धा किस भाषा से है, किस काल विशेष से है और इनका कार्य किन सीमाओं के अन्दर रहकर संपादित होता है। उदाहरण के लिए हम ग्रिम नियम को ले सकते हैं जो कि एक प्रसिद्ध ध्वनि नियम है।

(2) रूप विज्ञान-ध्वनि विज्ञान की तरह ही रूप विज्ञान की भाषाविज्ञान की एक महत्वपूर्ण शाखा है। जहाँ ध्वनि विज्ञान के अन्तर्गत शब्दों का उच्चारण आदि के दृष्टिकोण से अध्ययन किया जाता है वहीं रूप विज्ञान में शब्दों की रचना प्रक्रिया का अध्ययन किया जाता है। इस रूप विज्ञान को हम दो भागों में बाँट सकते हैं–

(1) शब्द विज्ञान तथा (2) पद विज्ञान।

नोट

(1) शब्द विज्ञान-भाषा विज्ञान के अन्तर्गत शब्द का विशेष महत्व होता है। भाषा के अन्तर्गत शब्दों का प्रयोग दो रूपों में होता है एक तो सामान्य शब्द जो बोलचाल की भाषा में कम आते हैं और दूसरे परिष्कृत शब्द जो साहित्यिक भाषा में प्रयोग किये जाते हैं। इन सभी शब्दों का वैज्ञानिक अध्ययन भाषाविज्ञान के अन्तर्ग किया जाता है।

भाषा वैज्ञानिक अध्ययन यद्यपि आधुनिक युग की देन है तथापि शब्दों का अध्ययन अत्यन्त प्राचीन काल से होता चला आ रहा है। उदाहरण के लिए यास्क ने शब्द के चार भेद बताए हैं-(1) नाम (2) आख्यात (3) उपसर्ग और (4) निपात।

आचार्य पाणिनि ने शब्दों पर विचार करते समय शब्द के चार भेद बताये हैं–

(1) प्रातिपदिक (2) धातु (3) उपसर्ग तथा (4) निपात।

इस प्रकार व्याकरण के दृष्टिकोण से शब्द का व्यापक अध्ययन अत्यन्त प्राचीनकाल से होता आ रहा है। भाषा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से शब्द का व्यापक अध्ययन और अनुशलन आधुनिक देन है। यह अध्ययन शब्द विज्ञान के अन्तर्गत किया जाता है जो रूप विज्ञान की ही एक शाखा है। इसके अन्दर शब्द-निर्माण की प्रक्रिया, शब्द के विविध भेद, शब्दों में होने वाले विविध परिवर्तनों का अध्ययन होता है।

किसी भी विकसित भाषा का अपना एक शब्द समूह होता है। इसमें विविध प्रकार के शब्द होते हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी भाषा के शब्द समूह में तत्सम्, तद्भव, देशज शब्दों के साथ-साथ विदेशी शब्दों का भी प्रयोग होता है। अत: शब्द-विज्ञान के अन्तर्गत हिन्दी भाषा के शब्द समूह का अध्ययन करते समय शब्दों की रूप-रचना के साथ-साथ उनमें होने वाले परिवर्तनों का भी अध्ययन होता है तथा परिवर्तनों का ही नहीं उनके कारणों का भी अध्ययन होता है। इस प्रकार शब्द-विज्ञान, भाषा-विज्ञान की महत्वपूर्ण उप-शाखा है।

(2) पद विज्ञान-'ध्वनि' भाषा की लघुतम इकाई है। ध्वनियों के समूह से 'शब्द' का निर्माण होता है तथा शब्दों के समूह से वाक्य का और सार्थक वाक्यों के समुच्चय का नाम भाषा है। परन्तु शब्द तथा वाक्य के मध्य रचना प्रक्रिया की दृष्टि से एक और सीढ़ी है जिसका नाम 'पद' है।

'पद' शब्द का सीधा अर्थ है पैर। पैर का काम है चलना। एक प्रकार से हम कह सकते हैं कि जब मूल शब्द वाक्य में चलने लगता है अर्थात् एक निश्चित अर्थ देने लगता है तब पद बना जाता है। इस प्रकार वाक्य केवल शब्दों का समूह मात्र ही नहीं होता है अपितु उन शब्दों में एक निश्चित अर्थ के बोध के लिए, परस्पर सम्बन्ध भी स्थापित होना चाहिए। इसके लिए 'शब्दों' में प्रत्यय, विभक्तियाँ आदि जोड़ते हैं। जब मूल शब्द (ध्वनियों के समूह से बना शब्द, जो अधिकारी होता है) में प्रत्यय, विभक्ति आदि के योग से विकार उत्पन्न हो जाता है तब वे 'पद' कहलाते है, उदाहरण के लिए 'राम', 'मोहन', 'आम' 'देना' इन चार शब्दों को ले सकते हैं। इन शब्दों का अपना एक निश्चित अर्थ है, जो मूलार्थ है। बिना कोई परिवर्तन लाये ही, इन शब्दों से हम वाक्य बनाना, चाहें तो असफल रहेंगे और यह स्पष्ट करने में भी कुछ 'विकार' (परिवर्तन) लाकर इस तरह लिखें–

'मोहन ने राम को आम दिया।' तो यह एक पूर्ण वाक्य होगा, जिसके अन्दर प्रयुक्त शब्दों का पारस्परिक सम्बन्ध भी स्पष्ट है और अर्थ भी।

उपर्युक्त वाक्य में, 'को', विभक्ति-चिह्न (परसर्ग) है तथा 'अ' भूतकालिक प्रत्यय है जिसने 'देना' क्रिया में जुड़कर उसका रूप 'दिया' कर दिया।

'राम', 'मोहन', 'आम', 'देना' जैसे मूल शबद अर्थतत्व कहलाते हैं तथा 'ने' 'को', जैसे विभक्ति चिह्न तथा 'आ' जैसे प्रत्यय 'सम्बन्ध तत्व' कहलाते हैं। इस प्रकार अर्थ तत्व तथा सम्बन्ध तत्व के योग से बना शब्द 'पद' कहलाता है।

'पद-विज्ञान' के अन्तर्गत उन विविध 'सम्बन्ध तत्वों' का अध्ययन होता है जो पद-निर्माण में सहायक होते हैं, विविध सम्बन्ध तत्व, उनके विभिन्न कार्य, उनका परस्पर संबन्ध आदि का विशद तथा वैज्ञानिक अध्ययन पद विज्ञान के अन्तर्गत होता है।

नोट

टास्क शब्द तथा पद में अंतर स्पष्ट करें।

(3) वाक्य विज्ञान–ध्वनि विज्ञान और रूप विज्ञान पश्चात् भाषाविज्ञान की तीसरी महत्वपूर्ण शाखा वाक्य विज्ञान है। इस शाखा के अन्तर्गत वाक्य की संरचना, उसके आवश्यक उपकरण आदि का मनोवैज्ञानिक और सूक्ष्म अध्ययन होता है। यह अध्ययन करते समय भाषा में वाक्य-प्रयोग की स्थिति और उसके अर्थ पर भी विचार किया जाता है।

वस्तुत: विविध पदों से वाक्य का निर्माण होता है। वाक्य-विज्ञान के अन्तर्गत वाक्य का पद विन्यास सम्बन्धी अध्ययन एवं विवेचन होता है। वाक्य सार्थक होता है और सार्थक वाक्यों से भाषा की रचना होती है। इस प्रकार किसी भी वाक्य के अन्दर दो मुख्य बातें निहित होती हैं जिन्हें हम उद्देश्य और विधेय के रूप में जान सकते हैं। वाक्य के अन्दर जो भाव विशेष निहित होता है अर्थात् जिसके विषय में वाक्य के द्वारा कुछ कहा जाता है, उसे उद्देश्य कहते हैं और जिसके द्वारा इस उद्देश्य को स्पष्ट किया जाता है उसे विधेय कहते हैं। जैसे-'राम पुस्तक पढ़ता है।' इस वाक्य में 'राम' उद्देश्य है और 'पुस्तक पढ़ता है' यह विधेय है। इन दोनों का सम्यक् अध्ययन वाक्य के अन्तर्गत किया जाता है। जिससे वाक्य की संरचना ओर उसके अर्थ विशेष को समझने में सरलता रहती है।

वाक्य विज्ञान के अन्तर्गत वाक्य के विभिन्न भेदों का भी अध्ययन किया जाता है। इस अध्ययन का आधार वैज्ञानिक होने के कारण यह पूर्ण सुस्पष्ट होता है। वाक्य के भेदों का अध्ययन करते समय जहाँ क्रिया के आधार पर वाक्य भेदों का अध्ययन किया जाता है वहीं रचना के आधार पर भी वाक्य के भेदों का विवेचन किया जाता है।

इस प्रकार वाक्य विज्ञान के अन्तर्गत वाक्य की रचना, पदों का महत्व, पदान्वय, वाक्य के भेद आदि का सम्यक् सूक्ष्म और पूर्ण अध्ययन एवं विवेचन होता है।

(4) अर्थ विज्ञान–अर्थ शब्द की आत्मा होता है। जिस प्रकार आत्मा के निकल जाने से शरीर व्यर्थ हो जाता है, उसी प्रकार अर्थ के बिना शब्द का अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है यही कारण है कि रघुवंश नामक महाकाव्य के प्रारम्भ में कालिदास ने शब्द और अर्थ के सम्यक् ज्ञान के लिए उस पार्वती और परमेश्वर की बन्दना की है जो शब्द अर्थ की भाँति जुड़े हुए हैं।

अर्थ विज्ञान के अन्तर्गत शब्द के अर्थ परिवर्तन की विभिन्न दिशाओं का अध्ययन किया जात है। इस अध्ययन में तीन बातें विशेष रूप से ध्यान में रखी जाती है-(1) अर्थ संकोच, (2) अर्थ विस्तार तथा (3) अर्थदेश।

अर्थ संकोच का तात्पर्य यह है कि पहले से प्रचलित किसी शब्द के अर्थ में न्यूनता आ जाना। इस प्रकार किसी शब्द का व्यापक अर्थ जहाँ सिमट कर छोटा हो जाता है उसे अर्थ संकोच कहते हैं। उदाहरण के लिए अंग्रेजी के (deer) तथा संस्कृत के 'मृग' शब्द का प्रयोग पहले 'पशु' के लिए होता था परन्तु क्रमश: वर्तमान अंग्रेजी तथा हिन्दी में इसका प्रयोग 'हरिण' क लिए हो रहा है।

जब किसी शब्द का अर्थ सीमित क्षेत्र से निकलकर विस्तृत हो जाता है तब उसे अर्थ विस्तार कहते हैं। भाषा में अर्थ विस्तार के उदाहरण अधिक नहीं मिलते हैं। इसीलिए प्रसिद्ध भाषाशास्त्री टकर महोदय के अनुसार भाषा में वस्तुत: अर्थ विस्तार होता ही नहीं है। परन्तु यह मत उचित नहीं है क्योंकि अर्थविस्तार के उदाहरण मिलते तो हैं भले ही कम मिलें जैसे 'अभ्यास' शब्द का प्रयोग पहले केवल बाण फेंकते के अभ्सास के लिए होता था। परन्तु अब हर अच्छे बुरे कार्यों के लिए भी अभ्यास शब्द का प्रयोग होता है। इसी प्रकार स्याह का अर्थ काला है। जिससे स्याही शब्द बना है क्योंकि पहले लोग काले रंग क लिए लिखते थे परन्तु अब लाल हरी सभी रोशनाइयों के लिए स्याही शब्द का प्रयोग होने लगता है।

अर्थ विज्ञान के अन्तर्गत शब्दों के अर्थादेश का भी अध्ययन किया जाता है। कभी-कभी एक शब्द के प्रधान अर्थ के साथ गौण अर्थ भी चलने लगता है। फिर धीरे-धीरे प्रधान अर्थ लुप्त हो जाता है और गौण अर्थ ही चलने लगता है। इसी को अर्थादेश कहते हैं। जैसे 'वर' का अर्थ श्रेष्ठ था पर अब 'दूलहे' के लिए प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार 'दूलहा'

नोट

शब्द का मूल अर्थ था 'जो जल्द न मिले' अर्थात् दुर्लभ। परन्तु अब यह वर के गौण अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है।

अर्थ-विज्ञान के अन्तर्गत बौद्धिक नियमों का भी अध्ययन किया जाता है। जब पदों के विविध-अर्थ-परिवर्तन के बुद्धिगत कारणों को दृष्टि में रखकर उससे सम्बन्धित नियम बनाये जाते हैं तो उन्हें बौद्धिक निमय कहते हैं। जैसे 'स्कूल' शब्द से एक प्रकार के शिक्षा संस्था का बोध होता है तो 'पाठशाला' से दूसरे प्रकार की और 'कॉलेज' से दूसरे प्रकार की शिक्षा संस्था का बोध होता है।

अर्थ विज्ञान शब्द का अर्थ का भी व्यापक अध्ययन किया जाता है। शब्द और अर्थ का तात्पर्य, उनका स्वरूप, पारस्परिक सम्बन्ध आदि का अध्ययन इसी शाखा के अन्दर होता है।

स्व-मूल्यांकन

रिक्त स्थान की पूर्ति करें–

1. भाषाविज्ञान की प्रमुख .... शाखाएँ।
2. भाषा की संरचना .... आधार पर होती है।
3. सार्थक वाक्यों के समुच्चय का नाम .... है।
4. 'दुलहा' शब्द का वर्तमान व गौण अर्थ .... है।

3.3 भाषाविज्ञान के अध्ययन की दिशाएँ: वर्णनात्मक, तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक

इसे भाषा विज्ञान के अध्ययन की प्रणालियाँ भी कहते हैं। भाषाविज्ञान में एक भाषा, दो भाषाओं अथवा विविध भाषाओं का विशिष्ट अध्ययन करते हैं। भाषा के उच्चरित या लिखित अथवा दोनों स्वरूपों पर चिंतन किया जाता है। भाषाविज्ञान-अध्ययन की कुछ प्रणालियाँ निम्नलिखित हैं।

1. वर्णनात्मक पद्धति (Discriptive Linguistics)–जब किसी भाषा के विशिष्ट काल का संगठनात्मक अध्ययन किया जाता है, तो उसे वर्णनात्मक अध्ययन कहते हैं। प्रसिद्ध विद्वान पाणिनि के अष्टध्यायी में इसी प्रकार का भाषा-अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसमें भाषा के संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया तथा विशेषण आदि की वर्णनात्मक समीक्षा करते हुए ध्वनि, शब्द वाक्य आदि पर विचार किया जाता है। भाषा की सभी इकाइयों पर अध्ययन करते हुए उनसे संबंधित नियम निर्धारित किए जाते हैं। इस पद्धति में भाषा के सीमित काल का ही अध्ययन होता है, फिर भी इसका प्राचीन काल से विशेष महत्व रहा है। इस प्रकार के अध्ययन में भाषा के साधु-असाधु रूपों पर चिंतन करते हुए ध्वनि, शब्द आदि इकाइयों रूपी शरीरांग के साथ उसकी अर्थ रूपी आत्मा पर भी विचार किया जाता है। वर्तमान समय में वर्णनात्मक पद्धति के भाषा-अध्ययन की ओर विद्वानों का विशेष झुकाव दिखाई पड़ता है।

2. ऐतिहासिक अध्ययन (Historical Linguistics)–इस पद्धति में भाषा विशेष के काल-क्रमिक विकास का अध्ययन किया जाता है। यदि किसी विशेष भाषा के कालों के विवरणात्मक अध्ययन को कालक्रम से व्यवस्थित कर दिया जाए, तो ऐतिहासिक अध्ययन हो जाएगा।

भाषा-विकास या परिवर्तन की विभिन्न धाराओं का अध्ययन इसी पद्धति में होता है। भारतीय आर्य भाषाओं के विकास-क्रम में हिंदी का अध्ययन करना चाहें, तो इसी पद्धति से वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, भाषाओं पर विचार करते हुए हिंदी भाषा का अध्ययन किया जाएगा। यदि हिंदी शब्दों का उद्भव और विकास जानना चाहेंगे, तो संस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश के साथ हिंदी का कालक्रमिक अध्ययन करना होगा; यथा-कर्म (संस्कृत) > कम्म (प्राकृत) > काम (हिंदी), भाषा चिर परिवर्तनशील है। समय तथा स्थान परिवर्तन के साथ भाषा में परिवर्तन होना स्वाभाविक ही है। समय-समय पर भाषा की ध्वनियों, शब्दों तथा वाक्यों में ही नहीं अर्थ में भी परिवर्तन होता रहता है। यह परिवर्तन हमें ऐतिहासिक पद्धति के अध्ययन से ही ज्ञात होता है। यह भाषा अध्ययन की महत्वपूर्ण पद्धति है।

नोट

3. तुलनात्मक पद्धति (Comparative Linguistics)–भाषा-अध्ययन की जिस पद्धति में दो या दो से अधिक भाषाओं की ध्वनियो, वर्णों, शब्दों, पदों, वाक्यों और यर्थों आदि की तुलना की जाती है, उसे भाषा-अध्ययन की तुलनात्मक पद्धति कहते हैं। इस अध्ययन के अंतर्गत एक भाषा के विभिन्न कालों के रूपों का तुलनात्मक अध्ययन कर उसकी विकासात्मक स्थिति का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करते हैं। एक भाषा की विभिन्न बोलियों की समता-विषमता जानने के लिए भी भाषा-अध्ययन की इस पद्धति का उपयोग किया जाता है। इसका प्रबल प्रमाण है कि प्रारंभ में इसके लिए तुलनात्मक भाषाविज्ञान (Comparative Philology) नाम दिया गया था। यह भी सत्य है कि बिना तुलनात्मक अध्ययन-दृष्टिकोण अपनाए किसी नियम का निर्धारण अत्यंत कठिन होता है। भाषा-परिवार के निर्धारण में भी तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक होता है। भाषा की सरसता, सरलता या विशेषताओं को स्पष्ट रूप से रेखांकित करने के लिए तुलनात्मक अध्ययन सर्वाधिक उपयोगी होता है।

3.4 सारांश

मनुष्य अपनी वाक्-शक्ति से ज्ञान-विज्ञान आदि अनेकानेक क्षेत्रों में महत्त्वमयी पहचान बना चुका है। वैदिक ऋषियों ने भी भाषा और उसकी कलात्मक परिणति के संकेत किये हैं। ऋग्वेद के वाग् सूक्त में 8 मन्त्र इस आशय के संकेत देते हैं। वहाँ कहा गया है कि वाक्तत्व या भाषा ही वह दिव्य ज्योति है जो मानव को ऋषि, देवता या विद्वान् बनाती है।

भाषाविज्ञान के स्वरूप को निश्चित करने में पाँच तत्त्वों का होना अनिवार्य है।

(क) मानव मुखोच्चारित, (ख) यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीक, (ग) व्यवस्था, (घ) सामाजिक आधार, (ङ) विचार-विनिमय

भाषाविज्ञान पूर्ण रूप से विकसित, पल्लवित तथा पुष्पित वह वृक्ष है जिसकी चार मुख्य शाखाएँ हैं-

ध्वनि विज्ञान, रूप विज्ञान, अर्थ विज्ञान तथा वाक्य विज्ञान।

ध्वनि विज्ञान-भाषा के अन्दर ध्वनि का बहुत महत्व है, वस्तुत: ध्वनि भाषा की वह लघुतक इकाई है जिसका पुन: विभाजन नहीं किया जा सकता, ध्वनि विज्ञान के अन्तर्गत उन्हीं ध्वनियों का अध्ययन होता है जिनके संयोग से भाषा का निर्माण होता है।

रूप विज्ञान में शब्दों की रचना प्रक्रिया का अध्ययन किया जाता है। इस रूप विज्ञान को हम दो भागों में बाँट सकते हैं–

(1) शब्द विज्ञान तथा (2) पद विज्ञान।

वाक्य विज्ञान-ध्वनि विज्ञान और रूप विज्ञान पश्चात् भाषाविज्ञान की तीसरी महत्वपूर्ण शाखा वाक्य विज्ञान है। इस शाखा के अन्तर्गत वाक्य की संरचना, उसके आवश्यक उपकरण आदि का मनोवैज्ञानिक और सूक्ष्म अध्ययन होता है।

अर्थ विज्ञान-अर्थ शब्द की आत्मा होता है। जिस प्रकार आत्मा के निकल जाने से शरीर व्यर्थ हो जाता है, उसी प्रकार अर्थ के बिना शब्द का अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है यही कारण है कि रघुवंश नामक महाकाव्य के प्रारम्भ में कालिदास ने शब्द और अर्थ के सम्यक् ज्ञान के लिए उस पार्वती और परमेश्वर की बन्दना की है जो शब्द अर्थ की भाँति जुड़े हुए हैं।

अर्थ विज्ञान के अन्तर्गत शब्द के अर्थ परिवर्तन की विभिन्न दिशाओं का अध्ययन किया जात है। इस अध्ययन में तीन बातें विशेष रूप से ध्यान में रखी जाती है-(1) अर्थ संकोच, (2) अर्थ विस्तार तथा (3) अर्थदेश।

भाषाविज्ञान में एक भाषा, दो भाषाओं अथवा विविध भाषाओं का विशिष्ट अध्ययन करते हैं। भाषा के उच्चरित या लिखित अथवा दोनों स्वरूपों पर चिंतन किया जाता है। भाषाविज्ञान-अध्ययन की कुछ प्रणालियाँ निम्नलिखित हैं।

नोट

1. वर्णनात्मक पद्धति (Discriptive Linguistics)
2. ऐतिहासिक अध्ययन (Historical Linguistics)
3. तुलनात्मक पद्धति (Comparative Linguistics)

3.5 शब्दकोश

1. **मीमांसा–** गंभीर मनन और विचार, एक प्रकार का भारतीय दर्शन।
2. **टंकण–** टाइप करना, सिक्कों आदि की ढलाई।
3. **समुच्चय–** समूह, राशि
4. **पदान्वय–** वाक्य में पदों का परस्पर मेल

3.6 अभ्यास-प्रश्न

1. भाषाविज्ञान के स्वरूप एवं क्षेत्र पर प्रकाश डालिए।
2. भाषाविज्ञान के अध्ययन की विभिन्न दिशाओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन

1. चार 2. यादृच्छिक 3. भाषा 4. वर।

3.7 संदर्भ पुस्तकें

1. भाषा विज्ञान: हिंदी भाषा और लिपि– डॉ॰ रामकिशोर शर्मा, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद
2. *भाषा और भाषा विज्ञान*– गरिमा श्रीवास्तव, संजय प्रकाशन, दिल्ली
3. भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा– नरेश मिश्र, संजय प्रकाशन, दिल्ली

नोट

इकाई 4: भाषा की उत्पत्ति एवं भाषा विकास के कारण

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- भाषा की उत्पत्ति संबंधी अवधारणा से परिचित होंगे।
- भाषा विकास के कारणों से अवगत होंगे।

प्रस्तावना

प्राचीनकाल से भाषा की उत्पत्ति पर विचार होता रहा है। कुछ विद्वानों का मंतव्य है कि यह विषय भाषा-विज्ञान का है ही नहीं। इस तथ्य की पुष्टि में उनका कहना है कि विषय मात्र संभावनाओं पर आधारित है। भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन को भाषाविज्ञान कहते हैं। यदि भाषा का विकास और उसके प्रारंभिक रूप का अध्ययन भाषाविज्ञान का विषय है, तो भाषा-उत्पत्ति भी निश्चय ही भाषाविज्ञान का विषय है। भाषा-उत्पत्ति का विषय अत्यंत विवादास्पद है। विभिन्न भाषा-वैज्ञानिकों ने भाषा-उत्पत्ति पर अपने-अपने विचार प्रस्तुत किए हैं, किंतु अधिकांश मत कल्पना पर आधारित हैं। इनमें कोई भी मत तर्कसंगत, पूर्ण प्रामाणिक तथा वैज्ञानिक नहीं है। इसी कारण किसी भी मत को सर्वसम्मति से स्वीकृति नहीं मिल सकी है।

4.1 भाषा की उत्पत्ति

जब हम भाषा पर विचार करने चलते हैं तो स्वभावत: पहला प्रश्न यह उठता है कि भाषा की उत्पत्ति हुई कैसे? इस प्रश्न पर विचार अत्यन्त प्राचीन काल से होता आया है, पर अब भाषाविज्ञानवेत्ता इस प्रश्न को भाषाविज्ञान के क्षेत्र का नहीं मानते। कोई इसे मानवविज्ञान के क्षेत्र का मानना है, तो कोई प्राचीन इतिहास का। कुछ लोगों का मानना है जो कहते हैं कि भाषाविज्ञान एक विज्ञान है, अत: इसके अन्तर्गत विचारणीय विषय केवल वे हो सकते हैं, जिन पर विचार करने के लिए वैज्ञानिक और ठोस आधार हो, किन्तु भाषा की उत्पत्ति–जो कदाचित् लाखों वर्ष पूर्व हुई थी–पर विचार करने के लिए ऐसे आधार का अभाव है। केवल अनुमान ही किया जा सकता है, अतएव यह भाषाविज्ञान का अंग नहीं माना जा सकता। इन्हीं सब बातों के कारण अब से लगभग सवासदी पूर्व (1866 ई. में)

जब पेरिस में भाषाविज्ञान-परिषद की स्थापना की गई तो संस्थापकों ने परिषद के परिनियमों (सेक्शन 2) में स्पष्ट शब्दों में भाषा की उत्पत्ति पर विचार आदि करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया, और इस प्रश्न को सदा-सर्वदा के लिए भाषाविज्ञान से निकाल देने का प्रयास किया। उसके बाद भी अन्य अनेक विद्वानों ने इस प्रकार के मत व्यक्त किए और आज तो प्राय: सभी मूर्धन्य विद्वान इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि इस प्रश्न का स्थान भाषाविज्ञान में नहीं है। किन्तु, इस प्रतिबन्ध और उपेक्षा के बावजूद भी इन बीच के वर्षों में यह प्रश्न बार-बार उठाया गया है, और यह कहना भी अनुचित न होगा कि न केवल उठाया गया है, अपितु प्राय: हर दशक में इस सम्बन्ध में एक-दो नये सिद्धान्तों की नवीन व्याख्याएँ हमारे समक्ष रखी गई हैं। बात बड़ी सीधी है। जब भाषाविज्ञान 'भाषा' का विज्ञान है तो निश्चय ही 'भाषा' का पूरा इतिहास और उसका हर रूप भाषाविज्ञान के अध्यन का विषय है। ऐसी स्थिति में भाषा की उत्पत्ति और उसके प्रारम्भिक रूप के अध्ययन को निश्चय ही इससे अलग नहीं किया जा सकता। और यह तर्क कि विचार करने के लिए सामग्री का अभाव है, अत: उसे विषय से अलग माना जायेगा, कोई तर्क नहीं है। विचार करते रहने से तो सम्भव है इस दिशाा में हम कुछ आगे बढ़ते रहें—जैसा कि मनोविज्ञानवेत्ता तथा मानविज्ञानविद् कर रहे हैं—किन्तु छोड़ देने पर तो यह प्रश्न ज्यों का त्यों बना रहेगा।

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, इस प्रश्न पर अत्यन्त प्राचीन काल से विचार होता आया है और लोगों ने कई वादों और सिद्धान्तों को इस प्रश्न के उत्तरस्वरूप संसार के समक्ष रखा है। ये सभी वाद या सिद्धान्त सीधे यह बतलाते हैं कि अमुक प्रकार से भाषा की उत्पत्ति हुई, अर्थात् यह सीधे जन्म को पकड़ने का प्रयास करते हैं, इसी कारण इनको 'प्रत्यक्ष मार्ग' के अन्तर्गत रखा जाता है। दूसरी ओर भाषा के आरम्भ तक पहुँचने का एक 'परोक्ष मार्ग' भी है। 'परोक्ष मार्ग' में जन्म पर दृष्टि न ले जाकर भाषाओं के वर्तमान रूप पर दृष्टि ले जाई जाती है और उनके ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक अध्ययन आदि के आधार पर धीरे-धीरे वर्तमान की ओर चला जाता है। इससे भाषा की उत्पत्ति पर तो प्रकाश नहीं पड़ता, पर उसके आरम्भिक रूप का कुछ अनुमान अवश्य लग जाता है।

4.2 भाषा उत्पत्ति के सिद्धांत

भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न मानव की उत्पत्ति तथा उसकी भावाभिव्यक्ति से संबंधित है। इस प्रकार मानव की उत्पत्ति के स्पष्टीकरण पर भाषा-उत्पत्ति का प्रश्न स्वत: स्पष्ट हो जाएगा। इस संदर्भ की चिंतन-परंपरा में निम्नलिखित मंतव्य सामने आए हैं।

1. दैवी-सिद्धांत— भाषा-उत्पत्ति के संदर्भ में यह प्राचीनतम सिद्धांत है। इस सिद्धांत के समर्थकों का विचार है कि भाषा मानव सृष्टि के साथ ईश्वरीय शक्ति से उत्पन्न हुई है, अर्थात् अन्य वस्तुओं के समान भाषा की भी रचना विधाता के द्वारा हुई है। ईश्वर में आस्था रखने वाले अधिकांश धर्मों के अनुयायी इसी सिद्धांत को स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि प्राय: सभी धर्मों के प्रणेताओं ने अपने-अपने धर्म-ग्रंथों को ईश्वर-निर्मित कहा है। वैदिक धर्मावलंबी वेद को अनादि और ईश्वर निर्मित मानकर इसे नित्य कहते हैं—

दैवी वाचमजनयन्त देवा:
तां विश्वरूपा पशवो वदन्ति।

— **ऋग्वेद** 8-1000-11

अर्थात् देवों ने वाग्देवी को उत्पन्न किया। उसका प्रयोग सभी प्राणी करते हैं। बौद्ध मतावलंबी पाली भाषा को आदि भाषा मानते हैं। जैनियों के द्वारा अर्धमागधी को प्राचीनतम भाषा ही नहीं, प्राचीन काल में पशु-पक्षियों द्वारा भी रसास्वादन की जाने वाली भाषा कही गई है।

समीक्षा—यह सिद्धांत पूर्णरूपेण श्रद्धा और संभावना पर आधारित है। इसलिए इसे वैज्ञानिक सिद्धांत नहीं कहा जा सकता है। इस सिद्धांत की कुछ सीमाएँ इस प्रकार हैं—

(क) यदि भाषा ईश्वर प्रदत्त होती तो विश्व की सभी भाषाओं में बहुत अधिक समानता होती, जबकि स्थिति इसके विपरीत है।

(ख) सृष्टि के सभी प्राणी, कम से कम मानव जाति के सभी सदस्य एक भाषा का प्रयोग करते, किंतु ऐसा नहीं है।

नोट

(ग) इस सिद्धांत की सत्यता पर मानव शैशव-काल से ही विकसित भाषा को प्रयोग करता, जबकि वह विकास क्रम में धीरे-धीरे भाषा सीखता है।

2. संकेत-सिद्धांत– इसे निर्णय सिद्धांत, प्रतीकवाद, स्वीकारवाद भी कहते हैं। मनुष्य प्रारंभ में हाथ, पैर और सिर आदि को विशेष प्रक्रिया से हिलाकर भावाभिव्यक्ति करता रहा होगा। परवर्ती काल में जब इससे काम नहीं चला होगा, तो उसने सामाजिक समझौते के आधार पर विभिन्न भावों तथा वस्तुओं के लिए संकेत निश्चित किए होंगे। इस प्रकार पारस्परिक विचार-विनिमय के द्वारा ध्वनि-संकेतों के निश्चय से भाषा की उत्पत्ति हुई है।

समीक्षा– इस सिद्धांत-संदर्भ में निम्नलिखित सशक्त प्रश्न सामने आते हैं–

(क) यदि इससे पूर्व भाषा न थी, तो फिर लोग इकट्ठे कैसे हुए?

(ख) मानव ने एकत्र होकर शब्द का गठन कैसे किया?

(ग) जिन वस्तुओं के लिए चिह्नों का निर्धारण किया गया, उनको एक स्थान पर एकत्र कैसे किया गया?

(घ) यदि इससे पूर्व भाषा न थी, तो फिर उसकी आवश्यकता का अनुभव कैसे हुआ?

3. धातु सिद्धांत– इसे रणन, अनुरणन, अनुरणन-मूलक, डिंग-डांग आदि नाम दिए गए हैं। इस सिद्धांत का संकेत प्लेटो ने किया और प्रोफेसर हेस ने इसे व्यवस्थित रूप दिया है। इसके पल्लवन में मैक्समूलर का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। इस सिद्धांत के अनुसार सृष्टि की सभी वस्तुओं की अपनी ध्वनि होती है। प्रारंभ में मानव जब किन्हीं बाह्य वस्तुओं के संपर्क में आता, तो वह उनसे निकलने वाली ध्वनियों के आधार पर शब्द निर्माण कर लेता था। इस सिद्धांत के समर्थकों के अनुसार प्रारंभ में धातुओं की संख्या अधिक थी, किंतु भाषा-उत्पत्ति के समय यह संख्या घटकर 400-500 ही रह गई, जिनके आधार पर भाषा की उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार मनुष्य जैसे-जैसे नई वस्तुओं के संपर्क में आता था, वैसे-वैसे उनके लिए ध्वनि-संकेत बनाता जाता था। जब मनुष्य को भाषा प्राप्त हो गई, तो यह प्रक्रिया पूर्ण हो गई।

नोट्स धातु सिद्धांत के अनुसार जैसे-जैसे व्यक्ति धातुओं के संपर्क में आता गया वैसे-वैसे उनसे निकलने वाली ध्वनियों के माध्यम से अपने लिए शब्द निर्माण करता चला गया और इस प्रकार भाषा बनती चली गई।

समीक्षा–इस सिद्धांत पर उठने वाले प्रश्न इस प्रकार हैं–

(क) निराधार, मात्र कल्पना को वैज्ञानिक कैसे माना जाएगा?

(ख) इस सिद्धांत के अनुसार विश्व की सभी भाषाएँ धातु पर आधारित हैं, जबकि ऐसा नहीं है। चीनी भाषा इस सिद्धांत से पूर्ण भिन्न है।

(ग) भाषा मात्र धातु से ही नहीं बनती है, वरन् इसमें उपसर्ग-प्रत्यय की आवश्यकता होती है।

(घ) इस सिद्धांत के अनुसार भाषा पूर्ण है, जबकि भाषा का अंतिम रूप होता ही नहीं।

(ङ) इस सिद्धांत के अनुसार आदि मानव के पास पूर्ण भाषा के निर्माण की अपूर्व कल्पना शक्ति थी, फिर वह शक्ति अब क्यों नहीं दिखाई देती है।

4. आवेग-सिद्धांत– इसे पूह-पूहवाद्', मनोभावाभिव्यंजकतावाद और मनोभावाभिव्यक्तिवाद भी कहते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार मनुष्य का मनोभाव, हर्ष-विषाद, सुख-दु:ख तथा विस्मय-क्षोभ में इतना तीव्र हो जाता है कि मुँह से ध्वनि स्वत: ही निकल जाती है; यथा-हर्ष में वाह-वाह, अहा, दुख में हाय, ओह; तिरस्कार और घृणा में छि:-छि:, धिक् आदि। इन्हीं ध्वनियों से भाषा-उत्पत्ति और विकास की कल्पना की गई है।

समीक्षा–इस सिद्धांत को सर्व-सम्मति से सहमति नहीं मिल सकी, क्योंकि–

(क) भावात्मक तीव्रता के आधार पर स्वाभाविक अभिव्यक्ति संभव नहीं है।

नोट

(ख) ऐसी ध्वनियों में सहज चिंतन और समुचित व्यवस्था का अभाव होता है, जो भाषा के अनिवार्य तत्त्व हैं।

(ग) प्रत्येक भाषा में ऐसे शब्दों की संख्या अत्यंत सीमित होती है।

(घ) ऐसे शब्दों का प्रयोग भी बहुत ही कम होता है।

5. यो-हे-हो सिद्धांत– इसे श्रमपरिहरणमूलकतावाद भी कहते हैं। इस सिद्धांत के प्रतिपादक न्वायरे हैं। इस सिद्धांत का आधार यह है कि जब मनुष्य शारीरिक परिश्रम करता है, तो श्वास-प्रश्वास की गति तीव्र हो जाती है। ऐसे समय मांसपेशियों और स्वरतंत्री में संकोच-विस्तार बढ़ जाने पर कुछ ध्वनियाँ अनायास निकलती हैं। इससे परिश्रम करनेवाले को कुछ आराम मिलता है। कपड़ा धोते समय धोबी "छियो-छियो" या "हियो-हियो" कहता है। मल्लाह (नाव चलाने वाला) थकान के समय "हैया-हैया" कहता है।

समीक्षा–भाषा-उत्पत्ति के संदर्भ में यह सिद्धांत भाषायी दृष्टि से सर्वाधिक शिथिल है। इस प्रक्रिया से निकले सभी शब्द श्रम-परिहरण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, किंतु सहज भावाभिव्यक्ति में निरर्थक हैं। मात्र ऐसे शब्दों से भाषा की उत्पत्ति संभव नहीं है।

6. अनुकरण-सिद्धांत– इसे ध्वनि-अनुकरण और भों-भों सिद्धांत भी कहते हैं। मैक्समूलर ने उपहास के लिए कुत्ते की बोली के आधार पर बाउ-बाउ सिद्धांत कहा, हिंदी में इसे "भों-भों" बना लिया गया। इस सिद्धांत के अनुसार प्रकृति के पशु-पक्षी, नदी-नाले, बिजली-बादल के दृश्यात्मक और ध्वन्यात्मक अनुकरण के आधार पर भाषा की उत्पत्ति हुई है। सभी भाषाओं में ऐसे कुछ शब्द अवश्य मिल जाते हैं। हिंदी में काँव-काँव, पी-कहाँ, कू-कू, भौं-भौं, झर-झर, चम-चम, गड़-गड़ आदि शब्दों के प्रयोग होते हैं।

समीक्षा– इस सिद्धांत के संदर्भ में कुछ आपत्तियाँ हैं–

(क) सभी भाषाओं में ऐसे शब्दों की संख्या अत्यंत सीमित है।

(ख) यदि मनुष्य के द्वारा निम्न प्राणियों की ध्वनियों के आधार पर भाषा का निर्माण हुआ तो उसने अपनी ध्वनियों पर भाषा का निर्माण क्यों नहीं किया?

(ग) भाषा के अभाव में ध्वनि का अनुकरण कैसे संभव हुआ?

7. इंगित सिद्धांत– इसके प्रतिपादक डॉ. राय हैं। इस सिद्धांत के अनुसार मनुष्य ने सर्वप्रथम विभिन्न संदर्भों की अपनी आंगिक-चेष्टाओं के अनुकरण पर भाषा का प्रयोग किया और इसी से भाषा की उत्पत्ति हुई। जैसे–मनुष्य जब पानी पीता है, तो बार-बार होंठों के स्पर्श से 'पा' 'पा' की ध्वनि होती है। इसके ही अनुकरण पर 'पीना' शब्द बना लिया गया।

समीक्षा– अनुकरण के आधार पर भाषा उत्पत्ति संभव नहीं हैं–

(क) ऐसे शब्दों की संख्या अत्यंत सीमित है।

(ख) विभिन्न अंगों से अन्य वस्तुओं के स्पर्श द्वारा कितने शब्दों की उत्पत्ति संभव है?

8. संपर्क सिद्धांत– इस सिद्धांत के प्रतिपादक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक जी. रेवेज हैं। उनके अनुसार मानव-समाज के निर्माण के समय संपर्क भावना से कुछ ध्वनियाँ सहज रूप से निकल पड़ी होंगी। इनके विकास से ही भाषा बनी होगी।

समीक्षा–आदिम मनुष्य के संदर्भ में यह सिद्धांत कुछ तर्कसंगत लगता है, किंतु संपर्क के मनोवैज्ञानिक आधार से सामान्य सिद्धांत का ही रूप सामने आता है। उसके विकसित तथा स्पष्ट रूपका ज्ञान नहीं होता है।

9. संगीत सिद्धांत– इस सिद्धांत को सामने लाने का श्रेय डार्विन, स्पेन्सर और येस्पर्सन को जाता है। उनका कहना है कि प्रारंभ में मनुष्य संगीतप्रिय रहा होगा। समय-समय पर गुनगुनाते रहने से निरर्थक ध्वनियाँ धीरे-धीरे विकसित होकर सार्थक हो गई होंगी। इसी से भाषा की उत्पत्ति हुई होगी।

समीक्षा–इस सिद्धांत पर कुछ आपत्तियाँ इस प्रकार हैं–

नोट

(क) यह सिद्धांत कल्पना पर आधारित है।

(ख) आदिमानव के प्रबल संगीत-प्रेम का कोई प्रमाण नहीं है।

10. समन्वय सिद्धांत– इस सिद्धांत के प्रवर्तक हेनरी स्वीट हैं। उन्होंने देखा कि ऊपर के किसी एक सिद्धांत से भाषा की उत्पत्ति संभव नहीं है, तो उन्होंने सभी सिद्धांतों के समन्वित रूप को स्वीकार किया। उन्होंने यह भी कहा है कि जिस प्रकार संसार की सभी वस्तुओं का विकास होता है, उसी प्रकार भाषा का भी विकास क्रमिक रूप में हुआ है। उन्होंने अनुकरणात्मक, मनोभावाभिव्यंजक तथा प्रतीकात्मक आदि रूपों में विकास-क्रम को रेखांकित किया है।

निष्कर्ष रूप से हम कह सकते हैं कि भाषा की उत्पत्ति विभिन्न ध्वनियों के आधार पर निर्मित शब्दों के विकास क्रम में हुई है।

क्या आप जानते हैं भाषा-उत्पत्ति का समन्वय सिद्धांत अन्य सिद्धांतों की अपेक्षा कहीं अधिक उपयोगी तथा तर्कसंगत है। इस सिद्धांत की सार्थकता में अनेक शब्दों के उत्पत्ति-प्रमाण मिल जाते हैं।

4.3 भाषा का विकास (परिवर्तन) और उसके कारण

भाषा में परिवर्तन होना ही उसका विकास या विकार है। भाषा चिरपरिवर्तनशील है। भाषा में विकास या परिवर्तन उसके पाँचों ही रूपों–ध्वनि, शब्द, रूप, अर्थ और वाक्य–में होता है (ध्वनि–लोप, आगम, विपर्यय, परिवर्तन आदि; रूप–रामस्य, राम का, वाक्य–शब्द-क्रम, अन्वय आदि; शब्द–पुराने का लोप और नये का आना; अर्थ–अर्थ में विस्तार, संकोच या आदेश आदि)।

शब्दशास्त्र पर विचार करने वाले प्राचीन भारतीय आचार्यों में कात्यायन, पंतजलि, केयट तथा काशिकाकार जयादित्य और वामन के नाम इस दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। यूरोप में इस विषय पर गम्भीरता से और व्यवस्थित रूप से विचार करने वाले प्रथम व्यक्ति डैनिश विद्वान् जे. एच. ब्रेड्सडॉर्फ हैं। इन्होंने 1821 ई. में गॉथिक ध्वनि-परिवर्तन पर विचार करते समय तथा अन्यत्र भी भाषा-परिवर्तन के 7-8 कारण गिनाये थे। तब से इस सदी तक पाल, येस्पर्सन आदि अनेक लोगों ने इस विषय को उठाया। पिछले दशक में स्टुर्टवेंट ने इस विषय का पहली बार बहुत विस्तार से विवेचन किया, यद्यपि उसे भी पूर्ण नहीं माना जा सकता है।

विकास के कारणों के प्रमुख दो वर्ग–भाषा का विकास जिन कारणों से होता है, उन्हें प्रमुखत: दो वर्गों में रखा जा सकता है। एक **अभ्यंतर** (या आन्तरिक वर्ग) और दूसरा **बाह्य**। **अभ्यंतर वर्ग में** भाषा की अपनी स्वाभाविक गति (जिसमें प्रमुखत: भाषा की कठिन से सरल होने की प्रवृत्ति है) तथा वे कारण सम्मिलित हैं, जो प्रयोक्ता की शारीरिक या मानसिक योग्यता आदि सम्बन्धी स्थिति से सम्बन्ध रखते हैं। **बाह्य वर्ग** में वे कारण आते हैं, जो बाहर से भाषा को प्रभावित करते हैं।

इन दोनों में पहले प्रकार के कारण **भीतरी, आन्तरिक** या **अभ्यंतर** कहे जा सकते हैं और दूसरे प्रकार के कारणों को **'बाहरी'** या **'बाह्य'** की संज्ञा दी जा सकती है। यहाँ दोनों के अन्तर्गत आने वाले कुछ प्रमुख कारणों पर संक्षेप में विचार किया जा रहा है। विशेष महत्व के कारण सादृश्य पर अलग से प्रकाश डाला गया है।

(क) अभ्यंतर वर्ग

अभ्यंतर वर्ग के अन्तर्गत वे सभी कारण आते हैं जो प्रभाव नहीं डालते। संक्षेप में, प्रधान कारणों को यहाँ लिया जा सकता है–

1. **प्रयोग से घिस जाना–** अधिक प्रयोग के कारण धीरे-धीरे अन्य सभी चीजों की भाँति भाषा में भी स्वाभाविक रूप से परिवर्तन होता है। संस्कृत की कारकीय विभक्तियाँ इसी प्रकार धीरे-धीरे घिसते-घिसते समाप्त हो गई।

नोट

2. **बल**–जिस ध्वनि या अर्थ पर अधिक बल दिया जाता है, वह अन्य ध्वनियों या अर्थों को या तो कमजोर बना देता है, या समाप्त कर देता है। इस प्रकार इसके कारण भी भाषा में विकास या परिवर्तन हो जाता है।

3. **प्रयत्न-लाघव**–भाषा में विकास लाने वाले या परिवर्तन उपस्थित करने वाले कारणों में यह सबसे महत्वपूर्ण है और भाषा में विकास या परिवर्तन के 90 प्रतिशत से भी अधिक का दायित्व इसी पर है। इसे 'मुख-सुख' भी कहते हैं।

   आदमी कम से कम प्रयास से अधिक काम करना चाहते हैं। बोये हुए खेतों में भी लोगों की वही प्रवृत्ति बीच से तिरछे रास्ता बना देती है। बोलने में भी इसी प्रकार कम से कम प्रयत्न से लोग शब्दों को उच्चरित करना चाहते हैं और इस कम से कम प्रयास, या प्रयत्न-लाघव (प्रयत्न की लघुता) के प्रयास में ही शब्दों को सरल बनाते या सरलता के लिए कभी तो बड़ा और कभी छोटा बना डालते हैं, या कभी केवल कठिन संयुक्त व्यंजनों आदि को सरल कर लेते हैं। कृष्ण का कन्हैया, कान्हा या किशन, भक्त का भगत, प्वाइंट्समैन का पैटमैन, स्टेशन का टेसन, धर्म का धरम, 'बीबी जी' का बीजी, गोपेन्द्र का गोबिन, गृद्ध का गिद्ध तथा आलक्तक का आलता आदि सरल करके बोलने के प्रयास के ही फल हैं। अंग्रेजी में क्नो (Know) का उच्चारण नो, क्नाइफ (Knife) का नाइफ तथा टाल्क (Talk) का टाक भी इसी का परिणाम है। सरलता या प्रयत्न-लाघव के लिए कुछ शब्द तो छोटे कर लिये जाते हैं, जैसे उपाध्याय से ओझा, 'कब ही', से कभी, 'जब ही' से जभी 'हास्तिन् मृग' से 'हस्ती' फिर 'हाथी' या बोलने में 'मास्टर साहब' का 'मास्साब', 'पंडित जी' का 'पंडी जी' 'जैराम जी की' का 'जैरम', 'मार डाला' का 'माड्डाला'। कुछ शब्द सरल बनाने के लिए बड़े कर लिए जाते हैं, जैसे प्रसाद से परसाद, कृष्ण से कन्हेया, स्कूल से इस्कूल, स्नान से असनान, प्लेटो से अफलातून, ग्रहण से गरहन या गिरहन तथा उम्र से उमिर आदि, संक्षेप का प्रयोग, जैसे डी. एम. (डिस्ट्रिक्ट मस्ट्रेट), एन. टी. (नायब तहसीलदार), भारत (भारतवर्ष) या सुदी (शुक्ल दिवस) आदि भी प्रयत्न-लाघव की दृष्टि से ही किया जाता है।

   प्रयत्न-लाघव या मुख-सुख कई प्रकार से लाया जाता है, जिनमें स्वर-लोप (जैसे अनाज से नाज या एकादश से ग्यारह), व्यंजन-लोप (जैसे स्थाली से थाली), अक्षर-लोप (शहतूत से तूत), स्वरागम (स्काउट से इस्काउट, कर्म से करम, कृपा से किरिपा), व्यंजनागम (अस्थि से हड्डी), विपर्यय (वाराणसी से बनारस, या पहुँचना से चहुँपना), समीकरण (शर्करा से शक्कर या कलक्टर से कलट्टर), विषमीकरण (काक से काग), तथा स्वत: अनुनासिकता (उष्ट्र से ऊँट, श्वास से साँस तथा राम से राँम) तथा कुछ अन्य (जैसे गृह से घर, वधू से बहू आदि) प्रमुख हैं।

4. **मानसिक स्तर**–बोलने वालों के मानसिक स्तर में परिवर्तन होने से विचारों में परिवर्तन होता है। विचारों में परिवर्तन होने से अभिव्यंजना के ढंग में परिवर्तन होता है, और इस प्रकार भाषा पर भी प्रभाव पड़ता है। इसका स्पष्ट परिणाम अर्थ-परिवर्तन होता है, पर कभी-कभी ध्वनि पर भी असर देखा गया है।

5. **अनुकरण की अपूर्णता**–यह इस वर्ग का अन्तिम कारण है। भाषा अर्जित सम्पत्ति है और उसका अर्जन मनुष्य अनुकरण के सहारे समाज से करता है। अनुकरण यदि पूर्ण हो तब तो व्यक्ति किसी शब्द को ठीक उसी प्रकार कहेगा, जैसे वह व्यक्ति कहता है जिसका कि वह अनुकरण कर रहा है, किन्तु प्राय: ऐसा होता नहीं। अनुकरण प्राय: अपूर्ण या ठीक नहीं होता है। ध्वनि का अनुकरण सुनकर तथा उच्चारण-अवयवों की गति देखकर (जितना दिखायी दे सके), किया जाता है। वाक्य, अर्थ आदि का अनुकरण (क) कुछ भाषिक तथ्यों को तो छोड़ देता है तथा (ख) कुछ को अपनी ओर से अनजाने ही जोड़ देता है। इस तरह अनुकरण में भाषा का परिवर्तन पनपता रहता है। जब एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी, भाषा का अनुकरण कर रही होती है, ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य, अर्थ–भाषा के पाँचों क्षेत्रों में इसी छोड़ने औार जोड़ने के कारण परिवर्तन की प्रक्रिया तेजी से घटित होती रहती है।

नोट

आर, एम. पिडल (1926) तथा ए. डुरेकर (1927) ने कुछ स्थानों में इस बात का अनेक वर्षों तक बड़ी सूक्ष्मता से अध्ययन किया, और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह परिवर्तन या विकास का सबसे बड़ा कारण है। समाज में मोटे रूप से तीन पीढ़ियाँ होती हैं। **नवोदित** जो 20-22 या 25 से कम के उम्र हैं, **बहुत सक्रिय** जो 20-23 या 25 से 30 वर्ष के बीच के होते हैं, और **अस्तप्राय** जो 60 से ऊपर के होते हैं। एक ही समाज में इन तीनों की भाषा में स्पष्ट अन्तर मिलता है। यद्यपि यह अन्तर यों देखने में बहुत अधिक नहीं होता और कई पीढ़ियों के बाद ही भाषा पर उनकी सुस्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है। पीढ़ी-परिवर्तन के साथ, अनुकरण की अपूर्णता के अतिरिक्त यों अन्य कारण भी काम करते हैं, जैसे अन्य प्रभाव, बल देने के लिए या नवीनता के लिए नये प्रयोग या एक से अनेक या अनेक से एक करने की प्रवृत्ति आदि। जैसा कि कह चुके हैं, एक-दो पीढ़ी में तो इसका स्पष्ट पता नहीं चलता, पर जब आठ-दस पीढ़ी पीछे की भाषा की आठ-दस पीढ़ी बाद में तो इसका स्पष्ट पता नहीं चलता, पर जब आठ-दस पीढ़ी पीछे की भाषा की आठ-दस पीढ़ी बाद की भाषा से हम तुलना करते हैं, तो दोनों के अन्तर का पता साफ चल जाता है, और हमें यह मानने को बाध्य होना पड़ता है कि भाषा विकसित या परिवर्तित हो गई है।

अनुकरण की अपूर्णता के लिए भी कई कारण हैं जिनमें मुख्य निम्नलिखित हैं–

(*i*) **शारीरिक विभिन्नता**–ध्वनियों का उच्चारण अंगों के सहारे करते हैं और सब उच्चारण-अंग एक-से नहीं होते, अतएव उनका अनुकरण बिल्कुल पूर्ण नहीं हो पाता। सामान्यतः इस विभिन्नता के प्रभाव का पता नहीं चलता, पर कई पीढ़ी बाद जो परिवर्तन दिखाई पड़ता है, उनमें निश्चय ही इसका भी कुछ न कुछ हाथ रहता है।

(*ii*) **ध्यान की कमी**–इसके कारण भी अनुकरण अपूर्ण रह जाता है। इसका भी भाषा के विकास पर प्रभाव दस-बीस पीढ़ी के बाद ही स्पष्ट हो पाता है।

(*iii*) **अशिक्षा**–अशिक्षा तथा अज्ञान के कारण भी अनुकरण अपूर्ण रह जाता है। श का स (देश से देस), ष का स (तृष्णा का तिसना), ण का न (गुण का गून या कर्ण का कान) तथा क्ष का च्छ या छ (शिक्षा का सिच्छा या क्षत्रिय का छत्री) आदि मुख-सुख या प्रयत्न लाघव के अतिरिक्त अज्ञान या अशिक्षा के कारण भी हो जाते हैं। विदेशी शब्द सामान्य जनता में आन या अशिक्षा के कारण ही क्या से क्या हो जाते हैं। उदाहरणार्थ रैबिट का 'रिबीट' या 'रिबिट', डाक्टर का 'डगडर', ज़माना का 'जमाना', एंजिन का 'इंजन', गार्ड का 'गारद', ड्रिल का 'दलेल', इन्सपेक्टर का 'इसपट्टर', 'हू कस्स देयर' का 'हुकुमसदर', लार्ड का 'लाट', टाइम का 'टेम', सिगनल का 'सिंगल', दर्ख्वास्त का 'दरखास', मास्टर का 'महटर' या 'महट्टर', कानूनगो का 'कानुनगोह', प्लाटून का 'पलटन', 'ज्वाइन' का 'जैन', तथा काजी हाउस का 'काजीहौद' आदि देखे जा सकते हैं।

(*iv*) **जानबूझकर परिवर्तन**–भाषा में, कभी-कभी जानबूझकर भी उस भाषा के प्रबुद्ध बोलने वाले या लेखक आदि परिवर्तन कर देते हैं। प्रसाद ने 'अलैक्जैडर' का अलक्षेन्द्र कर दिया है। यह परिवर्तन स्वाभाविक नहीं है। इसी प्रकार अनेक देशज तथा विदेशी शब्दों का संस्कृत के साहित्यकारों ने संस्कृतीकरण किया है। जैसे अरबी 'अफियून' का अहिफेन या तुर्की 'तुर्क' का 'तुरुष्क'। कभी-कभी उपयुक्त शब्द न मिलने पर लोग जान-बूझकर किसी मिलते-जुलते शब्द का नये अर्थ में प्रयोग कर देते हैं और शब्द यदि बहुत प्रचलित न रहा तो उस नये अर्थ में चल पड़ता है। जैसे 'ट्रैजेडी' से 'त्रासदी' या 'कमेडी', से 'कामदी'। अभिव्यक्ति में चमत्कार या नवीनता आदि लाने के लिए कलाकारों द्वारा निरंकुश प्रयोग भी भाषा में इस प्रकार के परिवर्तन ला देता है।

(*v*) **जातीय मनोवृत्ति**–हर जाति की अपनी मनोवृत्ति होती है, और भाषाा उसके अनुसार परिवर्तित होती है। यही कारण है कि एक ही भाषा दो या अधिक जातियों में प्रचलित होकर दो या अधिक प्रकार से विकसित होती है। एक जातीय मिश्रण ग्रिम नियम के प्रथम वर्ण-परिवर्तन का कारण बना, दूसरा दूसरे का।

नोट

क्या आप जानते हैं प्रयत्न-लाघक से आप क्या समझते हैं?

(क) बाह्य वर्ग

1. **भौतिक वातावरण**–भाषा पर इसका सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। एक भाषा के अन्तर्गत अनेक बोलियाँ या एक परिवार में अनेक भाषाएँ मूलत: इसी कारण से बन जाती हैं। भौतिक वातावरण का प्रभाव कई प्रकार से पड़ सकता है–

   (*i*) गर्मी और सर्दी के अधिक या कम होने से जीविका, स्वभाव, रहन-सहन आचरण आदि पर प्रभाव पड़ता है ओर भाषा इन सभी पर आधारित है।

   (*ii*) मैदान आदि में दूर तक लोग सम्पर्क रख पाते हैं, अत: भाषा में एकरूपता बनी रहती है। पर, पहाड़ी भागों में या अन्य ऐसे भागों में, जहाँ आने-जाने की सुविधा कम है, या है ही नहीं, लोग अलग-अलग रहने के आदी हो जाते हैं फल यह होता है कि उनकी भाषा का अलग-अलग विकास होता है और कई भाषाओं या अनेक बोलियों का विकास हो जाता है। इसी कारण पहाड़ों पर बोली थोड़ी-थोड़ी दूरी पर थोड़ी-बहुत अवश्य बदल जाती है। बड़ी नदियों के किनारों की बोली में भी इसी कारण कुछ अन्तर दिखाई देता है। ग्रीस में ऐसे ही कारणों से नगर-जनपद की प्रथा चल पड़ी। फल यह हुआ कि वहाँ बोलियों की भरमार हो गई।

   (*iii*) भूमि उपजाऊ है तो खाद्य-सामग्री की कमी न रहेगी और फल यह होगा कि लोगों को उन्नति करने का समय मिलेगा, अत: उन लोगों की भाषा में अनुपजाऊ भूमि में रहने वालों की अपेक्षा संस्कार अधिक होगा। वे लोग गूढ़ विषयों पर सोचेंगे, अत: उसकी अभियन्ता के लिए उनकी भाषा गम्भीर होती जायेगी, जैसा कि भारत या यूनान आदि में हुआ है। इसके विरुद्ध पहाड़ी या जंगली लोगों की भाषा में इस प्रकार का विकास नहीं होता। इस तरह उपजाऊ भूमि क कारण भाषा के परिवर्तन एवं विकास को बल मिलता है।

2. **सांस्कृतिक प्रभाव**–संस्कृति समाज का प्राण है, अत: उसका भी प्रभाव भाषा पर पड़ता है और उसके कारण भाषा में विकास होता है। इसके अन्तर्गत भी प्रभाव कई प्रकार का हो सकता है।

   (क) सांस्कृतिक संस्थाएँ प्राचीन शब्दों को एक बार फिर ला देती हैं, साथ ही विचार में भी परिवर्तन करर देती है, जिससे अभिव्यक्ति की शैली आदि प्रभावित होती है। 19वीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के आदि की भाषा पर आर्य समाज आदि के कारण संस्कृत शब्द अपने तत्सम रूप में इतने अधिक घुस आये हैं कि कहने की आवश्यकता नहीं।

   (ख) **व्यक्ति**–महान् व्यक्तियों का भी भाषा पर प्रभाव पड़ता है। गोस्वामी तुलसीदस ने उत्तरी भारत की भाषा, उसके समाज तथा धर्म सभी को यथेष्ट प्रभावित किया है। कितने शब्दों को उन्होंने मूल रूप में या कविता में तुक आदि के लिए कुछ तोड़कर रखा और वे चल पड़े। उनके बाद की कविता की शैली भी उनसे प्रभावित हुई थी। इसी प्रकार गाँधी जी के कारण हिन्दी की हिन्दुस्तानी शैली को काफी बल मिला।

   (ग) **सांस्कृतियों का सम्मिलन**–व्यापार, राजनीति तथा धर्म-प्रचार आदि के कारण कभी-कभी दो संस्कृतियों का सम्मिलन होता है। इसका भी भाषा के विकास या परिवर्तन पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, भारत ही को लें। यहाँ इस प्रकार के कई सम्मिलन हुए जिनमें कम से कम पाँच अधिक महत्वपूर्ण है–

      (*i*) आस्ट्रिकों और द्रविड़ों का।

      (*ii*) द्रविड़ों और आर्यों का।

नोट

(*iii*) आर्यों और यवनों का।

(*iv*) भारतीयों और मुसलमानों का।

(*v*) भारतीयों और यूरोप वालों का।

इन संस्कृतियों के सम्मिलन से भाषा पर प्रकार के प्रभाव सम्भव होते हैं–

(1) **प्रत्यक्ष–**जैसे: (क) शब्दों की लेन-देन–आज हमारी भारतीय भाषाओं में उपर्युक्त सभी संस्कृतियों के शब्द हैं। हिन्दी में ही आस्ट्रिकों के गंगा आदि; द्रविड़ों के तीर, आलि, मीन आदि यवनो (ग्रीकों) के होड़ार, दाम, सुरंग, आदि; तुर्कों एवं मुसलमानों के पायजामा, बाजार, दूकान, कागज, कलम, सन्दूक, किताब, तकिया, रजाई आदि; तथा यूरोपियनों के खेल, न्याय और फैशन आदि सम्बन्धी, हॉकी, टेनिस, कॉलर, टाई, पेंसिल, बटन, फ्रेम, डिग्री, साइकिल, मोटर, रेल, स्टेशन, निब, कोट कलक्टर तथा पेन, आदि हजारों प्रचलित हैं। हिन्दी में इस प्रकार के शब्दों की ठीक से छानबीन की जाय तो इनकी संख्या आठ हजार से कम न होगी।

(क) **ध्वनि का आना–**मूल योरोपीय भाषा में टवर्गीय ध्वनि नहीं थी, पर भारत में आने पर कदाचित द्रविड़ों के प्रभाव से आर्यभाषा में ये ध्वनियाँ आ गई और आज सभी ध्वनियों क भाँति इसका भी प्रयोग होता है। हिन्दी भाषा में मुसलमानों तथा अंग्रेजी के सम्पर्क से कई नवीन ध्वनियाँ आ गई हैं, जैसे क़, ज़, ग़, ख़, फ़ तथा ऑ।

(ख) वाक्य-गठन, मुहावरे, लोकोक्ति तथा अभिव्यक्ति की शैली भी विदेशी भाषाओं से प्रभावित होती है। उदाहरणार्थ, हिन्दी इसी दृष्टि से फारसी, अंग्रेजी आदि से पर्याप्त प्रभावित है। 'पानी-पानी होना' मूलत: फारसी 'अरब-अरब शुदन' का अनुवाद है तो 'कार्य रूप में परिणत करना अंग्रेजी To translate into action का।

(2) **अप्रत्यक्ष–**विचार-विनिमय के कारण एक-दूसरे का साहित्य, कला आदि पर भी प्रभाव पड़ता है और उससे भी भाषा (गठन, अभिव्यक्ति-पद्धति तथा मुहावरे आदि) अछूती नहीं रहती।

समाज की व्यवस्था–सामाजिक व्यवस्था के कारण समाज में शान्ति या अशांति रहती है और उसका भी जीवन के प्रत्येक अंग पर प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव घूम-फिर कर भाषा पर भी पड़ता है। युद्ध या क्रान्ति में भाषा में विशेष रूप स ध्वनि-परिवर्तन होते हैं। लोगों के पास इतना समय नहीं रहता और न शान्ति ही रहती है कि उच्चारण पूर्णरूपेण करें। संकेत से अधिक काम लेना पड़ता है। आधुनिक काल में समय कम होने के कारण ही अनेक प्रचलित शब्दों के संक्षिप्त रूप बनाये गये हैं। हम कृ. ए. उ. (P.T.O.) लिखकर कृपया पृष्ठ उलटिए, का काम चला लेते हैं, पूरा नाम न कह कर शर्मा, वर्मा और तिवारी ही कहा जाता है। सी. आई. डी. वी. सी, डी. एम. नेफा, पेप्सू तथा यूनेस्को आदि भी इसी प्रकार के संक्षिप्त रूप हैं।

बोलने वालों की उन्नति–बोलने वालों की उन्नति वैज्ञानिक या अन्य क्षेत्रों में होती है तो भाषा में भी परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन दो रूपों में हो सकता है। एक तो नयी उन्नति के अनुरूप नयी अभिव्यक्तियों के लिए भाषा में कुछ नयी चीजें–मशीन, वस्त्र, खाना, मनोरंजन आदि–(या विचार) आ जाते या आविष्कृत हो जाते हैं, तो उनके लिए नए शब्द आ जाते हैं। भारत इधर दिन-पर-दिन उन्नति करता जा रहा है, अत: उसकी भाषाओं में बड़ी तेजी से नये शब्द आते जा रहे हैं। यदि कोई देश उसके उल्टे बहुत अवनति करने लगे और खाने को मुहताज हो जाय तो अत्यधिक आराम (luxury) की बहुत-सी चीजें लुप्त हो जायेंगी, और यदि स्थिति बदली नहीं तो उनके प्रसंग में प्रयुक्त शब्द भी लुप्त हो जायेंगे।

नोट

स्व-मूल्यांकन

दिए गए कथन के सामने सही (✓) अथवा गलत (×) का निशान लगाइए–

1. भाषा उत्पत्ति के संदर्भ में धातु सिद्धांत संकेत सर्वप्रथम प्लेटो ने किया था। ☐
2. भाषा उत्पत्ति से संबंधित संगीत सिद्धांत के समर्थक मनोवैज्ञानिक जी रेवेज हैं। ☐
3. प्रयत्न-लाघव को बलाघात भी कहते हैं। ☐
4. दो संस्कृतियों का सम्मिलन भी भाषा विकास में सहायक होता है। ☐

(ग) सादृश्य

कहते हैं खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग बदलता है। इसी प्रकार भाषा में भी शब्द या वाक्य दूसरे शब्द या वाक्य की सदृशता पर उसी प्रकार के बन जाते हैं। इस प्रकार इसका भी भाषा के विकास या परिवर्तन में बहुत बड़ा हाथ है। इसे उपर्युक्त आभ्यन्तर और बाह्य किसी एक वर्ग में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि यह दोनों में आता है। आज की हिन्दी की वाक्य-रचना बहुत से लेखकों में अंग्रेजी के सादृश्य पर मिलती है। यह बाह्य है। दूसरी ओर 'पाश्चात्य' के सादृश्य पर 'पौर्वात्य' शब्द चल रहा है, 'एकदश' द्वादश के सादृश्य पर 'एकादश' हो गया है, या 'निगुण' के सादृश्य पर 'सगुण' 'सर्गुन' या 'सर्गुन' हो गया है। यह आभ्यंतर है। इसी प्रकार अनेक अन्य उदाहरण भी लिए जा सकते हैं।

भाषा के विकास के सम्बन्ध में अन्तिम बात यह कह देनी आवश्यक है कि भाषा के विकास का आशय यह नहीं कि भाषा, और अच्छी या ऊँची होती जाती है। विकास का अर्थ केवल आगे बढ़ना या परिवर्तन है। परिवर्तन से भाषा अभिव्यंजना-शक्ति, माधुर्य तथा ओज आदि की दृष्टि से भी उठ सकती है और नीचे भी जा सकती है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वह प्राय: सरलता की ओर जाती है।

4.4 सारांश

प्राचीनकाल से भाषा की उत्पत्ति पर विचार होता रहा है। कुछ विद्वानों का मंतव्य है कि यह विषय भाषा-विज्ञान का है ही नहीं। इस तथ्य की पुष्टि में उनका कहना है कि विषय मात्र संभावनाओं पर आधारित है। भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन को भाषाविज्ञान कहते हैं। यदि भाषा का विकास और उसके प्रारंभिक रूप का अध्ययन भाषाविज्ञान का विषय है, तो भाषा-उत्पत्ति भी निश्चय ही भाषाविज्ञान का विषय है।

भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न मानव की उत्पत्ति तथा उसकी भावाभिव्यक्ति से संबंधित है। इस प्रकार मानव की उत्पत्ति के स्पष्टीकरण पर भाषा-उत्पत्ति का प्रश्न स्वत: स्पष्ट हो जाएगा। इस संदर्भ की चिंतन-परंपरा में निम्नलिखित मंतव्य सामने आए हैं– 1. दैवी-सिद्धांत, 2. संकेत-सिद्धांत, 3. धातु सिद्धांत, 4. आवेग-सिद्धांत, 5. यो-हे-हो सिद्धांत, 6. अनुकरण-सिद्धांत, 7. इंगित सिद्धांत, 8. संपर्क सिद्धांत, 9. संगीत सिद्धांत, 10. समन्वय सिद्धांत

भाषा में विकास या परिवर्तन उसके पाँचों ही रूपों–ध्वनि, शब्द, रूप, अर्थ और वाक्य–में होता है (ध्वनि–लोप, आगम, विपर्यय, परिवर्तन आदि; रूप–रामस्य, राम का, वाक्य–शब्द-क्रम, अन्वय आदि; शब्द–पुराने का लोप और नये का आना; अर्थ–अर्थ में विस्तार, संकोच या आदेश आदि)। भाषा का विकास जिन कारणों से होता है, उन्हें प्रमुखत: दो वर्गों में रखा जा सकता है। एक अभ्यंतर (या आन्तरिक वर्ग) और दूसरा बाह्य। अभ्यंतर वर्ग में भाषा की अपनी स्वाभाविक गति (जिसमें प्रमुखत: भाषा की कठिन से सरल होने की प्रवृत्ति है) तथा वे कारण सम्मिलित हैं, जो प्रयोक्ता की शारीरिक या मानसिक योग्यता आदि सम्बन्धी स्थिति से सम्बन्ध रखते हैं। बाह्य वर्ग में वे कारण आते हैं, जो बाहर से भाषा को प्रभावित करते हैं।

वर्ग के कुछ प्रधान कारणों का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है– प्रयोग से घिस जाना, बल, प्रयत्न-लाघव, मानसिक स्तर, अनुकरण की अपूर्णता

नोट

अनुकरण की अपूर्णता के लिए भी कई कारण हैं जिनमें मुख्य निम्नलिखित हैं– शारीरिक विभिन्नता, ध्यान की कमी, अशिक्षा, जानबूझकर परिवर्तन, जातीय मनोवृत्ति

बाह्य वर्ग के अंतर्गत निम्नलिखित कारण आते हैं– भौतिक वातावरण, सांस्कृतिक प्रभाव, समाज की व्यवस्था, बोलने वालों की उन्नति

कहते हैं खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग बदलता है। इसी प्रकार भाषा में भी शब्द या वाक्य दूसरे शब्द सदृशता पर उसी प्रकार के बन जाते हैं। इस प्रकार इसका भी भाषा के विकास या परिवर्तन में बहुत बड़ा हाथ है। इसे उपर्युक्त आभ्यन्तर और बाह्य किसी एक वर्ग में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि यह दोनों में आता है। आज की हिन्दी की वाक्य-रचना बहुत से लेखकों में अंग्रेजी के सादृश्य पर मिलती है। यह बाह्य है। दूसरी ओर 'पाश्चात्य' के सादृश्य पर 'पौर्वात्य' शब्द चल रहा है, 'एकदश' द्वादश के सादृश्य पर 'एकादश' हो गया है, या 'निगुण' के सादृश्य पर 'सगुण' 'सर्गुन' या 'सर्गुन' हो गया है। यह आभ्यंतर है। इसी प्रकार अनेक अन्य उदाहरण भी लिए जा सकते हैं।

भाषा के विकास के सम्बन्ध में अन्तिम बात यह कह देनी आवश्यक है कि भाषा के विकास का आशय यह नहीं कि भाषा, और अच्छी या ऊँची होती जाती है। विकास का अर्थ केवल आगे बढ़ना या परिवर्तन है। परिवर्तन से भाषा अभिव्यंजना-शक्ति, माधुर्य तथा ओज आदि की दृष्टि से भी उठ सकती है और नीचे भी जा सकती है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वह प्राय: सरलता की ओर जाती है।

4.5 शब्दकोश

1. **अनुरणन–** गूँज, प्रतिध्वनि
2. **पौर्वात्य–** पाश्चात्य के अनुकरण पर बना हुआ अशुद्ध शब्द

4.6 अभ्यास प्रश्न

1. भाषा उत्पत्ति के कारणों पर प्रकाश डालिए।
2. भाषा विकास अथवा भाषा परिवर्तन की प्रक्रिया समझाइए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन

1. (✓) 2. (×) 3. (×) 4. (✓)

4.7 संदर्भ पुस्तकें

पुस्तकें

1. *भाषा विज्ञान–* डॉ० भोलानाथ तिवारी, किताब महल, इलाहाबाद
2. *हिंदी भाषा का संरचनात्मक अध्ययन–* डॉ० सत्यव्रत, मिलिंद प्रकाशन, हैदराबाद

नोट

इकाई 5: भाषा के विविध रूप: लिखित एवं उच्चरित रूप, मातृभाषा, राजभाषा, भाषा और बोली में अन्तर

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- भाषा के उच्चरित एवं लिखित रूप को एमझने में।
- भाषा के विविध रूप-मातृभाषा, राजभाषा से परिचित होंगे।
- भाषा और बोली के अंतर से परिचित होंगे।

प्रस्तावना

मनुष्य भाषिक प्राणी है, यद्यपि हर जीव अपने अंतर की अभिव्यक्ति प्रकाशन के लिए किसी-न-किसी संकेत प्रणाली को अपनाता है, परन्तु भाषिक प्रणाली ईश्वर की ओर से मनुष्य को दी गई अमूल्य संपदा और धरोहर है। मनुष्य जाति के सांस्कृतिक विकास में इस भाषा का आधारभूत योगदान रहा है, परन्तु सांस्कृतिक विकास के अनुरूप भाषिक विकास के भी विभिन्न चरण देखे गए है। प्रस्थानिक स्वरूप मौखिक ही होता है, यही भाषा का मौलिक स्वरूप भी होता है। वस्तुत: लिपि के आविष्कार के साथ ध्वन्यात्मक प्रतीकों के स्थान पर वर्णात्मक लिखित स्वरूपों

नोट

की प्रणाली से भाषा का अग्रिम विकास होता है। भाषा के इस लिखित स्वरूप में देश और काल की सीमा टूटती है। देश को सीमा अब नष्टप्राय है, क्योंकि विश्व के किसी कोने से लिखित भाषा विश्व के किसी भी स्थान पर क्षिप्र गति से संप्रेषित हो सकती है। काल की सीमा तो पहले ही टूट चुकी है। ताम्रपत्रों, भेजपत्रों, शिलालेखों, स्तंभलेखों आदि के माध्यम से अतीत की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि उजागर होती है। मानव जाति के इतिहास में लिखित भाषा का वही स्थान है, जो स्थान अग्नि के आविष्कार, पहिए के आविष्कार, भाप के इंजन के आविष्कार तथा कम्प्यूटर-इन्टरनेट के आविष्कार का होता है, अतः लिखित भाषा भाषिक क्रांति का सूचक है।

5.1 भाषा के लिखित एवं उच्चरित रूप

विश्व की समस्त भाषाओं के प्रयोग-चिंतन से उनके लिखित तथा उच्चरित दो रूपों का ज्ञान होता है। भाषा-प्रयोग के इन दो रूपों की तीन स्थितियाँ सामने आती हैं। भाषा-प्रयोग की प्रथम स्थिति में उनका प्रयोग मात्र लिखित रूप में होता है। भारतवर्ष की वर्तमान भाषायी स्थिति में ऐसी भाषाएँ हैं-पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि। ये भाषाएँ कभी लिखित तथा उच्चरित दोनों रूपों में प्रयुक्त होती थीं। वर्तमान समय में उनका उच्चरित रूप प्रयुक्त नहीं होता है। भाषा का प्रारंभिक रूप उच्चरित ही होता है, इसलिए उनके दोनों रूपों का प्रयोग स्वतः सिद्ध है। आज इनका व्यावहारिक रूप में जीवंत प्रयोग नहीं होता, इसलिए उच्चरित रूप में होता है; यथा-विभिन्न क्षेत्रों की प्रारंभिक बोलियाँ। तृतीय स्थिति में भाषा का प्रयोग लिखित तथा उच्चरित दोनों रूपों में होता है। इस वर्ग में हिंदी, पंजाबी, बंगला मराठी आदि आधुनिक भारतीय भाषाएँ आती हैं।

(क) भाषा का लिखित रूप: भाषा-विकास क्रम के अध्ययन से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि भाषा का परवर्ती स्थायित्व प्राप्त, विकसित रूप लिखित है। मनुष्य आरंभ में ऊँ, आँ, गूँ, गाँ आदि ध्वनि-संकेतों से काम चलाता था। भाषा के इस रूप के विकास पर लिखित रूप का उद्भव हुआ है। भाषा के लिखित रूप को सीखने के लिए उसके उच्चरित रूप के साथ उससे संबंधित लिपि का ज्ञान आवश्यक होता है। भाषा-शिक्षण की यह प्रक्रिया क्रमिक रूप में होती है। स्थायित्व गुण प्राप्त लिखित भाषा से लिपि का अभिन्न संबंध होता है। लिपि के अभाव में भाषा की लिखित रूप संभव नहीं है। लिखित भाषा प्रायः व्याकरण पर आधारित होती है। भाषा की मानकीकरण-प्रवृति के कारण यह रूप लगभग स्थिर हो जाता है।

(ख) भाषा का उच्चरित रूप: भाषा का आदि रूप उच्चरित ही होता है। लिखित भाषा इसी का परवर्ती विकसित रूप है। सामान्यतः हम भाषा को उच्चरित रूप के व्यावहारिक रूप में सीखते हैं। शिशु बौद्धिक विकास के साथ अपने आस-पास का ज्ञान व्यवहार से प्राप्त करता है और उसी व्यावहारिक क्रम में भाषा भी सीख लेता है। इस प्रकार भाषा-ज्ञान की प्राप्ति में श्रम का आभास नहीं होता है। यह भाषा मुख्यतः ध्वनि पर आधारित होती है। प्रकृति की विभिन्न वस्तुओं के ही समान उच्चरित भाषा में सतत परिवर्तन का क्रम चलता रहता है। भाषा के उच्चरित रूप में अधिक स्वाभाविकता तथा सहजता होती है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की भाषा में उससे संबंधित विशेषताएँ होती हैं। इन्हीं विशेषताओं के आधार पर पर्दे के पीछे से या किसी ओट से बोलने वाले व्यक्ति को हम पहचान लेते हैं। भाषा के मानक उच्चारण का स्वरूप जन-सामान्य की विभिन्न उच्चारण-प्रक्रियाओं को दृष्टिगत कर निध रिित किया जाता है।

(ग) तुलनात्मक दृष्टिकोण: भाषा के लिखित एवं उच्चरित रूपों में जहाँ कुछ समानताएँ हैं, वहीं कुछ असमानताएँ भी हैं।

1. सशक्त दिशाएँ: उच्चरित और लिखित भाषाओं की अपनी कुछ सीमाएँ हैं। जिनकी सीमा में रहकर भाषा का प्रत्येक रूप एक-दूसरे की अपेक्षा कहीं अधिक सशक्त भावामि व्यक्ति करता है। लिखित भाषा में समय और स्थान पार करने की शक्ति में होती है, अथात् लिखित विचार देश-विदेश के किसी भाग में भेजा जा सकता है और परवर्ती काल में लिखत रूप सुरक्षित होने पर किसी भी समय पढ़ा जा सकता है। उच्चरित र्भाषा सामान्यतः सामने स्थित या भाषा-यंत्र के सम्मुख स्थित व्यक्ति तक ही पहुँच सकती हैं। उच्चरित भाषा ककी सर्व प्रमुख विशेषता यह है

नोट

कि इसमें सुर-लय और उसके आरोह-अवरोक के आधार पर प्रेम, शोक, उल्लास, श्रद्धा या उदंडता का भाव प्रभावी रूप समें प्रकट होता है। ऐसे भावों की ऐसी स्पष्ट अभिव्यक्ति लिखित भाषा में संभव नहीं है।

उच्चरित भाषा में इच्छानुसार मधुर या पुरुष भावाभिव्यक्ति संभव है, जबकि लिखित भाषा में ऐसी संभावना बहुत ही कम है।

2. माध्यम: दोनों भाषाओं के माध्यम अलग-अलग हैं। लिखित भाषा के लिए कागज, कलम, स्याही आदि माध्यमों की आवश्यकता होती है, तो उच्चरित भाषा के मुख्य माध्यम मानव-मुखांग हैं। वर्तमान समय में उच्चरित भाषा को अपेक्षाकृत अधिक सशक्त बनाने के लिए टेलीफोन, रेडियो, टेलीविजन और वायरलेस आदि भाषा-यंत्रों का सहारा लिया जाता है। ऐसी भाषा को यंत्र-आधारित भाषा कहते है।

3. सहायक माध्यम: लिखित और उच्चरित भाषा के सहयोगी माध्यमों में भी भिन्नता है। लिखित भाषा में उससे संबंधित विभिन्न इकाइयाँ-वर्ण, अक्षर, शब्द, पद और वाक्य आदि से संबंधित लिपि-चिह्न सहायक माध्यम हैं, जबकि उच्चरित स्वरूप के लिए ध्वनि-समूह के अतिरिक्त हाव-भाव मुखाकृति, सुर-लय आदि सहायक माध्यम हैं।

4. सैद्धांतिक आधार: लिखित भाषा सैद्धांतिक बंधनों के प्रबल रूप से बंधी होती है। इस प्रकार लिखित भाषा के व्याकरणिक बंधनों में बँधे होने के कारण उसका मानक रूप सामने आता है। भाषा के उच्चरित रूप में भिन्नता हो सकती है, किंतु मानक भाषा के लिखित रूप में भिन्नता नहीं होती। उच्चरित भाषा का सैद्धांतिक बंधन कहीं अधिक शिथिल होता है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति के उच्चारण में क्षेत्रीयता का अल्पाधिक रूप अवश्य होता है।

यदि किसी भाषा के एक वाक्य का उच्चारण इसी भाषा के विभिन्न क्षेत्रों के व्यक्तियों से कराया जाए तो उनमें पर्याप्त भिन्नता दिखाई देगी, किंतु उनके मानक लेखन में अपेक्षाकृत अधिक समानता दिखाई देगी।

5. प्रयोग-स्थिति: वर्तमान युग में लगभग सभी मनुष्य उच्चरित भाषा का प्रयोग करते हैं। इसका मुख्य कारण है कि भाषा का उच्चरित रूप ही व्यावहारिक संबंधों का मुख्याधार है। बुद्धि-विकास के साथ उस स्वरूप के शिक्षण का क्रम शुरू हो जाता है। गूँगा भी गूँ-गाँ आदि ध्वनियों का उच्चारण करता ही है। लिखित भाषा में अपेक्षाकृत अधिक स्थायित्व होने के कारण इसे भाषा का सर्वश्रेष्ठ रूप माना गया है। आज भी अनगिनत ऐसे लोग मिल जाएँगे जो लेखन तो नहीं जानते हैं, किन्तु उच्चरित भाषा का मोहक और मधुर प्रयोग करता है। शिशु बुद्धि-विकास क्रम में बहुत दिनों तक मात्र उच्चरित भाषा का प्रयोग करता है। कोई भी बच्चा नहीं मिलेगा, जिसमें लेखन शक्ति पहले विकसित हो और उच्चारण शक्ति बाद में आई हो। जीवन के प्रारंभिक काल में उच्चारण तथा लेखन का ज्ञान एक-साथ प्राप्त कर पाना भी संभव नहीं है।

6. संरचना: भाषा के दोनों स्वरूपों की ध्वनि, शब्द तथा वाक्य आदि इकाइयाँ हैं। वाक्य भाषा की स्वतंत्र, पूर्ण सार्थक तथा सहज इकाई है। उच्चरित तथा लिखित भाषाओं में वाक्य प्रयोग की स्थिति बहुत भिन्न होती है। उच्चरित भाषा में मनुष्य छोटे-छोटे वाक्य का प्रयोग करता है। इसका मुख्य कारण है-मुख-सुख या प्रयत्न-लाघव। इसे दूसरे शब्दों में कह सकते है, कि मनुष्य अपनी साँस-सीमा में ही वाक्य का पूरा उच्चारण करना चाहता है। लिखित भाषा में प्रयत्न-लाघव की भिन्नता के कारण वाक्य अपेक्षाकृत लंबे होते हैं। साहित्यिक लेखन में वाक्य का पर्याप्त विस्तृत रूप देख सकते है। सफल वक्ता छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग करता है। लिखित भाषा में पाण्डित्य-प्रदर्शन के कारण भी वाक्यों का रूप विस्तृत हो जाता है। संस्कृत भाषा साहित्य के लेखन में लंबे वाक्यों की विलक्षण परंपरा मिलती है। बाणभट्ट की कादंबरी में वाक्य कई-कई पृष्ठ पार करके पूरे होते है।

7. स्वरूप भिन्नता: प्रत्येक व्यक्ति के उच्चारण में अपनी विशेषता हाती है। यह विशेषत: क्षेत्रीय प्रभाव मुखांगों की रचना-भिन्नता के साथ प्रयोग-भिन्नता पर आधारित होती है। एक ध्वनि को जितने व्यक्ति उच्चारण करेंगे, उनके

नोट

उतने ही रूप होंगे। एक ही व्यक्ति एक ही ध्वनि का दो बार उच्चारण करता है, तो उनमें पूर्ण समानता नहीं हो सकती है। एक ही ध्वनि जब विभिन्न शब्दों में प्रयुक्त होती है, तो उनमें से किन्हीं दो ध्वनियों में पूर्ण समानता नहीं हो सकती; यथा-कमल, नकल, नमक, काम, केवल, कोयल, कौन आदि सभी शब्दों में 'क' ध्वनि विद्यमान है, किंतु इन शब्दों की किन्हीं दो "क" ध्वनियों में पूर्ण समानता नहीं है। सामान्य लेखन में इस प्रकार की स्वर-भिन्नता को ध्यान में दिए बिना स्वनिमिक लेखन को अपनाते हैं। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि भाषा उच्चारण में ध्वनि भिन्नता होती है, किंतु लेखन में एकरूपता होती है।

8. क्रमिक रूपः भाषा का आदि रूप उच्चरित ही है। यह तथ्य शिशुभाषा के विकास के अध्ययन और लेखन-ज्ञानविहीन अनपढ़ व्यक्तियों की भाषा के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। उच्चरित भाषा के विकास पर ही लिखित भाषा का उद्भव हुआ है, अर्थात् उच्चरित भाषा में व्यवस्थित रूप लाने और उसमें स्थायित्व गुण भरने के लिए लिपि का सहारा लिया गया, जिससे लिखित भाषा का स्वरूप सामने आया है। लिपि का उद्भव भाषा के उद्भव के बहुत बाद में हुआ है। लिपि के आधार से ही भाषा का लिखित रूप विकसित हुआ है। इस प्रकार स्पष्ट है कि भाषा का आदि रूप उच्चरित है और पूर्ववर्ती रूप लिखित है।

9. परंपरा का प्रभावः लेखन प्रक्रिया में भाषा के परंपरागत रूप को अधिकाधिक रूप से अपनाए रखने का पूरा प्रयत्न किया जाता है जबकि समय, स्थान तथा विभिन्न परिस्थितियों के कारण भाषा-उच्चारण में परिवर्तन चलता रहता है। इस प्रकार लेखन में परंपरा के स्वरूप को यथासंभव स्थिर रखने के प्रयत्न से और दूसरी तरफ उच्चारण में चलने वाले सतत परिवर्तन से भाषा के लिखित तथा उच्चरित दोनों रूपों में पर्याप्त भिन्नता आ जाती है। इस प्रक्रिया के संदर्भ में हिंदी के लिखित तथा उच्चरित रूपों को उदाहरणस्वरूप ले सकते हैं—

हिंदी भाषा के पूर्व काल में शब्द स्वरांत होते थे, अर्थात् शब्द के अंत में किसी स्वर या स्वर मात्रा के न होने पर वर्ण के साथ प्रयुक्त 'अ' स्वर का स्पष्ट उच्चारण होता था। वर्तमान समय में ऐसे अधिकांश शब्द व्यंजनांत रूप में ही उच्चरित होते है; यथा-राम, कमल्, चल्, आप्। इन शब्दों का लेखन परंपरानुसार स्वरांत ही होता है; यथा-राम, कमल, चल, आप आदि।

शब्दों के मध्य के मात्राविहीन व्यंजन वर्ण अपने आक्षारिक रूप में अर्थात् 'अ' स्वर के साथ संयुक्त रूप लिखे जाते हैं, किंतु यदा-कदा उच्चारण में इनके मध्य स्वर का लोप हो जाता है; यथा-उनका > उन्का किसका > किस्का, चलता > चल्ता, मिलता > मिल्ता आदि।

नासिक्य ध्वनियाँ उच्चारण में अपनी पूर्ववर्ती ध्वनि पर आनुनासिक प्रभाव डालती हैं; यथा-राणा > राँणा, रन > रँन, तन > तँन आदि।

उच्चारण-परिवर्तन की गति लेखन-परिवर्तन की गति से कहीं अधिक तीव्र होती है। इस कारण भाषा की कई ध्वनियाँ व्यवहार में नहीं आती हैं; किंतु लेखन में उनका प्रचलन एक लंबे समय तक बना रहता है; यथा-'ऋ' ध्वनि अब बहुत कुछ 'रि' के निकट हो गई है, किंतु इसका लेखन पूर्ववत चल रहा है- ऋषि, ऋतु आदि। कुछ ध्वनियाँ ऐसी भी होती हैं, जिनका प्रयोग उच्चरित भाषा में लगभग समाप्त हो जाता है, किंतु उनका अस्तित्व वर्णमाला में तथा लिखित भाषा में पूर्ववत बना हुआ है। हिंदी की 'ष' ध्वनि इसी प्रकार की है। अब इसका उच्चारण 'श' के लगभग समान होता है, किंतु इसका अस्तित्व वर्णमाला में पूर्ववत् और लेखन में भी लगभग समान प्रयोग चल रहा है। लेखन-उच्चारण भिन्नता इस प्रकार रेखांकित कर सकते हैं-ऋषि > रिशि, कोष > कोश।

वर्तमान समय के लिपि-सरलीकरण के परिणामस्वरूप प्रकाशन और टंकण में अनुस्वार तथा अनुनासिक चिह्नों को एक कर दिया गया है। अनुस्वार (̣)तथा अनुनासिक (ँ) दोनों चिह्नों का प्रयोग वैज्ञानिक था, किंतु अब इसका प्रयोग कम होता जा रहा है। इस प्रकार लेखन तथा उच्चारण में भिन्नता आ जाती है। इस भिन्नता को इन-चिह्नों के आधार पर स्पष्ट कर सकते हैं

अनुस्वार-	पङ्क > पंक,	पञ्जर > पंचर,	पम्प > पंप आदि।
आनुनासिक-	गूँगा > गूंगा,	चांद > चाँद,	पांच > पाँच आदि।

नोट

5.2 व्यक्तिगत बोली

यह भाषा का लघुत्तम रूप है। यह व्यक्ति विशेष की बोली है। मनुष्य प्रकृति का महत्त्वपूर्ण अंग है। प्रकृति के नियम के अनुसार मनुष्य में विभिन्न दृष्टियों से विकास या ह्रास की गति चलती रहती ळैं इस विकास-ह्रास के कारण भाषा के प्रयोग में भी भिन्नता होती रहती है। इतनी भिन्नता होते रहने पर भी उसकी भाषा जन्म से मृत्यु तक अनेक विशेषताओं से युक्त होती है, जो विशेषताएँ अन्य किसी भी व्यक्ति में सूक्ष्मतम रूप में उपलब्ध नहीं हो सकती। यदि कोई परिचित व्यक्ति अँधेरे में या पर्दे के पीछे से स्वाभाविक रूप में बोले तब इन्हीं विशेषताओं के आधार पर उसे पहचान लिया जाता है।

5.3 उपबोली

किसी सीमित क्षेत्र के लोगों के द्वारा प्रयुक्त इस भाषा को उपबोली की संज्ञा दी जाती है। स्थान विशेष में प्रयुक्त होने के कारण भौगोलिक आधार पर इसे स्थानीय बोली (Local Dialect) भी कहते हैं। इस भाषा में एक स्थान विशेष के विभिन्न लोगों में पाई जाने वाली समान विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं। इस भाषा में व्यक्ति विशेष की बोली को महत्त्व न देकर स्थान विशेष के समग्र लोगों की बोली को महत्त्व देते हैं। एक बोली में कई उपबोलियाँ हो सकती हैं। बोलियों का विभाजन मुख्यत: दिशाओं के आधार पर पूर्वी, पश्चिमी, उत्तरी, दक्षिणी और मध्य उपबोली के रूप में करते हैं। कभी-कभी स्थान या जनपद विशेष की भाषा को उपबोली कहते हैं; यथा-अंबावली, सुलतानपुरी आदि।

5.4 बोली

इसके लिए विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न आधारों पर विभाषा, उपभाषा, भाषिक और उपप्रादेशिक नाम भी दिए हैं। बोली के प्रयोगकर्ताओं की संख्या उपबोली के प्रयोगकर्त्तओं की संख्या कहीं अधिक होती है, क्यांकि कई उपबोलियों का संयुक्त रूप ही बोली होता हैं इसे दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि एक बोली के अंतर्गत कई उपबोलियाँ आती हैं। एक बोली के अंतर्गत आने वाली विभिन्न क्षेत्रों की उपबोलियों के लोग आपस की भाषा को सरलता से समझ लेते हैं। क्योंकि एक बोली की विभिन्न उपबोलियों की ध्वनि, शब्द, पद, वाक्य तथा अर्थ-संरचना में पर्याप्त समानता होती हैं बोली के विभिन्न क्षेत्रों की बोलियों के उच्चारण तथा लोकोक्ति-मुहावरों के प्रयोग में भी पर्याप्त समानता होती है।

बोलियों के उद्‌भव और विकास का मुख्य आधार है- एक भाषा-भाषियों का दो या दो से अधिक स्थानों पर दूर-दूर बस जाना। उन विभिन्न स्थानों की भाषा में जब उनकी परिसिीतियों के अनुसार धीरे-धीरे पर्याप्त परिवर्तन हो जाता है, तो बोलियों का विकास होता है। इस प्रकार बोली-विकास में एक स्थान के लोगों का दूसरे स्थान के लोगों से शिथिल संपर्क या संबंध-शिथिलन में आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक कारण हो सकते हैं।

बोली का विशेष महत्त्व होता है, क्योंकि बोली मनुष्य की सहज भाषा होती है। कोई भी व्यक्ति जिस बोली-क्षेत्र से सच्चे अर्थ से जुड़ा होगा, वह उसमें अपने भावों को अपेक्षाकृत तथा सामाजिक अभिव्यक्ति भी अपूर्व सहजता से होती हैं बोली के माध्यम से जो व्यावहारिक प्रभाव पड़ता है, वह इसकी अपनी महत्त्वपूर्ण विशेषता हैं बोली ही विकसित होकर भाषा का रूप धारण करती है। पूर्वकालीन अवधी, ब्रज आदि बोलियाँ भाषा बनी हैं। खड़ी-बोली को राजनीतिक और सामाजिक संरक्षण मिला, तो उसे राजभाषा तथा राष्ट्रभाषा के पद प्राप्त हो गए।

5.5 मातृभाषा

यह भाषा अपने नाम से ही अपने अर्थ को स्पष्ट करती है। मातृभाषा को बच्चा अपनी माँ से सीखता या पाता है। परिवार समाज की प्राथमिक पाठशाला कहलाता है बच्चा जन्म लेते ही जो भाषा सीखता है, उसे मातृभाषा इसलिए कहते हैं, क्योंकि माँ की कोमल क्रोड़ में रहते वह माँ से इसे निर्व्याज उपहार के रूप में प्राप्त करता है। वस्तुत: 'मातृ' शब्द यहाँ उपलक्षण है। पिता, भाई, बहन या घर के अन्य बड़े लोग बच्चे को भाषा का संस्कार देते है।

नोट

मातृभाषा अत्यन्त सहज एवं सुगम होती है। इसे समझाने के लिए अलग से व्याकरण अपेक्षित नहीं होता और न किसी शब्दकोश की ही गरज होती है। यह तो उस पेय की तरह है, जिसका स्वाद तो पता होता है, लेकिन उसकी निर्मिति की प्रक्रिया एवं नियम आदि का अन्वेषण यदि करना चाहें तो बाद में होता है। यहाँ समग्र वाक्य का अर्थ पहले ज्ञात होता है और अलग-अलग पदों का और पदों के वर्णों का ज्ञान बाद में, जैसे-बच्चा जब माँ से मात्र 'पा' का उच्चारण करके कुछ कहता है तो माँ उसका अर्थ समझती है कि पानी या दूध चाहिए। यहाँ प्राचीन मीमांसा शास्त्र का एक सिद्धान्त, 'अन्विताभिदानवाद' क्रियाशील होता है, जिसका अर्थ है-वाक्य के अन्वित पदार्थों का बोध पहले होता है तथा अलग-अलग पदों का अर्थ बाद में। इस प्रकार मातृभाषा बहुत कुछ नैसर्गिक, सुबोध एवं भावनात्मक होती है। मात्भाषा बच्चे के अवचेतन में बस जाती है, क्योंकि बच्चे के मन रूपी स्लेट पर वह इबारत या लिखावट होती है, जो आसानी से मिटती नहीं। आवेग के क्षणों में वह स्वत: स्फूर्त होकर प्रस्तुत होती हैं अरे बाप! या अरे माई! जैसे उद्‌गार मातृभाषा की गहरी जड़ों को इंगित करते हैं। यही कारण है कि इसका संबंध मनुष्य की भावना से भी होता है। यहाँ बहुत-कुछ वैसा ही घटित होता है, जैसा मातृभूमि के संदर्भ में। मातृभूमि अर्थात् जन्मस्थान का संबंध अस्तित्व की बुनियाद से है, अत: वहाँ भी भावना में जड़ें गहरी उतरती हैं।

टास्क परिवार बच्चे की प्रथम पाठशाला है— वर्तमान संदर्भ में इस वाक्य की व्याख्या करें।

संक्षेप में सामाजिक प्राणी मनुष्य के अस्तित्व की पहली शर्त है—मातृभाषा, क्योंकि एक अदद भाषा के बिना सामाजिक व्यवहार अकल्पनीय है। चूँकि परिवार सामाजिक अस्तित्व की बुनियाद है, इसलिए वहाँ सीखी हुई भाषा, नींव की भाषा या मातृभाषा कहलाती है। यह भाषा एक जटिल प्रक्रिया में अन्य सांस्कृतिक रूप ले सकती है, जिसे 'तकनीकी' रूप में भाषा कहते हैं और वह माध्यम भाषा के रूप में हो सकती है, किन्तु मातृभाषा मानकीकृत होकर माध्यम भाषा का ही रूप ले—यह कोई जरूरी नहीं है। मातृभाषा का स्थान गाँव जैसा है। गाँव से शहर बनते हैं, लेकिन हर गाँव शहर हो-यह जरूरी नहीं, किन्तु हर शहर की बुनियाद गाँव होता है। उदाहरण के लिए-भोजपुरी मातृभाषा है। यह अन्य सहोदर बोलियों के साथ मिलकर हिन्दी का रूप ले चुकी है, जिसे माध्यम के रूप में अपनाया जाता है। यद्यपि कुछ लोग हिन्दी (परिनिष्ठित हिन्दी) को ही मातृभाषा घोषित कर सकते हैं, परन्तु अधिकांश मामलों में मातृभाषा हिन्दी वस्तुत: भोजपुरी, अवधी आदि बोलियों के रूप मं ही अस्तित्व रखती है। इसीलिए इन्हें हिन्दी की बोलियाँ या उपभाषाएँ भी कहते हैं। कुल मिलाकर हिन्दी और भोजपुरी आदि में निकट का संबध है, तादात्म्य नहीं।

5.6 राजभाषा

प्रशासन की भाषा राष्ट्रभाषा कहलाती है, अस्तु सरकारी कार्यालयों में जिस भाषा का प्रयोग होता है तथा राज्य सरकारें जिस भाषा में अपने पत्र आदि केन्द्र सरकार की तथा केन्द्रीय प्रशासन अपने संदेश राज्य सरकारों को संप्रेषित करता है, वह राजभाषा कही जाती है। हमारे देश की केन्द्रीय सरकार हिन्दी के साथ-साथ अंग्रेजी भाषा का प्रयोग करती है। हिन्दी के साथ-साथ अंग्रेजी भी सह राजभाषा के रूप में संविधान द्वारा स्वीकृत है। अंग्रेजी भाषा में राजभाषा को Lingua Franca (लिंग्वा फ्रैंका) कहते है। केन्द्र की राजभाषा को 'संघभाषा' भी कहा जाता है। सरकारी आदेश, आज्ञाएँ, विज्ञापन, पत्र-व्यवहार वगैरह इसी भाषा में मुद्रित और प्रसारित होते हैं। प्रदेशों के शासनात्मक एकता की स्थापना का बहुत अधिक महत्त्व है। इस भाषा का प्रयोग मुख्यत: चार क्षेत्रों-शासन, विधान, न्यायपालिका और विधान पालिका में होता है। प्रशासन की भाषा होने के कारण कुछ लोग इसे 'कचहरी की भाषा' (Court Language) भी कहते हैं।

नोट

अंग्रेजी भाषा में राजभाषा को Lingua France (लिंगुवा फ्रैंका) कहते है?

इस देश में समय-समय पर कई राजभाषाओं द्वारा शासन स्थापित किया गया है। प्राचीन और मध्यकालीन भारत में संस्कृत ने राजभाषा का कार्य किया। मौर्यों के शासन का संचालन राज्यभाषा पालि ने किया। मुसलमानों के शासन काल में फारसी राजभाषा बनी और अंग्रेजी के शासनकाल में इस स्थान को अंग्रेजी भाषा ने ग्रहण किया। अब स्वतंत्र भारत में राजभाषा का सिंहासन हिन्दी को सौंपा गया है। 14 सितम्बर, 1949 ई. को संविधान सभा ने सर्वसम्मति से हिन्दी को भारत की राजभाषा का दर्जा दिया, इसीलिए 14 सितम्बर को प्रत्येक साल सम्पूर्ण देश में 'हिन्दी दिवस' मनाया जाता है। वस्तुत: यह 'दिवस' स्वभाषा-चेतना एवं सभी भारतीय भाषाओं के बीच सद्भावना दिवस के रूप में मनाया जाता है। इतना ही नहीं, इस दिन भारत सरकार के कार्यालयों तथा प्रादेशिक कार्यालयों में भी विभिन्न तरह की संगोष्ठियाँ, प्रतियोगिताएँ, पुरस्कारों एवं सम्मेलनों का आयोजन किया जाता है।

राजभाषा हिन्दी के प्रगामी प्रयोग के लिए केन्द्र सरकार के राजभाषा विभाग के अन्तर्गत् आठ क्षेत्रीय कार्यान्वयन कार्यालयों-कोलकाता, गाजियाबाद, गुवाहाटी, मुम्बई, भोपाल, दिल्ली, कोचीन और बेंगलूर-की स्थापना की गयी है। केन्द्रीय सरकार के मंत्रालयों-विभागों में राजभाषा के प्रयोग को सुनिश्चित करने के लिए 43 हिन्दी सलाहकार समितियाँ स्वीकृत हैं। हिन्दी अब प्रशासन की भाषा बन रही है। अनुच्छेद 351 के अनुसार हिन्दी के बढ़ाव-विकास के लिए राजभाषा विभाग विभिन्न नियमों, अधिनियमों, संकल्पों और आदेशों का कड़ाई के साथ पालन कर रहा है। यही कारण है कि हिन्दी ज्ञान-विज्ञान, व्यापार-वाणिज्य, विज्ञान, संचार माध्यम तथा सामाजिक नियंत्रण की भाषा हो रही है। कुल मिलाकर भारत के जन कल्याणकारी गणतंत्र में सम्पर्क ओर राजभाषा के रूप में हिन्दी का भविष्य सुखद और प्रीतिकर है।

5.7 मानक भाषा

केन्द्रीय शब्दावली आयोग ने अंग्रेजी शब्द 'Standard' का हिन्दी अनुवाद 'मानक' निश्चित किया है। जब कोई विभाषा शिष्ट सामाजिक वर्ग की भाषा के पद पर प्रतिष्ठित हो जाती है, तब वह मानक भाषा कहलाती है। साफ शब्दों में, किसीभी भाषा की अनेक बोलियों में से कोई बोली जब विविध कारणों से प्रमुखता ग्रहण करती है एवं परिस्थितिवश अपनी सीमाओं को विस्तृत करती हुई पहले विभाषा का और फिर 'परिनिष्ठित' एवं 'साहित्यिक भाषा' का रूप ग्रहण करती हुई 'मानक भाषा' का पद ग्रहण करती है, तब उसके आसपास की अन्य बोली युक्त शैलियाँ अपनी छोटी-छोटी विशेषताएँ खो दी हैं। वह मानक शैली अपने आदर्श एवं शिष्ट तथा सभ्य जगत की भाषा मान ली जाती है। डॉ. भगवान देव पाण्डेय कहते हैं कि जिस भाषा का एक परिनिष्ठित स्वरूप होता है तथा जो शिक्षित वर्ग के द्वारा सामान्य रूप से प्रयुक्त होती है, वही भाषा मानकीकृत होती है। डॉ. फादर कामिल बुल्के ने अपने अंग्रेजी कोश में 'स्टैण्डर्ड' शब्द का अर्थ मानक ही लिया है। संक्षिप्त 'हिन्दी शब्द सागर' में प्रसिद्ध कोशकार श्री राचमन्द्र वर्मा लिखते हैं कि मानक शब्द संस्कृत के 'मानक' से बना हैं "किसी वस्तु का वह रूप या माप जिसके अनुसार उस वर्ग की और चीजों के गुण-दोषों का माप होता है—मानदण्ड" कहा जाता है। डॉ. कैलाशचन्द्र भाअिया का कहना है कि विभिन्न स्तरों को पार कर 'गवाँरू बोली' अथवा 'अपभाषा ही साहित्यिक एवं मानक' भाषा का रूप ग्रहण कर लेती है। डॉ. भोलानाथ तिवारी के अनुसार मानक भाषा, किसी भाषा के उस रूप को हते हैं जो उस भाषा के पूरे क्षेत्र में शुद्ध माना जाता है तथा जिसे उसप्रदेश का शिक्षित और शिष्ट समाज अपनी भाषा का अदर्श रूप मानता है और प्राय: सभी औपचारिक परिस्थितियों में, लेखन में, प्रशासन और शिक्षा के माध्यम के रूप में यथासाध्य उसी का प्रयोग करने का यत्न करता है।

मानक भाषा की उक्त परिभाषाओं—विशेषताओं के आधार पर हम यह बहुत आसानी से कह सकते हैं कि हिन्दी के मानकत्व में किसी भी स्तर पर शंका की गुंजाइश नहीं है। राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक

नोट

स्थितियों ने समय-समय पर हिन्दी के मानक रूप धारण करने में सहयोग दिया। क्षेत्रीय बोलियों ने भी सहयोग किया। हिन्दी का नामकरण 12वीं-13वीं शताब्दी के आसपास मुसलमानों द्वारा किया गया– "Some time the origin of Hindi is traced to the twelfth or thirteenth century when early Muslims writers used the word Hindi or Hindvi not for particular language but as an adjective for Hindi and for all the languages of Northern India." यह समस्त उत्तर भारत की मातृभाषा रही है– "Hindi as it is some times called High Hindi, is the literary language of Upper India." अमीर खुसरो ने तो स्पष्ट रूप से मुनादी की थी–

"तुर्क-ई-हिन्दुस्तानिम मनदर हिन्दवी गोएम जवाब।
शक्कर-इ-मिस्त्री न दरम कज़ अरब गोएम सुखन॥"

अर्थात् मैं हिन्दुस्तानी तुर्क हूँ एवं हिन्दवी में उत्तर देता हूँ। मेरे पास मिस्र की शक्कर नहीं है, जिससे मैं अरबी में बात कर सकूँ।

मानक हिन्दी बनने की विकास-प्रक्रिया में इस मुंशी इंशाअल्ला खाँ, अयोध्या सिंह उपाध्याय, लल्लू लाल, सदन मिश्र, गिलक्राइस्ट आदि का प्रचुर सहयो मिला। इसे इन विद्वानों द्वारा कभी 'ठेठ' तो कभी 'खड़ी', कभी 'शुद्ध' तो कभी 'परिनिष्ठित' आदि विशेषणें से सम्मानित किया गया। आज इसके पास हरियाणवी, कन्नौजी, ब्रजभाषा, अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी, भोजपुरी, मगही, मैथिली, कुमाऊँनी, गढ़वाली, जयपुरी, मेवाती, मारवाड़ी तथा मालवी आदि बोलियों की प्रचुर सांस्कृतिक और व्याकरणिक संपदा प्राप्त है। मानक हिन्दी की उक्त बोलियाँ एक-दूसरे को महज़ उच्चरित रूप में ही प्रभावित करती हैं, लिखित स्तर पर नहीं। इन बोलियों के ढेरों शब्द मानक हिन्दी की शोभा हैं। 11 स्वरों तथा 33 व्यंजनों से युक्त 46 ध्वनियों वाली मानक हिन्दी के पास युगों-युगों की विपुल ज्ञान राशि है। राष्ट्रीय स्तर पर रेडियो, दूरदर्शन, फिल्म, समाचार, प्रसारण, लेखन-पठन तथा पत्र-पत्रिकाओं का माध्यम यही मानक हिन्दी है।

स्व-मूल्यांकन

सही विकल्प चुनिए-

1. भाषा का स्थायित्व प्राप्त परवर्ती रूप है-

(क) उच्चरित (ख) लिखित (ग) मौखिक

2. हिंदी को सर्वसममति से दर्जा दिया गया-

(क) 18 अगस्त 1947 (ख) 14 सितंबर 1949 (ग) 25 जनवरी 1950

3. टी.वी., रेडियो, टेलीफोन आदि की भाषा को कहते हैं-

(क) यंत्र आधारित भाषा (ख) स्वचलित भाषा (ग) नियत्रित भाषा

4. परिवार में जन्म लेने वाला बच्चा सबसे पहले सीखता है-

(क) यंत्र भाषा (ख) लिखित भाषा (ग) मातृभाषा

5.8 अंतर्राष्ट्रीय भाषा

देश के बढ़ते कदम जब दूसरे देशों से संबंध स्थापित करते हैं और ऐसे में दो अथवा दो से अधिक देशों द्वारा प्रयुक्त कया भाव आदान-प्रदान की भाष को अंतर्राष्ट्रीय भाषा कहते हैं। दो या दो से अधिक देशों में व्यापार या दृष्टिकोण से ऐसी भाषा की आवश्यकता होती है। वर्तमान समय में अंग्रेजी को अंतराष्ट्रीय भाषा भाषा का स्थान प्राप्त है। माना सोवियत संघ, चीन तथा जापान ऐसे देशों में अंग्रेजी को वह स्थान नहीं प्राप्त है, फिर भी अन्य देशों के संदर्भ में अंग्रेजी का प्रयोग अंतर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में होता है। अंग्रेजी एक बोली से विकसित हुई है, आज विश्वभाषा नहीं

नोट

तो अंतर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में अवश्य प्रयुक्त हो रही है। हिंदी का प्रयोग गयाना, फिजी, ट्रिनीडाड, कनाडा और सूरीनाम आदि देशों में हो रहा है। अत: हिंदी भी अंतर्राष्ट्रीय भाषा है।

इन प्रमुख भाषाओं के अतिरिक्त कुछ निम्नलिखित भाषाएँ रेखांकन योग्य हैं–

(क) विशिष्ट वर्ग की भाषा: कभी-कभी विशेष वर्ग के द्वारा अपने कार्य के अनुसार विशिष्ट भाषा गढ़ ली जाती है। इस भाषा की शब्दावली तथा उसका प्रयोग-ढंग भी पूर्ण भिन्न होता है। इस भाषा के उच्चारण की प्रक्रिया भी लयात्मक ढंग की होती है। विज्ञापन, कहारों, दलालों, एक साथ शक्ति लगाने वाले मजदूरों राजनयिकों, धार्मिक प्रवचनकर्त्ताओं आदि की भाषाएँ इसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं।

(ख) रहस्यात्मक भाषा: इसे गुप्त भाषा भी कहते हैं। इसका प्रयोग हम प्राय: विभिन्न लोगों के सामने करते हैं, किंतु उनकी समझ में कुछ नहीं आता। इसकी अभिव्यक्ति वह ही गग्रहण कर पाता है, जिससे हम बात करते हैं, क्योंकि वह ही उस भाषा के संकेतों में शिक्षित होता है। इस भाषा का प्रयोग मुख्यत: सैनिकों, गुप्तचरों, चोरों तथा डाकुओं आदि के द्वारा किया जाता है। सैनिकों का एक वर्ग जब सीमाक्षेत्र के अंधकार भरे वातावरण में पहरा देता है, तो ऐसी भाषा का प्रयोग करता है। उदाहरण द्रष्टव्य है–

प्रयोग	अर्थ
नहर नदी नाला	तुम कौन हो?
नाला नहर नदी	मैं तुम्हारा साथी हूँ।

इस प्रकार प्रश्न 'नहर नदी नाला' का यदि उत्तर 'नाला नहर नदी' मिल जाता है, तो साथी होने की बात पुष्ट हो जाती है। अन्यथा शत्रु होने की बात पक्की हो जाती है। संवाद से जुड़े दोनों पक्षों को ऐसी शब्दावली का ज्ञान पहले से होता है।

कभी-कभी बच्चे रहस्यात्मक भाषा का मनोरंजक प्रयोग करते हैं; यथा–

भाषा-प्रयोग	अर्थ
13 मेरा 7 रहे।	तेरा मेरा साथ रहे।

कभी-कभी अतिरिक्त वर्णों के प्रयोग से इस प्रकार भी भाषा बना ली जाती है; यथा–

प्रयोग	अर्थ
(क) रमत रदत रतन रलात रलत	मदन लाल
(ख) रतवि रतज रतय रतकु रतमा रतर	विजय कुमार
(ग) वेरत दरत प्ररत कारत शरत	वेद प्रकाश

इन नामों की अक्षरात्मक संरचना को देखकर यह ज्ञात होता है कि इनमें 'रत' अक्षरों का वैविध्यपूर्ण प्रयोग हुआ हैं प्रथम नाम 'मदन लाल' को गुप्त भाषा में लिखते समय इसके प्रत्येक अक्षर के पूर्व और पश्चात् क्रमश: 'र' और 'त' अक्षरों का प्रयोग है। द्वितीय नाम-विजय कुमार की गुप्त संरचना में प्रत्येक अक्षर के पूर्वांश में 'रत' का प्रयोग हैं तृतीय नाम के प्रत्येक अक्षर के उत्तरांश में 'रत' का प्रयोग किया गया है।

अवध क्षेत्र की इसी प्रकार की एक भाषा के उदाहरण द्रष्टव्य हैं–

हर्फम घर्फरे नार्फहीं जार्फत अर्फही–हम घरे नाहीं जात अही। **(मैं घर नहीं जा रहा हूँ।)**

कार्फाव कर्फरत अर्फहा?–काव करत अहा! **(क्या कर रहे हो?)**

यहाँ प्रत्येक शब्द के मध्य 'र्फ' अक्षर का प्रयोग कर इसे विशिष्ट भाषा रूप दिया गया है।

नोट

5.9 भाषा और बोली में अन्तर

भाषा और बोली में शुद्ध भाषावैज्ञानिक स्तर पर भेद बतलाना कठिन है। इनमें अन्तर तात्विक न होकर व्यावहारिक है। इसे अनेक विद्वानों ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। यों सामान्यत: कुछ बातें कही जा सकती हैं–

(क) भाषा का क्षेत्र अपेक्षाकृत बड़ा होता है तथा बोली का छोटा।

(ख) एक भाषा की (या के अन्तर्गत) एक या अधिक बोलियाँ हो सकती हैं। इसके विपरीत भाषा बोली के अन्तर्गत नहीं आती, अर्थात् किसी बोली में एक या अधिक भाषाएँ नहीं हो सकतीं।

(ग) बोली किसी भाषा से ही उत्पन्न होती है। इस प्रकार भाषा बोली में माँ-बेटी का सम्बन्ध है।

(घ) बोधगम्यता के आधार पर भी इस सम्बन्ध में कुछ उपादेय बातें कही जा सकती हैं। यदि दो व्यक्ति जिनका बोलना ध्वनि, रूप आदि की दृष्टि में एक नहीं है, किन्तु वे एक-दूसरे की बातें काफी समझ लेते हैं तो उनकी बोलियां किसी एक भाषा की बोलियाँ हैं, अर्थात् पारस्परिक बोधगम्यता किसी एक भाषा की कसौटी है। इसके विपरीत विभिन्न भाषाओं के बीच या तो यह बोधगम्यता बिलकुल नहीं (अंग्रेजी-हिन्दी) होती, या कम (पंजाबी-हिन्दी) होती है। यों यह बोधगम्यता का आधार भी बहुत तात्त्विक नहीं है। उदाहरण के लिए, हरियाणवी-भाषी पंजाबी-भाषी को काफी समझ लेता है, किन्तु अवधी भाषी उस सीमा तक नहीं समझ पाता, यद्यपि हरियाणवी एवं अवधी हिन्दी भाषा की बोलियाँ हैं, और पंजाबी स्वंतत्र भाषा है।

(ङ) भाषा प्राय: साहित्य, शिक्षा तथा शासन के कार्यों में भी व्यवहृत होती है, किन्तु बोली लोक-साहित्य और बोलचाल में ही। यद्यपि इसके अपवाद भी कम नीं मिलते, विशेषत: साहित्य में। उदाहरण के लिए, आधुनिक काल से पूर्व के हिन्दी का सारा साहित्य ब्रज, अवधी, राजस्थानी, मैथिली आदि तथाकथित बोलियों में ही लिखा गया है।

(च) भाषा का मानक रूप होता है, किन्तु बोली का नहीं।

(छ) भाषा बोली की तुलना में अधिक प्रतिष्ठित होती है। अत: औपचारिक परिस्थितियों में प्राय: इसी का प्रयोग होता है।

(ज) बोली बोलने वाले भी अपने क्षेत्र के लोगों से तो बोली का प्रयोग करते है, किन्तु अपने क्षेत्र के बाहर के लोगो से भाषा का प्रयोग करते हैं।

इस प्रकार भाषा और बोली का अन्तर भाषा वैज्ञानिक न होकर समाजभाषा वैज्ञानिक है।

5.10 सारांश

विश्व की समस्त भाषाओं के प्रयोग-चिंतन से उनके लिखित तथा उच्चरित दो रूपों का ज्ञान होता है। भाषा-प्रयोग के इन दो रूपों की तीन स्थितियाँ सामने आती हैं। भाषा-प्रयोग की प्रथम स्थिति में उनका प्रयोग मात्र लिखित रूप में होता है। भारतवर्ष की वर्तमान भाषायी स्थिति में ऐसी भाषाएँ हैं-पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि। ये भाषाएँ कभी लिखित तथा उच्चरित दोनों रूपों में प्रयुक्त होती थीं। वर्तमान समय में उनका उच्चरित रूप प्रयुक्त नहीं होता है। भाषा का प्रारंभिक रूप उच्चरित ही होता है, इसलिए उनके दोनों रूपों का प्रयोग स्वत: सिद्ध है। आज इनका व्यावहारिक रूप में जीवंत प्रयोग नहीं होता, इसलिए उच्चरित रूप में होता है; यथा-विभिन्न क्षेत्रों की प्रारंभिक बोलियाँ। तृतीय स्थिति में भाषा का प्रयोग लिखित तथा उच्चरित दोनों रूपों में होता है। इस वर्ग में हिंदी, पंजाबी, बंगला मराठी आदि आधुनिक भारतीय भाषाएँ आती हैं।

अपने नाम से ही अपने अर्थ को स्पष्ट करती है। मातृभाषा को बच्चा अपनी माँ से सीखता या पाता है। परिवार समाज की प्राथमिक पाठशाला कहलाता है बच्चा जन्म लेते ही जो भाषा सीखता है, उसे मातृभाषा इसलिए कहते हैं, क्योंकि माँ की कोमल क्रोड़ में रहते वह माँ से इसे निर्व्याज उपहार के रूप में प्राप्त करता है।

संक्षेप में सामाजिक प्राणी मनुष्य के अस्तित्व की पहली शर्त है–मातृभाषा, क्योंकि एक अदद भाषा के बिना सामाजिक व्यवहार अकल्पनीय है।

प्रशासन की भाषा राष्ट्रभाषा कहलाती है, अस्तु सरकारी कार्यालयों में जिस भाषा का प्रयोग होता है तथा राज्य सरकारें

नोट

जिस भाषा में अपने पत्र आदि केन्द्र सरकार की तथा केन्द्रीय प्रशासन अपने संदेश राज्य सरकारों को संप्रेषित करता है, वह राजभाषा कही जाती है। हमारे देश की केन्द्रीय सरकार हिन्दी के साथ-साथ अंग्रेजी भाषा का प्रयोग करती है।

सरकारी आदेश, आज्ञाएँ, विज्ञापन, पत्र-व्यवहार वगैरह इसी भाषा में मुद्रित और प्रसारित होते हैं। प्रदेशों के शासनात्मक एकता की स्थापना का बहुत अधिक महत्त्व है।

भाषा और बोली में शुद्ध भाषावैज्ञानिक स्तर पर भेद बतलाना कठिन है।

भाषा का क्षेत्र अपेक्षाकृत बड़ा होता है तथा बोली का छोटा।

एक भाषा की (या के अन्तर्गत) एक या अधिक बोलियाँ हो सकती हैं। इसके विपरीत भाषा बोली के अन्तर्गत नहीं आती, अर्थात् किसी बोली में एक या अधिक भाषाएँ नहीं हो सकती।

भाषा का मानक रूप होता है, किन्तु बोली का नहीं।

इस प्रकार भाषा और बोली का अन्तर भाषा वैज्ञानिक न होकर समाजभाषा वैज्ञानिक है।

5.11 शब्दकोश

1. **निर्व्याज**–निर्विध्न, छल-कपट से रहित
2. **क्रोड़**– गोद, अंक, वक्षःस्थल, वस्तु के बीच का भाग
3. **तादात्म्य**– तल्लीनता, एक जान होना
4. **तात्विक**– तत्सम्बंधी, वास्तविक, यथार्थ

5.12 अभ्यास-प्रश्न

1. भाषा के लिखित एवं उच्चरित रूपों में अंतर स्पष्ट कीजिए।
2. राजभाषा के स्वरूप पर प्रकाश डालिए।
3. मातृभाषा पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
4. भाषा और बोली में अंतर स्पष्ट करें।

उत्तरः स्व-मूल्यांकन

1. (ख) **2.** (ख) **3.** (क) **4.** (ग)

5.13 संदर्भ पुस्तकें

1. *भाषा विज्ञान* – डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, किताब महल, इलाहाबाद
2. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा* – नरेश मिश्र, संजय प्रकाशन, दिल्ली
3. *प्रयोजनमूलक हिंदी की नयी भूमिका* – कैलाशनाथ पाण्डेय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

नोट

इकाई 6: ध्वनि की परिभाषा और उसका वैज्ञानिक आधार, ध्वनि उत्पत्ति की प्रक्रिया, ध्वनि यंत्र

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- ध्वनि के अर्थ एवं वैज्ञानिक आधार परिचित होंगे।
- ध्वनि उत्पादन की प्रक्रिया को समझ सकेंगे।
- ध्वनि यंत्र से परिचित होंगे।

प्रस्तावना

ध्वनि का सामान्य अर्थ है– आवाज, गूँज, नाद, कोलाहल। मेघ गरजते हैं, तूफान चिंघाड़ता है, पशु रम्भते हैं, पक्षी चहचहाते हैं, प्रकृति के अन्य रूप शब्द करते हैं, भाषा विज्ञान इन्हें ध्वनि नहीं मानता। उसकी दृष्टि में ये सब कोलाहल मात्र हैं। मनुष्य भी ऐसी ध्वनि का उच्चारण करे जो किसी सार्थक शब्द का अंग न बन सके या पदों के निर्माण में सहायक न हो तो वह भी शोर ही है। भाषा विज्ञान की दृष्टि में, मानव-मुख से उच्चरित होने वाला नाद जो शब्दों और पदों के निर्माण में अंग बने और उनकी सार्थकता में काम आए, ध्वनि है। ध्वनि विज्ञान उन ध्वनियों का विश्लेषण नही करता जो मानव-भाषा से असंबद्ध हों। भौतिकी आदि विज्ञानों में जिस ध्वनि का अध्ययन किया जाता है, उसका भाषा विज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं। भाषा विज्ञान तो भाषा की मूल इकाइयों के रूप में प्रयुक्त होने वाली ध्वनियों का अध्ययन करता है।

6.1 ध्वनि की परिभाषा

महाभाष्य में पंतजलि का कथन है कि भाषा की लघुतम ध्वनि इकाइयाँ, वर्ण हैं। ये वर्ण स्वयं में सार्थक नहीं होते, परन्तु मिलकर अर्थवान् शब्दों का निर्माण करते हैं। उदाहरणत: क् का उच्चारण निरर्थक है, परन्तु इसके साथ औ और आ ध्वनियों के मिल जाने से 'कौआ' सार्थक शब्द बन जाता है। क्, औ, आ ध्वनियाँ अपने आप में

पृथक-पृथक अर्थ व्यक्त नहीं करतीं। ध्वनियाँ भाषा का स्थूल आधार हैं और इनमें मानव के चिन्तन की अभिव्यक्ति का उपाय निहित है। मनुष्य मूलत: ध्वनियों में नहीं, सार्थक पदों में सोचता है। मनुष्य के मस्तिष्क में विचार सार्थक पदों के रूप में विद्यमान रहते हैं। वहाँ शब्द और अर्थ में पार्थक्य नहीं रहता। जब विचारों और भावों की अभिव्यंजना की इच्छा होती है तो ये पद मुख से नि:सृत होते हैं। पदों का ठोस रूप नहीं होता और न ही इनका उच्चारण पूर्ण पदों के रूप में करना सम्भव है, अत: मनुष्य के स्वरयन्त्र से, पदों में अंगभूत ध्वनियों का उच्चारण, उनकी व्यवस्था क्रम में किया जाता है, उदाहरणत: 'फल' शब्द के उच्चारण में पूर्ण शब्द का उच्चारण, इकट्ठा नहीं होता, अपितु फ् आदि ध्वनियाँ अपने क्रम में सुनाई पड़ती हैं। इसका कारण स्वरयन्त्र की कार्यप्रणाली की व्यवस्था है। भर्तृहरि 'वाक्यपदीयम्' में स्पष्ट करते हैं कि शब्द और अर्थ परस्पर इस प्रकार आबद्ध हैं कि चिन्तन में इनका पूर्वापर क्रम नहीं रहता। वे शब्द और अर्थ के संघात को स्फोट (अर्थमय शब्द) नाम देते हैं, परन्तु स्फोट की अभिव्यक्ति नाद (ध्वनि) के रूप में होती है, जहाँ स्फोट में निहित ध्वनियों का व्यवस्था के क्रम में ही उच्चारण संभव है। यदि ध्वनियों की व्यवस्था का क्रम उलट-पलट हो जाए तो उनसे बने पद, विचारों और भावों के अर्थ का संप्रेषण करने में असमर्थ होंगे। 'घट' स्फोट के उच्चारण में ध्वनियों का क्रम बदल जाने पर 'टघ' शब्द और उसका अर्थ, पृथक् स्थितियाँ न रख कर स्फोट रूप में अर्थमय शब्द का द्योतक है। इस प्रकार निष्कर्षत:

1. भाषा विज्ञान में, भाषा से सम्बद्ध मानवीय वाणी ही ध्वनि है।
2. ध्वनि इकाइयाँ शब्दों का निर्माण करती हैं।
3. ध्वनि इकाइयाँ (वर्ण) अपने आप में सार्थक नहीं होतीं, परन्तु सार्थक शब्दों की निर्मिति में सहायक हैं।
4. मनुष्य ध्वनि इकाइयों में नहीं सोचता। उसके चिन्तन का आधार सार्थक शब्द होते हैं।
5. शब्दों में ध्वनि-इकाइयों की व्यवस्था रहती है।
6. शब्दों की अभिव्यक्ति के लिए स्वरयन्त्र, उनमें व्यवस्थित ध्वनि इकाइयों का क्रमश: उच्चारण करता है।
7. शब्दों में ध्वनियों का जो क्रम निश्चित है, उसे बदलने पर उन शब्दों की सार्थकता को व्याघात पहुँचता है, भले ही ध्वनियाँ स्वयं निरर्थक हों।

अत: अर्थमय शब्दों को स्थूल अभिव्यक्ति देने वाली मानवीय वाणी ध्वनि है अर्थात् मनुष्य, स्फोट की अभिव्यक्ति नाद में करता है, यह नाद ही ध्वनि है। ध्यातव्य है कि किसी व्यक्ति के स्वरयन्त्र में विकार आने पर, ध्वनियों का उच्चारण प्रभावित हो सकता है। मानसिक दबाव और विकारग्रस्त मन की प्रक्रिया, ध्वनि के स्वस्थ उच्चारण में बाधक हैं। इनसे उच्चारण का सुर (Tone) बदल जाता है।

6.2 ध्वनि के वैज्ञानिक आधार

ध्वनि-विज्ञान का मूल-भूत अंग ध्वनि-शिक्षा है। उसमें वैज्ञानिक दृष्टि से वाणी का अध्ययन किया जाता है-वर्णों की उत्पत्ति कैसे होती है, वर्ण का सच्चा स्वरूप क्या है, भाषण-ध्वनि, ध्वनि-मात्र, अन्य अवांतर श्रुति ऐसे ही अनेक प्रश्नों का परीक्षा द्वारा विचार किया जाता है। अत: इन रहस्यों का भेदन ही-इस सूक्ष्म ज्ञान की प्राप्ति ही-उसका सबसे बड़ा प्रयोजन होता है।

इस अलौकिक पुण्य और आनंद के अतिरिक्त ध्वनि-शिक्षा व्यवहार में भी बड़ी लाभकर होती है। किसी भाषा का शुद्ध उच्चारण सिखाने के लिए वर्णों की वैज्ञानिक व्याख्या करना आवश्यक होता है। विशेषकर किसी विदेशी को उच्चारण सिखाने में इससे बड़ी सहायता मिलती है। प्राचीन भारत में वर्ण-शिक्षा की उन्नति के कारण ही वेदों की भाषा का रूप आज भी इतना अक्षुण्ण छोड़कर ध्वनि-शिक्षा से ही काम लेना पड़ता था।

अभी कुछ ही दिन पहले लोग दूसरी भाषाओं का उच्चारण शिक्षक का अनुकरण करके ही सीखते थे पर अब शिक्षक वर्णों का उच्चारण करके बतलाने के अतिरिक्त यह भी सिखा सकता है। कि किन अवयवों और स्थानों से तथा किस ढंग का प्रयत्न करने से कौन वर्ण उच्चरित होना चाहिए। फोनेटिक रीडर (ध्वनि-पाठबलियाँ) ऐसे कार्यों के लिए ही बनती हैं। उनके द्वारा व्यवहार में उच्चारण भी सीखा जाता है। और उस वर्ण-शिक्षा के आधार पर भाषा की

ध्वनियों का विचार भी किया जाता है।

इस वर्ण-शिक्षा और ध्वनि-विचार का भाषा-विज्ञान से संबंध स्पष्ट ही है। तुलना ओर इतिहास भाषा-विज्ञान के आधार हैं। इन दोनों ढंगों की प्रक्रिया के लिए ध्वनि-शिक्षा आवश्यक है। हम वर्णों के विकारों और परिवर्तनों की तुलना करते हैं; उन्हीं का इतिहास खोजते हैं पर उनका कारण ढूँढने के लिए उनके उच्चारण की शिक्षा अनिवार्य है। बिना उच्चारण जाने हम उनका कोई भी शास्त्रीय विचार नहीं कर सकते। भाषा के वैज्ञानिक विवेचन के लिए तो यह परमावश्यक हो जाता है कि हम ध्वनियों के संपूर्ण जगत् से परिचित रहें, क्योंकि कभी-कभी एक ध्वनि का विशेष अध्ययन करने में भी उन सब ध्वनियों को जाना आवश्यक हो जाता है जिनसे उसका विकास हुआ है अथवा जिन ध्वनियों का स्थान ले सकना उसके लिए संभव है। अत: विकास और विकास के अध्ययन के लिए सामान्य ध्वनि-समूह का और किसी भाषा-विशेष के ध्वनि-समूह का अध्ययन अत्यंत आवश्यक है।

6.3 ध्वनि उत्पत्ति की प्रकिया

जब दो वस्तुओं के आपस में टकराने से वायु में कंपन हो और कर्ण-पटह तक पहुँचने से इसका अनुभव हो, तो उसे ध्वनि कहते हैं। प्रत्येक ध्वनि में कंपन होती है और प्रत्येक कंपन में ध्वनि होती है। कभी-कभी हाथ, पैर, डाली या पत्ती हिलने पर ध्वनि का आभास नहीं होता है। इसका कारण है– ध्वनि की तीव्रता का अभाव। विशेष यंत्र के माध्यम से ऐसी कंपन में भी ध्वनि सुन सकते हैं। हमारे कान सामान्यत: कम से कम गीस आवृति प्रति सैकेंड वाली कंपन से ध्वनि सुन सकते हैं। यदि यह आवृत्ति लगभग बीस हजार प्रति सेकेंड से अधिक हो जाती है, तब भी ध्वनि का आभास नहीं होता है। स्पष्ट ध्वनि की प्रति सेकेंड आवृत्ति 200 और 2000 के बीच मानी गई है।

भाषाविज्ञान के अंतर्गत मुख्यत: मानव-मुख-उच्चरित ध्वनि का अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार कह सकते हैं कि ध्वनि-उत्पादन प्रक्रिया में वाक् इंद्रिय का सहयोग लिया जाता है। यहाँ वाक् शब्द मुख के अर्थ में प्रयुक्त होता है। मुख के संदर्भ में यह ध्यातव्य है कि यह शरीरांग जीवन-यापन के लिए खाने-पीने तथा यदा-कदा साँस लेने का भी आधार है। मुख के द्वारा उक्त मुख्य कार्यों के साथ बोलने का गौण किंतु महत्त्वपूर्ण कार्य भी संभव होता है। इस प्रकार मुख एक ऐसा शरीरांग है जो जीवन-यापन के साथ ध्वनि-उत्पादन प्रक्रिया की भूमिका अदा करता है। कुछ धवनियों के उत्पादन में मुख के साथ नासिका की भी सहयोगी तथा महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। नासिक्य और अनुनासिक ध्वनियाँ इसी प्रकार की हैं।

ध्वनि-उत्पादन प्रक्रिया को व्यवस्थित रूप देने के लिए दो चरणों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम चरण-प्रेरणात्मक प्रक्रिया, द्वितीय चरण-गतिशील प्रकिया।

1. **प्रथम चरण: प्रेरणात्मक प्रक्रिया–**ध्वनि-उत्पादन प्रक्रिया में सर्वप्रथम प्राणि-चेतना बुद्धि का सहारा लेकर किसी वस्तु, व्यक्ति या भाव के संदर्भ में इच्छानुसार अभिव्यक्ति के लिए मन को प्रेरित करती है। प्राणि की चैतन्यता तथा बुद्धि की प्रखरता के ही अनुरूप मन गति पाने के लिए चंचल हो उठता है। एक ही प्राणि में विभिन्न भाव-संदर्भों की प्रेरणात्मक प्रक्रिया तथा मन की गति में भिन्नता होती है। जब किसी आश्चर्यजनक स्थिति को देखकर एकाएक मुख से 'वाह-वाह' निकलता है, तो यह प्रक्रिया बहुत ही तीव्र गति से होती है। जब किसी को पहली बार कुछ लागों के सामने बोलना पड़ता है, तो उस समय चेतना तथा बुद्धि का उपयोगी समन्वय न होने के कारण स्पष्ट रूप से बोल पाना कठिन हो जाता है। ऐसे में प्रेरणात्मक प्रक्रिया अत्यंत शिथिल होती है। इस प्रक्रिया में मन की प्रबल भूमिका होती है। मन शारीरिक शक्ति को प्रेरित करता है। मन की प्रेरणा के अनुरूप ही शारीरिक शक्ति का सहयोग प्ररेणा-प्रक्रिया में मिल पाता है। प्रेरणात्मक प्रक्रिया में अंतिम भूमिका शारीरिक शक्ति की होती है। शारीरिक शक्ति शरीरस्थ-फेफड़े की वायु को प्रभावित करती है।

   संस्कृत के प्रसिद्ध आचार्य पाणिनि ने ध्वनि-उत्पादन प्रक्रिया के संदर्भ में इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया है–

आत्म बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति से प्रेरयति मारुतम्।।
पाणिनीय शिक्षा ।। 6 ।।

अर्थात् आत्मा बुद्धि के साथ संयुक्त होकर अपने अभीष्ट भाव की अभिव्यक्ति के लिए मन को प्रेरित करता है। मन शारीरिक शक्ति को प्रेरित करता है। तथा शारीरिक शक्ति से फेफड़े की वायु प्रेरणा प्राप्त कर गतिशील होती है। इस प्रकार ध्वनि (भाषा) उद्‌भव का आधार चेतना है। चेतना के द्वारा बद्धि सहयोग पर ही ध्वनि-उत्पादन प्रक्रिया संभव है। बुद्धि के अभाव में प्रक्रिया संभव नहीं है।

ध्वनि उत्पादन के समय भाषाई, चेतना बुद्धि और मन जितना सुंदर समन्वय होगा, ध्वनि उतनी ही उत्तम और अनुकूल होगी।

2. **द्वितीय चरणः गतिशील प्रक्रिया—**ध्वनि-उत्पादन के द्वितीय चरण में वायु की भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। वायु के माध्यम से बजने वाले वाद्य-यंत्रों-हारमोनियम, ऑर्गन-पाइप आदि की भाँति ही मनुष्य वायु के सहारे ध्वनि करता है। मनुष्य की श्वसन प्रक्रिया में दो भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों की वायु आपस में एक-दूसरे के विपरीत दिशागामी होती है। एक प्रकार की वायु मानव-नाक या मुख के माध्यम से अंदर की ओर प्रवेश कर फेफड़े तक पहुँचती है। दूसरे प्रकार की वायु फेफड़े में स्थित अनुपयोगी दूषण को लेकर फेफड़े से लेकर वापस होकर मुख या नाक के माध्यम से बाहर आती। श्वसन की इस प्रक्रिया में फेफड़े की ओर गतिशील वायु संबंधी प्रक्रिया को श्वास-प्रश्वास कहते हैं।

श्वास में शुद्ध वायु अर्थात् ऑक्सीजन अंदर जाती है और निःश्वास में अंदर की दूषित वायु अर्थात् कार्बन डाईऑक्साइड बाहर आती है। श्वास-निःश्वास की प्रक्रिया जीवन पर्यंत लगातार चलती रहती है। श्वास-प्रक्रिया की वायु के माध्यम से विरल भाषा की विरल ध्वनि का उच्चारण संभव है। इसे क्लिक ध्वनि कहते है। निःश्वास की वायु ही मुख्यतः ध्वनि-उच्चारण में सहयोगी होती है। हिंदी की ध्वनियाँ भी निःश्वास प्रक्रिया के माध्यम से ही संभव है।

फेफड़े में प्रतिपल धौंकनी की भाँति गति होती रहती है। ध्वनि-उत्पादन के द्वितीय चरण में फेफड़े ही प्रारंभिक आधार हैं। निःश्वास में वायु फेफड़े से श्वास नलिका द्वारा बाहर की दिशा में वापस चल पड़ती है।

श्वास नलिका—श्वास नलिका के माध्यम से श्वास-निःश्वास प्रक्रिया संभव है। श्वास नली के साथ ही भोजन-नलिका आगे बढ़ती है। श्वास नलिका की ओर झुका हुआ अभिकाकल या स्वर-यंत्र मुख आवरण हैं। जब खाद्य या पेय पदार्थ भोजन नलिका के मुख के पास आता है, तो यह आवरण श्वास नलिका को बंद कर देता है। यह आवरण भोजन और पानी को श्वास नलिका में जाने से बचा लेता है। ऐसा होने पर प्राणघातक स्थिति हो सकती है। जब कभी किसी भाँति भोजन के कण या पानी की बूँदे इस नलिका में बढ़ें तो मस्तिष्क के आदेशानुसार
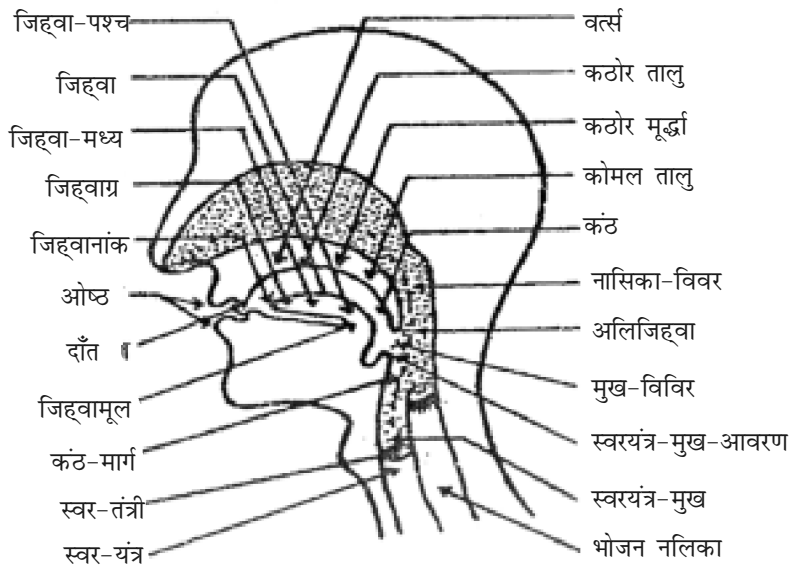
नोट

स्वर-व्यंजन की झिल्लियाँ तुरंत आपस में निकट आकर मार्ग बंद कर देती हैं। इसके कारण भोजन-कण फेफड़े तक नहीं पहुँच पाता। इसके बाद तुरंत फेफड़े पर तेज दवाब पड़ता है और-फेफड़े से हवा तीव्र गति से चलकर उसे बाहर कर देती है। जब वायु मुख मार्ग के साथ-साथ नासिका मार्ग से भी निकलती है, तो अनुनासिक ध्वनियों का उच्चरण होता है।

स्वर-यंत्र—फेफड़े से कुछ ऊपर श्वास नलिका में स्वर-यंत्र नाम की एक रचना होती है। यह ध्वनि उत्पन्न करने वाला प्रधान अवयव है। फेफड़े से आने वाली वायु स्वर-यंत्र से होकर बाहर आती है। स्वर-यंत्र की रचना दो पतली झिल्लियों से होती है। इन्हीं दो लचीली झिल्लियों के माध्यम से आवश्यकतानुसार सामान्य अथवा सीमित कपाट बनता है, इन झिल्लियों को स्वर-तंत्री भी कहते हैं।

स्वर-यंत्र के माध्यम से विभिन्न प्रकार की ध्वनियों का उत्पादन संभव होता है। कभी दोनों स्वर-तंत्रियों को उच्चारण के अनुसार कम या अधिक खोलते हैं। किसी काम में शक्ति लगाने के लिए साँस खींचकर उसे रोकने की प्रक्रिया इन्हीं तंत्रियों के आधार पर होती है। स्वर-तंत्रियों के पास-दूर होने से कई स्थितियाँ सामने आती हैं। इनमें से कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं-

1. **प्रथम अवस्था** में स्वर-तंत्रियाँ सामान्य अवस्था में होने से शिथिल पड़ी होती हैं। इसी सामान्य अवस्था में श्वास-नि:श्वास की प्रक्रिया चलती रहती है। नि:श्वास में स्वर-तंत्रियाँ श्वास अवस्था की अपेक्षा कुछ अधिक निकट आ जाती हैं। स्वर तंत्रियों की इसी अवस्था में अघोष ध्वनियों का उच्चारण संभव है।
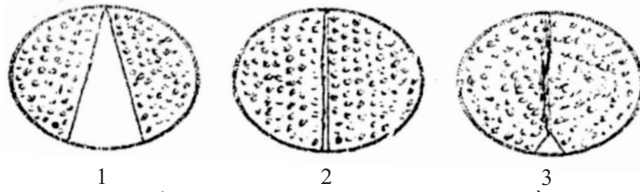
2. **द्वितीय अवस्था** में स्वर-तंत्रियाँ एक-दूसरे के निकट आकर सट जाती हैं नि:श्वास की इस प्रक्रिया में वायु स्वर-तंत्रियों को धक्का देकर बाहर आती है। इसीलिए घर्षण होने से उनमें कंपन्न होता है। इस अवस्था में घोष ध्वनियों का उच्चारण होता है। (चित्र 2 देखें)
3. **तृतीय अवस्था** में स्वर-तंत्रियों का लगभग तीन-चौथाई भाग एक-दूसरे से मिलकर नि:श्वास मार्ग अवरुद्ध कर देता है और लगभग एक-चौथाई भाग एक-दूसरे से मिलकर नि:श्वास मार्ग अवरुद्ध कर देता है और लगभग एक-चौथाई भाग, सीमित मुख रूप में खुला रहता है। (चित्र 3 देखें) इस स्थिति में फुसफुसाहट ध्वनि का उत्पादन संभव होता है। कान के निकट मुख करके की जाने वाली मंद ध्वनियाँ इसी अवस्था में निकलती है। फुसफुसाहट में उत्पन्न सभी ध्वनियाँ अघोष होती हैं।

कण्ठ—इसे ग्रसनिका, गलबिल आदि नाम भी दिए गए हैं। यह स्वर-यंत्र के ऊपर का स्थान है। यहाँ श्वास नलिका तथा भोजन दोनों एक-दूसरे को काटते हैं। इसलिए इसे श्वास और भोजन नलिका का चौराहा (Crossing) भी कह सकते हैं। इस स्थान के विभिन्न रूप धारण करने से ध्वनियों के तान में भिन्नता आती है। इस स्थान से कंठ्य-कवर्ग व्यंजन क्, ख्, ग्, घ्, ङ् ध्वनियों का उत्पादन होता है।

मुख-विवर, नासिका-विवर, कौवा—ध्वनि-उत्पादन प्रक्रिया में मुख की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। श्वास नलिका और भोजन नलिका के चौराहे पर ऊपर की ओर जीभ के समान एक मांसल भाग होता है, जिसे कौवा या अलिजिह्वा कहते हैं। यह भी कोमल तालु के साथ मिलकर कभी-कभी मार्ग अवरुद्ध करने के लिए अवरोधक का कार्य करता है। जब कौवा सीधा होकर नासिका मार्ग को बंद कर देता है, तो वायु मात्र मुख्य मार्ग से निकलती है। ऐसी अवस्था में मौखिक स्वर तथा व्यंजनों का उच्चारण होता है। जब कौवा ढीला होकर नीचे लटक जाता है। जो मुख मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। ऐसे में वायु नासिका-विवर से होकर बाहर निकलती है। इस स्थिति में ङ्,ञ्, ण्, न् और म् नासिक्य ध्वनियों का उच्चारण होता है। जब कौवा सामान्य स्थिति में होता है, जब श्वास प्रक्रिया मुख तथा नाक दोनों भागों से साथ-साथ होती है। इस स्थिति में अनुनासिक स्वरों का उच्चारण होता है।

नोट्स नासिका-विवर कंठ से नाक तक फैला होता है, किंतु इसमें ऐसा कोई विशेष अंग नहीं है, जो ध्वनि उत्पादन में सहयोगी होता हो।

मुख-विवर अंग—मुख-विवर में कई ध्वनि-उत्पादक अंग हैं। इनमें ऊपर की ओर तालु का भाग है, जो कंठ से दाँतों के मध्य तक स्थित होता है। तालु को कंठ की ओर से क्रमशः कोमल, मूर्द्धा, कठोर तालु तथा वर्त्स चार भागों में विभक्त करते हैं। इन्हीं स्थानों पर जीभ विभिन्न रूपों से, अल्पाधिक रूप में स्पर्श कर विभिन्न ध्वनियों का उत्पादन करती है। यह कभी वायु (श्वास-निःश्वास) को रोकने का कार्य करती है, तो कभी बाहर निकालने की प्रक्रिया अपनाती है। कंठ की ओर से जीभ को क्रमशः जिह्वामूल, जिह्वापश्य, जह्वामध्य, जिह्वा नोक पाँच भागों में विभक्त कर सकते हैं। जीभ के विभिन्न भाग ध्वनि-उत्पादन में अपने-अपने ढंग से सहयोगी होते हैं। जीभ-मुख के विभिन्न भागों का स्पर्श कर विभिन्न ध्वनियों का उच्चारण करती है; यथा-जीभ के द्वारा मूर्द्धा स्पर्श से टवर्ग ध्वनियों का उच्चारण होता है, तो जीभ तब दाँत का स्पर्श करती है, तो दंत्य अर्थात् तवर्ग व्यंजनों का उच्चारण संभव होता है।

मुख-विवर के अंतिम भाग में अर्थात् बाहर की ओर स्थित दाँतों और होठों का ध्वनि-उत्पादन से पर्याप्त सहयोग होता है। कभी जीभ की नोंक दाँतों का स्पर्श कर-उच्चारण प्रक्रिया में सहयोग देती है; यथा-पवर्ग व्यंजन ध्वनियाँ, तो कभी दोनों होठों के मिलने से उच्चारण प्रक्रिया संभव होती है; यथा-पवर्ग व्यंजन ध्वनियाँ।

इस प्रकार ध्वनि-उत्पादन प्रक्रिया में जब चेतना को बुद्धि और मन से प्रेरणा मिलती है, तो फेफड़े में गति आती है। और फिर निःश्वास प्रक्रिया में स्वर-तंत्री और मुख के विभिन्न भागों के सहयोग से विभिन्न ध्वनियों का उत्पादन संभव होता है।

6.4 ध्वनि यंत्र: वाग्यंत्र

शरीर के जिन अवयवों के सहयोग से ध्वनि का उत्पादन संभव होता है, उनके समूह को वाग्यंत्र कहते हैं। यह परिभाषा आंशिक रूप से ही तर्कसंगत लगती है क्योंकि मनुष्य अपनी विभिन्न अंगुलियों के माध्यम से तबले, हारमोनियम और सितार आदि से ध्वनि-उत्पादन करता है।

यहाँ ध्यातव्य है कि ध्वनि-उत्पादन में शरीर के श्वसन तंत्र और पाचन-तंत्र के अनेक भाग विशेष सहयोगी होते हैं। ध्वनि-उत्पादन के संदर्भ में इन अंगों की अपरिहार्य रूप से चर्चा की जाती है। श्वसन नलिका और भोजन नलिका ध्वनि-उत्पादन में विशेष भूमिका निभाती हैं। ये दोनों नलिकाएँ ऊपर और नीचे अवश्य हैं, किन्तु कंठ-स्थल पर दोनों एक-दूसरे से मिली हुई हैं। भोजन नलिका मुख से भेजे गए भोजन को आमाशय की ओर ले जाती है। कंठ के कुछ ऊपर तक ध्वनि-उत्पादक निःश्वास का मार्ग और भोजन मार्ग एक ही होता है। उसके पश्चात दोनों अलग होते हैं। श्वास नलिका नाक से चलकर फेफड़े तक जाती है। श्वसन मार्ग ध्वनि-उत्पादक प्रक्रिया में सर्वाधिक सहयोगी होता है। ध्वनि-उत्पादन में फेफड़े से चली वायु कभी मुख मार्ग से बाहर आती है तो कभी नसिका के मार्ग से।

इस प्रकार विभिन्न ध्वनियों का उत्पादन होता है। ध्वनि उत्पादन में सहयोगी अंग निम्नलिखित हैं—
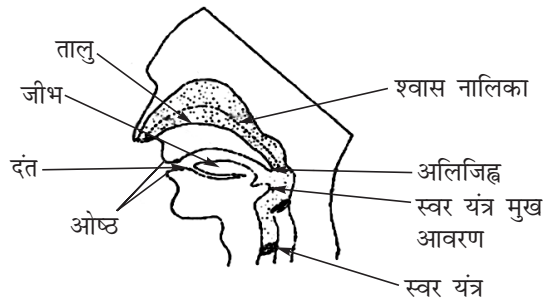
ध्वनि-यंत्र

नोट

1. फेफड़ा (Lungs)

प्राणियों की श्वसन प्रक्रिया के मूलाधार फेफड़े हैं। मनुष्य में जीवन पर्यन्त श्वसन प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। निद्रावस्था में शरीर के अधिकांश भाग शिथिल हो जाते हैं किंतु श्वसन प्रक्रिया फेफड़े के सहारे चलती रहती है। इस प्रक्रिया के अवरोध पर जीवन का अंत संभावित होता है। श्वसन में शुद्ध वायु अर्थात् ऑक्सीजन ग्रहण करते हैं और नि:श्वास में दूषित वायु अर्थात् कार्बन डाईऑक्साइड निकलती है। इस प्रक्रिया में जीवन के लिए आवश्यक ऑक्सीजन की उपलब्धि होती रहती है। यह भी नितांत सत्य है कि यदि मनुष्य को कुछ देर ऑक्सीजन न मिले, तो मृत्यु निश्चित है।

मनुष्य की ध्वनि-उत्पादन प्रक्रिया में नि:श्वास का ही उपयोग होता है। इसके विपरीत श्वास लेते हुए एकमात्र ध्वनि का उत्पादन होता है जिसे 'क्लिक' ध्वनि कहते हैं। इसमें दोनों होठों को मिलाकर वायु अंदर खींचते हुए ध्वनि उत्पन्न की जाती है। माँ जब अपनी संतान को प्यार से चुंबन लेती है, तो ऐसी ही ध्वनि का उत्पादन होता है। श्वसन प्रक्रिया में बाहर निकलने वाली दूषित वायु से ही ध्वनि की उत्पत्ति होती है। यह निरर्थक वायु मनुष्य के लिए परम उपयोगी सिद्ध हुई है। भाषा निश्चय ही मनुष्य की उन्नति एवं विकास का आधार है। फेफड़े से श्वास नि:श्वास की प्रक्रिया चलती रहती है जिससे ध्वनि-उत्पादन का भी क्रम चलता रहता है। माना कि फेफड़े का कार्य रक्त शुद्धिकरण के लिए ऑक्सीजन ग्रहण करना तथा कॉर्बन डाइऑक्साइड बाहर निकालना है, किंतु इसी क्रम में ध्वनि उत्पत्ति भी संभव है। इस प्रकार फेफड़े ध्वनि उत्पादन के प्रमुख अंग हैं।

क्या आप जानते हैं मनुष्य की भाषा का अस्तित्व श्वसन के निरर्थक तत्त्व (बाइ-प्रॉडक्ट) पर आधारित है।

2. स्वरयंत्र (Larynx)

फेफड़े के कुछ ऊपर श्वास नलिका में स्वर-यंत्र विशेष वाग्यंत्र होता है। फेफड़े से निकली वायु स्वर-यंत्र से होकर ही बाहर आती है। स्वर-यंत्र में दो मांसल झिल्लियाँ होती हैं जिन्हें स्वर-तंत्री कहते हैं। स्वर-तंत्रियाँ आवश्यकतानुसार आगे या पीछे खिसककर स्वर-यंत्र के मुख को छोटा या बड़ा आकार प्रदान करती है। इन झिल्लियों के माध्यम से स्वर-यंत्र के मुख की अनेक आकृतियाँ बनती हैं, किंतु इन्हें मुख्यत: तीन रूपों में विभक्त करते हैं–
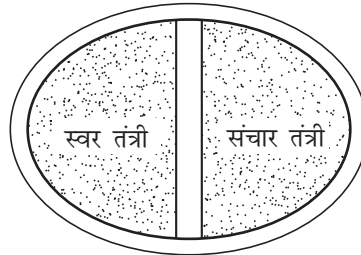
स्वरयंत्र

(क) स्वरयंत्र की प्रथम स्थिति जिसमें स्वर-तंत्रियाँ शिथिल रूप में अर्थात् यथावत् पड़ी रहती हैं। दोनों झिल्लियों के मध्य पर्याप्त स्थान होता है। श्वास और नि:श्वास की वायु अनवरत चलती रहती है। झिल्लियाँ खुली रहने के कारण नि:श्वास की वायु स्वर-यंत्र में बिना घर्षण के बाहर आ जाती हैं। अत: ऐसी स्थिति में अघोष ध्वनियों का उत्पादन होता है।

(ख) जब स्वर-यंत्र की तंत्रिका आपस में निकट आकर लगभग सट जाती है। फेफड़े से चली वायु से घर्षण कर बाहर निकलती है, जिससे तंत्रियों में कंपन होता है। इस स्थिति में घोष या संघर्ष ध्वनियों का उत्पादन होता है।

(ग) स्वर-यंत्र की दोनों तंत्रियाँ एक-दूसरे से सटी हुई हों और कोई एक कोना खुला हुआ हो, तो निःश्वास की वायु फुस्-फुस् की हल्की ध्वनि के साथ बाहर आती है, इसलिए इसे फुसफुस ध्वनि कहते हैं। जब एक व्यक्ति किसी के कान के निकट मुँह कर धीरे-धीरे ऐसे कहने का प्रयत्न करता है कि दूसरे अन्य को सुनाई न दे, तब ऐसी ध्वनि का उत्पादन होता है।

स्व-मूल्यांकन

सही विकल्प चुनिए–

1. ध्वनि उत्पादन प्रक्रिया में मुख्य भूमिका अदा करता है–
   (क) मुख (ख) नासिका (ग) जिह्वा
2. स्पष्ट ध्वनि की प्रति सेकेंड आवृत्ति मानी गई है।
   (क) 2000 से 20000 के बीच (ख) 100 से 1500 के बीच (ग) 200 से 2000 के बीच
3. अलिजिह्वा का दूसरा नाम है–
   (क) कौवा (ख) तालु (ग) कंठ
4. जिन अवयवों के सहयोग से ध्वनि उत्पादन संभव होता है
   (क) स्वर यंत्र (ख) वाग्यंत्र (ग) ध्वनियंत्र

स्वरयंत्र निश्चय की ध्वनि उत्पादन प्रक्रिया का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। जो कोमल तंत्रियों से विविध आकार धारण करने से विविध ध्वनियों की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार वंशी के कुछ एक सीमित छिद्रों को बंद-खोलकर विविध ध्वनियों का उत्पादन किया जाता है।

स्वरयंत्र ध्वनि-उत्पादन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग है। इसके साथ ही जीवन रक्षक अंग भी है। स्वर यंत्र से ऊपर कंठ-स्थल पर श्वास नलिका और भोजन नलिका का चौराहा है। यहाँ से श्वास नलिका, मुख्य-विवर, नासिका-विवर चार मार्ग चारों दिशाओं में जाते हैं। श्वास नलिका और भोजन नलिका का चौराहा है। श्वास-निःश्वास और भोजन के समुचित मार्ग क्रमशः श्वास नलिका और भोजन नलिका में पहुँचाने का कार्य स्वर-यंत्र मुख आवरण करता रहता है। ध्वनि-उत्पादन के समय सिमट कर श्वास मार्ग खोलता और भोजन ग्रहण के समय इस मार्ग को बंद करते रहने का दायित्व इस अंग पर रहता है। जब हम भोजन करते समय बातें करते हैं, तो इस अंग के लिए कठिन परीक्षा की घड़ी होती है। यदि स्वर-यंत्र मुख-आवरण थोड़ा भी चूक जाए और भोजन का एक भी कण इस आवरण से आगे बढ़ जाए तो संकट की घड़ी आ जाती है। ऐसे में मस्तिष्क के निर्देश पर स्वरयंत्र की दोनों झिल्लियाँ तुरंत ही एक दूसरे से मिलकर फेफड़े का मार्ग बंद कर देती हैं। अगले ही पल मस्तिष्क के निर्देश पर दोनों फेफड़ों पर दवाब पड़ता है। फेफड़े से वायु का तेज प्रवाह स्वरयंत्र को खोलता हुआ बाहर जाता है। वायु का प्रवाह इतना तेज होता है कि भोजन-कण श्वास के नाक से बाहर आता है। इस प्रक्रिया से जीवन-रक्षा होती है।

3. स्वर-यंत्र मुख आवरण (Epiglottis)

स्वर-यंत्र की सुरक्षा हेतु इसके मुख के ऊपर एक मांसल भाग है। ध्वनि-उत्पादन के समय यह भाग सिमट कर वायु को बाहर निकलने के लिए समुचित मार्ग प्रदान करता है, किंतु जब भोजन या पेय पदार्थ ग्रहण करते हैं तब यह मांसल आवरण श्वसन मार्ग को ढंग लेता है। इससे ग्रहण किया गया खाद्य या पेय पदार्थ सीधे भोजन नलिका में जाता है। यह निर्विवाद सत्य है कि यदि स्वर-यंत्र आवरण की चूक के पश्चात स्वर-यंत्र से भी चूक हो जाए और खाद्य पदार्थ का टुकड़ा फेफड़े में पहुँच जाए तो वैज्ञानिक सत्य है कि प्राणांत संभावित है। इस प्रकार स्वर-यंत्र मुख आवरण ध्वनि-उत्पादन का एक सहयोगी अंग है, वहीं जीवन रक्षक महत्त्वपूर्ण अंग है।

4. अलिजिह्वा (Iwala)

मुख विवर, नासिका विवर, श्वास नलिका और भोजन नलिका के चौराहे के ठीक ऊपर लटकता हुआ एक मांसल अंग होता है, जिसे अलिजिह्वा, कौवा या घंटी कहते हैं। यह मांसल अंश ध्वनि-उत्पादन के समय आवश्यकतानुसार

नोट

मुख-विवर के मार्ग ओर नासिका-विवर के मार्ग को खोलता और बंद करता है। दोनों मार्गों के अवरोध में अलिजिह्वा अपने स्वरूप को घटाता तथा बढ़ाता है। अलिजिह्वा की अवरोधक प्रक्रिया में तीन स्थितियाँ सामने आती हैं–

प्रथम स्वाभाविक **अवस्था** है, जिसका संबंध जीवन-यापन के लिए श्वास-नि:श्वास की प्रक्रिया से होता है। ऐसे में अलिजिह्वा शिथिल होकर नीचे लटक कर मुख मार्ग को अवरुद्ध कर देती है। मुँह भी बंद होता है। सहज श्वसन प्रक्रिया इसी अवस्था में होती है।

द्वितीय अवस्था में अलिजिह्वा आगे बढ़कर नासिका मार्ग को पूर्णरूपेण अवरुद्ध कर देती है। इस प्रकार श्वास-नि:श्वास की वायु मुख-विवर से फेफड़े की ओर और फेफड़े से चली निश्वास की वायु मुख विवर से होती हुई बाहर आती है। ऐसे में मौखिक ध्वनियों (स्वर-व्यंजन) का उच्चारण होता है।

तृतीय अवस्था में अलिजिह्वा सामान्य से कुछ अधिक बढ़कर नासिका मार्ग को अवरुद्ध कर देती है, किंतु कुछ भाग खुला भी रहता है। इस स्थिति में नि:श्वास की कुछ वायु नासिका मार्ग से निकलती है, तो कुछ मुख मार्ग से। अनुनासिक स्वरों का उच्चारण अलिजिह्वा की इसी स्थिति में होता है।
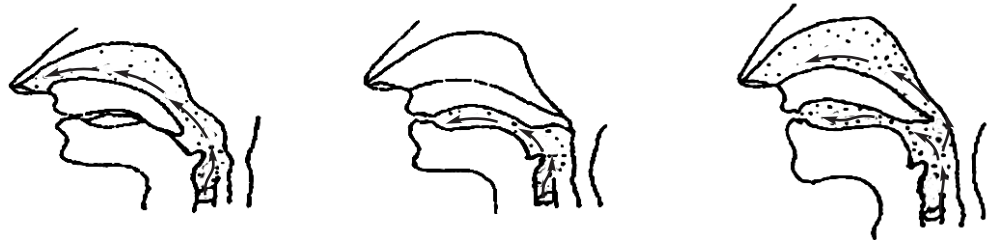
प्रथम अवस्था **द्वितीय अवस्था** **तृतीय अवस्था**

उर्दू की संघष ध्वनियों क़, ख़, ग़, ज़, फ़ के उच्चारण में अलिजिह्वा जिह्वापश्च मूल को स्पर्श करती है या फिर उसके निकट आ जाती है।

5. नासिका-विवर (Nasal Cavity)

श्वसन प्रक्रिया में फेफड़े से वायु की आवागमन नासिका-विवर के मार्ग से चलता रहता है। श्वसन प्रक्रिया का मार्ग बाहर की ओर दो भागों में विभक्त होता है। एक नासिका-विवर दूसरा मुख-विवर, ये आगे चलकर एक हो जाते हैं। अलिजिह्वा के पश्चात नि:श्वास मार्ग भोजन नलिका से जुड़कर आगे बढ़ती है। स्वरयंत्र आवरण के पश्चात, श्वास नलिका के पीछे भोजन नलिका होती है, जो आमाशय तक जाती है। मुख मार्ग के अवरुद्ध होने के पश्चात् वायु जब नासिका मार्ग से निकलती है, तो नासिक्य ध्वनियों–ङ, ञ, ण, न, म का उत्पादन होता है। जब नासिका मार्ग के साथ साथ मुख मार्ग से भी कुछ वायु बाहर आती है, तो अनुनासिक ध्वनियों, अँ, आँ, एँ ओं आदि का उत्पादन होता है।

टास्क ध्वनि उत्पादन प्रक्रिया में अलिजिह्वा की भूमिका का विश्लेषण कीजिए।

6. तालु (Palate)

मुख-विवर के ऊपरी भाग को तालु कहते हैं। इसका विस्तार आगे की ओर दाँत से पीछे अलिजिह्वा के मध्य भाग तक होता है। तालु के अंतर्गत पीछे की ओर क्रमश: कोमल तालु, मूर्द्धा, कठोर तालु और वर्त्स्य की स्थिति होती है। ये सभी स्थिर अंग हैं। नि:श्वास की वायु और जीभ के विभिन्न भागों का स्पर्श विभिन्न ध्वनियों के उत्पादन में सहयोगी होता है।

नोट

7. जिह्वा (Tongue)

मुख-विवर के निचले भाग में जिह्वा की स्थिति होती है। यह मांसल अंग ध्वनि-उत्पादन में विशेष सहयोगी होता है। संस्कृत में जीभ का पर्यायी शब्द वाणी है। वाणी का एक अर्थ भाषा भी है। इस प्रकार जिह्वा का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। जीभ के विभिन्न भाग ध्वनि उत्पादन में अपनी विशेष भूमिका में सामने आते हैं। इसलिए इसको जिह्वा नोंक, जिह्वा अग्र, जिह्वा मध्य, जिह्वा पश्च और जिह्वा मूल पाँच भागों में विभक्त करते हैं। जीभ की गतिशीलता ध्वनि उत्पादन में विशेष सहयोगी सिद्ध होती है।

8. दाँत (Teeth)

मुख के आगे के भाग में दोनों जबड़ों में दंत-पंक्तियाँ होती हैं। दाँतों का मुख्य कार्य भोजन को अनुकूल रूप में ग्रहण-चवर्ण के साथ ध्वनि-उत्पादन में सहयोग करता है। त्, थ्, द्, ध्, न् ध्वनियों के उत्पादन में जीभ दाँत का स्पर्श कर प्रक्रिया पूरी करती है।

9. ओष्ठ (Lip)

मुख का सबसे आगे का मांसल भाग ओष्ठ एक ओर भोजन ग्रहण करने में सहयोगी होता है, तो दूसरी ओर ध्वनि-उत्पादन में भी सहयोगी सिद्ध होता है। इन दोनों प्रक्रियाओं में ऊपरी ओष्ठ एवं निचले ओष्ठ दोनों की भूमिका समाज रूप से महत्वपूर्ण होती है। दोनों ओष्ठ मिलकर ही ध्वनि उत्पादन प्रक्रिया पूरी करते हैं।

ध्वनि-उत्पादन में फेफड़ों से लेकर ओष्ठ तक के सभी अंगों की अपनी-अपनी महत्वपूर्ण भूमिकाएँ होती हैं। सभी अंगों की समन्वित भूमिका से ही भाषा की विभिन्न ध्वनियों का अनुकूल उत्पादन संभव होता है।

6.5 सारांश

ध्वनि का सामान्य अर्थ है– आवाज, गूँज, नाद, कोलाहल। मेघ गरजते हैं, तूफान चिंघाड़ता है, पशु रम्भते हैं, पक्षी चहचहाते हैं, प्रकृति के अन्य रूप शब्द करते हैं, भाषा विज्ञान इन्हें ध्वनि नहीं मानता। उसकी दृष्टि में ये सब कोलाहल मात्र हैं। मनुष्य भी ऐसी ध्वनि का उच्चारण करे जो किसी सार्थक शब्द का अंग न बन सके या पदों के निर्माण में सहायक न हो तो वह भी शोर ही है। भाषा विज्ञान की दृष्टि में, मानव मुख से उच्चरित होने वाला नाद जो शब्दों और पदों के निर्माण में अंग बने और उनकी सार्थकता में काम आए, ध्वनि है।

भर्तृहरि 'वाक्यपदीयम्' में स्पष्ट करते हैं कि शब्द और अर्थ परस्पर इस प्रकार आबद्ध हैं कि चिन्तन में इनका पूर्वापर क्रम नहीं रहता। वे शब्द और अर्थ के संघात को स्फोट (अर्थमय शब्द) नाम देते हैं, परन्तु स्फोट की अभिव्यक्ति नाद (ध्वनि) के रूप में होती है, जहाँ स्फोट में निहित ध्वनियों का व्यवस्था के क्रम में ही उच्चारण संभव है। यदि ध्वनियों की व्यवस्था का क्रम उलट-पलट हो जाए तो उनसे बने पद, विचारों और भावों के अर्थ का संप्रेषण करने में असमर्थ होंगे। 'घट' स्फोट के उच्चारण में ध्वनियों का क्रम बदल जाने पर 'टघ' शब्द और उसका अर्थ, पृथक् स्थितियाँ न रख कर स्फोट रूप में अर्थमय शब्द का द्योतक है।

इस प्रकार निष्कर्षत:

1. भाषा विज्ञान में, भाषा से सम्बद्ध मानवीय वाणी ही ध्वनि है।

ध्वनि-विज्ञान का मूल-भूत अंग ध्वनि-शिक्षा है। उसमें वैज्ञानिक दृष्टि से वाणी का अध्ययन किया जाता है-वर्णों की उत्पत्ति कैसे होती है, वर्ण का सच्चा स्वरूप क्या है, भाषण-ध्वनि, ध्वनि-मात्र, अन्य अवांतर श्रुति ऐसे ही अनेक प्रश्नों का परीक्षा द्वारा विचार किया जाता है। जब दो वस्तुओं के आपस में टकराने से वायु में कंपन हो और कर्ण-पटह तक पहुँचने से इसका अनुभव हो, तो उसे ध्वनि कहते हैं। प्रत्येक ध्वनि में कंपन होती है और प्रत्येक कंपन में ध्वनि होती है। कभी-कभी हाथ, पैर, डाली या पत्ती हिलने पर ध्वनि का आभास नहीं होता है। इसका कारण है– ध्वनि की तीव्रता का अभाव। भाषाविज्ञान के अंतर्गत मुख्यत: मानव-मुख-उच्चरित ध्वनि का अध्ययन किया जाता है।

नोट

मुख-विवर, नासिका-विवर, कौवा–ध्वनि-उत्पादन प्रक्रिया में मुख की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। श्वास नलिका और भोजन नलिका के चौराहे पर ऊपर की ओर जीभ के समान एक मांसल भाग होता है, जिसे कौवा या अलिजिह्वा कहते हैं।

ध्वनि-उत्पादन प्रक्रिया में जब चेतना को बुद्धि और मन से प्रेरणा मिलती है, तो फेफड़े में गति आती है। और फिर नि:श्वास प्रक्रिया में स्वर-तंत्री और मुख के विभिन्न भागों के सहयोग से विभिन्न ध्वनियों का उत्पादन संभव होता है।

शरीर के जिन अवयवों के सहयोग से ध्वनि का उत्पादन संभव होता है, उनके समूह को वाग्यंत्र कहते हैं। यह परिभाषा आंशिक रूप से ही तर्कसंगत लगती है क्योंकि मनुष्य अपनी विभिन्न अंगुलियों के माध्यम से तबले, हारमोनियम और सितार आदि से ध्वनि-उत्पादन करता है।

6.6 शब्दकोश

1. **नाद**– आवाज़, शब्द (जैसे-भीषण नाद)
2. **अवांतर**– मध्यवर्ती, अंतर्गत, गौण, मध्य

6.7 अभ्यास प्रश्न

1. ध्वनि का अर्थ एवं परिभाषा दीजिए।
2. ध्वनि के वैज्ञानिक आधार कीजिए।
3. ध्वनि उत्पादन प्रक्रिया पर प्रकाश डालिए।
4. ध्वनि यंत्रों का वर्णन कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन

1. (क) **2.** (ग) **3.** (क) **4.** (ख)

6.8 संदर्भ पुस्तकें

पुस्तकें

1. *भाषा और भाषा विज्ञान*– गरिमा श्रीवास्तव, संजय प्रकाशन, दिल्ली
2. *भाषा विज्ञान: हिंदी भाषा और लिपि*– डॉ॰ रामकिशोर शर्मा लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद
3. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा*– नरेश मिश्र, संजय प्रकाशन, दिल्ली

नोट

इकाई 7: हिंदी की ध्वनियाँ– परिचय एवं वर्गीकरण

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- हिंदी की ध्वनियों से परिचित होंगे।
- ध्वनि वर्गीकरण– स्वर एवं व्यंजन ध्वनियों के वर्गीकरण से परिचित होंगे।

प्रस्तावना

संस्कृत में ध्वनि विज्ञान का पुराना नाम 'शिक्षा शास्त्र' था। हिंदी में इस प्रसंग के फोनेटिक्स के लिए मुख्यत: ध्वनि विज्ञान, ध्वनिशास्त्र, अथवा स्वन विज्ञान आदि नाम प्रयुक्त हो रहे हैं। फोनेटिक्स में हम सामान्य रुप से ध्वनि की परिभाषा भाषा-ध्वनियों के उत्पन्न करने के अंग, ध्वनियों का वर्गीकरण और स्वरुप, उनकी लहरों का किसी के मुँह से निकलकर किसी के कान तक जाना तथा सुना जाना एवं उनमें विकार आदि बातों पर विचार करते हैं।

7.1 हिन्दी ध्वनियाँ: परिचय

भाषाविज्ञान के अनुसार भाषा का अणुताव 'ध्वनि' है। सामान्यतया जो सुनाई पड़े, वह 'ध्वनि' है। इस दृष्टि से ध्वनियाँ तीन प्रकार की मानी जा सकती हैं–

1. **दैवी ध्वनि**–जो समाधि अवस्था में अन्त:करण या मस्तिष्क में सुनाई देती है, जो अव्यक्त है।
2. **भौतिक ध्वनि**–इसमें मेघगर्जन, विद्युतकंपन की गड़गड़ाहट, वृक्षों की सरसराहट, वर्षा की बौछार, वायु की सनसनाहट आदि का समावेश होता है।
3. **पार्थिव ध्वनि**–विभिन्न प्रकार के प्राणधारियों के मुख से सुनाई देने वाली ध्वनियाँ तथा वीणा, मृदंग, वंशी आदि से उत्पन्न ध्वनियाँ।

1. **व्याकृता**–मानवकंठ से निस्सृत या मानवकृत।
2. **अव्याकृत**–मानवेतर प्राणियों की मानवों द्वारा प्रयुक्त। व्याकृता ध्वनि के भी अर्थ की दृष्टि से सात भेद माने जा सकते हैं–

नोट

(क) निरर्थक ध्वनियाँ– बच्चों को दुलराना, मुँह से सीटी बजाना।

(ख) भावार्थक ध्वनियाँ– सहानुभूतिसूचक, निषेधव्यंजक, पशुगति प्रेरक।

(ग) अव्युत्पन्न ध्वनियाँ– संस्कृतादि कुछ भाषाओं के अतिरिक्त सभी भाषाओं की प्रत्येक ध्वनि निरर्थक होती हैं। मिलकर ही सार्थक बनती है।

(घ) समूहबोधक ध्वनियाँ–भा.का.द. ध्वनियाँ, भारतीय काँग्रेस दल के लिए हैं।

(ड.) व्युत्पन्न ध्वनियाँ–संस्कृत या वैदिक भाषा की प्रत्येक ध्वनि व्युत्पन्न और सार्थक होती है।

(च) प्रतीकात्मक ध्वनियाँ– सा रे ग म आदि संगीत ध्वनियाँ धा धिन ता आदि नृत्य ध्वनियाँ।

(छ) अनुकरणात्मक ध्वनियाँ– पशु-पक्षी व अन्य पदार्थों के अनुरूप ध्वनियों का अनुकरण या अनुरणन।

किसी भी भाषा का अध्ययन करते समय उसकी ध्वनियों का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक होता है। सामान्यतया किसी भी अन्य भाषा का अध्ययन करते समय पाँच बातों का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है–

1. भाषा में प्रयुक्त ध्वनियों को सुनते ही पहचान सके, इसके लिये उसे ध्वनि के उच्चारण संबंधी गुणों को याद रखना होगा।
2. उसे अपने उच्चारण अवयवों द्वारा विदेशी ध्वनियों का उच्चारण करना भी आना चाहिए।
3. उन ध्वनियों का सामान्य एवं सम्बद्ध बोलचाल में कैसे प्रयोग किया जाता है, यह भी जानना चाहिये।
4. ध्वनियों के गुणों मात्रा, आघात, घोषता, प्राणता आदि का उचित प्रयोग भी ज्ञात हो।
5. प्रत्येक रचना की ध्वनियों को एक-दूसरे से संबंद्ध कर पूर्ण रचना का प्रयोग बेझिझक कर सके।

इन पाँचों बातों में निपुणता प्राप्त करने के लिए कान का उचित उपयोग आवश्यक होता है। कान का औचित्य बातों में होता है–

1. ध्वनियों के बीच अन्तर जानने की योग्यता।
2. विदेशी ध्वनियों के श्रवण गुणों को याद रखने की योग्यता।
3. सरलता एवं निश्चय के साथ विदेशी ध्वनियों को पहचानने की योग्यता।

किसी भी भाषा की ध्वनियों को समझने में

1. औच्चारणिक,
2. भौतिक या तरंगीय, और
3. श्रोतिक

प्रक्रियाओं को समझना पड़ता है। प्राचीन काल से ही इसका विस्तृत, महत्, शास्त्रीय तथा वैज्ञानिक अध्ययन होता रहा है।

क्या आप जानते हैं भाषा में प्रयुक्त ध्वनियों को हम ध्वनि के उच्चारण संबंधी गुणों को याद रखने के कारण पहचान लेते हैं।

7.2 ध्वनि के प्रकार: स्वर एवं व्यंजन ध्वनियों का वर्गीकरण

मनुष्य में विविध ध्वनियों के उच्चारण की क्षमता होती है। इसका ज्ञान वार्तालाप के समय होता है और विविध गानों के आरोह-अवरोह के संदर्भ से ध्वनि की विविधता का सुस्पष्ट ज्ञान होता है। भाषाविज्ञान में मानव द्वारा प्रयुक्त उन ध्वनियों का ही वर्गीकरण तथा विश्लेषण किया जाता है, जिनका भावाभिव्यक्ति में महत्त्व होता है।

नोट

ध्वनि-भेद–सभी भाषाओं में स्वर तथा व्यंजन दो प्रकार की ध्वनियाँ होती हैं। ध्वनि संबंधी यह विभाजन अत्यंत पुराना है। आचार्य पतंजलि ने महाभाष्य में स्वर और व्यंजनों के दो वर्णों का उल्लेख किया है–"स्वयं राजन्ते स्वरा:। अन्वग् भवति व्यंजनम् इति।" (महाभाष्य 1/2/29.30) अर्थात् स्वर वे ध्वनियाँ हैं जो स्वयं उच्चरित हो सकती हैं। व्यंजन वे ध्वनियाँ हैं जो स्वरों की सहायता के बिना उच्चरित नहीं हो सकतीं।

पतंजलि ने स्वरों की प्रधानता और व्यंजनों की अप्रधानता को भी रेखांकित किया है। इसका मुख्य कारण यह है कि उनके अनुसार व्यंजनों का उच्चारण स्वर के सहयोग के बिना नहीं हो सकता।

ब्लाक तथा ट्रेगर ने स्वर और व्यंजन को इस प्रकार परिभाषित किया है–"A vowel is a sound for whose production the oral passage is unobstructed, so that the air current can flow from lungs to the lips and beyond without being stopped" अर्थात् जिन ध्वनियों के उच्चरण में, मुख में किसी प्रकार का अवरोध न हो, उन्हें स्वर ध्वनि कहते हैं। ऐसे में फेफड़े से आने वाला वायु-प्रवाह ओष्ठ और उसके आगे कहीं भी अवरुद्ध नहीं होता है।

"A consonant, conversely, is a sound for whose production of the air current is completely stoped by an occlusion of the larynx or the oral passage."

स्वर तथा व्यंजन ध्वनियों के अंतर को इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं–

1. स्वर का उच्चारण अकेले संभव है, किंतु स्, ज्, श् व्यंजन अपवाद हैं।
2. सभी स्वरों का उच्चारण देर तक कर सकते हैं, किंतु व्यंजन में केवल संघर्षी व्यंजन ऐसे होते हैं।
3. ई तथा ऊ को छोड़कर सभी स्वरों के उच्चारण में आवाज मुख-विवर में गूँजकर सीधे निकलती है, किंतु व्यंजन में अवरोध होता है।
4. प्राय: सभी स्वर व्यंजनों की अपेक्षा अधिक मुखर होते हैं।
5. ऑसिलोग्राफ से लहर संबंधी प्रयोग करने पर ज्ञात होता है कि स्वर-लहरें व्यंजन से भिन्न होती हैं, किंतु र्, म् दोनों के मध्य आने वाली ध्वनियाँ हैं।

स्वर तथा व्यंजन ध्वनियों को सरल और वैज्ञानिक रूप में इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं–

स्वर–जिन ध्वनियों का उच्चारण किसी अन्य ध्वनि के सहयोग के बिना अबाधित रूप में जितनी देर चाहें, संभव हो उनको स्वर कहते हैं।

व्यंजन–वे ध्वनियाँ हैं जिनका उच्चारण स्वर ध्वनि के सहयोग के बिना संभव न हो, उच्चारण के समय नि:श्वास की वायु कहीं-न-कहीं बाधित और क्षणिक हो।

नोट्स भाषा विज्ञान में मानव द्वारा प्रयुक्त इन ध्वनियों का ही वर्गीकरण तथा विश्लेषण किया जाता है, जिनका भावाभिव्यक्ति में महत्त्व होता है।

1. स्वर ध्वनियों का वर्गीकरण

जिन ध्वनियों के उच्चारण में अन्य किसी ध्वनि का सहयोग आवश्यक न हो। उच्चारण अबाध गति से जितनी देर चाहें कर सकते हैं, उन्हें स्वर ध्वनि कहते हैं;

यथा–अ, इ, उ आदि।

नोट

	अग्र	मध्य	पश्च
सर्वोच्च	ई		ऊ
उच्च	इ		उ
निम्नतर उच्च	ए		ओ
उच्चतर मध्य	ऐ		औ
निम्नतर मध्य		अ	
निम्न			आ

हिंदी स्वरों को निम्नलिखित आधारों पर वर्गीकृत कर सकते हैं–

1. जीभ का कौन-सा भाग करण का कार्य करता है– फेफड़े से बाहर आने वाली निःश्वास वायु से मुख-विवर के विभिन्न रूपों के कारण विभिन्न ध्वनियों का उच्चारण होता है। स्वर उच्चरण-प्रक्रिया में जीभ का अग्र, मध्य अथवा पश्च भाग उठकर सहायक सिद्ध होता है। इसी आधार पर हिंदी स्वरों को तीन मुख्य वर्गों में विभक्त कर सकते हैं।

(क) अग्र स्वर-इ, ई, ए, ऐ।

(ख) मध्य स्वर-अ।

(ग) पश्च स्वर-उ, ऊ, ओ, औ।
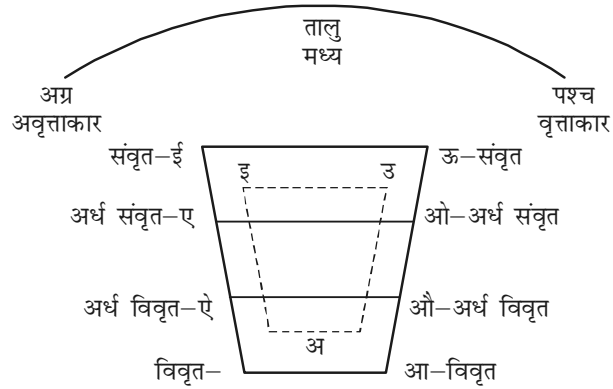
हिंदी स्वर : वर्गीकरण

2. जीभ का व्यवहृत भाग कितना उठता है– स्वर उच्चारण प्रक्रिया में जीभ के अल्पाधिक रूप से उठने के कारण मुख के खुलने वाली स्थिति के अनुसार स्वरों का विभाजन कर सकते हैं।

(क) **विवृत–** जब मुख-विवर पूरा खुला हो, जीभ निश्चेष्ट पड़ी हो; यथा-आ, ऑ।

(ख) **अर्ध-विवृत–** जब मुख-विवर लगभग पूरा खुला हो, जीभ एक तिहाई उठी हो; यथा-ऐ, औ।

(ग) **अर्ध-संवृत–** जब मुख-विवर संकरा हो, जीभ दो तिहाई उठी या चंचल हो; यथा–ए-ओ।

(घ) **संवृत–** मुख-विवर अत्यंत संकरा हो, जीभ बहुत ऊपर उठी हो या सर्वाधिक चंचल हो; यथा–इ, ई, उ, ऊ।

टास्क ध्वनि उच्चारण में जिह्वा के अग्र, मध्य तथा पश्च भागों का कार्य समझाइए।

3. ओठों की स्थिति के अनुसार–उच्चारण में ओठों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। उच्चारण हेतु निःश्वास का भीतरी नियंत्रण जीभ के द्वारा होता, तो उनका बाहरी नियंत्रण ओठों के द्वारा होता है। ओठों की स्थिति के अनुसार स्वरों का विभाजन इस प्रकार कर सकते हैं–

(क) वृत्ताकार–इसे वृत्तमुखी स्वर भी कहते हैं। इन स्वरों के उच्चारण में दोनों ओठ अल्पाधिक रूप में वृत्ताकार खुलते हैं। ऐसे स्वर हैं–उ, ऊ, ओ, औ।

(ख) अवृत्ताकार–इसे अवृतमुखी भी कहते हैं। इन स्वरों के उच्चारण में दोनों ओठ खुलकर वृत्ताकार रूप नहीं धारण करते हैं वरन् सामान्य रहते हैं। ऐसे स्वर हैं–इ, ई, ए, ऐ।

(ग) उदासीन–जिन स्वरों के उच्चारण में दोनों ओठ खुलकर लगभग उदासीन रहते हैं; यथा–अ।

4. मात्रा के अनुसार–उच्चारण में लगने समय को मात्रा कहते हैं। मात्रा के आधार पर स्वरों का स्वरूप निर्धारित किया जाता है। संस्कृत में ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत तीन प्रकार के स्वर मिलते हैं। हिंदी में इनकी संख्या मुख्यतः तीन हैं–ह्रस्व-अ, इ, उ; दीर्घ-आ, ई ऊ और प्लुत-ओ३ (ओ३म्)।

5. कोमल तालु और अलिजिह्वा की स्थिति के अनुसार–ये दोनों अंग कभी नासिक-विवर के मार्ग को पूरी तरह बंद कर देते हैं, जिससे हवा केवल मुख मार्ग से निकलती है। ऐसे में उच्चरित होने वाला स्वर मौखिक होता है। ये अंग कभी मध्य स्थिति में रहते हैं, जिससे वायु मुख तथा नासिका दोनों ही मार्गों से निकलती है। ऐसी ध्वनि को अनुनासिक ध्वनि कहते हैं। इस तरह स्वरों के दो वर्ग बना सकते हैं।

(क) मौखिक–अ, आ, ए आदि सभी स्वर।

(ख) अनुनासिक–आँ, एँ।

अनुनासिक स्वर ध्वनियाँ भी दो प्रकार की होती हैं–

पूर्ण आनुनासिक–पूर्ण अनुनासिकता को अनुनासिक चिह्न द्वारा लिपिबद्ध किया जाता है; यथा–हाँ > आँ, एँ।

अपूर्ण अनुनासिक–स्वरों की अपूर्ण अनुनासिकता नासिक्य व्यंजनों के आधार पर होती है। नासिक्य व्यंजन के पूर्व का स्वर उच्चारण में प्रायः आंशिक अनुनासिक हो जाता है। लेखन में अपूर्ण अनुनासिक चिह्न नहीं लगाया जाता है; यथा–राम > राँम् > र् आँ म्।

6. स्वर-तंत्रियों की स्थिति के आधार पर–विभिन्न स्वरों के उच्चारण में स्वर-तंत्रियाँ भिन्न-भिन्न स्थिति धारण करती हैं। इस आधार पर भी स्वरों को वर्गीकृत कर सकते हैं। हिंदी के सभी स्वर मूलतः घोष हैं। विशेष प्रयोग-स्थिति में और कुछ अन्य भाषाओं में अघोष स्वर मिलते हैं।

(क) घोष–जिन स्वरों के उच्चारण में स्वर-तंत्रियों के निकट आने के कारण वायु घर्षण के साथ बाहर आती है, उन्हें घोष कहते हैं प्रायः सभी स्वर घोष होते हैं।

(ख) अघोष–जिनके उच्चारण के समय स्वर-तंत्रियों के एक-दूसरे से दूर होने के कारण वायु बिना घर्षण के, सरलता से बाहर आती है, उन्हें अघोष स्वर कहते हैं; यथा-विभिन्न बोलियों में प्रयुक्त इ, उ, ए विशिष्ट ध्वनियाँ।

(ग) जपित–जब बीमार या कमजोर व्यक्ति फुसफुस करता है, तो वायु स्वर-तंत्रियों से साधारण संघर्ष करती हुई बाहर आती है। इस प्रकार से उच्चरित स्वर ध्वनियाँ जापित होती है।

7. मुख की माँसपेशियों की दृढ़ता के आधार पर–विभिन्न स्वरों के उच्चारण में कभी तो मुख माँसपेशियाँ दृढ़ हो जाती हैं, तो कभी शिथिल हो जाती हैं। कुछ ध्वनियों के उच्चारण-समय मांसपेशियों में हल्की दृढ़ता होती है। इस आधार पर स्वरों के शिथिल दृढ़ और मध्यम तीन वर्ग बनाए जा सकते हैं–

(क) शिथिल–अ, इ, उ।

(ख) दृढ़–औ, ऑ।

(ग) मध्यम–ए, ओ।

नोट

8. संयुक्तता के आधार पर–स्वरों के एक स्थान और एक से अधिक स्थानों के उच्चारण को ध्यान में रखकर उन्हें दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं।

(क) मूल स्वर–जिनके उच्चारण में जीभ एक स्थान पर रहती है; यथा–अ, आ, इ, ई आदि।

(ख) संयुक्त स्वर–जिनके उच्चारण में जीभ एक स्वर उच्चारण स्थान से दूसरे उच्चारण पर पहुँच जाती है, तो संयुक्त स्वर होते हैं; यथा–ऐ > अए, औ > अओ आदि।

2. व्यंजन ध्वनियों का वर्गीकरण

व्यंजन वे ध्वनियाँ हैं जिनके उच्चारण में स्वर ध्वनि का सहयोग अनिवार्य हो, निःश्वास की वायु मुख-विवर से, अबाध गति से निकल नहीं पाती है वरन् बाधित होने के कारण घर्षण करती हुई बाहर आती है। व्यंजनों का वर्गीकरण निम्नलिखित आधारों पर करते हैं–

स्थान / प्रयत्न	स्वर यंत्र मुखी	कंठ्य	तालव्य	मूर्द्धन्य	दंत्य	वत्सर्य	दंतोष्ठ	द्वयोष्ठ्य
स्पर्श		क् ख् ग् घ्		ट् ठ् ड् ढ्	त् थ् द् ध्			प् फ् ब् भ्
स्पर्श संघर्षो			च् छ् ज् झ्					
नासिक्य		ङ्	ञ्	ण्	न्	न्	म्	
पार्श्विक				ळ्		ल्		
प्रकंपी					र्			
उत्क्षिप्त				ड़् ढ़्				
संघर्षी	ह्	ख़् ग़्	श्	ष्	स्	स् ज़्	व् फ़्	
अर्धस्वर			य्					व्

स्व-मूल्यांकन

सही विकल्प चुनिए–

1. जिनका उच्चारण अन्य किसी ध्वनि के सहयोग के बिना संभव हो उन्हें–
   (क) व्यंजन ध्वनि (ख) स्वर ध्वनि (ग) निरर्थक ध्वनि
2. ध्वनियों को मुख्य रूप से वर्गीकृत कर सकते हैं–
   (क) निरर्थक तथा सार्थक ध्वनियों में (ख) भावकर्म तथा समूहबोधक ध्वनियों में
   (ग) स्वर तथा व्यंजन ध्वनियों में
3. जब कमजोर व्यक्ति फुसफुसाहट से अपनी बात कहता है तो वायु स्वर तंत्रियों से साधारण संघर्ष करती हुई बाहर आती है तो उसे–
   (क) जपित (ख) अघोष (ग) घोष
4. ओष्ठ्य व्यंजन हैं–
   (क) क्, ख्, ग्, घ्, ङ् (ख) प्, फ्, ब्, भ्, म् (ग) ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्

नोट

(क) प्रयत्न के आधार पर–इस आधार पर व्यंजनों को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त कर सकते हैं–

(1) **स्पर्श**–जिनके उच्चारण-समय में मुख के दो भिन्न अंग-दोनों ओष्ठ, नीचे का ओष्ठ और ऊपर के दाँत, जीभ की नोक और दाँत आदि एक-दूसरे से स्पर्श की स्थिति में हों, वायु उनको स्पर्श करती हुई बाहर आती हो, तो उन्हें स्पर्श व्यंजन कहंगे; यथा–क्, ट्, तथा प् वर्गों की प्रथम चार ध्वनियाँ।

(2) **संघर्षो**–जिनके उच्चारण में मुख के दो अवयव एक-दूसरे के निकट आ जाते हैं और वायु निकलने का मार्ग संकरा हो जाता है, तो वायु घर्षण करके निकलती है, उन्हें संघर्षी व्यंजन कहते हैं; यथा–ख़्, ग़्, ज़्, फ़, श़्, ष्, आदि।

(3) **स्पर्श संघर्षी**–जिन व्यंजनों के उच्चारण में पहले स्पर्श फिर घर्षण की स्थिति हो; यथा–च्, छ्, ज्, झ्।

(4) **नासिक्य**–जिन व्यंजनों के उच्चारण में दाँत, ओष्ठ, जीभ आदि के स्पर्श के साथ वायु नासिका-मार्ग से बाहर जाती हैं, उन्हें नासिक्य ध्वनि कहते हैं; यथा–पाँचों वर्गों की पाँचवीं (ङ्, ञ्, न्, ण्, म्) ध्वनियाँ।

(5) **पार्श्विक**–जिन व्यंजनों के उच्चारण में मुख के मध्य दो अंगों के मिलने से वायु-मार्ग अवरुद्ध होने के बाद जीभ के एक या दोनों ओर से वायु बाहर आती है; उन्हें पार्श्विक कहते हैं; यथा–ल्।

(6) **लुण्ठित**–जिनके उच्चारण में जीभ बेलन की भाँति लपेट खाती है; यथा– र्। 'र्' ध्वनि यदा-कदा प्रकंपित रूप में भी प्रयुक्त होती है।

(7) **उत्क्षिप्त**–जिनके उच्चारण में जीभ की नोक झटके से तालु को छूकर वापस आ जाती है, उनहें उत्क्षिप्त व्यंजन कहते हैं; यथा–ड़्, ढ़्।

(8) **अर्ध-स्वर**–जिन ध्वनियों की उच्चारण-प्रकृति स्वर और व्यंजन के मध्य होती है, उन्हें अर्ध-स्वर कहते हैं। इनका उच्चारण स्वर के समान ही शुरू होता है, किंतु व्यंजन के निकट होता है। स्वरों के समान इनकी मात्रा भी नहीं होती है, इसलिए इन्हें व्यंजनों में रखते हैं; यथा–य्, व्।

(ख) स्थान के आधार पर–इस आधार से व्यंजनों को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त कर सकते हैं–

(1) **स्वर-यंत्रमुखी**–जिन व्यंजनों का उच्चारण स्वर-यंत्रमुख से हो; यथा ह्, अंग्रेजी का एच (H)।

(2) **जिह्वामूलीय**–जिनका उच्चारण जीभ के मूल भाग से होता है; यथा–क़्, ख़्, ग़्।

(3) **कंठ्य**–जिन व्यंजनों का उच्चारण कंठ से होता है, उन्हें कंठ्य कहते हैं। इनके उच्चारण में जीभ का पश्च भाग कोमल तालु को स्पर्श करता है; तथा–कवर्ग (क्, ख्, ग्, घ्, ङ्)।

(4) **तालव्य**–जिनका उच्चारण जीभ के अग्रभाव के द्वारा कठोर तालु के स्पर्श से होता है; यथा–च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, श्।

(5) **मूर्द्धन्य**–जिन व्यंजनों का उच्चारण मूर्धा से होता है। इस प्रक्रिया में जीभ मूर्धा का स्पर्श करती है; यर्था–ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, ष्।

(6) **वर्त्स्य**–जिन ध्वनियों का उद्‌भव जीभ के द्वारा वर्त्स्य या ऊपरी मसूढ़े के स्पर्श से हो; तथा–न्, ल्, र्।

(7) **दंत्य**–जिन व्यंजनों का उच्चारण दाँत की सहायता से होता है। इसमें जीभ की नोक ऊपरी दाँत-पंक्ति का स्पर्श करती है; यथा–त्, थ्, द्, ध्, न्, ल्, स्।

(8) **ओष्ठ्य**–दोनों ओष्ठों के मिलने से उच्चरित होने वाली ध्वनि को ओष्ठ्य व्यंजन कहते हैं; यथा-प्, फ्, ब्, भ्, म्।

(ग) स्वर-तंत्रियों के आधार पर–इस आधार पर व्यंजनों के दो वर्ग बना सकते हैं–

(1) **घोष**–जिन ध्वनियों के उच्चारण-समय में स्वर-तंत्रियाँ एक-दूसरे के निकट होती हैं और निःश्वास वायु निकलने से उसमें कंपन हो। प्रत्येक वर्ग की अंतिम तीन (तीसरी, चौथी, पाँचवीं) ध्वनियाँ; यथा–ग्, घ्, ङ्, ज्, झ्, ञ् आदि।

नोट

(2) अघोष–जिनके उच्चारण-समय स्वर-तंत्रियों में कंपन न हो। प्रत्येक वग्र की प्रथम दो (पहली, दूसरी) ध्वनियाँ; यथा–क्, ख्, च्, छ् आदि।

(घ) प्राणत्व के आधार पर–प्राण का अर्थ है–वायु। इस आधार पर व्यंजन के दो वर्ण बना सकते हैं।

(1) अल्पप्राण–जिनके उच्चारण में सीमित वायु निकलती है, उन्हें अल्पप्राण व्यंजन कहते हैं। ऐसी ध्वनियाँ 'ह' रहित होती हैं। प्रत्येक वर्ण की प्रथम, तृतीय और पंचम ध्वनियाँ; यथा–क्, ग्, ङ्, च्, ज्, ञ् आदि।

(2) महाप्राण–जिनके उच्चारण में अपेक्षाकृत अधिक वायु निकलती है। ऐसी ध्वनि ह्-युक्त होती; यथो-ख = कह् (kh), घ = (Gh) आदि। प्रत्येक वर्ग की दूसरी, चौथी ध्वनियाँ; यथा–ख्, घ्, छ्, झ्, ठ्, ढ् आदि।

(ङ) अनुनासिकता के आधार पर–मुख और नासिका मार्ग से निकलने वाली नि:श्वास वायु के आधार पर व्यंजनों को दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं–

(1) मौखिक–जिसके उच्चारण में वायु मुख-मार्ग से निकलती है; यथा–क्, च्, ट्, त् आदि।

(2) नासिक्य–जिसमें नि:श्वास वायु मुख्यत: नासिका मार्ग से बाहर आती है। यथा–ङ्, ञ्, ण्, न्, म्।

(च) संयुक्तता के आधार पर–इस आधर पर व्यंजनों के तीन वर्ग बना सकते हैं–

(1) असंयुक्त–इन्हें मूल व्यंजन भी कहते हैं। जो व्यंजन अकेले स्वतंत्र रूप में प्रयुक्त हों; यथा–क्, ख्, च्, त् आदि।

(2) संयुक्त–जब दो भिन्न व्यंजन ध्वनियाँ एक साथ प्रयुक्त हों। इनमें एक अर्थ और दूसरी पूर्ण ध्वनि होती है; यथा–क्त (रक्त), प्य (प्यारा) न्त (अन्त) आदि।

(3) द्वित्व–जब किसी एक व्यंजन का एक अर्थ तथा दूसरा पूर्ण रूप एक साथ प्रयुक्त होता है; यथा–त (पत्ता), प्पा (गप्प), क्क (पक्का) आदि।

(छ) मांसपेशियों की दृढ़ता के आधार पर–विभिन्न व्यंजनों के उच्चारण में मुख की मांसपेशियों की स्थिति में भिन्न होती है। इस आधार पर व्यंजनों के तीन वर्ग बना सकते हैं–

(1) दृढ़–जिनके उच्चारण में मुख की मांसपेशियाँ दृढ़ हो जाती हैं; यथा–ड्, ढ्, स्, द।

(2) मध्यम–जिनमें मुख की मांसपेशियाँ न तो विशेष दृढ़ होती हैं, न ही विशेष शिथिल होती हैं; यथा–च्, श्।

(3) शिथिल–जिनके उच्चारण में मुख की मांसपेशियाँ शिथिल होती हैं; यथा–प्, क्।

7.3 सारांश

संस्कृत में ध्वनि विज्ञान का प्राराना नाम 'शिक्षा शास्त्र' था। हिंदी में इस प्रसंग के फोनेटिक्स के लिए मुख्यत: ध्वनि विज्ञान, ध्वनिशास्त्र, अथवा स्वन विज्ञान आदि नाम प्रयुक्त हो रहे हैं। फोनेटिक्स में हम सामान्य रुप से ध्वनि की परिभाषा भाषा-ध्वनियों के उत्पन्न करने के अंग, ध्वनियों का वर्गीकरण और स्वरुप, उनकी लहरों का किसी के मुँह से निकलकर किसी के कान तक जाना तथा सुना जाना एवं उनमें विकार आदि बातों पर विचार करते हैं।

भाषाविज्ञान के अनुसार भाषा का अणुताव 'ध्वनि' है। सामान्यतया जो सुनाई पड़े, वह 'ध्वनि' है। इस दृष्टि से ध्वनियाँ तीन प्रकार की मानी जा सकती हैं–

1. **दैवी ध्वनि**–जो समाधि अवस्था में अन्त:करण या मस्तिष्क में सुनाई देती है, जो अव्यक्त है।
2. **भौतिक ध्वनि**–इसमें मेघगर्जन, विद्युतकंपन की गड़गड़ाहट, वृक्षों की सरसराहट, वर्षा की बौछार, वायु की सनसनाहट आदि का समावेश होता है।
3. **पार्थिव ध्वनि**–विभिन्न प्रकार के प्राणधारियों के मुख से सुनाई देने वाली ध्वनियाँ तथा वीणा, मृदंग, वंशी आदि से उत्पन्न ध्वनियाँ।

नोट

भाषाविज्ञान में मानव द्वारा प्रयुक्त उन ध्वनियों का ही वर्गीकरण तथा विश्लेषण किया जाता है, जिनका भावाभिव्यक्ति में महत्त्व होता है।

सभी भाषाओं में स्वर तथा व्यंजन दो प्रकार की ध्वनियाँ होती हैं। ध्वनि संबंधी यह विभाजन अत्यंत पुराना है। आचार्य पतंजलि ने महाभाष्य में स्वर और व्यंजनों के दो वर्णों का उल्लेख किया है–"स्वयं राजन्ते स्वराः। अन्वग् भवति व्यंजनम् इति।" (महाभाष्य 1/2/29.30) अर्थात् स्वर वे ध्वनियाँ हैं जो स्वयं उच्चरित हो सकती हैं। व्यंजन वे ध्वनियाँ हैं जो स्वरों की सहायता के बिना उच्चरित नहीं हो सकतीं।

स्वर तथा व्यंजन ध्वनियों को सरल और वैज्ञानिक रूप में इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं–

स्वर–जिन ध्वनियों का उच्चारण किसी अन्य ध्वनि के सहयोग के बिना अबाधित रूप में जितनी देर चाहें, संभव हो उनको स्वर कहते हैं।

व्यंजन–वे ध्वनियाँ हैं जिनका उच्चारण स्वर ध्वनि के सहयोग के बिना संभव न हो, उच्चारण के समय निःश्वास की वायु कहीं-न-कहीं बाधित और क्षणिक हो।

7.4 शब्दकोश

1. **निस्सृत**– निकला हुआ
2. **व्यकृत**– पृथक किया हुआ, रूपांतरित, विकृत, परिवर्तित
3. **अव्याकृत**– जो प्रकट न हो, अव्यक्त

7.5 अभ्यास प्रश्न

1. हिंदी ध्वनियों का परिचय दीजिए।
2. ध्वनि वर्गीकरण को विस्तार से समझाइए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन

1. (ख) **2.** (ग) **3.** (क) **4.** (ख)।

7.6 संदर्भ पुस्तकें

पुस्तकें

1. *भाषा और भाषा विज्ञान*– गरिमा श्रीवास्तव, संजय प्रकाशन, दिल्ली
2. *भाषा विज्ञान: हिंदी भाषा और लिपि*– डॉ॰ रामकिशोर शर्मा लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद
3. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा*– नरेश मिश्र, संजय प्रकाशन, दिल्ली

नोट

इकाई 8: ध्वनि परिवर्तन के कारण एवं दिशाएँ

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी सक्षम होंगे–

- ध्वनि परिवर्तन के कारण एवं ध्वनि दिशाओं से परिचित होंगे।

प्रस्तावना

ऐतिहासिक ध्वनि विज्ञान के किसी भाषा की विभिन्न ध्वनियों के विकास का विभिन्न कालों में अध्ययन किया जाता है। उदाहरणार्थ हिंदी के संबंध में देखेंगे कि वह हिंदी में किन-किन स्रोतों (संस्कृत, प्राकृति, अपभ्रंश, फारसी, अरबी, तुर्की, पुर्तगाली, अंग्रेजी आदि) से आया है, साथ ही यह भी देखेंगे कि हिंदी में विभिन्न कालों में इसका विकास किन-किन रूपों में हुआ है। अक्षर, सुर, बलाघात आदि का इतिहास भी इसी प्रकार देखा जाता है। ऐतिहासिक ध्वनि विज्ञान ध्वनियों के विकास का अध्ययन है। यहाँ ध्वनि परिवर्तन के कारण एवं उसकी दिशाओं का अध्ययन प्रस्तुत है।

8.1 ध्वनि-परिवर्तन के कारण

सृष्टि की प्रत्येक वस्तु के समान ही भाषा की ध्वनियों में भी सतत परिवर्तन होता रहता है। इस परिवर्तन के कारण ही भाषा का जीवंत रूप सामने आता है। ध्वनि-परिवर्तन या विकास जीवंत भाषा का प्रमुख लक्षण है। ध्वनि-परिवर्तन के कारणों को दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं–(क) बाह्य कारण, (ख) आभ्यंतर कारण।

(क) बाह्य कारण–ये कारण बाहर से ध्वनि को प्रभावित करते है। ध्वनि-परिवर्तन के बाह्य कारण मुख्यत: निम्नलिखित हैं–

1. **व्यक्तिगत भिन्नता**–प्रत्येक व्यक्ति की वागिंद्रिय तथा श्रवणेंद्रिय अन्य व्यक्ति से भिन्न होती हैं। एक व्यक्ति किसी ध्वनि को जिस प्रकार बोलता है, दूसरा व्यक्ति पूर्ण प्रयत्न करने पर भी वैसा नहीं बोल सकता है। वाग्यंत्र की भिन्नता के ही कारण किन्हीं दो व्यक्तियों के उच्चारण में पूर्ण समानता नहीं हो सकती है। यह भिन्नता कभी सामान्य होती है, तो कभी रेखांकन योग्य होती है; यथा–अंग्रेज 'तुम' को टुम कहता है। हम बच्चे के मुख से रोटी को 'लोटी' और हाथी को 'आती' सुनते ही हैं। इस प्रकार वागिंद्रिय भिन्नता और श्रवण की अपूर्णता से अनेक ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है।

नोट

2. **भौगोलिक कारण**—ध्वनि-उच्चारण पर भौगोलिक परिस्थिति का विशेष प्रभाव पड़ता है। एक भाषा की विभिन्न ध्वनियों का उच्चारण भिन्न भौगोलिक वातावरण के दूसरे भाषा-भाषियों के द्वारा संभव नहीं है। शीत-प्रधान वातावरण के व्यक्ति प्रायः बातचीत में मुख सीमित खोलते हैं। इस कारण ऐसे वातावरण के व्यक्ति दंत्य ध्वनियों का स्पष्ट उच्चारण नही कर पाते हैं। वे प्रायः त, थ, द को क्रमशः ट, ठ, ड बोलते हैं। आवागमन के साधन से रहित या ऐसे शिथिल साधन वाले भौगोलिक भाग की भाषाओं में ध्वनि-परिवर्तन अत्यंत मंद होता है।, जबकि उर्वर, समतल, आवागमन से मुक्त भू-भाग की भाषाओं की ध्वनियों में सतत-तीव्र गति से परिवर्तन होता रहता है।
3. **सामाजिक परिस्थिति**—सामाजिक उन्नति तथा अवनति का भाषा पर विशेष प्रभाव पड़ता हैं सामाजिक उन्नति पर भाषा का शुद्ध रूप प्रयुक्त होता है, तो अवनति पर उसके परिवर्तित रूप का ही अधिक प्रयोग होना स्वाभाविक है। इस प्रकार सामाजिक स्थिति के कारण शब्दों में ध्वनि-परिवर्तन की प्रक्रिया चलती रहती है। यजमान > जजमान, पुरोहित > उपरेहित, वियरिंग > बैंरग, वाराणसी > बनारस।
4. **अन्य भाषाओं का प्रभाव**—एक भाषा-क्षेत्र में जब किसी अन्य भाषा का प्रयोग होने लगता है, तो उनकी ध्वनियाँ वहाँ की भाषा को प्रभावित करती हैं। मुसलमानों के भारत आगमन के पश्चात अरबी तथा फारसी भाषा का यहाँ प्रयोग होने लगा है। अरबी-फारसी के प्रभाव से हिंदी में क़, ख़, ग़, ज़, फ़ आदि ध्वनियाँ बोली तथा लिखी जाने लगी हैं। अंग्रेजी के प्रभाव से हिंदी में ऑ ध्वनि का प्रयोग होने लग गया है; यथा—डॉक्टर, बॉल आदि।

नोट्स अन्य भाषाओं के प्रभाव से भी ध्वनि में परिवर्तन होता है— यथा-मुगलों के आगमन के पश्चात् फारसी के प्रभाव के कारण क़, ख, फ़, ज़, ग़, आदि ध्वनि हिंदी में प्रयोग की जाने लगी है।

(ख) आभ्यंतर कारण—ध्वनि-परिवर्तन के संबंध में वक्ता और श्रोता से संबंधित कारणों को आभ्यंतर या आंतरिक कारण कहते हैं। इस वर्ग के कुछ प्रमुख कारण इस प्रकार हैं—

1. **मुखसुख**—इसे प्रयत्नलाघव भी कहते हैं। यह कारण उच्चारण सुविधा से जुड़ा है। मनुष्य अल्प श्रम से अधिक से अधिक कार्य संपन्न करना चाहता है। इसी प्रवृत्ति के अनुसार मनुष्य कम से कम उच्चारण से स्पष्ट तथा प्रभावशाली अभिव्यक्ति करना चाहता है। ऐसे में उच्चारण-सुविधा के अनुसार अनेक क्लिष्ट ध्वनियाँ सरल रूप में परिवर्तित हो जाती है। इस प्रयत्न में अनेक प्रकार के ध्वनि-परिवर्तन होते हैं। मुख-सुख ध्वनि-परिवर्तन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण है। इसमें कभी आगम होता है, तो कभी लोप। समीकरण विषमीकरण, घोषीकरण तथा अघोषीकरण आदि परिवर्तन प्रायः मुख-मुख के कारण होते हैं।
2. **भावावेष**—प्रेम, क्रोध आदि संदर्भो के भाववेश में उच्चरित शब्दों की ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता हैं प्रायः देखा गया है कि प्रेम और क्रोध में सीधा नाम न लेकर उसे तोड़-मरोड़ कर प्रयोग किया जाता है; यथा—रामेश्वर > रामे, रामसुरा, रामसर या राम; श्याम > शामू, शामुआ, शमुआँ, शामों।
3. **अशिक्षा**—अशिक्षा या अज्ञानता के कारण शब्दों का उचित ज्ञान नहीं होता, इससे उनकी ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। ऐसे व्यक्ति जब शब्दों का शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाते, तब भी ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकार से होने वाले परिवर्तन है—गार्ड > गारद, कंपाउंडर > कंपोडर, टाइम > टेम।
4. **बोलने में शीघ्रता**—शीघ्रता से बोलने के कारण भी शब्दों की ध्वनियों में परिवर्तन होता है। ऐसे में प्रायः शब्द की मध्य ध्वनियाँ लुप्त हो जाया करती है। इस प्रक्रिया में शब्दों की लम्बाई भी कम हो जाती है; यथा—उपाध्याय > ओझा > झा, भ्रातृजाया > भौजी, तब ही > तभी, कब ही > कभी। शीघ्र उच्चारण में कभी-कभी कुछ का कुछ हो जाता है। यथा-दाल-चावल > दावल चाल, दाल-भात > दात-भाल आदि।

नोट

5. **बलाघात**—जब बाद की किसी विशेष ध्वनि पर बल दिया जाता है, तो श्वास का अधिकांश भाग उसी के उच्चारण में लगता है। इसके परिणामस्वरूप शेष ध्वनियाँ निर्बल हो जाती हैं। ऐसे में कुछ ध्वनियाँ लुप्त हो सकती हैं; यथा—अभ्यंतर > भीतर, निम्ब > नीम, बिल्ब > बेल।
6. **कलागत स्वातंत्र्य**—काव्य-रचना में कवि शब्दों को तोड़-मरोड़ कर प्रयोग करता है क्योंकि उसे छंद के नियमों का पालन करना पड़ता है। जिसके कारण ध्वनि-परिवर्तन होता है; यथा—सुग्रीव > सुग्रीवा, चरण > चरन, प्रमाद > प्रमादा, रघुराज > रघुराई आदि।
7. **अनुकरण की अपूर्णता**—भाषा अनुकरण के आधार से सीखी जाती है। जब किन्हीं कारणों से अनुकरण अपूर्ण होता है। तब ध्वनि में परिवर्तन हो जाता है; यथा—कोर्ट साहब > कोट साहब, कानूनगो > कानी गोह, बंदूक, > दंबूक, लिफाफा। अनुकरण की अपूर्णता प्रमाद, आलस्य या लड़कपन के कारण होती है। बच्चों के उच्चारण में ऐसे परिवर्तन प्रायः देखने को मिलते हैं यथा—अमरूद > अरमूत, जलेबी > जबेली।
8. **सहजीकरण**—दूसरी भाषा के कठिन शब्दों को सरल बनाने के लिए यदा-कदा उनकी ध्वनियों में परिवर्तन कर देते हैं; यथा—टेकनीक + तकनीक, ट्रेजडी > त्रासदी, > ऐकडमी > अकादमी। ऐसे परिवर्तन से गृहीत (विदेशी) शब्दों में अपनी भाषा की सहजता आ जाती है।
9. **लिपि-दोष**—लिपि की अपूर्णता के कारण भी शब्द का शुद्ध उच्चारण कठिन हो जाता है। ऐसे में ध्वनि-परिवर्तन होना स्वाभाविक ही है। अंग्रेजी की लिपि-रोमन के प्रभाव से गुप्त का गुप्ता, मिश्र का मिश्रा, राम का रामा, कृष्ण का कृष्णा उच्चारण हो गया है, क्योंकि अंग्रेजी में ह्रस्व और दीर्घ के भिन्न रूप नहीं है।

क्या आप जानते हैं किसी उच्चारण को आसान बनाने के लिए भी ध्वनि में परिवर्तन किया जाता है यथा—एकेडमी के लिए अकादमी, टैकनीक के लिए तकनीक।

8.2 ध्वनि-परिवर्तन की दिशाएँ

सोस्युर के अनुसार 'ध्वनि-परिवर्तन के कारणों की खोज करना भाषा-विज्ञान की सबसे कठिन समस्या है। 81 मुख्य बात यह है कि ध्वनि-परिवर्तन के जो कारण बताये गये हैं उनमें से कोई एक कारण परिवर्तन के जो कारण बताये गये हैं उनमें से कोई एक कारण परिवर्तन के लिए उत्तरदायी नहीं होता, वरन् एकाधिक कारणों से परिवर्तन की प्रक्रिया पूरी होती है।

ध्वनि-परिवर्तन की दिशाओं का उल्लेख करते हुए निरुक्ताकार यास्क ने आदि शेष, आदि लोप, अनालोप, उपधा-परिवर्तन, वर्ण लोप, द्विवर्ण लोप, आदि- विपर्यय, अंतविपर्यय, अंतविपर्यय, आद्यन्त विपर्यय, अंतिम वर्ण-परिवर्तन, वर्णोपजन (वर्ण का आगम) आदि का उल्लेख किया है।2

वामन जयादित्य के अनुसार 1. वर्णागम, 2. वर्ण विपर्यय, 3. वर्ण विकार, 4. वर्णनाश, 5. धातु का अर्थान्तर से योग ध्वनि-परिवर्तन की दिशाएँ हैं।

पतंजलि ने महाभाष में 1. वर्ण व्यत्यय, 2. वर्णनाश, 3. वर्णोपजन (वर्णागम), 4. वर्णविकार को ध्वनि-परिवर्तन के मार्ग निर्देशित किए हैं।

स्पष्ट है कि ध्वनि-परिवर्तन के फलस्वरूप नई ध्वनियों का आगम, विद्यमान किसी ध्वनि का लोप, ध्वनि विकार, ध्वनि विपर्यय आदि घटित होता है। इसके फलस्वरूप एकाधिक ध्वन्यात्मक विशेषताएँ प्रकट होकर पद के रूप में परिवर्तन उपस्थित कर देती हैं।

1. स्वर भक्ति (Anaptyxis)

भाष्यकार उवट ने स्वर-भक्ति को स्वर का प्रकार कहा है—'स्वर भक्तिः स्वर प्रकार इत्यर्थः।' भक्ति शब्द भज् धातु

नोट

से व्युत्पन्न है। भक्ति का अर्थ है 'विभक्त करना'। विभाजन करना। जहाँ व्यंजन-गुच्छ या संयुक्त व्यंजन होता है। वहाँ उच्चारण में व्यवधान उपस्थित हो जाता है। इस व्यवधान को दूर करने के लिए संयुक्त व्यंजनों के बीच में ह्रस्व स्वर का आगम होता है। इससे संयुक्त व्यंजन का प्रभाव विभक्त हो जाता है। इसे ही स्वर भक्ति कहा गया है। स्वर भक्ति दो प्रकार की होती है– 1. ह्रस्व स्वर भक्ति, 2. दीर्घ स्वरभक्ति।

डॉ. पिशले के अनुसार अर्धमागधी तथा अपभ्रंश में 'अ' का प्रयोग स्वरभक्ति रूप में आता है। उ और इ का स्वर भक्ति में विशेष रूप से प्रयोग मिलता है। आर्य < अरिय, पद्य > पदुम, पउम, प्राण > पराण।

2. आगम

आगम का अभिप्राय है किसी नयी ध्वनि का आगम। उच्चारण की सुकरता के लिए शब्द में अविद्यमान किसी ध्वनि का आगम किया जाता है। इसके कई रूप होते हैं– 1. आदि स्वरागम, 2. मध्य स्वरागम, 3. अंत्य स्वरागम।

(क) आदि स्वरागम– आदि स्वरागम को पुरोहित, पूर्वहिति या Prothesis भी कहते हैं। उच्चारण-सौकर्य के लिए आदि में स्वर का आगम ही आदि स्वरागम है। पालि, प्राकृत और आधुनिक आर्य भाषाओं में इसके उदाहरण सुलभ हैं। ध्यातव्य है कि आदि स्वरागम सदा ह्रस्व होता है। जैसे, स्तुति > अस्तुति, स्थिति > इस्थिति, स्कूल > इस्कूल, स्टेशन, स्थायी > अस्थायी, स्तबल > अस्तबल, प्लेटो > प्लातौन > अफलातून।

(ख) मध्य स्वरागम– संयुक्त व्यंजन को विभक्त कर सुविधापूर्वक उच्चारण के लिए जब शब्द के मध्य में स्वर का आगम होता है तो उसे मध्य स्वरागम कहते हैं। जैसे, लग्न > लगन, मग्न > मगन, धर्म > धरम, कर्म > करम, जन्म > जनम पर्व > परब, सूर्य > सूरज, भक्त > भगत आदि।

(ग) अन्त्य स्वरागम– जहाँ शब्द के अंत में स्वर का आगम होता है, वहाँ अंत्य स्वरागम मानते हैं। जैसे दवा > दवाई, पिय > पिया, पत्र > पतई, पुरवा > पुरवाई, खंभ > खंभा, agon > agony।

स्वर की तरह ही उच्चारण की सुविधा के लिए शब्द के आदि, मध्य और अंत में व्यंजन ध्वनियों का भी आगमन होता है। व्यंजन के आगम को व्यंजनागम कहते हैं।

(अ) आदि व्यंजनागम– आदि व्यंजनागम के उदाहरण अत्यल्प हैं। जैसे ओष्ठ > ओठ > होठ, उल्लास > हुलास, औरंगाबाद > नौरंगाबाद, अस्थि > हड्डी। भाषाशास्त्री यह बताने में अक्षम हैं कि अ के स्थान पर 'ह' का आदि आगम कैसे हो जाता है।

(आ) मध्य व्यंजनागम– मध्य व्यंजनागम में शब्द के बीच में नया व्यंजन आ जाता है। जैसे ववानर या वननर > बन्दर, सुनरी > सुन्दरी, सुनर > सुन्दर, शाप > श्राप या सराप, समुद्र > समुन्दर, जेल > जेहल, सिख > सिक्ख, हमेशा > हरमेशा, डजन > दरजन, समन > सम्मन, लाश–लहास, टालटूल > टालमटोल आदि।

(इ) अन्त्य व्यंजनागम– शब्द के अन्त में व्यंजन का आ जाना अन्त्य व्यंजनागम है। जैसे जम्बु > जामुन, राधा > राधिका, परवा > परवाह, दरिया > दरियाव, भ्रू > भौंह, उमरा (अमीर का ब. व.) > उमराव, रंग > रंगत आदि।

(ई) अक्षरागम

आदि अक्षरागम–गुंजा > घुंघुधी।

मध्य अक्षरागम–खल > खरल, आलस > आलकस, डेढ़ा > डेवढ़ा

अन्त्य अक्षरागम–बधु > बधूटी, आँक > आँकड़ा, आँख > आँखड़ी, संदेस > संदेसड़ा।

3. लोप

उच्चारण की सुविधा, मुख-सुख, बोलने में शीघ्रता अथवा स्वराघात आदि के प्रभाव से शब्द की कुछ ध्वनियों का लोप हो जाता है। इनके तीन प्रकार होते हैं– 1. स्वर लोप, 2. व्यंजन लोप, 3. अक्षर लोप।

1. स्वर लोप

(अ) आदि स्वर लोप– शब्द के आदि में ही स्वर का लुप्त हो जाना। जैसे उपायन > बायन, अभ्यंतर > भीतर, अरघट्ट > रघट्ट > रहट, अधेला > धेला, अहाता > हाता, अनाज > नाज, अमीर > मीर, अफसाना > फसाना, अगर > गर, अदधिसु > दधिसुत।

नोट

(आ) मध्य स्वर लोप– इनमें मध्य में स्वर का लोप हो जाता है। जैसे हरिद्रा > हरद, शाबाश > साबस, Do not > don't।

(इ) अन्त्य स्वर लोप– जिसके अन्त में स्वर का लोप हो। जैसे गंगा > गंग, जाति > जात, शिला > सिल, परीक्षा > परख, रीति > रीत, बाहु > बाँह, इक्षु > ईख, विल्व > वेल, लघु > हल आदि।

2. व्यंजन लोप

शब्द के आदि, मध्य और अन्त में व्यंजनों का लोप मुख-सुख, स्वराघात आदि के लिए होता है।

(क) आदि व्यंजन लोप– जहाँ शब्द के आदि में व्यंजन विलुप्त हो जाए। जैसे स्फोटक > फोड़ा, बीबीजी > बीजी, स्नेह > नेह, स्थल > थल, स्थान > थान, श्मशान > मसान, स्थिर > थिर, स्तन > थन, स्थाली > थाली, स्फूर्ति > फुर्ती, स्कन्ध > कंध, Knife > nife, Knight > night आदि।

(ख) मध्य व्यंजन लोप– शब्द के मध्य में आने वाले व्यंजन का लुप्त हो जाना मध्य व्यंजन लोप कहलाता है। जैसे नाक कटा–नकटा, कायस्थ > कायथ, भूमिहार > भुंइहार, डाकिन > डाइन, गर्भिणी > गाभिन, संदेश > सनेस, > दुगुना > दूना, फाल्गुन > फागुन, उपवास > उपास, कार्तिक > कातिक, सूची > सुई, Tack टाक, walk वाक, Night नाइट, Right राइट, daughter डाटर।

(ग) अन्त्य व्यंजन लोप– इसमें शब्द के अन्तिम व्यंजन का लोप हो जाता है। यथा, अम्र > आम, > असह्य, धान्य > धान, सत्य > सत्, अग्नि > आग, दुहिता > धिया, Bomb > बम आदि।

3. अक्षर लोप

आदि अक्षर लोप– त्रिशूल > शूल, अम्माँ > माँ, आदित्यवार > इतवार, उपाध्याय > झा, शहतूत > तूत, सरदारजी > दारजी, University > Varsity, नेकटाई > टाई, बाइसायकिल > सायकिल आदि।

मध्य अक्षर लोप– अग्रहायण > अगहन, पर्यंक ग्रंथि > पलत्थी, भाण्डागार > भंडार, बरुजीवी > बरई, राजकुल्य > राउल > राउर, दस्तखत > दसखत आदि।

अन्त्य अक्षर लोप– पार्श्व > पास, जीव > जी, निम्बुक > नीबू, कर्तरिका > कटारी, विज्ञप्तिका > विनती, माता > माँ, दीपवर्तिका > दीवट, भ्रतृजाया > भावज, कुंजिका > कुंजी, मौक्तिक > मोती, नीलमणि > नीलम, सपादिक > सवा, उष्ट्र > ऊँट आदि।

समाक्षर लोप– (Haplology) की स्थापना ब्लूमफील्ड ने की है, जिसके अनुसार एक ध्वनि या अक्षर साथ-साथ दो बार आयें तो एक का लोप हो जाता है। खरीददार > खरीदार, नाककटा > नकटा, स्वर्गगंगा > स्वर्गङ्गा।

अ + आ = आ, इ + ई = ई, उ + ऊ = ऊ मूलतः समाक्षर लोप के उदाहरण हैं। प्रत्ययों और उपसर्गों के विकास में इन सभी लोपपों का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

4. विपर्यय

विपर्यय का अर्थ है उलटना। कभी-कभी किसी शब्द के स्वर, व्यंजना या अक्षर का क्रम उच्चारण में उलट जाता हैं इसे विपर्यय कहते हैं। गलत अनुकरण और बोलने में क्षिप्रता के कारण विपर्यय की क्रिया होती हैं अर्थात् उच्चारण क्रम में उपर्युक्त कारणों से एक ध्वनि दूसरी ध्वनि के स्थान पर तथा दूसरी ध्वनि पहली के स्थान पर आ जाती हैं पास की ध्वनियाँ जब तक दूसरे का स्थान लेती हैं तो उसे पार्श्ववर्ती विपर्यय कहते हैं और दूर की ध्वनियों में विपर्यय हो तो उसे दूरवर्ती विपर्यय कहते हैं। यथा, पहुँचना का पहुँपना, अमरूद का अरमूद, मतलब का मतबल आदि।

विपर्यय के विविध भेद हैं– स्वर विपर्यय, व्यंजन विपर्यय, एकांगी विपर्यय, आद्य शब्दांश विपर्यय।

(क) स्वर विपर्यय– (1) पार्श्ववर्ती: जानवर > जनावर, जाँघ > जंघा, कुछ > कुछ, ससुराल > सुसराल, खुजली > खजुली आदि।

(2) दूरवर्ती– पागल > पगला, अम्लिका > इमली, बिंदु > बूँद, जनरल > जरनैल, अनुमान > उनमान।

(ख) व्यंजन विपर्यय– पार्श्ववर्ती: चिह्न > चिन्ह, ब्राह्मण > ब्राम्हण, ब्रह्म > ब्रम्ह, डेस्क > डेक्स, तमगा > तगमा, कीचड़ > आदि।

(2) दूरवर्ती– वाराणसी > बनारस, अमरूद > अरमूद, महराष्ट्र > मराठा।

अक्षर विपर्यय–मतलब > मतबल, अनुकसान > नुस्कान, डूबना > बूड़ना, पिशाच > पिचाश, पहुँचना > चहुँपना, आदि।

(ग) एकांगी विपर्यय– वान्द्रिये के अनुसार जब कोई ध्वनिग्राम अपना स्थान छोड़कर दूसरे स्थान पर चला जाता है और उसका स्थान रिक्त रहता है, क्योंकि दूसरा ध्वनिग्राम उस स्थान पर नहीं आता तो उसे एकांगी विपर्यय कहा जाता हैं यथा, बिन्दु > बूँद (इ का लोप तथा उ का ऊ के रूप में स्थान-परिवर्तन) Debri > Drebi, Fresta > Festra, उल्का > लूका।

(घ) आद्य शब्दांश विपर्यय– इसके दो शब्दों के आदि अंश परिवर्तित हो जाते हैं। इसे ध्वनि सम्मिश्रण अथवा लाभान्वित विपर्यय भी कहते हैं। यथा, चावल दाल > चाल दावल > चौका-चूल्हा > चूला-चौका, समय बताने में पौने नौ का नौने पौ आदि।

5. समीकरण

समीकरण में दो ध्वनियाँ समीप रहने से सम हो जाती हैं। अर्थात् एक ध्वनि दूसरी ध्वनि को प्रभावित कर से अपना रूप दे देती हैं जैसे चक्र का चक्का; यहाँ क ध्वनि र् के प्रभावित या समीकृत कर क् बना लिया गया है। समीकरण बोलने की सुविधा की दृष्टि से होता है। इसे सावर्ण्य, सारूप्य, अनुरूपता या समीभवन भी कहा जाता है। इसके दो भोद हैं– 1. स्वर समीकरण, 2. व्यंजन समीकरण। इनके पुरोगामी और पश्चगामी दो-दो और भेद होते हैं। इन्हें भी दूरवर्ती और पार्श्ववर्ती दो वर्गों में बाँटा जाता है।

(क) स्वर समीकरण– जब समीकरण दो स्वरों में हो तो उसे पुरोगामी और जब दूसरी ध्वनि पहली को प्रीाावित करती है तो पश्चगामी समीकरण कहते हैं। जब ध्वनियाँ पास-पास हरती हैं तो पार्श्ववर्ती और जब दूर-दूर रहती हैं तो दूरवर्ती कही जाती हैं।

पाश्ववर्ती पुरोगामी स्वर समीकरण– आइए > आइउ, अउर > अऊर।

दूरवर्ती पुरोगामी स्वर समीकरण–खुपरी > खुरुपी, सूरज > सुरुज, जुल्म > जुलुम।

पार्श्ववर्ती पश्चगामी समीकरण– कब अइलाह > कब अइलह।

दूरवर्ती पश्चगामी समीकरण– अँगुली > उँगली, आदमी > अदमी, इक्षु > उक्खु, असूया > उसूया।

(ख) व्यंजन समीकरण– जब समीकरण दो व्यंजनों में हो तो व्यंजन समीकरण कहलाता है। इसके भी पुरोगामी, पश्चगामी और पार्श्ववर्ती, दूरवर्ती भेद होते हैं।

पार्श्ववर्ती पुरोगामी व्यंजन समीकरण– बग्घी > बग्गी, निद्रा > नींद, चक्र > चक्क, पत्र > पत्त, पथ्य > पथ, पुत्र > पूत, रात्रि > रात।

दूरवर्ती पुरोगामी समीकरण– कचपच > कचकच, खटपट > खटखट, प्रजावती > प्रजपती > प्रजापति।

पार्श्ववर्ती पश्चगामी समीकरण– दूर्वा > दूब, वार्ता > बात, शर्करा > शक्कर, ऊर्ण > ऊन, दुग्ध > दूध, वल्कल > बाकल, मुद्ग > मूँग, आधसेर > आस्सेर, रात-दिन > राद्दिन, भातदाल > भाद्दाल।

दूरवर्ती पश्चगामी सण्मीकरण– खरकट > करकट, लकड़बग्घा > बकड़लग्गा।

टास्क ध्वनि परिवर्तन के भौगालिक कारणों की भूमिका का उल्लेख कीजिए।

नोट

6. विषमीकरण

समीकरण का उलटा विषमकरण है। जब दो निकटस्थ समान ध्वनिों में से एक बदल जाय तो उसे विषमीकरण कहते हैं। इसके भी स्वर और व्यंजन तथा पुरोगामी-पश्चगामी भेद होते हैं।

(अ) स्वर विषमीकरण– (1) पुरोगामी समीकरण : पुरुष > पुरिस (प्राकृत), तिलक > टिकली।

(2) पश्चगामी विषमीकरण– मुकुट > मउर, बकुल > बउर, नूपुर > नेड्र।

(आ) व्यंजन विषमीकरण–1. पुरोगामी व्यंजन विषमीकरण: काक > काग, कंकण > कंगन, लांगूसी > लंगूर, लाला > लार।

2. पश्चगामी विषमीकरण– नवनीत > लयनू, दरिद्र > दलिद्दर, शाबाश >

7. विकार

जब उच्चारण की सुविधा के लिए एक ध्वनि दूसरी ध्वनि में परिवर्तित हो जाती है तो वह विकार कहलाती है। जैसे कृष्ण > कान्ह, मेघ > मेह, स्तन > थन, हस्त > हाथ, शाक > साग सम्बन्धित > समधी, गर्भिणी > गाभिन, क्षीर > क्षीर > खीर, सौभाग्य > सुहाग, मुख > मुँह।

विकार के कारण शब्दों के रूप में तो परिवर्तन होता ही है, उनके अर्थ में भी परिवर्तन हो जाता है। जैसे समधी वर-वधू के पिता को कहते हैं। क्षीर (दूध) और खीर (दूध चावल से बनी), गर्भिणी (स्त्री) और गाभिन (पशु), स्तन (स्त्री) और थन (पशु) आदि में रूप-परिवर्तन के साथ ही अर्थ-परिवर्तन भी हो गया है।

8. मात्रा-भेद

स्वराघात के प्रभाव से कभी-कभी ह्रस्व ध्वनि दीर्घ और दीर्घ ध्वनि ह्रस्व हो जाती है। इसे मात्रा-भेद कहते हैं। इसके कई भेद होते हैं।

1. ह्रस्व से दीर्घ– अक्षत > आखत, चिह्न > चीन्हा, अंकुर > आँकुश, मिल > मील, स्कन्ध > कंधा, हरिण > हिरना, जिह्वा > जीभ, अद्य > आज, काग > कागा, लज्जा > लाज, कंटक > काँटा, प्रिय > पीव।

2. दीर्घ से ह्रस्व– आलाप > अलाप, आम्ररस > अमरस, नारंगी > नवरंगी, आमीर > अहीर, वानर > बन्दर, बादाम > बदाम, आश्चर्य > अचरल, पाताल > पताल आदि।

9. घोषीकरण

उच्चारण की सुविधा के लिए अघोष ध्वनियों को सघोष कर देना घोषीकरण है। यथा, शकुन > सगुन, मकर > मगर, कंकण > कंगन, एकादश > एगारह, सकल > सगल > सगरो, बापू > बाबू प्रकट, कीट > कीड़ा, शाक > साग, शती > शदी आदि।

10. अघोषीकरण

मुख-सुख के लिए जब घोष ध्वनियों का अघोष उच्चारण किया जाता है तो अघोषीकरण होता है। जैसे, मदद > मदत, अदद > अदत, मेघ > मेख, खूबसूरत > खपसूरत, डंडा > डंटा आदि।

11. महाप्राणीकरण

इसमें अलपप्राण ध्वनियां को पहाप्राण ध्वनि के रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है। जैसे, पृष्ठ > पीठ, वेष > भेस, गृह > घर, परशु > फरसा, हस्त > हाथ, ग्रहण > घिरना, वृश्चिक > बिच्छू, वाष्प > भाप, ताक > ताख आदि।

12. अल्पप्राणीकरण

महाप्राण ध्वनियों का अल्पप्राण कहो जाना अल्पप्राणीकरण है जैसे सिन्धु हिन्दु, भगिनी > बहिन।

13. आनुनासिकता

कभी-कभी आलस्यवश हम ध्वनियों के उच्चारण को अननासिक कर देने के लिए विवश होते हैं अनु

नासिकता के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह द्रविड़ प्रभाव हैं ब्लाक और टर्नर के अनुसार स्वर की मात्रा में परिवर्तन के कारण अनुनासिकता आ जाती हैं ग्रियर्सन इसे आधुनिक काल की प्रवृत्ति कहते हैं। डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा की प्रवृत्ति के रूप में इसे स्वीकार करते हैं। डॉ. भोलानाथ तिवारी इसे मुख-सुख का परिणाम कहते हैं। आनुनासिकता अकारण भी होती है, क्योंकि शब्द में अनुनासिकता न होने पर भी उसे अनुनासिक रूप में उच्चरित किया जाता है। जिन शब्दों में आनुनासिकता– अश्रु > आँसू, सर्प > साँप, उष्ट्र > ऊँट, वक्र > बाँका, कूप > कुआँ, भ्रू > भौं, बाहु > बाँह, अक्षि > आँख, उच्च > ऊँचा, श्वास > साँस, बेत्र > बेंत, सत्य > साँच आदि।

सकारण आनुनासिकता– चंचु > चोंच, भंग > भांग, कंपन > काँपना, चन्द्र > चाँद, आमलक > आँवला, बिन्दु > बूँद आदि।

14. ऊष्मीकरण

जब अनूष्म ध्वनियाँ ऊष्म में परिवर्तन हो जाती हैं तो उसे ऊष्मीकरण कहा जाता है। केन्तुम वर्ग की क ध्वनि शतम वर्ग में स हो जाती है। केन्तुम् > शतम् या सतम्।

15. संधि

तेजी में बोलने, प्रयत्नलाघव आदि के कारण कभी-कभी स्वर या स्वंजनों में संधि हो जाता है। इससे ध्वनि में परिवर्तन होता है। यह समीकरण से भिन्न रूप है। जैसे, मयूर > मउर > मोर, वचन > बइन > बैन, नयन > नइन > नैन, > अवध > अउध > औध, नवमी > नउमी > नौमी, सपत्नी > सवत > सउत > सोत, शत > शउ > सब > सउ > सौ, भ्रमर > भँवर > भँउर > भौंर।

कभी-कभी संधि में एक ध्वनि लुप्त भी हो जाती है। जैसे, उस + ही = उसी, इस + ही इसी, यही ही = जहीं, वह + ही = पही आदि।

कभी-कभी संधि में एक ध्वनि लुप्त भी हो जाती है। जैसे, उस + ही = उसी, इस + ही इसी, यह ही = यही, यहाँ + ही = यहीं, कहाँ + ही = कहीं, वहाँ + ही = वहीं, जहाँ + ही = जहीं, वह + ही = वही आदि।

कुछ लोग मार डाला > माड्डाला, भात दाल > भाद्दाल, मास्टर साहब > माट साहब, साध सेर > आस्सेर आदि को भी संधि मानते हैं, किन्तु डॉ. भोलानाथ तिवारी इसे समीकरण कहते हैं।

स्व-मूल्यांकन

दिए गए कथन के सामने सही (✓) अथवा गलत (×) का निशान लगाइए–

1. विषमीकरण समीकरण की उल्टी प्रक्रिया है। ☐
2. हिंदी में केवल संस्कृत शब्दों के आगम के कारण ध्वनि परिवर्तन होता है। ☐
3. आदि व्यंजनागम के उदाहरण हैं– ओष्ठ > ओठ, होंठ। ☐
4. अंग्रेजी में ह्रस्व और दीर्घ के लिए भिन्न रूप नहीं हैं। ☐

16. भ्रामक व्युत्पत्ति

ठीक से न सुनने के कारण अथवा अज्ञानवश कुछ ध्वनियों को अपनी भाषा प्रकृति के अनुरूप बना लिया जाता है। इसे भ्रामक व्युत्पत्ति कहते हैं। जैसे इन्तकाल > अंतकाल, गार्ड > गारद, लार्ड > लाट, लाइब्रेरी > रायबरेली।

इन परिवर्तनों के अतिरिक्त कुछ ऐतिहासिक परिवर्तनों का उल्लेख भी आवश्यक है। ये परिवर्तन उपर्युक्त रूपों में समाहित किए जा सकते हैं, किन्तु एंतिहासकि महत्त्व की दृष्टि से उनका कथन अपेक्षित है।

1. अभिश्रुति (Umlaut या Vowel Mutation)– अभिश्रुति का अर्थ है शब्द के किसी आंतरिक स्वर में बाद के अक्षर में आने वाले किसी अन्य स्वर (अन्य गुण वाला) के कारण होने वाला परिवर्तन। इसमें पूर्ववर्ती अक्षर का स्वर या तो परिवर्तित करने वाले व परवतर्ती अक्षर के स्वर के अनुरूप हो जाता है या परिवर्तित करने वाले

नोट

परवर्ती स्वर का लोप हो जाता है। ब्लूमफील्ड इसे पश्चगामी स्वर समीकरण मानते हैं, किन्तु अभिश्रुति और पश्चगामी समीकरणा में अन्तर है। ग्रिम ने जर्मन भाषा में इस प्रवृत्ति को लक्षित किया और Umlaut नाम दिया था। डॉ. चटर्जी के अनुसार बँगला में भी यह प्रवृत्ति मिलती है। जैसे–करिया (Karia), कयरिया (Kairia), कउरे (K're), कोरे (Kore)। हिन्दी में इसके उदाहरण विरल हैं, जैसे अँगुली > उँगली। बँगला–हारिया > हेरे (खोकर)।

2. अपश्रुति (Ablout)– किसी रूप या पद में स्वर-परिवर्तन या मात्रा भेद के कारण भिन्न व्याकरणिक अर्थ का जुड़ना या उसी पद्धति पर नये शब्द की रचना अपश्रुति हैं तात्पर्य कि अपश्रुति के कारण शब्द में अर्थगत परिवर्तन होता है। यह रूपात्मक ध्वनि विज्ञान के अंतर्गत ही विचार्य हैं मात्रामूलक अपश्रुति में एक ध्वनि समान प्रकृतिवाली दूसरी ध्वनि में परिवर्तित हो जाती हैं गुणमूलक अपश्रुति में स्वर ध्वनि में गुणमूलक परिवर्तन होता है।

मात्रामूलक अपश्रुति–

जित > जीत, सुत > सूत, मिल > मेल आदि

गुणमूलक अपश्रुति–

भरद्वाज–भारद्वाज, वसुदेव–वासुदेव।

किताब–कातिब –कुतुब।

Rise– Rose Risen.

3. अपिनिहित (Epenthesis)– शब्द में पहले से विद्यमान किसी स्वर के अनुरूप अन्य स्वर के मध्यागम (शब्द के मध्य में आगमन) को अपिनिहिति कहते हैं। यह स्वर भक्ति या विप्रकर्ष के अन्तर्गत समाहित हो सकता है, फिर भी दोनों में अंतर हैं अपिनिहित में इ या उ का मध्यागम होता हैं जैसे, बेल > बेइल, रक्त > रकत, भक्त > भगत, पूर्व > पूरब आदि।

4. पुरोहिति पूर्वहिति या (Prothesis)– शब्द में विद्यमान किसी स्वर के अनुरूप शब्द के आदि में स्वर का आगमन पुरोहिति हैं यह आगम शब्द का कृत्रिम अंक होता हैं आगम प्रायः इ या उ का ही होता है। जैसे– स्तुति अस्तुति, स्थिति > इस्थिति, स्टेशन > इस्टेशन, स्कूल > इस्कूल आदि।

8.3 सारांश

ध्वनि-परिवर्तन या विकास जीवंत भाषा का प्रमुख लक्षण है। ध्वनि-परिवर्तन के कारणों को दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं–(क) बाह्य कारण, (ख) आभ्यंतर कारण।

(क) बाह्य कारण–ये कारण बाहर से ध्वनि का प्रभावित करते है। ध्वनि-परिवर्तन के बाह्य कारण मुख्यतः निम्नलिखित हैं– 1. व्यक्तिगत भिन्नता, 2. भौगोलिक कारण, 3. सामाजिक परिस्थिति, 4. अन्य भाषाओं का प्रभाव

(ख) आभ्यंतर कारण–ध्वनि-परिवर्तन के संबंध में वक्ता और श्रोता से संबंधित कारणों को आभ्यंतर या आंतरिक कारण कहते हैं। इस वर्ग के कुछ प्रमुख कारण इस प्रकार हैं– 1. मुखसुख, 2. भावाशेष, 3. अशिक्षा, 4. बोलने में शीघ्रता, 5. बलाघात, 6. कलागत स्वातंत्र्य, 7. अनुकरण की अपूर्णता, 8. सहजीकरण, 9. लिपि-दोष

ध्वनि-परिवर्तन की दिशाएँ

ध्वनियों में होने वाले विविध विकारों को ध्वनि-परिवर्तन या विकास कहते हैं। इसमें मुख्यतः निम्नलिखित दिशाएँ दिखाई देती हैं– 1. आगम– (क) स्वरागम, (ख) व्यंजनागम

2. लोप– (क) स्वरलोप, (ख) व्यंजनलोप, (ग) अक्षरलोप, (घ) समध्वनि लोप

3. विपर्यय

4. समीकरण– (क) पुरोगामी समीकरण, (ख) पश्चगामी समीकरण

नोट

5. विषमीकरण– (क) पुरोगामी विषमीकरण, (ख) पश्चगामी विषमीकरण
6. मात्रा-भेद– (क) ह्रस्वीकरण, (ख) दीर्घीकरण
7. घोषीकरण
8. अघोषीकरण
9. महाप्राणीकरण
10. अल्पप्राणीकरण
11. अनुनासिकीकरण
12. संधि

8.4 शब्दकोश

1. **श्रवणेंद्रिय–** सुनने वाली इंद्रियाँ
2. **अघोष–** नाद रहित, बिना ध्वनि वाला।

8.5 अभ्यास-प्रश्न

1. ध्वनि परिवर्तन के कारण एवं दिशाओं पर प्रकाश डालिए।
2. ध्वनि परिवर्तन पर एक संक्षिप्त नोट लिखिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन

1. (✓) **2.** (×) **3.** (✓) **4.** (✓)

8.6 संदर्भ पुस्तकें

पुस्तकें

1. *भाषा विज्ञान–* डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, किताब महल, इलाहाबाद
2. *भाषा और भाषा विज्ञान–* गरिमा श्रीवास्तव, संजय प्रकाशन, दिल्ली
3. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा–* नरेश मिश्र, संजय प्रकाशन, दिल्ली
4. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा का स्वरूप–* विकास–देवेन्द्र प्रसाद सिंह, हिंदी बुक सेंटर, दिल्ली

नोट

इकाई 9: रूपविज्ञान– शब्द और उनकी रूप-रचना

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- रूप विज्ञान से परिचित होंगे।
- शब्द और उनकी रूप रचना को समझ सकेंगे।

प्रस्तावना

वाक्यविज्ञान में वाक्य का विभिन्न दृष्टियों से अध्ययन किया जाता है। उसी प्रकार रूपविज्ञान या पदविज्ञान में 'रूप' या 'पद' का विभिन्न दृष्टियों से अध्ययन किया जाता है। वर्णनात्मक रूपविज्ञान में किसी भाषा या बोली के किसी एक समय के रूप या पद का अध्ययन होता है, ऐतिहासिक में उसके विभिन्न कालों के रूपों का अध्ययन कर उसमें रूप-रचना का इतिहास या विकास प्रस्तुत किया जाता है, और तुलनात्मक रूपविज्ञान में दो या अधिक भाषाओं के रूपों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है।

9.1 रूप विज्ञान– परिचय

रूप-विज्ञान भाषा विज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसका सम्बन्ध शब्दों, शब्द के रचनात्मक प्रत्ययों, पदों और पद-रचना के प्रत्ययों के विश्लेष्ण-विवेचन से है। रूप-विज्ञान की अवधारणा पर ही व्याकरण की स्थापनाएँ आधारित हैं। संसार की अधिकांश भाषाएँ रूपात्मक हैं। अत: रूप-विज्ञान भाषाविज्ञान का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपक्षेत्र है। मैथ्यूज के अनुसार रूप-विज्ञान भाषाविज्ञान की वह शाखा है, जो शब्द के विभिन्न रूपों की रचना और प्रयोगों से सम्बद्ध है।

पाश्चात्य भाषाविज्ञान में भाषा के तीन अंग विचार्य हैं– 1. ध्वनि-विज्ञान (Phonology), 2. व्याकरण (grammar), 3. अर्थ-विज्ञान (Semantics)। व्याकरण को रूप-विज्ञान और वाक्य-विज्ञान में विभक्त किया गया है। पश्चिमी भाषाविद् स्वतंत्र रूपिम को शब्द या प्रातिपदिक कहते हैं। भाषा की इकाई वाक्य होते हैं। वाक्य के खण्ड शब्द कहे जाते हैं। वाक्य में प्रयोग होने पर शब्द को पद कहा जाता है।

9.2 शब्द और उनकी रूप-रचना

नोट

'शब्द' की व्युत्पत्ति 'शप्' या 'शब्द' धातु से मानी जाती है। 'शब्द्' में 'घ ञ्' प्रत्यय जोड़ने से शब्द की रचना होती है, जिसका अर्थ है शब्द करना, ध्वनि करना या बोलना। कुछ लोग शब्द को नाम धातु भी मानते हैं।

अंग्रेजी में शब्द को word कहते हैं। डचभाषा का woord, जर्मन का wort, गोथिक का waurd, आइस लैंडिक का orth, लैटिन का Vrbum और ग्रीक का Liro भी ध्वनि करना या बोलना के अर्थ में प्रयोग में आते हैं। अरबी 'लफ्ज' का अर्थ भी 'मुँह से फेंका हुआ' या 'ध्वनि किया हुआ' या 'बोला हुआ' होता है। इस प्रकार 'शब्द' के विभिन्न भाषाओं में प्राप्त पर्याय भी अर्थ की दृष्टि से एक-दूसरे के निकट ही हैं।

पतंजलि ने महाभाष्य में लिखा है– 'श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिग्राह्य: प्रयोगेण-भिज्वलित: आकाशदेश: शब्दा:।' अर्थात् शब्द, कान से प्राप्य, बुद्धि से ग्राह्य, प्रयोग से प्रस्फुरित होने वाली आकाशव्यापी ध्वनि है। अन्यत्र उन्होंने कहा है– 'प्रतीत पदार्थ को लोके ध्वनि शब्द:।' अर्थात् वह ध्वनि जिससे व्यवहार या लोक में पद के अर्थ की प्रतीति हो, शब्द है।

शृंगार प्रकार में कहा गया है– 'येनोच्चरितेन अर्थ: प्रतीयते स शब्द:।' अर्थात् जिसके उच्चारण करने से अर्थ की प्रतीति हो वह ध्वनि शब्द है। शब्द के द्वारा वस्तु, व्यक्ति, क्रिया आदि का बोध होता है– 'येनोच्चारितेन सास्नालां-गुल-ककुद-खुर-विषाणिनां संप्रत्ययो भवति स शब्द:।'

पाश्चात्य भाषा वैज्ञानिकों ने शब्द को भाषा की सर्वाधिक प्रारंभिक इकाई मानकर विश्लेषित किया है। पामर (Palmer) के अनुसार ऐसी भाषिक लघुत्तम इकाई, जो एक पूर्ण उच्चार के रूप में कार्य कर सके, शब्द है (The Smallest speech unit capable of functioning as a complete utterance)। उलमान के अनुसार शब्द भाषा की लघुत्तम महत्त्वपूर्ण इकाई है (The smallest significant unit of language)। ब्लॉक तथा ट्रेगर के मत से रूपग्राम एक ऐसा भाषिक रूप है, जिसका अर्थमूलक खण्डन संभव नहीं होता।

ब्लूमफील्ड कहते हैं कि 'रूपग्राम वह भाषिक रूप है, जिसकी सादृश्यता कोई दूसरी भाषिक इकाई न तो ध्वनि के स्तर पर कर सकती है, न अर्थ के स्तर पर।

डॉ. भोलानाथ तिवारी के मत से अर्थ के स्तर पर भाषा की लघुतम स्वतंत्र इकाई शब्द है।

रामचन्द्र वर्मा के अनुसार 'वह जो कुछ हमें सुनाई दे' को शब्द कहते हैं।

शब्द शुद्ध अर्थतत्त्व है। शब्द निरपेक्ष होते हैं। शब्द का अर्थ तभी स्पष्ट होता है, जब हम उसके रूप में परिवर्तन करते हैं। डॉ. भोलानाथ तिवारी यह मानते हैं कि शब्द पर ही पद आधारित होते हैं।

पद

शब्द का वाक्य में प्रयुक्त स्वरूप ही पद या रूप कहा जाता है। शब्द में अर्थतत्त्व संन्निहित होता है, किन्तु अर्थ देने की क्षमता उनमें तब आती है जब उनका प्रत्यय-सहित प्रयोग वाक्य में किया जाता है। शब्द जब वाक्य में प्रयुक्त होते हैं तो शब्द के अर्थ में विभाजन होता है, उनमें परस्पर अन्वय होता है। अन्वय के अभाव में शब्द की सार्थकता अधूरी रह जाती है।

संस्कृत में 'शब्द' के मूलरूप को 'प्रकृति' या 'प्रातिपदिक' कहा जाता है। सम्बन्ध तत्त्व के लिए जोड़े गये तत्त्व को 'प्रत्यय' कहते हैं। प्रकृति और प्रत्यय के संयोग से जो बनता है उसे पद या रूप कहते हैं। अर्थात् प्रकृति और प्रत्यय युक्त शब्द ही 'पद' कहलाता है। प्रयोग-योग्यता पदों में होती है, शब्दों में नहीं। पाणिनि ने पद की परिभाषा देते हुए कहा है–'सुप्तिङन्तं पदम्। सुबन्तं तिङन्तं च पदसंज्ञंस्यात्।' अर्थात् सुप् (संज्ञा-विभक्ति) और तिङ् (क्रिया-विभक्ति) के योग से पद की रचना होती है। शब्द में अर्थ तत्त्व होने पर भी पद बने बिना उसमें अन्वय की शक्ति नहीं आती।

पतंजलि ने पद से ही प्रयोग-योग्यता स्वीकार करते हुए कहा है– 'अपदम् न प्रयुञ्जीत।' अर्थात् अपद का प्रयोग नहीं करना चाहिए। उन्होंने यह भी कहा है कि न तो शब्द अथवा प्रकृति में और न प्रत्यय में ही प्रयोग की योग्यता होती है। अत: न केवल प्रकृति (मूल शब्द, धातु) का प्रयोग करना चाहिए और न केवल प्रत्यय का–'नापि केवला प्रकृति: प्रयोक्तव्या, नापि केवल प्रत्यय:।' दोनों का संयोग होने पर पद बनता है। पद ही प्रयोग योग्य होता है। इसीलिए कहा

नोट

गया है कि भली भाँति ज्ञात और प्रयुक्त एक शब्द भी स्वर्ग तथा लोग में अभीष्ट फलदायी होता है– 'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके चकामद्युग्भवति।'

शब्द के रूप होते हैं। सम्बन्ध का निर्धारण करने के लिए लिंग, वचन, कारक आदि के अनुसार संस्कृत में शब्द के रूप चलते हैं। इसलिए भाषाशास्त्रियों ने रूप और पद को पर्यायवाची माना है। अतः पद या रूप अर्थ तत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व का समाहार है। अतः पद और रूप में कोई अन्तर नहीं है।

नोट्स अयोगात्मक (चीनी आदि) भाषाओं में शब्द और पद में भेद नहीं होता। इसमें सम्बन्ध तत्त्व या विभक्ति प्रत्यय जोड़ने की आवश्यकता नहीं होती। वाक्य में शब्द के स्थान के आधार पर वाक्य में शब्द के सम्बन्ध का निर्धारण हो जाता है। श्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में ही प्रकृति-प्रत्यय का विधान है।

सम्बन्ध तत्त्व

शब्द को प्रकृति कहा गया है। शब्द या प्रकृति का प्रयोग वर्जित है। वाक्य में प्रयोग करने के पूर्व शब्द या प्रकृति में सम्बन्ध तत्त्व जोड़ा जाता है। सम्बन्ध तत्त्व को प्रत्यय कहते हैं। प्रत्यय को विभक्ति भी कहा जाता है। पद और शब्द का भेदक तत्त्व प्रत्यय या विभक्ति है। विभक्ति का अर्थ है। विभाजन करने वाला। विभक्ति से शब्दों के अर्थ भिन्न हो जाते हैं। विभक्ति ही अर्थ-भिन्नता का कारण है।

शब्द का विश्लेषण धातुओं से होता है। धातुओं के द्वारा विचारों का द्योतन होता है। धातुओं में उपसर्ग (पूर्व प्रत्यय) और प्रत्यय आवश्यकतानुसार जोड़ कर शब्द-रचना की जाती है। शब्दों में सम्बन्ध तत्त्व या प्रत्यय जोड़ने से पद बनते हैं। पदों को रूप भी कहते हैं प्रत्यय जोड़ने के बाद शब्द का जो रूप बनता है, उसे रूप कहते हैं। संस्कृत में शब्दों के रूप चलते हैं। प्रत्यययुक्त प्रातिपदिक, प्रकृति या शब्द ही रूप या पद होते हैं। पाणिनि के सूत्र 'सुप्तिङन्तं पदम्' में सुप् और तिङ् सम्बन्ध तत्त्व या प्रत्यय हैं। उनके अनुसार प्रतीयते विधीयते इति प्रत्ययः'। महाभाष्य में कहा गया है कि प्रत्यय से शब्दों का अर्थ अन्वित होता है। जो अर्थ की प्रतीति कराये उसे ही प्रत्यय कहा गया है–'प्रत्यय इत्यन्वर्थ संज्ञा। यः स्वमर्थम् प्रत्याययति स प्रत्ययः।'

उलमैन के अनुसार प्रत्यय मूलतः स्वतन्त्र शब्द थे। समस्त पदों के अन्त में उनका प्रयोग वर्षो तक होता रहा। प्रयोग-बाहुल्य से उनकी स्वतन्त्र सत्ता समाप्त हो गई और वे व्याकरणिक संकेत (चिह्न) के रूप में प्रचलित हो गए। उनका प्रयोग शब्दान्त में होने लगा। फादरली (Fatherly), ब्रदरली (Brotherly) आदि में लगने वाला वास्तव स्याम का परिवर्तित रूप हैं संस्कृति का 'आलय' शब्द घिसते-घिसते 'आल' और फिर 'ल' रह गया। ससुराल, देवल आदि के 'ल' में इसे देखा जा सकता है।

अर्थदर्शी प्रकृति या प्रातिपादिक तथा सम्बन्धदर्शी प्रत्यय के संयोग से पद निर्मित करने की विधि श्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में ही है, अयोगात्मक में नहीं। जैसे हस्त शब्द है प्रकृति तत्त्व। उसमें एन प्रत्यय या सम्बन्ध तत्त्व का संयोग होने पर 'हस्तेन' पद या रूप बनता है। हिन्दी में हाथ में से प्रत्यय या विभक्ति जोड़ने पर 'हाथ से' में अर्थ के साथ ही सम्बन्ध की भी प्रतीति होती हैं 'राम ने रावण को बाण से मारा' वाक्य में राम, रावण, वाण आदि का अर्थ-विभाजन सम्बन्ध तत्त्व के कारण होता है। कुछ शब्दों में सम्बन्ध तत्त्व उसी में मिल जाते हैं। जैसे 'मारा' में सम्बन्ध तत्त्व मिल गया है।

सम्बन्ध तत्त्व के द्वारा मुख्यतः लिंग, वचन, कारक, पुरुष, काल आदि के भावों की अभिव्यक्ति होती है। यदि किसी शब्द की वाक्य में विशेष स्थिति उसे वाक्य के अन्य शब्दों से सम्बन्धित करती है और अर्थ की प्रतीति कराती है तो उसे भी सम्बन्ध तत्त्व माना गया है। शब्द सम्बन्ध तत्त्व के कारण नियंत्रित होते हैं और नियंत्रित होकर ही अर्थ की प्रतीति कराते हैं।

नोट

सम्बन्ध तत्त्व के प्रकार

लिंग, वचन, कारक, पुरुष, काल आदि के भाव सूचित करने के लिए भाषा में सम्बन्ध तत्त्व का सहारा लिया जाता है। शब्द में सम्बन्ध तत्त्व के योग से ही पद या रूप की सृष्टि होती है। रूप परिवर्तन मूलक सम्बन्ध तत्त्वों के संयोग के अनेक प्रकार होते हैं। उनका विवेचन यहाँ आवश्यक है।

1. शब्द-स्थान– वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के स्थान या विशेष स्थिति के कारण भी उनमें सम्बन्ध तत्त्व संयुक्त हो जाता है। शब्द के स्थान बदल जाने पर उसका वह सम्बन्ध तत्त्व छिन जाता है जैसे–

राजमहल– राजा का महल

महलराज–महलों का राजा

राम रोटी खता है–रोटी जलती है।

Mohan beats Ram—Ram beats Mohan.

ऊपर के पहले उदाहरण में रोटी कर्मकारक है, जबकि दूसरे में कर्त्ताकारक। Mohan और राम में भी यही स्थिति है। शब्द का स्थान बदल जाने से सम्बन्ध तत्त्व में परिवर्तन हो गया है।

2. शून्य सम्बन्ध तत्त्व–कभी-कभी वाक्यान्तर्गत प्रयोग में श्ब्द को ज्यों का त्यों छोड़ दिया जाता है। उसमें सम्बन्ध तत्त्व नहीं जुड़ा होता है। इस रूप में भी शब्द एक विशेष सम्बन्ध की सूचना देता है। इस प्रकार के प्रयोगों में शब्द अविकृत ही रह जाता है। संस्कृत में वणिक्, सम्राट्, विद्युत, मरुत्त, भूमृत, लता, आशा, इच्छा, वारि, अस्थि, दधि , नदी, स्त्री, नारी, मधु, अश्रु आदि शब्द प्रथमा एक वचन में अविकृत रहते हैं। ऐसे प्रयोग में शब्द और पद में कोई अन्तर नहीं होता। शून्य सम्बन्ध तत्त्व के योग से शब्द ही पद रूप में बदल जाता है।

संस्कृत धातुओं के लोट लकार मध्यम पुरुष एक वचन में शून्य सम्बन्ध तत्त्व जुड़ा होता है।

हिंदी की आज्ञार्थक क्रियाओं में धातु रूप अविकृत ही रहता है। जैसे– पढ़, लड़, हँस, कर, भर आदि। 'ना' हटाकर ही इन्हें प्रयोग-योग्य बना लिया गया है। हिन्दी के अव्यय सदा एक रूप रहते हैं। अव्यय का अर्थ है, जिसका व्यय न हो, अर्थात् जिसमें परिवर्तन न हो। अव्यय में विभक्तिगत परिवर्तन नहीं होता। ये अविकृत ही प्रयोग में आते हैं। अंग्रेजी में go शब्द सभी पुरुषों में (अन्य पुरुष एकवचन छोड़कर) सदा एक रूप रहता है– I go, We go, You go, They go इसी प्रकार Put भी सभी कालों में Put ही रहता है। Sheep का बहुवचन रूप Sheep ही रहता है।

वैयाकरण शून्य सम्बन्ध तत्त्व को विभक्तिहीनता नहीं मानते। उनके अनुसार यहाँ विभक्ति का लोप हो गया है। यहाँ विभक्ति थी, किन्तु अब उसका लोप हो गया। विभक्ति के लोप हो जाने पर भी वैयाकरण ऐसे शब्दों में शून्य विभक्ति की कल्पना कर लेते हैं। ऐसी कल्पना इसलिए आवश्यक है कि विभक्ति-योग के बिना शब्द पद बनेगा ही नहीं। अतः शून्य विभक्ति के काल्पनिक योग से शब्द को पद बना लिया गया। इससे यह सिद्धांत सुरक्षित रह गया कि शब्द में विभक्ति का योग होने पर ही पद की रचना होती है।

शून्य सम्बन्ध तत्त्व को शून्य विभक्ति या जीरो इन्फ्लेक्शन या जीरो मॉरफीम कहते हैं।

3. स्वतंत्र सम्बन्ध तत्त्व–संसार की अनेक भाषाओं में स्वतंत्र शब्दों के प्रयोग से सम्बन्ध तत्त्व का बोध होता है। अर्थात् स्वतंत्र शब्द ही सम्बन्ध तत्त्व का कार्य करते हैं। हिन्दी की परसर्ग विभक्तियाँ इसी कोटि की हैं। जैसे– हिन्दी परसर्ग (Post position)– ने को से का में पर आदि।

अंग्रेजी पूर्व सर्ग (Pre position) – for, from, to, in आदि।

नोट

संस्कृत–अथ, इति, च,वा, एव, अपि आदि।

कभी–कभी दो स्वतंत्र शब्द सम्बन्ध तत्त्व प्रकट करते हैं। जैसे–अगर संजय जायेगा, तो अजय यहीं रहेगा। यद्यपि–तथापि, जहाँ–तहाँ, यथा–तथा, यदि–तहिं आदि शब्द सम्बन्ध तत्त्व का ही बोध कराते हैं। अंग्रेजी में if-then, Either or, Neither-nor, Though-yet आदि भी स्वतंत्र सम्बन्ध तत्त्व के ही वाचक हैं।

4. प्रत्ययन (Affixation) प्रत्यय को समबन्ध तत्त्व भी कहते हैं। ये प्रत्यय धातुओं या प्रातिपदिकों में जुड़कर सम्बन्ध का निर्धारण करते हैं। इस आधार पर ये आदि, मध्य और अंत में जोड़े जाते हैं ज्यों–ज्यों, यदि–तो आदि इसी तरह के सम्बन्ध तत्व हैं संस्कृत के यत्र–तत्र, इन्हें पूर्व सर्ग (Prefix) मध्य सर्ग (Infix) और अन्त्य सर्ग या (Suffix) कहते हैं। पूर्व प्रत्यय, मध्य प्रत्यय और अंत्य प्रत्यय भी इन्हें कहा जाता है।

(क) पूर्व सर्ग या पूर्व प्रत्यय– पूर्व सर्ग या पूर्व प्रत्यय को उपसर्ग भी कहते हैं। इस संदर्भ में पाणिनि का कथन है–

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्य: प्रतीयते।

प्रहाराहार संहार विहार परिहार वत्।

उपसर्ग से आत्वर्थ में परिवर्तन हो जाता है। जैसे हार से प्रहार, आहार, उपहार, विहार, संहार, परिहार आदि। विधान, संधान, परिधान आदि भी पूर्व सर्ग के ही उदाहरण हैं।

अंग्रेजी में Serve में पूर्व प्रत्यय जोड़ने से, deserve, reserve, preserve आदि बनते हैं। prefer, refer, defer, confer तथा percieve, recieve, decieve, concieve आदि भी पूर्व योग से निर्मित हैं।

संस्कृत भूतकालिक क्रिया धातु के आदि में 'अ' के योग से निष्पन्न होती है। जैसे– अपठत्, अभवत्, अकरोत् आदि। 'अ' के पूर्व योग से इनमें भूतकालिकता आ गई है।

(ख) मध्य योग– प्रकृति के मध्य में जुड़ने वाले प्रत्यय मध्य प्रत्यय या मध्य योग कहलाते हैं। मध्य योग को विकरण भी कहते हैं। संस्कृत में रुधादि गण की धातुओं के बीच में 'न' जोड़ा जाता है, जो मध्य योग का उचित उदाहरण है। जैसे रुद्ध से रुणद्धि (रोकता है), रुन्ध (तुम रोकते हो) या छिद् से छिन्द् या छिझि आदि। अरबी में क त ब से किताब या कुतुब मध्य योग ही है।

कुछ लोग मानते हैं कि भूयते, पठ्यते, गम्यते, हस्यते, दृश्यते आदि में 'य' भाववाच्य या कर्मवाच्य का बोधक है। विभूषति, पिपठिषति आदि में 'ष' इच्छा का द्योतक है। इनमें य, अय, ष मध्य योग है किन्तु ये मध्य सर्ग नहीं हैं, प्रत्यय हैं। ये प्रत्यय प्रकृति के मध्य में नहीं जुड़ते। इसी प्रकार हिन्दी की प्रेरणार्थक क्रियाओं या द्विरुक्तिमूलक पदों में आने वाला 'वा' या 'आ' मध्य योग नहीं हैं। ये भी प्रकृति के मध्य में नहीं आते। जैसे लिखना–लिखवाना, करना–करवाना, फट-फट–फटाफट, चट-चट–चटाचट आदि। इन्हें मध्ययोग का उदाहरण मानना समीचीन नहीं होगा, क्योंकि इनका संयोग प्रकृति के मध्य में नहीं है।

(ग) अन्त्य सर्ग या पर प्रत्यय (Suffix)– प्रकृति या प्रातिपदिक के अंत में जुड़नेवाले प्रत्यय को अन्त्य योग या पर प्रत्यय कहते हैं। संज्ञा, सर्वनाम या विशेषणवाची शब्दों से पद बनाने के लिए पर प्रत्ययों का योग प्रचलित है। पर प्रत्यय या अन्त्य योग को प्रत्यय कहा जाता है। ने को से का में पर आदि पर प्रत्यय ही हैं। संस्कृत में विभक्तियों का योग अन्त्य योग है। जैसे– राम +: (सु) = राम, देवम्, देवानाम, देवाय, देवस्य आदि अंत्य योग हैं।

हिन्दी में लड़का, लड़के, लड़कों के लिए, लड़कों में आदि परसर्ग की विभक्तियाँ है। लड़कों तथा लड़की में भी परसर्ग जोड़कर लिंग और वचन का निर्धारण किया गया है। अंग्रेजी में Read से Reader, Plead से Pleader, Teach से Teacher, Play से Played, Go से Going आदि अंत्य योग के उदाहरण हैं।

5. ध्वनि प्रतिस्थान (Replacing)– इसे ध्वनि विकृति (Phonetic medification) या अपश्रुति (Vocatic ablaut) भी कहते हैं। इसमें शब्द या प्रकृति के स्वर अथवा व्यंजन या मात्राओं में परिवर्तन होता है।

कभी–कभी स्वरों में परिवर्तन से सम्बन्ध तत्त्व प्रकट किये जाते हैं। जैसे– Come—Came, Sing—Sang—Sung, Tooth—Teeth, Foot—Feet आदि।

संस्कृति में देव से दैव, कुमार से कौमार, श्रवण से श्रावण, श्रुति से श्रौत, रुद्र से रौद्र, पुत्र से पौत्र, दशरथ से दाशरथी, मामा से मामी, नाना से नानी आदि।

हिन्दी में मिला से मेल, मिला, लिख से लेख, चित् से चेत आदि।

व्यंजनों के परिवर्तन से भी सम्बन्ध तत्त्व का बोध होता है। जैसे भोज्य से भोग्य, भोज से भोग, Send से Sent, Save से Safe, Advice से Advise आदि।

मात्रिक परिवर्तन–जैसे जा से गया, पच से अपाक्त या आपाक्षी आदि।

6. ध्वनि द्विरावृत्ति (Reduplicating)– कभी-कभी ध्वनियों की द्विरावृत्ति से सम्बन्ध तत्त्व की व्यंजना होती है। अभ्यास अर्थात आवृत्ति से रचना तत्त्व मुखर होता है। जैसे–पठ–पपाठ, लिख–लिलिख, बारबार, पुनः पुनः, प्रत्येक आदि आवृत्ति के उदाहरण हैं। रो-रो, दे दे, ले ले, कह-कह, दे दिलाकर, ले लिवाकर आदि में भी द्विरावृत्ति है।

7. ध्वनि वियोग (Subtracting)– कुछ ध्वनियों को निकालकर व्याकरणिक कोटियों का निर्धारण होता है। फ्रांसीसी भाषा में ध्वनि वियोजन के उदाहरण अधिकता से प्राप्त होते हैं।

8. ध्वनिगुण– बलाघात या सुर के माध्यम से भी सम्बन्ध तत्त्व का निर्धारण होता है। सुराघात के उदाहरण चीनी तथा अफ्रीकी भाषाओं मं बहुलता से मिलते हैं। जैसे– Conduct शब्द में क पर बलाघात होगा तो वह संज्ञा और ड पर बलाघात हो तो क्रिया होगा। Present में र पर बलाघात हो तो संज्ञा और 'जे' पर होने पर क्रिया होगा।

चीनी भाषा में 'ब' शब्द पर सुराघात होने से उसका अर्थ बदल जाता है। धीर सुराघात होने पर महिला, उच्च होने से उमेठना और तीक्ष्ण होने से राजा का कृपापात्र अर्थ होता है। इन्द्र शत्रु पर अनुचित स्थान (अस्थाने) सुराघात होने से दैत्यों का नाश हो गया, जबकि वे देवों के विनाश के लिए ऐसा कह रहे थे।

9. अर्थगत अंतर्भुक्ति या संलयन (Fusion of meaning)– कुछ ऐसे पद होते हैं, जिनमें एकाधिक अर्थ अंतर्भुक्त रहते हैं। इसे संलयन भी कहा जाता है। ऊँ पर प्रत्यय एक साथ उत्तम पुरुष वक्ता और एकवचन का द्योतक है। स्पेनिश भाषा में इसके उदाहरण मिलते हैं।

टास्क अयोगात्मक भाषा से आप क्या समझते हैं?

अर्थ तत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व

अर्थ तत्त्व को प्रकृति, प्रातिपदिक, शब्द तथा अर्थ भी कहा जाताहै सम्बन्ध तत्त्व को विभक्ति प्रत्यय, रूप साधक प्रत्यय, प्रकार्यक (Functor) तथा रूपमात्र कहते हैं। अर्थ तत्त्व से तात्पर्य है। अर्थ को व्यक्त करने वाले तत्त्व अर्थात् शब्द से। यहाँ अर्थ से अभिप्राय कोशगत अर्थ (Dictionary meaning) से है। अर्थ तत्त्व को स्वतंत्र रूपिम कहते हैं। अर्थ तत्त्व या प्रकृति को धातु भी कहा जाता है– 'नाम च धातुजमाह।'

सम्बन्ध तत्त्व में सम्बन्ध का अर्थ है व्याकरणिक प्रकार्य और तत्त्व का अर्थ व्याकरणिक प्रकार्यो को स्पष्ट करने वाले रूप हैं। लिंग, वचन, कारक, पुरुष, काल, वाच्य आदि व्याकरणिक प्रकार्य या कोटियाँ हैं। व्याकरणिक प्रकार्य को विभक्त करने वाले, उनका अर्थ स्पष्ट करने वाले सम्बन्ध तत्त्व हैं।

1. अर्थ तत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व वाक्य रचना स्तर पर एक इकाई का निर्माण करते हैं। मोहन ने राम को पीटा वाक्य में पीटा क्रिया से राम और मोहन का सम्बन्ध विभाजन सम्बन्ध तत्त्व के आधार पर होता है।

2. अर्थ तत्त्व कोशीय इकाई है। सम्बंध तत्त्व व्याकरणिक इकाई है।

3. अर्थ तत्त्व आकृति तथा उच्चारण की दृष्टि से एक मानसिक संकल्पना का निर्माण करता है, किन्तु सम्बन्ध तत्त्व किसी बिम्ब का निर्माण नहीं करते। अर्थात् शब्द स्वतंत्र अर्थ का द्योतक होता है, जबकि सम्बन्ध तत्त्व का कोई स्वतंत्र अर्थ नहीं होता।

नोट

4. अर्थ तत्त्व स्थापन्न होता है, जबकि सम्बन्ध तत्त्व नहीं । घर के स्थान पर गृह का प्रयोग हो सकता है, किन्तु में, पर से आदि का अलग से प्रयोग नहीं हो सकता।

5. अर्थ तत्व विभिन्न शब्द वर्गों में विभक्त किए जा सकते हैं और सम्बन्धतत्व व्याकरणिक कोटियों में।

6. अर्थ तत्त्व के साथ प्रयुक्त होकर सम्बन्ध तत्त्व पृथक् व्याकरणिक कोटियों का निर्धारण करते हैं। जैसे– बड़ाई, मिठाई, खाया, पढ़ा आदि।

7. अर्थ तत्त्व सम्बन्ध तत्त्व के बिना पद या रूप अर्थात् वाक्य-रचना की इकाई नहीं बन सकते– 'नापि केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, नापि केवलः प्रतयय:।'

कुछ विद्वान् सम्बन्ध तत्त्वों के नाम और क्रिया नामक दो प्रकार बताते हैं। नाम सम्बन्ध तत्त्व के संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण और क्रिया-विशेषण सम्बन्ध तत्त्व हैं संज्ञादि के लिंग, वचन, कारक आदि सम्बन्ध तत्त्व हैं। क्रिया के लिंग, पुरुष, काल, वाच्य, वृत्ति आदि सम्बन्ध तत्त्व हैं। क्रिया के लिंग, पुरुष, काल, वाच्य, वृत्ति आदि संबंध तत्त्व हैं। सम्बन्ध तत्त्व के कारण ही बहुवचनत्व, भूतकालत्व या कारकीय सम्बन्ध की सूचना मिलती है। संबन्ध तत्त्व से ही शब्दों का अर्थ नियंत्रिक होता है और वाक्यगत अर्थ की प्रतीति होती है।

अर्थ तत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व का संयोग प्रत्येक भाषा में अलग-अलग होता है। यह संयोग पूर्ण, अपूर्ण और स्वतंत्र रूप से होता है।

(क) पूर्ण संयोग– जहाँ अर्थ तत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व का योग प्रश्लिष्ट होता है, वहाँ पूर्ण संयोग होता है। इसमें अर्थ तत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व को अलग करना संभव नहीं होता है। जैसे विशेष वैशिष्ट्य, देह–दैहिक, पृथु–पार्थिव, शील–शैली, ऋषि–आर्ष।

क् त् ब् > किताब, कुतुब, किताबत, मकतब।

क् त् ल् > कत्ल, कातिल, मकतूल आदि।

Teach—Taught, Buy—bought, Bring—Brought.

(ख) अपूर्ण संयोग– यहाँ अर्थ तत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व को अलग-अलग किया जा सकता है, वहाँ अपूर्ण संयोग है। जैसे भला–भलाई, गँवार–गँवारपन, प्रभु–प्रभुता, शुभ्र–शुभ्रता, Play—Played, Man—Woman आदि।

(ग) स्वतंत्र– ऐसी भाषाएँ भी हैं, जिनमें अर्थ तत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व स्वतंत्र होते हैं। चीनी भाषा में स्वतंत्र संयोग मिलते हैं।

बंटू तथा फूल भाषाओं में सम्बन्ध तत्त्व का आधिक्य दिखाई पड़ता है।

हिन्दी में सम्बन्ध तत्त्व

हिन्दी में सम्बन्ध तत्त्व कई प्रकार के हैं।

हिन्दी मं क्रिया, कर्ता, कर्म आदि के स्थान निर्धारित हैं। उनके स्थान से ही सम्बन्ध का बोध हो जाता है। इसीलिए हिन्दी में शून्य सम्बन्ध तत्त्व का विकास हुआ है। राम रोटी खाता है वाक्य में कारकीय विभक्ति पर सर्ग नहीं हैं, फिर भी इनका सम्बन्ध स्थान के आधार पर निर्धारित हो जाता है। फिर भी ने को से का में पर परसर्गों का प्रयोग होता है।

धातु रूप और आज्ञार्थक क्रियाओं में बलाघात से सम्बन्ध का निर्धारण होता है। चल, पी, जा आदि की आज्ञार्थकता का बोध बलाघात से हो जाता है।

हिन्दी के बहुवचन में सम्बन्ध तत्त्व का अपूर्ण योग होता है। जैसे–घोड़ों (घोड़ा + ओं), किताबों (किताब + ओं)।

हिन्दी में सम्बन्ध तत्त्व के प्रश्लिष्ट योग भी होते हैं। जैसे कर से किया, दे दिया, ले से लिया, जा से गया। इसी प्रकार अपश्रुति के उदाहरण रूप में कुकर्म से कुकर्मी, बकरा से बकरी आदि को लिया जा सकता है।

नोट

अर्थ तत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व में अंतर

1. अर्थ तत्त्व से अभिप्राय 'उन तत्त्वों से है जो प्रतिमाओं के भावों की अभिव्यक्ति करते हैं (अर्थात् जो अर्थ अथवा विचार का उद्‌बोध कराते हैं)।

सम्बन्ध तत्त्व, भाषा के वे अंग हैं, जो इस प्रकार व्यक्त भावों में परस्पर सम्बन्ध की अभिव्यक्ति करते हैं। सम्बन्ध तत्त्व बुद्धि द्वारा स्थापित अर्थ तत्त्वों के परस्पर सम्बन्ध के द्योतक हैं।

2. अर्थ तत्त्व पूर्ण शब्द हैं। अर्थ तत्त्व में पारिवारिक बन्धन से प्रत्येक शब्द का अर्थ समाहित होता हैं अर्थ तत्त्व समयिक होता है, क्योंकि पद में अनेक अर्थ संश्लिष्ट होते हैं। जैसे बालक शब्द का अर्थ तत्त्व सामयिक होते हुए भी पूर्ण है।

सम्बन्ध तत्त्व रिक्त शब्द हैं। अधिकतर रिक्त श्ब्द पूर्ण शब्दों के विशिष्ट रूप होते हैं। अन्य शब्दों के साथ सम्बन्ध तत्त्व को रिक्त शब्दों के रूप में जोड़ा जाता है। इस दशा में उनका निजी अर्थ लुप्त हो जाता है। जैसे पठति में 'ति' रिक्त शब्द है।

3. अर्थ तत्त्व स्वतंत्र होता है। अनेकार्थी होने से उसके विविध प्रयोग होते हैं। एक प्रयोग में उसके अर्थ को नियंत्रित कर दिया जाता है। 'पद रचनात्मक तत्त्व कभी एक अर्थ तत्त्व की ओर तो कभी दूसरे अर्थ तत्त्व की ओर आकृष्ट होते हैं।

सम्बन्ध तत्त्व की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं होती। प्रत्यय (सफिक्स) तथा परप्रत्यय (एंडिंग) धातुओं में जोड़े जाते हैं। भारतीय भाषाओं में धातुओं से ही शब्द की प्रक्रिया होती है। धातु को प्रकृति या प्रातिपदिक इसीलिए कहा जाता है।

4. अर्थ तत्त्व का सम्बन्ध अक्षरों से होता है।

सम्बन्ध तत्त्व अधिकतर एक ध्वनि तत्त्व है, जिसका कार्य व्याकरणीय सम्बन्ध का द्योतन कराना है। वाक्य के अन्य शब्दों से अर्थ तत्त्व का सम्बन्ध बताने का कार्य सम्बन्ध तत्त्व से होता है।

पद-विभाग

वाक्य भाषा की वह इकाई है, जिससे भाव अथवा विचार अभिव्यक्त होते हैं। वाक्य पदों का संघटित रूप होता है–'पदसंघातजं वाक्यं वर्णसंघाजं पदम्।' वाक्यगत पदों के अनेक विभाग किये गए हैं।

पद-विभाग के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद हैं। पहला मतभेद है कि पद-विभाज्य हैं या अविभाज्य। दूसरा मतभेद पद-विभाग की संख्या को लेकर है। औदुम्बरायण शब्द की सत्ता उच्चारण की अवस्था तक ही मानते हैं–'इन्द्रिय नित्यं वचनमिति औदुम्बरायणः।' अतः उनके अनुसार शब्द या पद के विभाजन का प्रश्न ही नहीं है।

सर्वप्रथम यास्क ने निरुक्त में पद-विभाग का उल्लेख करते हुए कहा–'चत्वारि पदजातानि मानाख्याते उपसर्ग निपाताश्च।' अर्थात् पद के चार विभाग हैं, याम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। यास्क ने नाम और आख्यात अर्थात् संज्ञा और क्रिया को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। उपसर्ग निर्बद्ध अव्यय और निपात स्वतंत्र अव्यय हैं। स्पष्ट है कि नाम और आख्यात ही प्रधान पद-विभाग हैं। अव्यय को उन्होंने दो भागों–उपसर्ग और निपात में बाँट दिया। यास्क के पद-विभाग में उपसर्गवाचक न होकर द्योतक (प्रकाशक) हैं। अव्यय वह है जिसका व्यय न हो। अव्यय अपरिवर्तित रहता हैं उपसर्ग और निपात दोनों अव्यय हैं।

यास्क की तरह पतंजलि ने भी पद के चार विभाग किए हैं–नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। वाणी के स्वरूप की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है–

चत्वारि श्रृगा त्रयो अस्यपादा द्वै शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य।

त्रिधाबद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश॥

चत्वारि श्रृंगाणि-पदजातानि नामाख्यातोपर्संगनिपाश्च। त्रयोऽसस्य पादाः

–त्रयःकालाः भूतभविष्यद्‌वर्तमानाः। सप्तहस्तासो अस्य–सप्त विभक्तयः।

नोट

पाणिनि ने यास्क के दो प्रमुख भेदों– नाम और आख्यात को सुवन्त और तिङन्त नाम दिया–'सुप्तिङन्तं पदम्।' पदों का सुबन्त और तिङन्तं विभाजन मूलत: आकृतिमूलक है। 'धातु और प्रातिपदिक की सत्ता को वे आख्यात और नाम का मूल मान लेते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पाणिनि को भी नाम और आख्यात के रूप में पद का विभाजन स्वीकारा था। पाणनि ने उपसर्ग और निपात को अलग नहीं माना, क्योंकि शाकटायन ने पहले ही व्यवस्था दे दी थी कि उपसर्ग अपने आपमें सार्थक और अर्थबोध में समर्थ नहीं हैं– 'न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकदायन:।' उपसर्ग वाचक नहीं, द्योतक होते हैं। उपसर्ग नाम और आख्यात के साथ संयुक्त होकर ही अर्थ द्योतित या प्रकाशित करते हैं। इसलिए ये निर्बद्ध अव्यय हैं। निपात भी अव्यय ही हैं, किन्तु उनका प्रयोग स्वतन्त्र भी हो सकता हैं जैसे– इव, एव, अपि आदि।

पाणिनि ने उन विभक्तियों या अप्रत्ययों के आधार पर पदों को विभक्त किया, जिनके प्रयोग से शब्द में प्रयोग-योग्यता आती है। सुप् और तिङ् विभक्तियों के योग से शब्द प्रयोग-योग्य अर्थात् पद हो जाते हैं। अत: उन्होंने सुबन्त और तिङन्त को ही पद-भेद स्वीकार किया। सुप् विभक्ति से नाम पद और तिङ् से क्रिया पद की रचना होती है, ऐसा माना जाता है। अत: पाणिनि ने आकृति के आधार पर यद के दो भेद किये–सुबन्त और तिङन्त। तिङन्त अर्थात् आख्यात भाव-प्रधान होते हैं और सुबन्त अर्थात् नाम सत्त्व-प्रधान–'भावप्रधानमाख्यातं सत्व प्रधानानिं नामानि।'

भर्तृहरि ने पद-विभाग करने वाले आचार्यों के मतों की ओर संकेत करते हुए कहा है–'द्विधाकैश्चित् पदं भिन्नं चतुर्धा पंचधाऽपिवा। अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्य: प्रकृति प्रत्ययादिवत्।' अर्थात् पदों के विभेद दो से लेकर पाँच तक आचार्यों ने किए हैं।

नाम में 'सर्व' लगाने से सर्वानम हुआ। सर्वनाम अर्थात् वह नाम जो सबके लिए प्रयोग में आ सके। अत: सर्वनाम भी नामवत् ही हैं।' सर्वनाम जब स्वायत्त है, अथवा अवधारणा के लिए प्रयुक्त होता हैं तो उसका कार्य संज्ञा के समान होने से इसकी गणना संज्ञाओं की धारा में होनी चाहिए।' इसी प्रकार विशेषण की भी अलग सत्ता नहीं होती। इसका उद्देश्य संज्ञा की विशिष्टता बताना होता है। अत: संज्ञा से अलग उसकी सत्ता अकल्पनीय है। 'विशेषण का विशेष्य अर्थात् संज्ञा से प्राय: विभेद करना कठिन रहता है।' इसके अतिरिक्त सभी भाषाओं में संज्ञा के स्थान पर विशेषण और विशेषण के स्थान पर संज्ञा का प्रयोग होता है। अत: इसका समावेश संज्ञा नामक व्याकरणिक धारा में होना उचित है।

क्रिया व्यापार-प्रधान होती है। इसके चार विभाग होते हैं–क्रिया-विशेषण, सम्बन्धसूचक, विस्मयादिबोधक ओर अव्यय। इन सबको यास्क ने अव्यय के अंतर्गत रखा और उसके उपसर्ग ओर निपात दो वर्ग निर्धारित किए।

इस प्रकार अनेक मत-मतान्तर के बावजूद पाणिनि का पद-विभाजन सर्वमान्य हैं नाम और आख्यात सुबन्त और तिङन्त नाम के दो ही पद-विभाग मान्य हुए। शेष सभी का समाहार इनके अन्तर्गत हो जाता है।

अंगरेजी में आठ विभाग या पद-विभाग (Parts of speech) होते हैं। यह विभाजन लातिन के अनुसार ही है। अँगरेजी के आठ पद-विभाग इस प्रकार हैं– संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, क्रिया-विशेषण, सम्बन्धसूचक, समुच्चयबोधक, और विस्मयादिबोधक। अंगरेजी के आधार पर हिन्दी में भी आठ पद-विभाग कामता प्रसाद गुरु ने किये हैं। जैसा ऊपर दिखाया गया है, सर्वनाम और विशेषण का समाहार संज्ञा में हो जाता हैं औ शेष क्रिया के अंतर्गत आ जाते हैं।

इसलिए नाम और आख्यात को ही पद-विभाग स्वीकार किया गया है। प्राचीन वैयाकरणों और आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों ने नाम और आख्यात की सत्ता व्याकरणिक कोटियों में स्वीकार की हैं वान्द्रियैज का कथन है कि पदों को छाँटते चलने का यह क्रम यदि आगे बढ़ाया जाय तो अन्त में केवल दो शब्द-भेद रह जाते हैं–संज्ञा तथा क्रिया।

स्व-मूल्यांकन

दिए गए कथन के सामने सही (✓) अथवा गलत (×) का निशान लगाइए–

1. वर्णनात्मक रूप विज्ञान में किसी एक समय के रूप या पद का अध्ययन होता है। ☐
2. अर्थ के स्तर पर भाषा की लघुतम इकाई वाक्य है। ☐
3. पद और वाक्य का भेदक तत्त्व प्रत्यय विभक्ति है। ☐
4. विशेषण का उद्देश्य संज्ञा की विशिष्टता बताना होता है। ☐

व्याकरणिक कोटियाँ

भाषा की लघुतम इकाई वाक्य है। वाक्य में अनेक पद होते हैं। पद (शब्द) अर्थगर्भित होते हैं। प्रयुक्त पदों का विश्लेषण व्याकरण और कोश के आधार पर किया जाता हैं कोशार्थ से वस्तु या वस्तु के भाव का बोध होता है। जैसे कमल शब्द का अर्थ एक पुष्प-विशेष होगा। व्याकरण से पद की आकृति तथा चरना तत्त्व के योग से शब्द के स्वरूप और अर्थ का विश्लेषण होता है। हैलिडे का यह कथन ठीक नहीं है कि शब्द की आकृति का अध्ययन व्याकरण से और अर्थ का अध्ययन कोश से किया जाता है।

व्याकरणिक कोटियों से तात्पर्य व्याकरणिक मौलिक धारणाओं से है। व्याकरण शास्त्र में नाम, आख्यात, उपसर्ग निपात के अतिरिक्त जाति, व्यक्ति, समानाधिकरण, समवाय गुण द्रव्य, सम्बन्ध आदि भी व्याकरण की धारणा के अन्तर्गत परिगणित हैं।

वान्द्रियैज के अनुसार 'सम्बन्ध तत्त्वों द्वारा अभिव्यक्त भावों को व्याकरणात्मक धाराओं (ग्रैमेटिकल कैटेगरी) की संज्ञा दी जाती है।' उनके मत से लिंग, वचन, पुरुष, काल, वृत्ति (मूड), प्रश्न व निषेध, अन्योन्याश्रय सम्बन्ध, तादर्थ्य, करण आदि भाषा की व्याकरणिक धाराणाएँ हैं, इनमें कुछ सम्बन्ध तत्त्व भावों को व्यक्त करने में सहायक होते हैं। इससे यह निश्चय होता है कि भाषा की अभिव्यंजना में सूक्ष्मता और निश्चयात्मकता लाना ही व्याकरणिक कोटियों का मुख्य कार्य है। तात्पर्य कि सम्बन्ध तत्त्वों के संयोग से नाम औ आख्यात के लिंग, वचन, पुरुष, कारक, काल, वृत्ति आदि का बोध व्याकरणिक कोटियों से होता हैं

व्याकरणिक कोटियों के सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि प्रत्येक भाषा की रचना-पद्धति अलग होती हैं इसलिए प्रत्येक भाषा की व्याकरणिक कोटियाँ अलग-अलग होती हैं। संस्कृति की व्याकरणिक कोटियाँ चीनी भाषा पर लागू नहीं होंगी, क्योंकि दोनों की रचना-पद्धति में अन्तर है। अत: प्रत्येक भाषा की व्याकरणिक कोटियाँ उस भाषा की संरचना के अनुसार निर्मित होती हैं।

दूसरी बात यह कि व्याकरणिक कोटियाँ काल-सापेक्ष होती हैं। भाषा के विकास के साथ ही व्याकरणिक कोटियों में भी परिवर्तन होता हैं संस्कृत से पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, देशी भाषाओं और फिर हिन्दी का विकास हुआ है। इस विकास-क्रम में व्याकरणिक धारणाएँ भी बदल गयीं। संस्कृत में तीन लिंग थे। हिन्दी में दो ही रह गये। संस्कृत में तीन वचन हैं। हिन्दी में द्विवचन तिरोहित हो गया। संस्कृत में काम (टेंस) की अपेक्षा वृत्ति (Mood) की प्रधानता थी। हिन्दी में वृत्ति की धारणा समाप्त हो गयी है। इस प्रकार संस्कृत भाषा की व्याकरणिक धारणाएँ हिन्दी में परिवर्तित हो गयीं।। जब भाषा ही बदल गयी तो भाषा के व्याकरण की कोटि भी बदल गयी।

तीसरी बात यह है कि भाषिक संघटना के आधार पर व्याकरणिक कोटियों का निर्माण होता है। भाषा-प्रवाह के विश्लेषण की स्थति में ही व्याकरणिक कोटियों की रचना होती है। व्याकरणिक कोटियों की शास्त्रीय उपयोगिता यह है कि उससे भाषा का विवेचन और विश्लेषण किया जाता है। व्यावहारिक दृष्टि से उनसे नये शब्दों की रचना में सहायता मिलती है।

प्रत्येक भाषा का स्वतन्त्र अस्तित्व और व्यक्तित्व होता है। इसलिए व्याकरणिक कोटियाँ भी स्वतन्त्र और पृथक् अस्तित्व की होती हैं।

9.3 सारांश

वाक्यविज्ञान में वाक्य का विभिन्न दृष्टियों से अध्ययन किया जाता है। उसी प्रकार रूपविज्ञान या पदविज्ञान में 'रूप' या 'पद' का विभिन्न दृष्टियों से अध्ययन किया जाता है।

शब्दों के दो रूप हैं। एक तो शुद्ध रूप है या मूल रूप है जो कोश में मिलता है, और दूसरा वह रूप है जो किसी प्रकार के सम्बन्धतत्त्व से युक्त होता है। यह दूसरा, वाक्य में प्रयोग के योग्य रूप ही 'पद' या 'रूप' कहलाता है। संस्कृत में 'शब्द' या मूल रूप को 'प्रकृति' या 'प्रातिपदिक' कहा गया है और सम्बन्ध-स्थापन के लिए जोड़े जाने वाले तत्त्व को 'प्रत्यय'।

नोट

'पद' शब्द पर ही आधारित होते है, एकाक्षर परिवार की भाषाओं में शब्द की रचना का प्रश्न ही नहीं उठता। उनमें तो केवल एक ही इकाई होती है, जिसमें विकार कभी नहीं होता और जिसे धातु, शब्द या पद सब कुछ कह सकते हैं। कुछ प्रश्लिष्ट-योगात्मक 'पूर्ण' भाषाओं में पूरे वाक्य का ही शब्द बन जाता है, ऐस शब्दों पर भी यहाँ विचार नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनका रूप मात्र ही शब्द-सा है। वे असल में वाक्य ही हैं।

9.4 शब्दकोश

1. **द्योतक–** प्रकाश करने वाला, प्रकट करने वाला, व्यक्त करने वाला।
2. **विभक्ति–** विभाग, बाँट, अलगाव, पार्थक्य।

9.5 अभ्यास-प्रश्न

1. रूप विज्ञान किसे कहते हैं।
2. शब्द और उनकी रूप रचना पर एक लेख लिखिए।

उत्तरः स्व-मूल्यांकन

1. (✓)   2. (×)   3. (×)   4. (✓)

9.6 संदर्भ पुस्तकें

1. *भाषा विज्ञान–* डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, किताब महल, इलाहाबाद
2. *भाषा और भाषा विज्ञान–* गरिमा श्रीवास्तव, संजय प्रकाशन, दिल्ली
3. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा –* नरेश मिश्र, संजय प्रकाशन, दिल्ली
4. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा का स्वरूप–* विकास–देवेन्द्र प्रसाद सिंह, हिंदी बुक सेंटर, दिल्ली

इकाई 10: पद निर्माण पद्धति और उसके भेद

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- पद निर्माण प्रक्रिया को समझ सकेंगे।
- पद के भेदों से परिचित होंगे।

प्रस्तावना

शब्द और पद दोनों भाषा की महत्त्वपूर्ण इकाइयाँ हैं। शब्द की अपेक्षा पद भाषा की महत्तर इकाई है। आदि काल से लेकर वर्तमान समय तक शब्द को अधिक महत्त्व दिया जाता रहा है। सामान्य प्रयोग से भाषा-वैज्ञानिक चिंतन में भी शब्द को अधिक महत्त्व प्राप्त है। शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थों में होता है। शब्द का विस्तार सामान्य ध्वनि 'आ' से शुरू होकर ब्रह्म तक है। वैष्णव उपासना में ईश्वर को 'शब्दब्रह्म' कहा गया है। सामान्य जीवन में बात-चीत के लिए भी 'शब्द' का प्रयोग किया जाता है। "कोई शब्द कर रहा है" से बुलाने या बात-चीत की भावाभिव्यक्ति होती है। सामान्य रूप में शब्द और पद को पर्यायी मान लिया जाता है। वास्तविकता यह है कि शब्द और पद की अपनी विशेषताओं और सीमाओं के कारण दोनों में पर्याप्त भेद है।

भाषा-वैज्ञानिक परिभाषा के अनुसार, "भाषा की लघुत्तम स्वतंत्र, सार्थक और महत्त्वपूर्ण इकाई शब्द है," तो वाक्य में प्रयुक्त होने योग्य, व्याकरणिक क्षमता युक्त शब्द को पद कहते हैं। डॉ. भोलानाथ तिवारी ने पद को इस प्रकार परिभाषित किया है– "शब्द को वाक्य में प्रयुक्त होने के योग्य बना लेने पर उसे पद की संज्ञा दी जाती है।"

डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने संरचना को आधार बनाकर पद को इस प्रकार परिभाषित किया है– "कोई भी शब्द जब तक पद नहीं बन जाएगा, उसका प्रयोग नहीं हो सकता है। पद बनने के लिए शब्द में कुछ विशेष अर्थों के बोधक प्रत्यय लगाए जाते हैं। इनके लगाने पर वह शब्द प्रयोग के योग्य होता है।"

10.1 पद निर्माण प्रक्रिया

कभी-कभी शब्द अपने मूल रूप में बिना किसी व्याकरणिक परिवर्तन के वाक्य में प्रयुक्त होते हैं। ऐसे स्थिति में शब्द और पद की भिन्नता लगभग समाप्त हो जाती है; यथा– 'राजीव घर जाता है' में 'राजीव' और 'घर' दोनों ही पद शब्द रूप में दिखाई पड़ते हैं, किंतु विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि शब्द जब वाक्य में प्रयुक्त हो जाता है, तो पद

नोट

रूप पा लेता है। वाक्य में प्रयुक्त 'राजीव' और 'घर' दोनों ही पद हैं।

हिंदी तार-संप्रेषण में शब्दानुसार शुल्क लेने की बात कही जाती है, किंतु वास्तव में शुल्क लेने के लिए गणना पद के अनुरूप की जाती है; यथा-

"कौशल के लिए तार से रुपये भेज दें।" संदेश देना हो तो हिंदी तार संप्रेषण के निर्देशानुसार इसे इस प्रकार लिखना होगा-

"कौशल के लिए तारसे रुपये भेज दो"

ऐसा लेखन पदानुसार है और चार पद बनते हैं। इसमें चार शब्दों का ही शुल्क लिया जाएगा।

व्यवहारिक दृष्टि से यत्र-तत्र शब्द और पद में समानार्थी भाव हो सकता है, किंतु भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से दोनों में पर्याप्त अंतर है। शब्द स्वतंत्र और सार्थक इकाई है। इसके लिए वाक्य-संदर्भ की आवश्यकता नहीं होती है; यथा-'रवि' एक शब्द है, जिसके पर्यायी शब्द या अर्थ है- सूर्य, दिनकर, दिनपति, भानु और भास्कर आदि। इस प्रकार 'रवि' शब्द के अर्थ-ज्ञान के लिए सामान्यत: वाक्य-संदर्भ खोजने की अनिवार्यता नहीं है। पद, वाक्य में प्रयुक्त व्याकरणिक योग्यता प्राप्त इकाई है। इसके लिए वाक्य-संदर्भ को अनिवार्यता होती है। पद का अर्थ वाक्य संदर्भ से ही ज्ञात होता है; यथा-'मधुर के लिए' पद का अर्थ जानने हेतु वाक्य-संदर्भ का आधार अनिवार्य है। जब तक इस पद को वाक्य के अन्य पदों के साथ प्रयुक्त नहीं किया जाएगा तब तक अर्थ जानने की इच्छा होगी, किंतु अर्थाभास संभव नहीं होगा; यथ- "मधुर के लिए ....।" जब इस पद के साथ वाक्य के अन्य पदों का समायोजन किया जाएगा, मधुर के लिए एक घड़ी लाया हूँ, तो अर्थ स्पष्ट हो जाएगा। शब्द के स्वतंत्र और पद के वाक्याश्रित होने का सबल प्रमाण यह है कि शब्दकोश में शब्द की व्युत्पत्ति के साथ विविध अर्थ दिए जाते हैं, जबकि पदकोश की रचना उतनी आवश्यक नहीं और इसमें पद की संरचना और प्रयुक्ति पर विचार होता है।

संस्कृत में भी शब्द और पद की रूप भिन्नता को स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। संस्कृत में शब्द के शुद्ध रूप को प्रातिपादिक नाम दिया जाता है। विभिन्न पदों में उससे संबंधित मूल शब्द विद्यमान होता है; यथा-पठ् से बनने वाले पठति, पठत: पठन्ति आदि पदों में पठ् की स्थिति स्पष्ट है। संस्कृत के मूल शब्द अर्थात् प्रातिपादिक लता, दिनेश, देव आदि से जब रूप बनाते हैं, तो उन्हें पद की ही संज्ञा दी जाती है। जब कोई बालक कहता है, "मुझे राम का रूप याद है" तो इसमें राम मूल और शुद्ध शब्द प्रातिपादिक है और 'रूप' का अर्थ विभिन्न पदों से संबंधित है। 'दिनेश' शब्द के रूप बनाएँ, तो तीनों वचनों की सभी विभक्तियों के आधार पर इक्कीस पद बन जाते हैं-

	एकवचन	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथमा	दिनेश:	दिनेशौ	दिनेशा:
द्वितीया	दिनेशम्	दिनेशौ	निदेशान्
....	....	....	....
संबोधन	हे दिनेश:	हे दिनेशौ	हे दिनेशा:

नाम शब्दों के ही समान धातु से भी क्रिया के पदों की रचना होती है। क्रिया की पद रचना विभिन्न प्रत्ययों के आधार पर होती है। धातु का मूल रूप पद में विद्यमान रहता है। पठ् धातु के आधार पर लृट्-लकार और भविष्यत् काल में बनने वाले रूप इस प्रकार हैं-

	एकवचन	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथम पुरुष	पठिष्यति	पठिष्यत:	पठिष्यन्ति
मध्यम पुरुष	पठिष्यसि	पठिष्यथ:	पठिष्यथ
उत्तम पुरुष	पठिष्यामि	पठिष्याव:	पठिष्याम:

संस्कृत की नाम एवं धातु शब्दावली की पद-रचना इसी प्रकार होती है। हिंदी में एकवचन और बहुवचन अर्थात् मात्र दो वचनों की व्याकरणिक व्यवस्था से पद-रचना अपेक्षाकृत सरल और सीमित है।

नोट

संज्ञा शब्द 'कमल' लें, तो इससे कमल ने, कमल को, कमल से, कमल के लिए, कमल का, कमल में आदि पदों की रचना संभव होगी।

यदि 'जाना' क्रिया शब्द से पद बनाएँ तो-जाता है, जा रहा है, जा रही है, जा रही हैं, जा रहे हैं, जाता था, जा रहा था, जा रही थी, जा रहे थे, जाएँगे, जाऊँगा, जाओगे, जा रहे होंगे, जा रहा होगा आदि विभिन्न पदों की रचना संभावित है। इसमें एक मूल क्रिया जाना का प्रयोग अनिवार्य है। मूल क्रिया के साथ एक या एकाधिक सहायक क्रियाओं का प्रयोग संभावित है, जा रहा है, में जा (जाना) मूल क्रिया है और 'रहा' एवं 'है' सहायक क्रियाओं का प्रयोग हुआ है।

हिंदी अश्लिष्ट वियोगात्मक भाषा है, इसलिए इसके विभिन्न पदांश अलग-अलग प्रयुक्त होते हैं। संस्कृत में विभिन्न पदांश को श्लिष्ट रूप में लिखा जाता है; यथा-

वृक्षात् पत्राणि पतन्ति। **–संस्कृत**

वृक्ष से पत्ते गिरते हैं। **–हिंदी**

निश्चय ही शब्द और पद भाषा की महत्त्वपूर्ण इकाइयाँ हैं, जिनकी रचना में ध्वनि और अक्षरों का योगदान होता है। शब्द भाषा की स्वतंत्र और सार्थक इकाई है, जिस प्रकार व्यक्ति समाज का महत्त्वपूर्ण अंग है। समाज में जो महत्त्व व्यक्ति का है, भाषा में वही महत्त्व शब्द का है। व्यक्ति जब परिवार रूपी सामाजिक इकाई से जुड़ जाता है तो वह पुत्र, पिता या अन्य किसी न किसी पद से जुड़ जाता है। ठीक इसी प्रकार शब्द जब वाक्य में स्थान पा लेता है, तो उसमें व्याकरणिक योग्यता आ जाती है और पद बन जाता है। शब्द प्रत्येक दृष्टि में पद से लघुतर इकाई है, किंतु दोनों का अपना महत्त्व है।

नोट्स समाज में जो महत्त्व व्यक्ति का है, भाषा में वही महत्त्व शब्द का है। व्यक्ति जब परिवार रूपी सामाजिक इकाई से जुड़ जाता है। तो वह पुत्र, पिता या अन्य किसी पद से जुड़ जाता है। ठीक इसी प्रकार शब्द जब वाक्य में स्थान पा लेता है, तो उसमें व्याकारणिक योग्यता आ जाती है।

10.2 पद के भेद

अंग्रेजी में parts of speech (पद-भाग) के अन्तर्गत विकारी और अविकारी शब्दों का वर्गीकरण किया गया है और इसके आठ भेद बताए हैं।

संज्ञा शब्द-संज्ञा का अर्थ है नाम और नाम होता है द्रव्य का। अत: द्रव्य का नाम संज्ञा है। यह चेतन-अचेतन जग द्रव्यमाय है। इसमें किसी वस्तु, विचार, भाव, क्रिया आदि की पृथक सत्ता बताने के लिए जिन नामों का प्रयोग किया जाता है, वे संज्ञाशब्द हैं। दिल्ली, सतलुज, हिमालय, चाल, हँसी, समझ आदि संज्ञाएँ हैं। संज्ञा शब्द तीन भागों में वर्गीकृत किये जाते हैं-

व्यक्तिवाचक संज्ञा-व्यक्ति का अर्थ है-एक/विशेष/व्यष्टि। जिस शब्द से विशेष नाम का बोध हो, वह व्यक्तिवाचक संज्ञा होती है। यमुना, सुदर्शन, मुम्बई आदि विशिष्ट नाम हैं, अत: ये शब्द व्यक्तिवाचक संज्ञा हैं।

जातिवाचक संज्ञा-जाति का अर्थ है-सामान्य/समष्टि। जिस शब्द से सामान्य नाम का बोध हो, वह जातिवाचक संज्ञा है। नदी शब्द संज्ञा है। नदी से गंगा, यमुना, सतलुज, रावी आदि सैंकड़ों नदियों का सामान्य बोध होता है, किसी नदी का विशेष बोध नहीं। अत: नदी जातिवाचक संज्ञा है। सामान्य शब्द का सीधा-सा अर्थ है, समान भाव से रहने वाली सत्ता। गंगा आदि में नदी होने की सत्ता, समान रूप से विद्यमान है।

भाववाचक संज्ञा-भाव का अर्थ है-अवस्था, दशा, ढंग, चित्तवृत्ति, विद्यमानता का बोध। इन भावों का बोध कराने वाली संज्ञाएँ भाववाचक संज्ञाएँ हैं। बचपन, यौवन, कमजोरी, निर्धनता, चतुराई, चाल, क्रोध, प्रेम, क्षमा, मनुष्यत्व

नोट

आदि शब्द भाववाचक संज्ञाएँ हैं। भाववाचक संज्ञाओं का निर्माण जातिवाचक संज्ञाओं, सर्वनामों, धातुओं और अव्ययों से होता है। जैसे-पशु > पशुता, सज्जन > सज्जनता, धिक > धिक्कार, मनाह > मनाही, तथा > तथ्य।

क्या आप जानते हैं हिंदी में दो वचनों– एक वचन, बहुवचन के कारण संस्कृत की अपेक्षा व्याकरणिक व्यवस्था से पदरचना अपेक्षाकृत सरल और सीमित है।

सर्वनाम

संस्कृत व्याकरण में सर्व, यद्, तद्, अस्मद्, युष्मद आदि कई शब्दों की एक सूचि है जिसमें सर्व पहला शब्द है। पाणिनिकृत अष्टाध्यायी में एक सूत्र है-सर्वादीनि सर्वनामानि अर्थात् जिस शब्द-समूह का पहला शब्द सर्व है, उस समूह में एकत्र शब्द सर्वनाम कहे जाएँगे। इन सर्वनाम शब्दों का प्रयोग प्रातिपदिकों के समान किया जाता है। अर्थात् इनमें लिंग, वचन एवं विभक्ति अनुसार कार्य होते हैं। संज्ञा शब्दों के प्रयोग की आवृत्ति कम करने के लिए सर्वनामों का प्रयोग किया जाता है। इससे वाक्य संरचना में सहजता आती है। यथा-राम घर आया। राम ने भोजन किया। राम विश्राम के लिए लेट गया। इन वाक्यों में राम (संज्ञा पद) की आवृति से कथन की सहजता घट गई है, अतः सर्वनामों के प्रयोग से इसे सुन्दर बनाने का प्रयास किया जाता है-राम घर आया। उसने भोजन किया। वह विश्राम के लिए लेट गया। हिन्दी में सर्वनाम शब्दों की संख्या कम है और वे संस्कृत सर्वनामों के तद्भव रूप हैं। यथा - अहम् > मैं, त्वम् > तू, भवत् > आप,सः > सो वह, अयम् > यह, कः > कौन, किम् > क्या, यः > जो, (कश्चित्) > कोई, कतिचित् > कुछ।

सर्वनाम शब्दों में 'मैं' **उत्तम पुरुष** है। इस सर्वनाम शब्द का प्रयोग अपने लिए करता है। यथा-विपिन ने कहा, "मैं घर जा रहा हूँ।" यहाँ मैं सर्वनाम का प्रयोग, वक्ता अपने लिए कर रहा है।

'तू' शब्द **मध्यम पुरुष** है। इस सर्वनाम शब्द का प्रयोग श्रोता के लिए होता है यथा - संगीता ने निक्की से पूछा, "तुमने पाठ लिख लिया?" यहाँ 'तुम' शब्द का प्रयोग, श्रोता निक्की के लिए है। आप शब्द भी मध्यम पुरुष है-आप क्या कर रहे हैं?

वह, यह, कौन, क्या, कोई, कुछ, जो, सो शब्द अन्य पुरुष हैं। इन सर्वनामों का प्रयोग न वक्ता के लिए और नहीं श्रोता के लिए किया जाता है, अपितु जिसके विषय में कुछ कहा जाए, के लिए व्यवहार होता है। यथा-

मैंने पूछा-वह कौन था?

देव ने कहा-यह अच्छा नहीं।

वहाँ कौन खड़ा था?

तुमने मेले में क्या देखा?

कोई बैठा था, कोई खेल रहा था।

कोई कुछ करे, मुझे क्या?

जो करेगा, सो भरेगा।

यहाँ यह, वह, कौन, क्या, कोई, कुछ, जो, सो, शब्दों का प्रयोग वक्ता न अपने लिए करता है, न श्रोता के लिए। इन दोनों से भिन्न, अन्य पुरुष के लिए शब्दों का प्रयोग है। अन्य पुरुष के बोधक वह, यह से निश्चयात्मक बोध होता है, अतः इन्हें **निश्चयवाचक सर्वनाम** कहते हैं। यथा-वह बाजार गया। यह यहीं बैठा है। कोई, कुछ शब्द अनश्चियात्मक है, अतः ये **अनिश्चयवाचक सर्वनाम** हैं। यथा वहाँ कोई था। इसे कुछ दे दो। कौन था, क्या देदें, निश्चयात्मक कथन नहीं है। जो, सो सर्वनाम **सम्बन्धवाचक** हैं। जैसे-जो करेगा सो भरेगा। कौन, क्या सर्वनाम प्रश्न का बोध कराते हैं, अतः प्रश्नवाचक सर्वनाम हैं। यथा-कौन गा रहा है? वहाँ क्या देखा?

नोट

आप शब्द वैसे तो मध्यम पुरुष है, परन्तु इसका प्रयोग तीनों पुरुषों में देखा जाता है।

उसने कहा–मैं अपने आप चला जाऊँगा।

तुम यह काम आप करो।

वे अपने आप सोचेंगे।

'अपने आप' और 'स्वयं' शब्द भी 'आप' शब्द के बोधक हैं। कुछ लोग इन्हें **निजवाचक सर्वनाम** भी कह देते हैं।

विशेषण

संज्ञा अथवा सर्वनम शब्दों की विशेषता बताने वाले शब्द विशेषण कहलाते हैं। जैसे–लाल, काला, अच्छा, बुरा, छोटा, बड़ा इत्यादि। विशेषण के निम्नलिखित भेद हैं–

गुणवाचक विशेषण–जिस विशेषण शब्द से संज्ञा शब्द के गुण, दोष, स्वभाव, दशा, रंग, स्थान, काल, सम्बन्ध आदि का बोध हो, गुणवाचक विशेषण है। जैसे–

गुण – सच्चा, अच्छा, भला, दानी, **उदार**, सरल, महान्।

दोष – झूठा, बुरा, अनुचित, पापी, दुष्ट, घटिया, कंजूस, पागल, लंगड़ा, बहरा, मूर्ख, गन्दा, पापी।

दशा – मोटा, पतला, भारी हल्का, गीला, सूखा, गरीब, अमीर, रोगी।

आकार – गोल, चपटा, षट्कोण, समान, नुकीला, लम्बा, चौड़ा सीधा, तिरछा, तिकोना।,

रंग – लाल, काला, पीला, नीला, चमकीला, सुनहरा, फिरोजी।

स्थान – चौरस, उजाड़, सतही, क्षेत्रीय, भीतरी, बाहरी।

काल – वर्तमान, भूत, भविष्य, प्राचीन, अर्वाचीन, आधुनिक, नूतन, नया, पुराना।

सम्बन्ध – शारीरिक, कश्मीरी, बंगाली, कण्टस्थ, तालव्य, भारतीय, प्रादेशिक, चीनी, तिब्बती।

संख्यावाचक विशेषण–संज्ञा या सर्वनाम की संख्या का बोध कराने वाले विशेषण शब्द संख्यावाचक विशेषण है। यथा–चार हिरन भाग गए।

तीन दिन से वर्षा हो रही है। कुछ लोग अधिक बुद्धिमान् होते है।

यहाँ 'चार, तीन, कुछ' शब्द संख्याबोधक हैं। चार और तीन से निश्चित संख्या ज्ञात होती है, परन्तु 'कुछ' शब्द अनिश्चयात्मक है। संख्या भी कई प्रकार की हो सकती है। यथा–

गणना – एक, चार, पन्द्रह, सौ इत्यादि।

क्रम – पहला, दूसरा, आठवाँ, उन्नीसवाँ, पचासवाँ इत्यादि।

समुदाय – चारों, पाँचों, आठों इत्यादि।

समुच्चय – युग्म, पच्चीसी, बत्तीसी, चालीसा, सतुसई।

आवृति – दुगुना, चार गुणा, नौगुना इत्यादि।

प्रत्येक – प्रत्येक, हरएक, हर।

परिमाणबोधक विशेषाण–संज्ञा या सर्वनाम की मात्रा (नाप-तोल) का बोध कराने वाले शब्द परिमाणवाचक विशेषण है। जैसे–दो लीटर दूध। चार मीटर कपड़ा। दो किलो घी। कुछ मिठाई। नाप और तोल के बोधक विशेषण निश्चित मात्रा भी बताते हैं और अनिश्चित भी।

सार्वनामिक/संकेतवाचक विशेषण–कुछ सर्वनाम शब्द, विशेषण के रूप में प्रयुक्त होते हैं। संज्ञा शब्दों का संकेत करने के कारण उन्हें संकेतवाचक विशेषण कहा जाता है। यथा–

वह बालक कहाँ चला गया?

कोई पुस्तक ले आओ?

नोट

यह कपड़ा कहाँ से खरीदा?

कौन आदमी आया है?

इन वाक्यों में 'वह, कोई, यह, कौन' शब्दों का प्रयोग संज्ञा शब्दों के संकेतक के रूप में है। यद्यपि ये शब्द सर्वनाम हैं, परन्तु इनका प्रयोग विशेषण की तरह हुआ है अत: यहाँ, से संकेतवाचक सार्वनामिक विशेषण है। सार्वनामिक विशेषणों में निश्चयवाचक, अनिश्चयवाचक, प्रश्नवाचक और सम्बन्धवाचक सर्वनाम शब्दों का प्रयोग किया जाता है-

क्या यह कलम तुम्हारी है? (यह, निश्चयवाचक)

कोई सज्जन आए हैं? (कोई, अनिश्चयवाचक)

आप क्या चीज लेंगे? (क्या, प्रश्नवाचक)

जो बालक कल आया था, वह (बालक) बाहर खड़ा है। (जो-वह सम्बन्धवाचक)

प्रविशेषण/अन्तर्विशेषण-हिन्दी में कुछ विशेषण शब्द, विशेषणों की विशिष्टता प्रकट करते हैं। इन्हें प्रविशेषण या अन्तर्विशेषण कहा जाता है। यथा-

वह बहुत तेज दौड़ता है।

बालक ने बड़े धैर्य से काम लिया।

कुछ सैनिक अत्यधिक साहसी होते हैं।

उद्यान अति सुन्दर था।

इन वाक्यों में बहुत, बड़े, अत्यधिक और अति शब्दों का प्रयोग, प्रविशेषण रूप में है। बहुत, बहु अधिक, अत्यधिक, अत्यन्त, बड़ा, खूब, बिल्कुल, थोड़ा, कम, ठीक, पूर्ण, लगभग आदि प्रचलित प्रविशेषण हैं।

विशेषण शब्दों की रचना

कुछ शब्द मूल रूप में विशेषण होते हैं, जैसे-निपुण, सुन्दर, अच्छा आदि। कुछ विशेषणों की रचना प्रत्ययों के समायोजन से हाती है, जैसे-

संज्ञा से - बनारसी, कश्मीरी, घरेलू, शारीरिक, भौतिक, ऐतिहासिक, इत्यादि।

सर्वनाम से - इतना, उतना, जितना, कितना, ऐसा, वैसा, कैसा इत्यादि।

क्रिया से - चालू, भुलक्कड़, अकड़ू, लड़ाकू, ग्राह्य, देय, कारक, इत्यादि।

अव्यय से - बाहरी, ऊपरी इत्यादि।

प्रातिपदिकों के सम्बन्धवाची रूप - मेरा घर, मोहन का घर।

कृदन्त रूप - बहता हुआ, चलता हुआ, पढता हुआ।

सादृश्यवाची - मोहन-सा, मोहन जैसा।

विशेषण शब्दों के रूप

विशेषण शब्दों के रूप, संज्ञा शब्दों के रूपों से मिलते हैं। दोनों में रूपावली का आधार लिंग, वचन और ध्वन्यात्मक स्वरूप (अकारान्त, इकारान्त इत्यादि) है। रूपावली विभक्ति, मूल (परसर्ग रहित) तथा तिर्यक् (परसर्ग सहित) दोनों रूपों में चलती है। उदाहरणत:

पुल्लिंग आकारान्त

विभक्ति	**एकवचन**	**बहुवचन**
मूल (परसर्ग रहित)	अच्छा (लड़का)	अच्छे (लड़के)
तिर्यक् (परसर्ग रहित) अच्छे	(लड़के को)	(अच्छे लड़कों को)

नोट

	पुल्लिंग अकारान्त	
मूल	सुन्दर (घर)	सुन्दर (घर)
तिर्यक्	सुन्दर (घर)	सुन्दर (घरों में)
	स्त्रीलिंग विशेषण	
मूल	अच्छी (लड़की)	अच्छी (लड़कियाँ)
	सुन्दर (लड़की)	सुन्दर (लड़कियाँ)
तिर्यक्	अच्छी (लड़की ने)	अच्छी (लड़कियों ने)
	सुन्दर (लड़की ने)	सुन्दर (लड़कियों ने)

यहाँ ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि पुल्लिंग आकारान्त विशेषणों में ही मूल रूप अच्छा, बड़ा, मोटा आदि तिर्यक् रूपों अच्छे, बड़े, मोटे आदि में बदलता है, अन्यथा विशेषणों के मूलरूपों में कोई परिवर्तन नहीं होता। अत: विशेषणों के केवल आकारान्त पुल्लिंग में मूल विभक्ति एकवचन के अतिरिक्त सर्वत्र 'ए' लगाकर, पद में प्रयुक्त करें, शेष वर्गों के विशेषणों का प्रयोग ज्यों का त्यों कीजिए।

आकारान्त विशेषण के स्त्रीलिंग रूप, ई लगाकर बनते हैं-अच्छा > अच्छी, बड़ा > बड़ी, मोटा > मोटी। किन्तु कुछ फारसी विशेषण तथा इया प्रत्यय वाले शब्द, उर्दू शैली में स्त्रीलिंग रूप प्राप्त नहीं करते अर्थात् उनमें ई नहीं लगती। जैसे ताजा रोटी, बढ़िया रोटी, घटिया रोटी, उमदा रोटी, ज्यादा रोटी। यहाँ विशेषण शब्दों में 'ई' प्रत्यय नहीं जोड़ा जाता।

विशेषणों का संज्ञावत् प्रयोग

विशेषणों का प्रयोग संज्ञा की तरह भी मिलता है। यथा-'बड़ों के बीच में नहीं बोलना चाहिए।' इस वाक्य में 'बड़ों' विशेषण, बड़े आदमियों का बोधक है। इसी प्रकार 'अमीरों और गरीबों में अन्तर बढ़ता जा रहा है।' यहाँ 'अमीरों और गरीबों' विशेषणों का प्रयोग 'अमीर लोगों' और 'गरीब लोगों' के लिए है। परन्तु ध्यातव्य है कि जब विशेषण का प्रयोग संज्ञावत् हो तो उसमें परसर्गों का प्रयोग संज्ञा के समान ही होगा। यथा-इन छोटों को भी देखिए दुष्टों पर दया की जरूरत नहीं।

उद्देश्य और विधेय में विशेषण-विशेषता बताने वाला शब्द विशेषण है और वह जिस संज्ञा की विशेषता बताता है, वह संज्ञा शब्द विशेष्य है। जब विशेषण, उद्देश्य में विशेष्य के साथ प्रयुक्त हो तो वह उद्देश्य का अंग है, यथा-काला हिरन भाग रहा है। इस वाक्य में 'काला हिरन' उद्देश्य है, अत: 'काला' (विशेषण) उद्देश्य का अंग है। जब विशेषण, विधेय में विशष्य के साथ प्रयुक्त हो तो वह विधेय का अंग है। यथा-उसने लाल घोड़ा खरीदा। इस वाक्य में 'लाल घोड़ा खरीदा' विधेय है, अत: 'लाल' विशेषण शब्द, विधेय का अंग है। परन्तु विशेषणों का एक भिन्न प्रयोग भी होता है। यह फूल कितना सुन्दर है। इस वाक्य में 'सुन्दर' शब्द विशेषण है और इसका सम्बन्ध फूल (उद्देश्य) से है, किन्तु वाक्य के विधेय भाग में स्थिति होने के कारण, विधेय विशेषण है। ये विधेय विशेषण, वाक्य के विधेय अंश में क्रिया होने के ठीक पहले आते हैं। फिर भी इनकी अन्विति विशेष्य के साथ होती है-

यह बकरी कितनी मोटी है। इस वाक्य में 'कितनी मोटी' प्रविशेषण तथा विशेषण हैं और विधेय का अंश है, परन्तु इनके लिंग/वचन, विभक्ति की दृष्टि (अन्विति) विशेष्य 'बकरी' के अनुसार है।

विशेषणों में तुलना का प्रयोग

विशेषण, विशेष्य की विशेषता बताता है। इस विशेषता की मात्रा कम या अधिक भी हो सकती है। ऐसी स्थिति में विशेषण, तुलना की अभिव्यक्ति में भी योगदान करते हैं। तुलना की तीन अवस्थाएँ हो वसकती हैं-

मूलावस्था-जब केवल एक संज्ञापद की विशेषता का कथन हो तो विशेषण का प्रयोग, मूलावस्था है। इसमें विशेषता का सामान्य कथनमात्र होता है। यथा-

नोट

यह केला मीठा है।

वह बुद्धिमान बालक है।

उत्तरावस्था-जहाँ दो संज्ञा पदों की विशेषता की तुलना हो, वहाँ विशेषण शब्द उत्तरावस्था में प्रयुक्त होता है। इसके अन्तर्गत दो विशेष्यों में, एक-दूसरे से बढकर या घटकर विशेषता का कथन किया जाता हैं। जैसे-

वह तुमसे बलवान है।

यह गाड़ी, तुम्हारी गाड़ी की अपेक्षा मूल्यवान है।

मेरा तोता, तुम्हारे तोते की अपेक्षा अधिक साफ बोलता है।

उत्तमावस्था-जहाँ दो से अधिक विशेष्यों में एक को सबसे अच्छा या हीन व्यक्त किया जाए तो विशेषण का प्रयोग उत्तमावस्था में होता है। इसे निर्धारण भी कहते हैं। जैसे-

इन बच्चों में श्याम सबसे बलवान है।

पशुओं में हाथी सबसे ताकतवर होता है।

सभी पक्षियों में हंस सर्वाधिक सुन्दर है।

तत्सम शब्दों में विशेषण की अवस्थाएँ प्रदर्शित करने के लिए प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है। विशेषण की मूलावस्था सामान्य रहती है, परन्तु तुलनावस्था के लिए तर तथा उत्तरावस्था के लिए तम प्रत्यय जोड़ते हैं। हिन्दी में प्रचलित कुछ संस्कृत शब्दा के उदाहरण प्रस्तुत हैं-

मूलावस्था	**उत्तरावस्था**	**उत्तमावस्था**
लघु	लघुतर	लघुतम
दीर्घ	दीर्घतर	दीर्घतम
निकट	निकटतर	निकटतम
महान्	महत्तर	महत्तम
अधिक	अधिकतर	अधिकतम
उच्च	उच्चतर	उच्चतम

कुछ संस्कृत शब्दों में तर, तम के स्थान पर ईयस् और इष्ठ प्रत्यय जोड़े जाते हैं-गुरु, गरीयस्, गरिष्ठा। परन्तु हिन्दी में ईयस प्रत्यय वाले तुलनात्मक विशेषणों का प्रचलन नहीं रहा। कुछ शब्द उत्तमावस्था में इष्ठ प्रत्यय से युक्त मिलते हैं-बलिष्ठ, ज्येष्ठ, कनिष्ठ, वरिष्ठ इत्यादि। श्रेष्ठ शब्द उत्तमावस्था का द्योतक है, किन्तु हिन्दी में कभी-कभी श्रेष्ठतर और श्रेष्ठतम शब्दों का भी प्रयोग होता है। फारसी तुलनापरक शब्द हिन्दी की उर्दू शैली में मिलते है। जैसे-बेहतर, बेहतरीन, बद, बदतर इत्यादि।

क्रिया

भाषा में प्रातिपदिकों के बाद महत्त्वपूर्ण क्रियापद हैं। चलता है, चल रहा है, चला, चला था, चलो, चलेगा इत्यादि क्रियापद हैं। इन पदों में एक मूल शब्द है-चल्। इस चल् शब्द से अनेक क्रियापद बन गए। यह **मूल क्रियापद धातु कहलाता है।** पढ, उठ, हँस, जा, खेल आदि शब्द धातु हैं।

धातुओं में 'ना' प्रत्यय जोड़कर 'क्रिया का सामान्य रूप' बनाया जाता है, जैसे-पढना, उठना, हँसना, जाना, खेलना इत्यादि।

धातु के भेद-धातु के निम्नलिखित मुख्य भेद हैं-

रूढ धातु-भाषा में धातुएँ रूढ शब्दों के रूप में प्रचलित हैं। इन्हें मूल धातु या रूढधातु कहते हैं। जैसे-सो, लिख, देख, सुन इत्यादि। ये सरल धातु भी कही जाती है क्योंकि ये यौगिक या व्युत्पन्न नहीं हैं।

व्युत्पन्न धातु-रूढ धातु में प्रत्यय लगाकर अन्य रूप में परिवर्तन करने से व्युत्पन्न धातु बनती है। जैसे-पी > पिला, कर > करवा, देख > दिखा, खोल > खुल, पीट > पिट, फाड़ > फट, बेच > बिक इत्यादि। रूढधातु अकर्मक

नोट

होती है या सकर्मक। अकर्मक धातुओं के सकर्मक या प्ररणार्थक रूप, व्युत्पन्न धातुएँ हैं। इसके विपरीत रूढ सकर्मक धातु से बनी अकर्मक धातु भी व्युत्पन्न धातु है। यथा–

रूढ धातु	सामान्य रूप (सकर्मक)	प्रेरणार्थक रूप (व्युत्पन्न)	अकर्मक रूप (व्युत्पन्न)
पी	पीना	पिलाना	पिलवाना
दे	देना	दिलाना	दिलवाना
काट	काटना	कटवाना	कटना
देख	देखना	दिखाना	दिखना

रूढ धातु	अकर्मक रूप	सकर्मक रूप	प्रेरणार्थक रूप
रो	रोना	रुलाना	रुलवाना
सो	सोना	सुलाना	सुलवाना

नाम धातु–संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण शब्दों के साथ प्रत्यय लगाकर जो धातु बनती हैं, उन्हें नामधातु कहते हैं। यहाँ मुख्य प्रत्यय आ है। यथा–

संज्ञा शब्द–	लालच	ललचा	ललचाना
	शर्म	शर्मा	शर्माना
	लाज	लजा	लजाना
	टक्कर	टकरा	टकराना
	फिल्म	फिल्मा	फिल्माना
विशेषण शब्द–	चिकना	चिकना	चिकनाना
	गर्म	गर्मा	गर्माना
	साठ	सठिया	सठियाना
	लंगड़ा	लंगड़ा	लंगड़ाना
	दुहरा	दुहरा	दुहराना
सर्वनाम शब्द–	अपना	अपना	अपनाना

सम्मिश्र धातु–कुछ संज्ञा, विशेषण और क्रियाविशेषण शब्दों के बाद करना/होना आदि के संयोग से धातुएँ बनती हैं, इन्हें सम्मिश्र धातु कहते हैं। जैसे–

काम करना, काम होना, दर्शन करना, दर्शन होना।

कष्ट देना, उधार देना, सलाह देना, धन्यवाद देना।

मार खाना, धक्के खाना, रिश्वत खाना, हवा खाना।

गोता मारना, झपट्टा मारना, डींग मारना, झूठ मारना।

नजर आना, याद आना, पसन्द आना, दया आना, काम आना।

अनुकरणात्मक धातु–किसी ध्वनि के अनुकरण पर बनी धातुएँ, अनुकरणात्मक धातु होती हैं। जैसे–भनभन > भनभनाना, टनटन > टनटनाना, हिनहिन > हिनहिनाना, खटखट > खटखटाना। खटकना, पटकना, चटकना, धसकना आदि **अनुकरणात्मक** धातु हैं। आ अथवा क प्रत्यय जोड़ने से इन धातुओं का निर्माण होता है। भनभन > भनभना, खट > खटक, पट > पटक।

क्रिया के प्रकार–क्रिया दो प्रकार की होती है। जिस क्रिया के प्रयोग में, कर्म की आवश्यकता नहीं होती, उसे अकर्मक क्रिया कहते हैं। वह दौड़ता है, सूर्य चमकता है, बालक सोता है, वाक्यों में अकर्मक क्रियाओं का प्रयोग है। दौड़ना, हँसना, रोना, उठना, जाना, आना आदि अकर्मक क्रियाएँ हैं। अकर्मक क्रिया के प्रयोग में क्रिया के परिणाम या फल या प्रभाव का पात्र कर्ता होता है।

नोट

सकर्मक क्रिया के प्रयोग में कर्म की आवश्यकता होती है। पढना, लिखना, देखना, खाना, पीना आदि सकर्मक क्रियाएँ हैं। यदि वाक्य में कर्म न हो तो भी वह अनुमानित हो जाता है। यथा-वह पुस्तक पढता है।

वह देख रहा है। उसने पानी पीया।

सकर्मक क्रिया, कर्म के बिना, उपना अभिप्राय पूरा नहीं कर पाती।

स्थित्यर्थक (अवस्था बोधक) पूर्ण अकर्मक क्रियाएँ-जिन अकर्मक क्रियाओं में पूरक की आवश्यकता नहीं होती वे पूर्ण अकर्मक क्रियाएँ हैं और जब उनसे स्थिति/अवस्था का बोध हो तो ये स्थित्यर्थक होती हैं। सोना, हँसना, खिलना, चमकना आदि ऐसी क्रियाएँ हैं-बालक सो रहा है। वे हँसते हैं।

अस्तित्ववाची 'होना' क्रिया सत्ताभाव प्रकट करती है। यह भी स्थितिबोधक पूर्ण अकर्मक क्रिया है-ईश्वर है।

गत्यर्थक पूर्ण अकर्मक क्रियाएँ-जो पूर्ण अकर्मक क्रियाएँ गति का बोध कराएँ, वे गन्यर्थक है। जाना, आना, गिरना, उठना, दौड़ना, भागना, घूमना, तैरना, उड़ना आदि गत्यर्थक पूर्ण अकर्मक क्रियाएँ हैं। इन क्रियाओं के साथ प्रायः सूचना देने वाले तत्त्व होते हैं। मोर **आकाश** में उड़ा।

वह फाटक से निकल रहा था। मैं **दिल्ली** जा रहा हूँ।

अपूर्ण अकर्मक क्रियाएँ-जिन अकर्मक क्रियाओं के प्रयोग के समय अर्थ की पूर्णता के लिए कर्ता से सम्बन्धित शब्द विशेष की आवश्यकता पड़े, वे अपूर्ण क्रियाएँ होती हैं। होना इस कोटि की प्रमुख क्रिया है। बनना, निकलना आदि भी इस वर्ग की क्रियाएँ हैं-वह **बीमार** है।

मोहन बहुत चालाक निकला। तुम बड़े होकर महान् बनोगे।

इन वाक्यों में बीमार, चालाक और महान् शब्द पूरक हैं। इनके बिना वाक्यों का अर्थ अपूर्ण रहता है। इस प्रकार के शब्द कर्तृपूरक कहलाते हैं।

पूर्ण एक कर्मक क्रियाएँ-ऐसी सकर्मक क्रियाएँ जिनके प्रयोग में एक कर्म की आवश्यकता होती है, पूर्ण एक कर्मक क्रियाएँ हैं-मैं खाना खा रहा हूँ। बन्दर ने कुत्ते को काट लिया। देव कपड़े सी रहा है।

पूर्ण द्विकर्मक क्रियाएँ जिन सकर्मक क्रियाओं के प्रयोग में दो कर्मों की आवश्यकता होती है, वे पूर्ण द्विकर्मक क्रियाएँ हैं-

कृष्ण ने **मित्र को पूरा पता** बता दिया।

उसने **नौकर** से कई सवाल पूछे।

अशोक ने **विनोद को पुस्तक** दे दी।

मैंने अपना **घोड़ा सौदागर को** बेच डाला।

अपूर्ण सकर्मक क्रियाएँ-जिन सकर्मक क्रियाओं के साथ कर्म के रहते हुए भी अर्थ का पूरा बोध न हो, अपूर्ण सकर्मक क्रियाएँ होती हैं। इन क्रियाओं में अर्थपूर्ति के लिए, कर्म से सम्बन्धित अन्य शब्द की आवश्यकता पड़ती है। चुनना, मानना, समझना, बनाना आदि इस कोटि की क्रियाएँ हैं।

तुम मुझे मूर्ख समझते हो?

बालकों ने सूरज को अपना नेता चुना।

मैं तुम्हें मित्र मानता हूँ।

यहाँ मूर्ख, नेता, मित्र शब्दों का लोप कर देने पर वाक्य का अर्थ अधूरा लगता है। कर्मपूरक शब्दों से ही पूर्ण अर्थ की प्रतीति सम्भव है।

कृदन्ती क्रियाएँ-कृत् प्रत्ययों के योग से बनी क्रियाएँ, कृदन्ती क्रियाएँ होती हैं। ये असमापिका क्रियाएँ हैं। इनसे वाक्यों को पूर्ण रूप नहीं मिलता। जैसे-'धारा में बहता हुआ कमल दूर चला गया।' इस वाक्य 'में बहता हुआ' कृदन्ती क्रिया है। इससे वाक्य को पूर्णता नहीं मिलती, अतः यह असमापिका क्रिया भी है। परन्तु 'चला गया' क्रियापद, वाक्य का अर्थ पूरा करता है, अतः यह समापिका क्रिया है।

नोट

कृदन्ती क्रियाओं के कई प्रकार हैं-

रचना की दृष्टि से

अपूर्ण कृदन्ती- ता / ती / ते प्रत्ययों के योग से-
बहता, बहते, बहती, आते ही।

पूर्ण कृदन्ती- आ / ई / ए प्रत्ययों के योग से-बैठा, बैठे, बैठी।

क्रियार्थक कृदन्त- ना / ने / नी प्रत्ययों से-चलकर, उठकर।

शब्दभेद की दृष्टि से-

संज्ञा-क्रियार्थक कृदन्तों का प्रयोग संज्ञावत् होता है। यथा-धूमना स्वास्थ्य के लिए अच्छा है। वह मिलने के लिए आया।

विशेषण-अपूर्ण कृदन्तों तथा पूर्ण कृदन्तों का प्रयोग विशेषण शब्दों के रूप में भी होता है। यथा-चलती गाड़ी में न चढें। खिला (हुआ) फूल मुझे दे दें।

क्रियाविशेषण-अपूर्ण, पूर्ण एवं पूर्वकालिक कृदन्तों का प्रयोग क्रियाविशेषण शब्दों की तरह भी होता है। यथा-

पक्षी गिरते ही मर गया।
मैं चलते-चलते थक गया।
वह बैठे-बैठे सो गया।
तुम खाना खाकर आ जाओ।

प्रयोग की दृष्टि से-

क्रियार्थक कृदन्त-(धातु + ना / ने / नी) ये कृदन्त भाववाचक संज्ञा के रूप में प्रयुक्त होते हैं-उसे लिखना-पढ़ना तो आता नहीं।

कर्तृवाचक कृदन्त-'धातु + ने + वाला' प्रत्यय के योग से बनने वाले कृदन्त कर्तृवाचक होते हैं। जैसे-
बुखार से मरने वालों को मुरब्बे नहीं मिलते। ये कृदन्त संज्ञा एवं विशेषणवत् प्रयुक्त होते हैं।

वर्तमानकालिक कृदन्त-बहता पानी गन्दा नहीं होता। यह कृदन्त विशेषण है।

भूतकालिक कृदन्त-(धातु + आ / ई / ए + हुआ) पका (हुआ) फल टूटकर गिर पड़ा। ये कृदन्त भी विशेषण है।

तात्कालिक कृदन्त-ये 'धातु + ते ही' के योग से बनते हैं। जैसे-तीर लगते ही हिरन गिर पड़ा। इन कृदन्तों का प्रयोग अव्यय के रूप में होता है।

पूर्णकालिक कृदन्त-ये 'धातु + कर' के योग से बनते हैं। जैसे-वह लौटकर नहीं आया। इन कृदन्तों का प्रयोग अव्यय के रूप में होता है।

संयुक्त क्रियाएँ-एक क्रियापद के भीतर एक से अधिक क्रियाएँ भी आती हैं जिनमें एक मुख्य क्रिया होती है, शेष संयोजी। संयोजी क्रियाएँ, मुख्य क्रिया के पक्ष, वृत्ति, वाच्य आदि की सूचना देती हैं। इन्हें संयुक्त क्रिया कहा जाता है।

कभी-कभी सुन लिया करता हूँ।
वह बढता चला आ रहा है।
उसे अब बैठने दिया जा सकता है।

यहाँ सुनना, पढ़ना और बैठना मुख्य क्रियाएँ हैं और अन्य संयोजी क्रियाएँ, संयोजन करके संयुक्त क्रिया बनती हैं। इनमें होना, क्रियाओं का कालसूचक रूप है, अत: यह संयोजी क्रिया नहीं है। यह मुख्य क्रिया के वर्तमान भूत रूपों के साथ आती है। यह रूप रचना में सहायक है, अत: सहायक क्रिया कही जाती है।

नोट

क्रिया की प्रक्रिया की सूचना देने में निम्नलिखित संयोजी क्रियाएँ, मुख्य क्रिया के बाद आती हैं–

आरम्भ सूचक	ने + लग	वे पढने लगे हैं।
	+ रह	वे पढ रहे हैं।
सातत्यसूचक	आ / ई / ए + जा	नदी बही जा रही है
अभ्याससूचक	ता + रह	वह पढता रहता है।
	आ + कर	मैं खाना खाकर सोया करता हूँ।
पूर्णता सूचक	+ चुक	वह पानी पी चुका है।
	+ रख	यह पाठ पढ रखा है।
इच्छासूचक	ना + चाह	तुम जाना चाहते हो।
विवशतासूचक	नी / ना / ने + पड़	इसकी बात भी सुननी पड़ती है।
		ऐसा भी करना पड़ता है।
	ना / नी / ने + हा	ऐसे काम भी करने होते हैं।
शक्यतासूचक	+ सक	तुम जा सकते हो।
असमर्थता सूचक	ते + (नहीं) + बन	वह धनवान नहीं बन सकता।
	+ नहीं + पा	मैं यह सब नहीं कर पाऊँगा।
	आ + जा	पुस्तक पढी जा रही है।
कर्म / भाववाच्य सूचक	आ + जा	वृद्ध से उठा नहीं जाता।
अनुज्ञासूचक	ने + दे	उसे चुपचाप पढने दो।

उपर्युक्त संयोजी क्रियाएँ, अधिकतर क्रियाओं के साथ आ सकती हैं। परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि संयोजी क्रियाएँ, मुख्य क्रिया नहीं बन सकतीं। ये मुख्य क्रियाओं के रूप में भी प्रयुक्त होती है।

रंजक क्रियाएँ

रंजक क्रियाएँ मुख्य क्रिया के अर्थ को रंजित करती हैं अर्थात् उसके अर्थ को विशिष्ट छवि देती हैं। सामान्यत: ये आठ क्रियाएँ हैं–

आना	अनायासता	बन आना, कर आना, रो आना
जाना	क्रियापूर्णता / शीघ्रता	पी जाना, आ जाना, खा जाना
उठना	आकस्मिकता	रो उठना, चिल्ला उठना, बोल उठना
बैठना	आकस्मिकता	मार बैठना, खो बैठना, चढ बैठना
लेना	क्रियापूर्णता / विवशता	पी लेना, सो लेना, ले लेना
देना	क्रियापूर्णता / विवशता	चल देना, रो देना, फेंक देना
पड़ना	स्वत: / शीघ्रता	रो पड़ना, हँस पड़ना, चौंक डालना
डालना	बलात् भाव / क्रियापूर्णता	मार डालना, तोड़ डालना, काट डालना

इनके अतिरिक्त कम प्रचलित रंजक क्रियाएँ भी हैं। मरना, मारना, निकलना, बसना आदि इसी कोटि की रंजक क्रियाएँ हैं–डूब मरना, लिख मारना, चल निकलना, चल बसना इत्यादि।

वृति, काल और पक्ष

वृति–इसे क्रियार्थ भी कहते हैं। क्रियार्थ का अभिप्राय है–क्रिया का अर्थ अर्थात् कहन वाले या लिखने वाले का प्रयोजन। वाक्य में अर्थ इंगित करने का मुख्य साधन क्रियापद होते हैं। कुछ अव्यय शब्द शायद, मानो, सम्भवत:,

नोट

यदि, तो इत्यादि भी क्रियारूप की सहायता करते हैं। हिन्दी में पाँच क्रियार्थ **वृति** हैं जब आप यह चाहते हैं कि आपकी बात सुनकर श्रोता कुछ क्रिया करे या करने की योजना बनाए तो आपका कथन **विधि कथन** है। जैसे-जरा समय बताइए। यहाँ आपकी इच्छा है कि श्रोता घड़ी देखकर आपको समय बताएगा। बताइए क्रियापद से विधि अर्थ प्रकट होता है। इसी प्रकार-'बड़ों का आदर करना चाहिए' वाक्य विधि अर्थक है। विधि अर्थ में उपदेशात्मकता भी होती है। आज्ञा, अनुमति, अनुनय निमन्त्रण, आशीर्वाद आदि प्रयोजन, विधि अर्थ में ही समाहित हैं। संस्कृत भाषा में विधि अर्थ हेतु लोट एवं विधिलिङ् लकार प्रयुक्त होते हैं। इनके अतिरिक्त तव्य तथा अनीय प्रत्यय भी विधि अर्थ का संकेत करते हैं। कई बार क्रियापद से संकेतित होता है कि वक्ता किसी कार्य के होने की आशा करता है या अनुमान करता है, तो वहाँ **सम्भावनार्थ** होता है जैसे-

बादल घिर रहे हैं, वर्षा भी हो जाए।

वह इस समय स्टेशन पर आ गया होगा।

ऐसा भी हो सकता है।

यहाँ कार्य के होने की सम्भावनाएँ हैं, निश्चितता नहीं। इसके विपरीत जहाँ कार्य के होने या न होने में सन्देह हो, वहाँ सन्देहार्थ वृति होती है। जैसे-पता नहीं, वह घर चला गया या नहीं। उसकी इच्छा की बात है, करे ना करे। जब कार्य-सिद्धि के लिए जहाँ वक्ता का कथन केवल सूचनात्मक हो, वहाँ **निश्चयार्थ** (निश्चय वृति) माना जाता है। 'बालक खेल रहा है', वाक्य में श्रोता के लिए केवल सूचना भर है, किसी विशेष भाव की अभिव्यक्ति नहीं। किसी वाध्यता (शर्त) की पूर्ति होना आवश्यक हो तो **संकेतार्थ** होती है। यथा-

समय मिला तो आऊँगा।

मैं पढ़ता तो पास हो गया होता।

यहाँ, आने के लिए समय मिलने का संकेत है और पास होने के लिए पढने की सूचना दी गई है।

काल-किसी क्रिया के कब होने का बोध **काल** से होता है व्याकरणिक अर्थ की दृष्टि से काल के कथन के क्षण और क्रिया तथा घटना होने के क्षण समयपरक सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध भूत, वर्तमान ओर भविष्य तीन प्रकार का होता है। भूतकाल के अन्तर्गत, कथन के क्षण से पूर्व क्रिया-व्यापार का होना है। वर्तमान में, कथन के क्षण के साथ-साथ क्रिया-व्यापार का होना पाया जाता है। भविष्य में, कथन क्षण के बाद क्रिया-व्यापार की जानकारी मिलती है।

उदाहरणतः

शैलेश दिल्ली गया था।

शैलेश पढ़ रहा है।

शैलेश स्कूल जाएगा।

काल के निर्धारण में कथन से पूर्व, कथन के साथ और कथन के बाद होने वाली क्रियाओं की ओर ध्यान देना चाहिए। वर्तमान काल का क्रिया पद होने पर भी, क्रिया का वर्तमान से सम्बन्ध न होना सम्भव है। यथा-वह कल मुम्बई जा रहा है। यहाँ क्रियापद के प्रयोग से वर्तमान काल ज्ञात हो रहा है, वस्तुतः वृत्ति भविष्यकाल की और क्रिया भावी समय में होगी।

पक्ष-पक्ष का अर्थ है-पहलू, रूप, दृष्टि। क्रिया व्यापार को दो रूपों में ग्रहण किया जाता है। जब क्रिया-व्यापार को, आरम्भ होने से अन्त तक विभिन्न सोपानों में देखा जाता है तो यह क्रिया-व्यापार का एक पक्ष है। यथा-

वर्षा होने लगी है। वर्षा हो रही है। वर्षा थम गई।

यहाँ क्रिया के आरंभ होने, चालू रहने तथा बन्द होने की सूचना से क्रिया-व्यापार के अनेक पहलू सामने आते हैं। क्रिया-व्यापार का एक दूसरा पक्ष भी है। इसमें क्रिया-व्यापार के विभिन्न चरणों को व्यक्त करने का प्रयास नहीं होता अपितु पूरी क्रिया-प्रक्रिया एक इकाई रूप में देखी जाती है। जैसे-वर्षा ऋतु में पानी बरसता है। यहाँ बरसने के विविध सोपानों की अभिव्यक्ति नहीं है, पानी बरसना एक स्वायत्त इकाई है। उपर्युक्त दोनों पक्षों के रूप नीचे दिए जा रहे हैं।

नोट

स्व-मूल्यांकन

सही विकल्प चुनिए–

1. संस्कृत में शब्द के शुद्ध रूप को .... नाम दिया जाता है।
   (क) पद (ख) प्रतिपादिक (ग) पद विभाग
2. अव्यय शब्द .... होते हैं।
   (क) तीन (ख) पाँच (ग) आठ
3. वे योजक जिनमें एक अंश मुख्य हो और एक अंश गौण हो उसे .... योजक कहते हैं।?
   (क) व्यधिकरण (ख) सामानाधिकरण (ग) व्याकरण
4. जब आप चाहते हैं कि आपकी बात सुनकर श्रोता कुछ करे या करने की योजना बनाए तो आपका कथन . ... है।
   (क) अपकथन (ख) स्वकथन (ग) विधि कथन

पहला पक्ष

आरम्भ सूचक-इसमें क्रिया के आरम्भ होने की सूचना मिलती है। जैसे-वह गाने लगा। वह बाजार ही जा रहा है।

सातत्य सूचक-इससे क्रिया-व्यापार के चालू रहने का बोध होता है। जैसे-वर्षा हो रही है। वह दौड़ रहा था।

प्रगति सूचक-इससे क्रिया के निरन्तर बढते रहने का बोध होता है। जैसे- भीड़ बढती ही जा रही थी।

पूर्णता सूचक-इसमें क्रिया-व्यापार के पूर्ण होने अर्थात् समाप्त होने की जानकारी मिलती है। जैसे-मैंने भोजन कर लिया है। उसने बहुत पढ लिया है।

दूसरा पक्ष

नित्यता सूचक-इसमें क्रिया सदा बनी रहती है, उसका अन्त नहीं होता। सूर्य पूर्व में निकलता है। पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है।

अभ्यास सूचक-यह क्रिया स्वभाव के कारण आदत रूप में होती है। जैसे-वह रोज घूमने जाता है। मुझे बहुत गर्मी लगती है। वह तो ऐसा लिखता ही रहता है। तुम सिगरेट पीते हो।

वाच्य और अन्विति

भाषा द्वारा कही जाने वाली बात कथ्य होती है। कथ्य एक वाक्य में भी कहा जा सकता है और अनेक वाक्यों में भी। वाक्य में कथ्य का कोई न कोई बिन्दु अवश्य होता है। जिसे वक्ता, प्रमुखता देकर स्पष्ट करना चाहता है। वाच्य (बोलने के विषय) की भूमिका यहीं आती है। वाच्य संकेत देता है कि वक्ता किसी वाक्य में किस कथ्यबिन्दु को प्रधानता दे रहा है। वाक्य में स्थित कर्त्ता, कर्म या क्रिया, इनमें से किसे प्रधानता दी गई है, वही वाच्य है।

वाच्य के तीन भेद हैं।

कर्तृवाच्य- जहाँ वक्ता का कथ्य बिन्दु कर्ता हो, वह कर्तृवाच्य है।
जैसे-पक्षी उड़ रहे हैं। भैंस पानी पी रही है।

यहाँ कथ्य बिन्दु पक्षी और भैंस है जो क्रिया-व्यापार के कर्ता है, अतः कर्तृवाच्य है।

कर्मवाच्य- जहाँ वक्ता का कथ्य बिन्दु कर्म हो, वह कर्मवाच्य है।
जैसे-पत्र पढा गया। पतंग उड़ाई गई।

इन वाक्यों में पत्र और पतंग कर्म है, अतः कर्मवाच्य है।

भाववाच्य- जहाँ वक्ता का कथ्यबिन्दु कर्म हो, वह भाववाच्य है।
जैसे-उससे उठा नहीं गया। इतने थोड़े पानी से कैसे नहाया जा सकता है?

इन वाक्यों में उठना ओर नहाना कथ्यबिन्दु है। इसमें क्रियापद प्रथम पुरुष, एकवचन में आता है। कर्तृवाच्य में सकर्मक और अकर्मक दोनों प्रकार की क्रियाओं का प्रयोग होता है, कर्मवाच्य में सकर्मक और अकर्मक दोनों प्रकार की क्रियाओं का प्रयोग होता है, कर्मवाच्य में सकर्मक क्रिया का और भाववाच्य में अकर्मक क्रिया का।

कर्तृवाच्य से कर्मवाच्य बनाना

कर्तृवाच्य में कर्त्ता की प्रमुखता होती है, परन्तु कर्मवाच्य में कर्म की। जब कर्तृवाच्य में कर्त्ता को गौण स्थान प्रदान कर दें तो वह कर्मवाच्य बन जाएगा। कर्ता की यह गौणता दो प्रकार से हो सकती है। प्रथम, कर्ता को करण का रूप दे दिया जाए तो वह गौण स्थिति में आ सकता है। जैसे–मैं यह काम नहीं करूँगा।–मुझसे यह काम नहीं किया जाएगा।

कर्तृवाच्य से कर्मवाच्य बनाते समय संयोजी क्रिया 'जाना' का प्रयोग किया जाता है। द्वितीय, कर्ता का लोप कर दिया जाए। यथा–पतंग अच्छी तरह उड़ रही है।

इस वाक्य में पतंग उड़ाने वाले का उल्लेख भी नहीं है। ऐसे वाक्यों में, कर्तृवाच्य में प्रयुक्त मूल सकर्मक से व्युत्पन्न अकर्मक क्रिया का प्रयोग होता है। इसी प्रकार–दर्पण गिर गया और टूट गया। पटरी पार करने वालों को सजा दी जाएगी। अधिक दूध नहीं पीया जाता।

टास्क वाच्य के भेद बताइए।

अन्विति अर्थात् प्रयोग

अन्विति का अर्थ है–अनुगमन अर्थात् क्रियापद कर्ता, कर्म और क्रिया में से किसका अनुगमन करता है? हिन्दी में यह अन्विति निम्न प्रकार है–

कर्ता-क्रिया अन्विति–यदि कर्ता में विभक्ति चिह्न ने लगा हो तो क्रियापद में लिंग, वचन और पुरुष, कर्ता के अनुसार होते हैं। जैसे–वह रोटी खाता है। वे रोटी खाते हैं। वह रोटी खाती है। तुम रोटी खाते हो। तुम रोटी खाती हो। मैं रोटी खाता हूँ। हम रोटी खाते हैं।

कर्म-क्रिया अन्विति–यदि कर्ता में प्रथम विभक्ति का चिह्न हो तो क्रिया कर्ता के अनुसार चलती है। इसे कर्तृवाच्य में कर्मणि प्रयोग कहते है–

उसने रोटी खाई। उन्होंने रोटी खाई। तुमने रोटी खाई। मैंने आम चूसे। हमने गाय रोक ली।

क्रिया में अन्वितिहीनता–यदि कर्ता में 'ने' परसर्ग और कर्म में 'को' परसर्ग का प्रयोग हो तो क्रिया अन्वितिहिन स्थिति में रहती है। इस स्थिति में क्रिया में पुल्लिग, एकवचन रूप आता है। जैसे–

उसने फल को खाया। मैंने मिठाई को खाया।

कर्मवाच्य में कर्म-क्रिया अन्विति–कर्मवाच्य में कर्ता में तृतीया विभक्ति, कर्म में प्रथमा विभक्ति तथा क्रियापद के लिंग, वचन, पुरुष कर्म के अनुसार होते हैं–सीता से **फल** खाया जाता है। सीता से **फल** खाया जाता है।

सीता से **फल** खाए जाते हैं। उनसे मैं पढ़ाया जाता हूँ। बालक से **भैंस** हाँकी जाती है।

भाववाच्य में अन्विति–भाववाच्य में अकर्मक क्रिया होती है और उसकी अन्विति प्रथम पुरुष, एकवचन में की जाती है, जैसे–

उससे चला नहीं जाता। बालकों से हँसा जाता है।

वाच्य और प्रयोग भिन्न-भिन्न संकल्पनाएँ हैं। वाच्य का आधार वक्ता द्वारा दी गई प्रधानता है, परन्तु प्रयोग का आधार, रूप रचना है अर्थात् जिस रूप में लिंग, वचन आदि आए हैं।

नोट

क्रिया विशेषण

अविकारी शब्द अव्यय होते हैं। इनमें लिंग, वचन, पुरुष, काल, विभक्ति एवं अन्य प्रत्ययों की दृष्टि से परिवर्तन नहीं होता। कब, और, लेकिन, परन्तु इसी कोटि के शब्द हैं। अव्यय शब्द पाँच प्रकार के हैं- क्रियाविशेषण, संबंधबोधक, समुच्यबोधक, भावबोधक और निपाता।

क्रियाविशेषण का अर्थ-क्रियाविशेषण वह अव्यय शब्द है जो क्रिया की विशेषता बताता है। मैं धीरे-धीरे जा रहा था। इस वाक्य में धीरे-धीरे शब्द, क्रिया के ढंग का परिचय देते हैं। क्रिया का विशेषण होने के कारण, इन्हें क्रियाविशेषण कहा जाता है। क्रियाविशेषण के चार भेद हैं-

रीतिवाचक-इससे क्रिया की रीति (विधि) का बोध होता है। जैसे-

वह तेजी से दौड़ा। मैं ध्यानपूर्वक सुन रहा हूँ। तुम भली भाँति रह रहे हो।

परिमाणवाचक-इससे क्रिया के परिमाण (मात्रा) का बोध कराया जाता है। जैसे - तुम बिल्कुल थक गए। उतना खाओं जितना पचा सको।

कालवाचक-इससे क्रिया के काल से सम्बद्ध, विशेषता ज्ञात होती है। जैसे - आज, कल, अब, जब, अभी, कभी, सायं, प्रातः, सदैव, दिनभर, नित्य, प्रतिदिन इत्यादि।

स्थानवाचक- यह क्रिया के स्थान से सम्बद्ध, विशेषता का बोध कराता है। जैसे - आगे, पीछे, ऊपर, नीचे, पास, दूर, इधर, उधर इत्यादि।

क्रियाविशेषणों की रचना-कुछ शब्द मूल रूप में क्रियाविशेषण हैं। आज, अब, यहाँ, वहाँ, इधर, उधर इत्यादि। कुछ शब्द किसी प्रत्यय या अन्य शब्द के आश्रय से क्रियाविशेषण बन जाते हैं, ये यौगिक क्रियाविशेषण हैं। यथा-ध्यानपूर्वक, स्वभावतः, धीरे-धीरे, दिन-रात, रातभर इत्यादि।

क्रियाविशेषणों के साथ प्रविशेषणों की विशेषता ज्ञात होती है। जैसे-

वह बहुत तेज दौड़ता है।

यहाँ 'बहुत' शब्द से 'तेज' क्रियाविशेषण की विशेषता ज्ञात होती है।

सम्बन्धबोधक

सम्बन्धबोधक शब्द, शब्दों अथवा वाक्यांशों का सम्बन्ध जोड़ते हैं। जैसे-घर के बाहर गाय खड़ी है। कुछ सम्बन्ध -बोधक शब्द, क्रियाविशेषण के समान काल, स्थान या दिशा का संकेत करते हैं। से पहले, के बाद, के ऊपर, के भीतर, की ओर की तरफ आदि इसी कोटि के शब्द हैं। अन्य सम्बन्धबोधक शब्द अनेक अर्थों के सूचक हैं-

- के कारण, की वजह से, के द्वारा, से द्वारा, के मारे, के साथ।
- के लिए, के वास्ते, की खातिर, के हेतु, के निमित्त।
- से लेकर, तक, पर्यन्त।
- के साथ, के संग।
- के बिना, के बगैर, के अतिरिक्त, के अलावा।
- की अपेक्षा, की तुलना में, के समान, सदृश, के जैसे।
- के बदले, की जगह में / पर।
- के विपरीत, के विरुद्ध, के प्रतिकूल, के अनुसार, के अनुकूल।
- की बाबत, के विषय-में।

समुच्यबोधक

समुच्यबोधक दो पदबन्धों या दो वाक्यों को संयोजित करता है। इसे योजक य संयोजक भी कहते हैं। इसके दो भेद हैं-

नोट

समानाधिकरण-वे योजक जो दो समान स्तर के स्वतन्त्र अंशों को सम्बद्ध करते हैं, समानाधिकरण हैं। किन्तु, या और अथवा, न, नहीं, तो, अन्यथा, चाहे, परन्तु, मगर, अतः, फलतः इत्यादि इस कोटि के योजक हैं। जैसे-

आपने चाय पी अथवा नहीं।

चाहे तुम चलो चाहे न चलो, मैं तो जा रहा हूँ।

वह खेल में ही अच्छा नहीं अपितु पढाई में भी अच्छा है।

आप बैठें और वह काम करे।

व्यधिकरण-वे योजक जिनमें एक अंश मुख्य हो और अन्य अंश गौण हो, व्यधिकरण योजक हैं। यदि, तो यद्यपि, तथापि, क्योंकि, इसलिए, कि, ताकि, अर्थात् इत्यादि इसी प्रकार के योजक हैं। जैसे-

ईश्वर सर्वज्ञ है अर्थात् सब कुछ जानता है।

यदि परिश्रम करोगे तो कुछ पाओगे।

मैं यहाँ आ गया ताकि आराम कर सकूँ।

पहले वाक्य में 'ईश्वर सर्वज्ञ है', दूसरे वाक्य में 'कुछ पाओगे' और तीसरे वाक्य में 'आराम कर सकूँ' मुख्य अंश हैं तथा शेष गौण। इन्हें अर्थात्, यदि ----- तो, ताकि योजकों से जोड़ा गया है।

भावबोधक

जो अव्यय शब्द हर्ष, शोक, विस्मय, व्यथा, घृणा, आदि भावों का संकेत करते हैं, वे भावबोधक हैं। हैं, अरे, क्या, वाह, आह, बहुत अच्छा, हाय, ओफ, हाय, छिः दुर्, हट, अरे, हे, अजी आदि भावसूचक शब्द हैं। इन शब्दों से मन के उद्गार स्वतः व्यक्त होते हैं।

निपात

हिन्दी में कुछ अव्यय शब्द हैं जो वाक्य में किसी पद के साथ लगकर उसके अर्थ में विशेष प्रकार की अवधारणा देते हैं। इन्हें निपात कहा जाता है। ही, भी, तो, तक, मात्र / केवल, भर इसी कोटि के अव्यय हैं। यथा-

हम आपके पास ही आ रहे हैं।

यह भी हो सकता है।

तुम तो चले आए, मैं दुखी होता रहा।

उसने चिट्ठी तक नहीं लिखी।

केवल पाँच रुपये ही मिल पाएँगे।

दिन भर धक्के खाता रहा, कुछ न मिला।

10.3 सारांश

शब्द और पद दोनों भाषा की महत्त्वपूर्ण इकाइयाँ हैं। शब्द की अपेक्षा पद भाषा की महत्तर इकाई है। आदि काल से लेकर वर्तमान समय तक शब्द को अधिक महत्त्व दिया जाता रहा है। शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थों में होता है। डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने संरचना को आधार बनाकर पद को इस प्रकार परिभाषित किया है- "कोई भी शब्द जब तक पद नहीं बन जाएगा, उसका प्रयोग नहीं हो सकता है। पद बनने के लिए शब्द में कुछ विशेष अर्थों के बोधक प्रत्यय लगाए जाते हैं। इनके लगाने पर वह शब्द प्रयोग के योग्य होता है।"

व्यवहारिक दृष्टि से यत्र-तत्र शब्द और पद में समानार्थी भाव हो सकता है, किंतु भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से दोनों में पर्याप्त अंतर है। शब्द स्वतंत्र और सार्थक इकाई है। इसके लिए वाक्य-संदर्भ की आवश्यकता नहीं होती है; यथा-'रवि' एक शब्द है, जिसके पर्यायी शब्द या अर्थ है– सूर्य, दिनकर, दिनपति, भानु और भास्कर आदि। पद

का अर्थ वाक्य संदर्भ से ही ज्ञात होता है; यथा-'मधुर के लिए' पद का अर्थ जानने हेतु वाक्य-संदर्भ का आधार अनिवार्य है। जब तक इस पद को वाक्य के अन्य पदों के साथ प्रयुक्त नहीं किया जाएगा तब तक अर्थ जानने की इच्छा होगी, किंतु अर्थाभास संभव नहीं होगा।

पद के भेद: अंग्रेजी में parts of speech (पद-भाग) के अन्तर्गत विकारी और अविकारी शब्दों का वर्गीकरण किया गया है और इसके आठ भेद बताए हैं– संज्ञा शब्द, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, क्रिया विशेषण, सम्बन्धबोधक, समुच्चयबोधक, भावबोधक, निपात।

10.4 शब्दकोश

1. **अकर्मक–** जिसके लिए कर्म की आवश्यकता न हो
2. **लकार–** 'ल वर्ण

10.5 अभ्यास प्रश्न

1. पद-निर्माण प्रक्रिया समझाइए।
2. पद के भेद बताए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन

1. (ख) **2.** (ख) **3.** (क) **4.** (ग)।

10.6 संदर्भ पुस्तकें

1. *भाषा और भाषा विज्ञान–* गरिमा श्रीवास्तव, संजय प्रकाशन, दिल्ली
2. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा का स्वरूप-* विकास–देवेन्द्र प्रसाद सिंह, हिंदी बुक सेंटर, दिल्ली
3. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा–* नरेश मिश्र, संजय प्रकाशन, दिल्ली

नोट

इकाई 11: शब्द की व्युत्पत्ति एवं परिभाषा, शब्द के प्रकार

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- शब्द की व्युत्पत्ति एवं परिभाषा से परिचित होंगे।
- शब्द के प्रकारों से परिचत होंगे।

प्रस्तावना

मनुष्य सर्वाधिक सचेत और सामाजिक प्राणी है। समाज में रहते हुए उसे विचार-विमर्श की आवश्यकता होती है। भाषा आद्योपांत समाज से संबंधित होती है। भाषा का उद्भव एवं विकास समाज में हुआ, उसका अर्जन सामाजिक प्राणियों के द्वारा होता है और उसका प्रयोग भी समाज में ही होता है। भाषा में शब्द का महत्त्व स्वतः सिद्ध है, क्योंकि भाषा में मूलतः दो ही तत्त्व होते हैं– शब्द और व्याकरण। शब्द को ही विचार मान सकते हैं, क्योंकि शब्द ही विचार के विधायक हैं।

भाषा सामाजिक प्राणियों के मस्तिष्क में एकत्रित विकासशील अभिव्यक्ति का माध्यम है, तो शब्द भाषा की सार्थक स्वतंत्र लघुतम इकाई है। जब शब्दों को व्याकरण का आधार मिल जाता है, तो भाषा का रूप सामने आता है। मूल शब्द के एक अथवा अनेक अर्थ होते हैं। व्याकरण के अभाव में अनेक शब्दों का समूह पूर्ण अर्थ प्रकट

नोट

कर दे, यह सदा संभव नहीं होता है। भाषा का सदा ही पूर्ण अर्थ होगा क्योंकि उसको किसी न किसी प्रकार का व्याकरणिक आधार प्राप्त होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि शब्द सार्थक इकाई है और भाषा पूर्ण अभिव्यक्ति का आधार है।

11.1 शब्द की व्युत्पत्ति एवं परिभाषा

ध्वनियों के मेल से बने सार्थक वर्णसमुदाय को 'शब्द' कहते हैं। शब्द अकेले और कभी दूसरे शब्दों के साथ मिलकर अपना अर्थ प्रकट करते हैं। इन्हें हम दो रूपों में पाते हैं–एक तो इनका अपना बिना मिलावट का रूप है, जिसे संस्कृत में **प्रकृति या प्रतिपादिक** कहते हैं और दूसरा वह, जो कारक, लिंग, वचन, पुरुष और काल बतानेवाले अंश को आगे-पीछे लगाकर बनाया जाता है, जिसे पद कहते हैं। यह वाक्य में दूसरे शब्दों से मिलकर अपना रूप झट सँवार लेता है। शब्दों की रचना ध्वनि और अर्थ के मेल से होती है। एक या अधि क वर्णों से बनी स्वतन्त्र सार्थक ध्वनि को शब्द कहते हैं; जैसे–लड़की, आ, मै, धीरे, परन्तु इत्यादि। अत:, शब्द मूलत: ध्वन्यात्मक होंगे या वर्णात्मक। किन्तु, व्याकरण में ध्वन्यात्मक शब्दों की अपेक्षा वर्णात्मक शब्दों का अधि क महत्त्व है। वर्णात्मक शब्दों में भी उन्हीं शब्दों का महत्त्व है, जो सार्थक हैं, जिनका अर्थ स्पष्ट और सुनिश्चित है। व्याकरण में निरर्थक शब्दों पर विचार नहीं होता।

व्युत्पत्ति– शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। विद्वानों ने शब्द का संबंध एकाधिक धातुओं से जोड़ा है।

डॉ. भोलानाथ तिवारी ने 'भाषा-विज्ञान कोश' में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए है- "शब्द का संबंध शब्द् धातु से है, जिसका अर्थ है-शब्द करना।" डॉ. कैलाशचन्द्र भाटिया और रामचन्द्र वर्मा आदि ने भी यही व्युत्पत्ति मानी है। अपनी पुस्तक 'हिंदी शब्द-समूह का विकास' में शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में विस्तृत चर्चा करते हुए विभिन्न विद्वानों के मंतव्यों को दो प्रमुख वर्गों में इस प्रकार विभक्त किया है–

(क) कुछ भाषा वैज्ञानिकों ने शप् धातु से संबंध जोड़ते हुए शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है-शप् (आक्रोशे) + दन = शब्द। (ख) भाषा वैज्ञानिकों का दूसरा वर्ग संस्कृत के शब्द धातु से शब्द का संबंध जोड़ता है–शब्द + घञ (प्रत्यय) = शब्द।

मेरे विचार से शब्द का संबंध धातु से ही मानना चाहिए क्योंकि इसका मूल अर्थ ध्वनि है।

नोट्स

भाषा वैज्ञानिक डॉ. भोलानाथ तिवारी द्वारा उनकी पुस्तक शब्द विज्ञान में विवेच्य शब्द की सटीक और संक्षिप्त परिभाषा है– "भाषा की सार्थक लघुतम और स्वतंत्र इकाई को शब्द कहते हैं।"

परिभाषा– विश्व की समस्त भाषाओं के शब्दों के संदर्भ से पूर्ण वैज्ञानिक परिभाषा बनाना असंभव है। शब्द की ऐसी परिभाषा पर विचार करते हुए पाश्चात्य ही नहीं भारतीय विद्वानों ने भी असमर्थता व्यक्त की है। इस प्रकार के विचार व्यक्त करने वालों में येस्पर्शन, वैद्रियेज, डैनियल जोन्स, डाल्टन, डॉ. धीरेंद्र वर्मा, डॉ. उदयनारायण तिवारी, डॉ. कैलाशचंद्र भाटिया, आचार्य देवेंद्रनाथ शर्मा और आचार्य किशोरीदास वाजपेयी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। विभिन्न भाषाविदों ने समय-समय पर अपने चिंतन के अनुसार शब्द को इस प्रकार परिभाषित किया है- (क) संस्कृत के कई विद्वानों ने शब्द की परिभाषा की है। महर्षि पतंजलि ने स्फोट को महत्त्व देते हुए कहा है- "स्फोट शब्द:। ध्वनि शब्द गुण:।" उन्होंने एक अन्य स्थान पर शब्द की विस्तृत परिभाषा इस प्रकार की है- "श्रोतोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यि प्रयोगेणाभिज्वलित: आकाशदेश: शब्द:।" अर्थात कान से प्राप्त, बुद्धि से ग्राह्य, प्रयोग से स्फुरित होने वाली आकाशव्यापी ध्वनि को शब्द कहते हैं। 'शब्द कल्पद्रुम' में शब्द की परिभाषा इस प्रकार की गई है- "श्रोतग्राह्य गुणपदार्थविशेष:।"

इन परिभाषाओं में ध्वनि के आधार पर होने वाली अर्थ-प्रतीति को महत्त्व दिया गया है, जबकि अर्थ की प्रतीति शब्द के अतिरिक्त पद तथा वाक्य आदि से भी होती है। इस प्रकार उत्तम परिभाषा होते हुए भी इन्हें पूर्ण वैज्ञानिक परिभाषा की कोटि में नहीं रख सकते हैं।

(ख) हिंदी के अनेक वैयाकरणों, कोशकारों तथा भाषाविदों ने समय-समय पर शब्द को परिभाषित किया है, जिनमें से कुछ प्रमुख परिभाषाएँ उद्धृत हैं।

प्रसिद्ध हिंदी वैयाकरण प. कामताप्रसाद गुरु ने 'हिंदी व्याकरण' में शब्द की परिभाषा करते हुए कहा है- "एक या अधिक अक्षरों से बनी हुई स्वतंत्र सार्थक ध्वनि को शब्द कहते हैं।"

डॉ. रामचन्द्र वर्मा ने 'मानक हिंदी कोश' में शब्द की परिभाषा इन शब्दों में की है– "अक्षरों, वर्णों आदि से बना और मुँह से उच्चरित या लिखा जाने वाला वह संकेत जो किसी कार्य या भाव का बोधक हो।"

आचार्य श्यामसुंदर दास ने 'हिंदी शब्द सागर' में शब्द की परिभाषा इस प्रकार की है "वह स्वतंत्र, व्यक्त और सार्थक ध्वनि जो एक या अधिक वर्णों के संयोग से कंठ और तालु आदि के द्वारा उत्पन्न हो और जिससे सुनने वाले को किसी पदार्थ, कार्य या भाव आदि का बोध हो, उसे शब्द कहते हैं।"

आचार्य देवेंद्रनाथ शर्मा ने 'भाषा-विज्ञान की भूमिका' में शब्द की परिभाषा करते हुए लिखा है- "उच्चारण की दृष्टि से भाषा की लघुतम इकाई ध्वनि है और सार्थकता की दृष्टि से शब्द।"

डॉ. सरयूप्रसाद अग्रवाल ने 'भाषा विज्ञान और हिंदी' में सरलतम परिभाषा इस प्रकार दी है- "ध्वनियों का संयोजन शब्द .... है।"

डॉ. भोलानाथ तिवारी ने 'शब्द-विज्ञान' में शब्द की परिभाषा करते हुए उसका विशद विवेचन भी किया है उनके अनुसार "भाषा की सार्थक, लघुतम और स्वतंत्र इकाई को शब्द कहते हैं।"

(ग) संस्कृत के आचार्यों तथा हिंदी के विद्वानों के अतिरिक्त पाश्चात्य विद्वानों ने भी शब्द की परिभाषा दी है। पामर शब्द की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि "The smallest speech unit capable of functioning as a complete utterance." अर्थात् भाषा की ऐसी लघुतम इकाई जो एक महत्त्वपूर्ण उच्चारण के रूप में काम कर सके उसे शब्द कहते हैं।

उल्मैन की परिभाषा इस प्रकार है- "The smallest significant unit of language." अर्थात् शब्द को भाषा की लघुतम महत्त्वपूर्ण इकाई कहते हैं।

मैलेट शब्द के विषय में लिखते हैं- "A word is the result of the association of a given meaning with a given combination of sound capable of given grammatical use." अर्थात् शब्द अर्थ और ध्वनि का वह योग है, जिसका व्याकरणिक प्रयोग किया जाता है।

राबर्टसन तथा कैसिडी शब्द की परिभाषा करते हुए कहते हैं- "The smallest independent unit with in the sentence." अर्थात् शब्द वाक्य में लघुतम स्वतंत्र इकाई है।

स्वीट शब्द की परिभाषा इस प्रकार करते हैं- "An ultimate sense-unit." अर्थात् लघुतम अर्थपूर्ण इकाई को शब्द कहते हैं।

उक्त सभी परिभाषाओं में किसी न किसी दृष्टिकोण की वैज्ञानिकता अवश्य है। मेरे विचार से शब्द की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है- **"भाषा की स्फोट-ध्वनि गुणयुक्त लघुतम स्वतंत्र महत्त्वपूर्ण इकाई शब्द है।"** इस परिभाषा में शब्द की सभी विशेषताएँ आ जाती हैं। विस्फोट शब्द की प्रथम महत्त्वपूर्ण विशेषता है, जिससे अर्थ-बोध होता है। अर्थ शब्द का अनिवार्य तत्त्व है। अर्थ की दृष्टि से शब्द भाषा की लघुतम इकाई है। यदि मूल शब्द के दो या दो से अधिक खंड कर दिए जाएँ तो उन खंडों में अर्थहीनता या अनर्थ का भाव प्रकट होता है। भाषा की लघुतम इकाई ध्वनि है, किंतु ध्वनि का सर्वत्र सार्थक होना अनिवार्य नहीं है। ध्वनि की अपेक्षा शब्द बड़ी इकाई है और इसका सार्थक होना भी अनिवार्य है। शब्द का स्वतंत्र होना भी अनिवार्य है, क्योंकि इसका स्वतंत्र अस्तित्व होता है। उसके साथ किसी सहायक तत्त्व का होना अनिवार्य नहीं है। 'मधुर', हिंदी का

नोट

मूल शब्द है। मूलार्थ अभिव्यक्ति हेतु किसी सहायक तत्त्व उपसर्ग या प्रत्यय की आवश्यकता नहीं है। यदि सहायक तत्त्व उपसर्ग या प्रत्यय का प्रयोग करेंगे, तो अर्थ-परिवर्तन के साथ शब्द रूप में भी परिवर्तन होगा ही; यथा-मधुर के साथ 'सु' उपसर्ग योग > सुमधुर, मधुर के साथ 'ता' प्रत्यय होगा > मधुरता। इस परिभाषा में शब्द की निम्नलिखित विशेषताएँ समाहित हैं–

1. भाषा की लघुतम इकाई।
2. स्फोट गुण-संपन्नता अर्थात् सार्थकता।
3. स्वतंत्र महत्त्वपूर्ण इकाई।

11.2 शब्द के प्रकार

सामान्यत: शब्द दो प्रकार के होते हें–सार्थक और निरर्थक। सार्थक शब्दों के अर्थ होते हैं। और निरर्थक शब्दों के अर्थ नहीं होते। जैसे-'पानी' सार्थक शब्द है 'नीपा' निरर्थक शब्द, क्योंकि इसका कोई अर्थ नहीं।

भाषा की परिवर्तनशीलता उसकी स्वाभाविक क्रिया है। समय के साथ संसार की सभी भाषाओं के रूप बदलते हैं। हिन्दी इस नियम का अपवाद नहीं है। संस्कृत के अनेक शब्द पालि, प्राकृत और अपभ्रंश से होते हुए हिन्दी में आये हैं। इनमें कुछ शब्द तो ज्यों-के-त्यों अपने मूलरूप में हैं और कुछ देश-काल के प्रभाव के कारण विकृत हो गये हैं।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से शब्दों का वर्गीकरण।

उत्पत्ति की दृष्टि से शब्दों के चार भेद हैं–

(1) तत्सम, (3) तद्‌भव, (3) देशज एवं, (4) विदेशी शब्द।

11.2.1.1 तत्सम

किसी भाषा के मूलशब्द को 'तत्सम' कहते हैं। 'तत्सम' का अर्थ ही है–'उसके समान' या 'ज्यों-का-त्यों' (तत्, तस्य = उसके–संस्कृत के, सम = समान)। यहाँ संस्कृत के उन तत्समों की सूची है, जो संस्कृत से होते हुए हिन्दी में आये हैं–

तत्सम	हिन्दी	तत्सम	हिन्दी
आम्र	आम	गोमल, गोमय	गोबर
उष्ट्र	ऊँट	घोटक	घोड़ा
चुल्लि:	चूल्हा	शत	सौ
चतुष्पादिक	चौकी	सपत्नी	सौत
शलाका	सलाई	हरिद्रा	हल्दी, हरदी
चंचु	चोंच	पर्यक	पलंग
त्वरित	तुरत, तुरन्त	भक्त	भात
उद्वर्तन	उबटन	सूचि	सुई
खर्पर	खपरा, खप्पर	सक्तु	सत्तू
तिक्त	तीता	क्षीर	खीर

11.2.1.2 तद्‌भव

ऐसे शब्द, जो संस्कृत और प्राकृत से विकृत होकर हिन्दी में आये हैं, 'तद्‌भव' कहलाते हैं। तत्+भव का अर्थ है–उससे (संस्कृत से)। ये शब्द संस्कृत से सीधे न आकर पालि, प्राकृत और अपभ्रंश से होते हुए हिन्दी में आये हैं। इसके लिए इन्हें एक लम्बी यात्रा तय करनी पड़ी है। सभी तद्‌भव शब्द संस्कृत से आये हैं, परन्तु

नोट

कुछ शब्द देश-काल के प्रभाव से ऐसे विकृत हो गये हैं कि उनके मूलरूप का पता नहीं चलता। फलतः, तद्भव शब्द दो प्रकार के हैं-(1) संस्कृत से आनेवाले और (2) सीधे प्राकृत से आनेवाले। हिन्दी भाषा में प्रयुक्त होनेवाले बहुसंख्य शब्द ऐसे तद्भव हैं, जो संस्कृत-प्राकृत से होते हुए हिन्दी में आये हैं। हिन्दी में शब्दों के सरलतम रूप बनाये रखने का पुराना अभ्यास है। निम्नलिखित उदाहरणों से तद्भव शब्दों के रूप स्पष्ट हो जायेंगे-

संस्कृत	प्राकृत	तद्भव हिन्दी
अग्नि	अग्गि	आग
मया	मई	मैं
वत्स	वच्छ	बच्चा, बाछा
चतुर्दश	चोद्दस, चउद्दह	चौदह
पुष्प	पुप्फ	फुल
चतुर्थ	चउट्ठ, चडत्थ	चौथा
प्रिय	प्रिय	पिय, पिया
कूतः	कओ	किया
मध्य	मज्झ	में
मयूर	मऊर	मोर
वचन	वअण	बैन
नव	नअ	नौ
चत्वारि	चतारि	चार
अर्द्धतृतीय	अड्ढतइअ	अढ़ाई, ढाई

11.2.1.3 देशज

'देशज' वे शब्द हैं, जिनकी व्युत्पत्ति का पता नहीं चलता। ये अपने ही देश में बोलचाल से बने हैं, इसलिए इन्हें देशज कहते हैं। हेमचन्द्र ने उन शब्दों को 'देशी' कहा है, जिनकी व्युत्पत्ति किसी संस्कृत धातु या व्याकरण के नियमों से नहीं हुई। लोकभाषाओं में ऐसे शब्दों की अधिकता है। जैसे-तेंदुआ, चिड़िया, कटरा, अण्टा, ठेठ, कटोरा, खिड़की, ठुमरी, खखरा, चसक, जूता, कलाई, फुनगी, खिचड़ी, पगड़ी, बियाना, लोटा, डिबिया, डोंगा, डाब इत्यादि। विदेशी विद्वान् जॉन बीम्स ने देशज शब्दों को मुख्यरूप से अनार्यस्त्रोत से सम्बद्ध माना है।

क्या आप जानते हैं अज्ञात व्युत्पत्तिक शब्दों का दूसरा नाम देशज शब्द है।

11.2.1.4 विदेशी शब्द

विदेशी भाषाओं से हिन्दी में आये शब्दों को 'विदेशी शब्द' कहते है। इनमें फारसी, अरबी, तुर्की, अँगरेजी, पुर्तगाली और फ्रांसीसी भाषाएँ मुख्य हैं। अरबी, फारसी और तुर्की के शब्दों को हिन्दी ने अपने उच्चारण के अनुरूप या अपभ्रंश रूप में ढाल लिया है। हिन्दी में उनके कुछ हेर-फेर इस प्रकार हुए हैं-

1. क़, ख़, ग़, फ, जैसे नुक्तेदार उच्चारण और लिखवट को हिन्दी में साधारणतया बिना नुक्ते के उच्चरित किया और लिखा जाता है। जैसे-क़ीमत (अरबी) - कीमत (हिन्दी), ख़ूब (फारसी) = खूब (हिन्दी), आग़ा (तुर्की) = आगा हिन्दी, फ़ैसला (अरबी) = फैसला (हिन्दी)।

नोट

2. शब्दों के अन्तिम विसर्ग की जगह में आकार की मात्रा लगाकर लिखा या बोला जाता है। जैसे–आईनः और कमीनः (फारसी) = आईना और कमीना (हिन्दी), हैजः (अरबी) = हैजा (हिन्दी), चम्चः (तुर्की) = चमचा (हिन्दी)।
3. शब्दों के अन्तिम हकार की जगह हिन्दी में आकर की मात्रा कर दी जाती है। जैसे–अल्लाह (अरब) = अल्ला (हिन्दी)।
4. शब्दों के अन्तिम आकार की मात्रा को हिन्दी में हकार कर दिया जाता है। जैसे–परवा (फारसी) = परवाह (हिन्दी)।
5. शब्दों के अन्तिम अनुनासिक आकार को 'आन' कर दिया जाता है। जैसे–दुकाँ (फारसी) = दुकान (हिन्दी), ईमाँ (अरबी) = ईमान (हिन्दी)।
6. बीच के 'इ' को 'य' कर दिया जाता है। जैसे–काइदः (अरबी) = कायदा (हिन्दी)।
7. बीच के आधे अक्षर को लुप्त कर दिया जाता है। जैसे–नश्शः (अरबी) = नशा (हिन्दी)।
8. बीच के आधे अक्षर को पूरा कर दिया जाता है। जैसे–अफ्सोस, गर्म, बेरहम, किश्मिश, जह, (फारसी) = अफसोस, गरम, जहर, किशमिश, बेरहम (हिन्दी)। तर्फ, नह्र, कस्रत (अरबी) = तरफ, नहर, कसरत (हिन्दी)। चम्चः तम्गा (तुर्की) = चमचा, तमगा (हिन्दी)।
9. बीच की मात्रा लुप्त कर दी जाती है। जैसे–आबोदानः (फारसी) = आबदाना (हिन्दी), ज्वाहिर, मौसिम, वापिस (अरबी) = जवाहर, मौसम, वापस (हिन्दी), चुगुल (तुर्की) = चुगल (हिन्दी)।
10. बीच में कोई ह्रस्व मात्रा (खासकर 'इ' की मात्रा) दे दी जाती है जैस–आतशबाजी (फारसी) = आतिशबाजी (हिन्दी)। दुन्या, तक्यः (अरबी) = दुनिया, तकिया (हिन्दी)।
11. बीच की ह्रस्व मात्रा को दीर्घ में, दीर्घ मात्रा को ह्रस्व में या गुण में, गुण मात्रा को ह्रस्व में और ह्रस्व मात्रा को गुण में बदल देने की परम्परा है। जैस–खुराक (फारसी) = खूराक (हिन्दी) (ह्रस्व के स्थान में दीर्घ), आईनः (फारसी) = आइना (हिन्दी) (दीर्घ के स्थान में ह्रस्व); उम्मीद (फारसी) = उम्मेद (हिन्दी) (दीर्घ 'इ' के स्थान में गुण 'ए'); देहात (फारसी) = दिहात (हिन्दी) (गुण 'ए' के स्थान में 'इ'); मुग़ल (तुर्की) = मोगल (हिन्दी) ('उ' के स्थान में गुण 'ओ')।
12. अक्षर में सवर्गी परिवर्तन भी कर दिया जाता है। जैसे–बालाई (फारसी) = मलाई (हिन्दी) ('ब' के स्थान में उसी वर्ग का वर्ण 'म')।

हिन्दी के उच्चारण और लेखन के अनुसार हिन्दी-भाषा में घुले-मिले कुछ विदेशी शब्द आगे दिये जाते हैं।

(अ) फारसी शब्द

अफसोस, आबदार, आबरू, आतिशबाजी, सदा, आराम, आमदनी, आवारा, आफत, आवाज, आईना, उम्मीद, कद, कबूतर, कमीना, कुश्ती, कुश्ता, किशमिश, कमरबन्द, किनारा, कूचा, खाल, खुद, खामोश, खरगोश, खुश खुराक, खूब, गर्द, गज, गुम, गल्ला, गोला, गवाह, गिरफ्तार, गरम, गिरह, गुलूबन्द, गुलाब, गुल, गोश्त, चाबूक, चादर, चिराग, चश्मा, चरखा, चूँकि, चेहरा, चाशनी, जंग, जहर, जीन, जोर, जबर, जिन्दगी, जादू, जागीर, जान, जुरमाना, जिगर, जोश, तरकश, तमाशा, तेज, तीर, ताक, तबाह, तनख्वाह, ताजा दीवार, देहात, दस्तूर, दुकान, दरबार, दंगल, दिलेर, दिल, दवा, नामर्द, नाव, नापसन्द, पलंग, पैदावार, पलक, पुल, पारा, पेशा, पैमाना, बेवा, बहरा, बेहूदा, बीमार, बेरहम, मादा, माशा, मलाई, मुफ्त, मोर्चा मीना, मुर्गा, मरहम, याद, यार, रंग, रोगन, राह, लश्कर, लगाम, लेकिन, वर्ना, वापिस, शादी, शोर, सितारा, सरासर, सुर्ख, सरदा, सरकार, सूद, सौदागर, हफ्ता, हजार, इत्यादि।

(आ) अरबी शब्द

अदा अजब, अमीर, अजीब, अजायब, अदावत, अक्ल, असर, अहमक, अल्लाह, आसार, आखिर, आदमी, आदत, इनाम, इजलास, इज्जत, इमारत, इस्तीफा, इलाज, ईमान, उम्र, एहसान, औसत, औरत, औलाद, कसूर, कदम, कब्र, कसर, कमाल, कर्ज, किस्त, किस्मत, किस्सा, किला, कसम, कीमत, कसरत, कुर्सी, किताब, कायदा, कातिल, खबर, खत्म, खत, खिदमत, खराब, खयाल, गरीब, गैर, जाहिल, जिस्म, जलसा, जनाब, जवाब, जहाज, जालिम,

नोट

जिक्र, जेहन, तमाम, तकाजा, तारीख, तकिया, तमाशा, तरफ, तै, तादाद, तरक्की, तजुरबा, दाखिल, दिमाग, दवा, दाबा, दावत, दफ्तर, दगा, दुआ, दफा, दल्लाल, दुकान, दिक, दुनिया, दौलत, दान, दीन, नतीजा, नशा, नाल, नकद, नहर, फकीर, फायदा, फैसला, बाज, बहस, बाकी, मुहावरा, मदद, मुद्दई, मरजी, माल मिसाल, मजबूर, मुंसिफ, मामूली, मुकदमा, मुल्क, मल्लाह, मवाद, मौसम, मौका, मौलवी, मुसाफिर, मशहूर, मजमून, मतलब, मानी, मात, यतीम, राय, लिहाज, लफ्ज, लहजा, लिफाफा, लियाकत, लायक, वारिस, वहम, वकील, शराब, हिम्मत, हैजा, हिसाब, हरामी, हद, हज्जाम, हक, हुक्म, हाजिर, हाल, हाशिया, हाकिम, हमला, हवालात, हौसला, इत्यादि।

(इ) तुर्की शब्द

आगा, आका, उजबक, उर्दू, कालीन, काबू, कज्जाक, काबू, कज्जाक, कैंची, कुली, कुर्की, चिक, चेचक, चमचा, चुगुल, चकमक, जाजिम, तमगा, तोप, तलाश, बेगम, बहादुर, मुगल, लफंगा, लाश, सौगात, सुराग इत्यादि।

(ई) अँगरेजी शब्द

(अँगरेजी) तत्सम	तद्भव	(अँगरेजी) तत्सम	तद्भव
ऑफीसर	अफसर	थियेटर	थेटर, ठेठर
एंजिन	इंजन	टरपेण्टाइन	तारपीन
डॉक्टर	डाक्टर	माइल	मील
लैनटर्न	लालटेन	बॉटल	बोतल
स्लेट	सिलेट	कैप्टेन	कप्तान
हॉस्पिटल	अस्पताल	टिकट	टिकस

इनके अतिरिक्त, हिन्दी में अँगरेजी के कुछ तत्सम शब्द ज्यों-के-त्यों प्रयुक्त होते है। इनके उच्चारण में प्रायः कोई भेद नहीं रह गया है। जैसे–अपील, आर्डर, इंच, इण्टर, इयरिंग, एजेन्सी, कम्पनी, कमीशन, कमिशनर, कैम्प, क्लास, क्वार्टर, क्रिकेट, काउन्सिल, गार्ड, गजट, जेल, चेयरमैन, ट्यूशन, डायरी, डिप्टी, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, ड्राइवर, पेन्सिल, फाउण्टेन पेन, नम्बर, नोटिस, नर्स, थर्मामीटर, दिसम्बर, पार्टी, प्लेट, पार्सल, पेटोल, पाउडर, प्रेस, फ्रेम, मीटिंग, कोर्ट, होल्डर, कॉलर इत्यादि।

टास्क अरबी तथा फारसी ध्वनियों से बनने वाले कुछ शब्द को अर्थ के साथ समझाइए। यथा–राज (शासन) राज (भेद)

(उ) पुर्तगाली शब्द

हिन्दी	पुर्तगाली
अलकतरा	Alcatrao
अनन्नास	Annanas
आलपीन	Alfinete
आलमारी	Almario
बाल्टी	Balde
किरानी	Carrane
चाबी	Chave
फीता	Fita
तम्बाकू	Tobacco

नोट

इसी तरह, आया, इस्पात, इस्तिरी, कमीज, कनस्टर, कमरा, काजू, क्रिस्तान, गमला, गोदाम, गोभी, तौलिया, नीलाम, परात, पादरी, पिस्तौल, फर्मा, बुताम, मस्तूल, मेज, लबादा, साया, सागू, आदि, पुर्तगाली, तत्सम के तद्भव रूप भी हिन्दी में प्रयुक्त होते हैं।

ऊपर जिन शब्दों की सूची दी गयी है उनसे यह स्पष्ट है कि हिन्दी भाषा में विदेशी शब्दों की कमी नहीं है। ये शब्द हमारी भाषा में दूध-पानी की तरह मिले हैं। निस्सन्देह, इनसे हमारी भाषा समृद्ध हुई है।

स्व-मूल्यांकन

सही विकल्प चुनिए–

1. डा. भोलानाथ तिवारी ने शब्द का विस्तृत विवेचन अपनी किस पुस्तक में किया है–
   (क) मानक भाषा का रूप (ख) शब्द विज्ञान (ग) भाषा विज्ञान
2. अज्ञात व्युत्पत्तिक शब्दों का दूसरा नाम क्या है।
   (क) अनुकरणात्मक शब्द (ख) परिभाषिक शब्द (ग) देशज शब्द
3. दो या दो से अधिक भाषाओं के शब्द या शब्दांश जब संयुक्त रूप में प्रयुक्त होते हैं तो उन्हें किस नाम से जाना जाता है?
   (क) संकर शब्द (ख) देशज शब्द (ग) विदेशी शब्द
4. व्युत्पत्तिकी दृष्टि से शब्दों के कितने भेद हैं?
   (क) चार (ख) ग्यारह (ग) तीन
5. बनावट के आधार पर शब्दों के कितने भेद हैं?
   (क) आठ (ख) पाँच (ग) तीन

11.2.2 रचना अथवा बनावट के आधार पर शब्दों का वर्गीकरण

शब्दों अथवा वर्णों के मेल से नये शब्द बनाने की प्रक्रिया को 'रचना या बनावट' कहते हैं। कई वर्णों को मिलाने से शब्द बनता है और शब्द के खण्ड को 'शब्दांश' कहते हैं। जैसे–'राम' में शब्द के दो खण्ड हैं–'रा' और 'म'। इन अलग-अलग शब्दांशों का कोई अर्थ नहीं है। इसके विपरीत, कुछ ऐसे भी शब्द हैं, जिनके दोनों खण्ड सार्थक होते हैं। जैसे–विद्यालय। इस शब्द के दो अंश हैं–'विद्या' और 'आलय'। दोनों के अलग-अलग अर्थ हैं। इस प्रकार, बनावट के विचार से शब्द के तीन प्रकार हैं–(1) **रूढ़**, (2) **यौगिक और** (3) **योगरूढ़**।

11.2.2.1 रूढ़ शब्द

जिन शब्दों के खण्ड सार्थक न हों, उन्हें रूढ़ कहते हैं; जैसे–नाक, कान, पीला, झट, पर। यहाँ प्रत्येक शब्द के खण्ड–जैसे, 'ना' और 'क', 'का' और 'न'–अर्थहीन हैं।

11.2.2.2 यौगिक शब्द

ऐसे शब्द, जो दो शब्दों के मेल से बनते हैं और जिनके खण्ड सार्थक होते हैं, यौगिक कहलाते हैं। दो या दो से अधिक रूढ़ शब्दों के योग से यौगिक शब्द बनते है; जैसे–आग-बबूला, पीला-पन, दूध-वाला, छल-छन्द, घुड़-सवार इत्यादि। यहाँ प्रत्येक शब्द के दो खण्ड हैं और दोनों खण्ड सार्थक हैं।

11.2.2.3 योगरूढ़ शब्द

ऐसे शब्द, जो यौगिक तो होते हैं, पर अर्थ के विचार से अपने सामान्य अर्थ को छोड़ किसी परम्परा से विशेष अर्थ के परिचायक हैं, योगरूढ़ कहलाते हैं। मतलब यह कि यौगिक शब्द जब अपने सामान्य अर्थ को छोड़ विशेष अर्थ बताने लगें, तब वे 'योगरूढ़' कहलाते हैं; जैसे–लम्बोदर, पंकज, चक्रपाणि, जलज इत्यादि। 'पंक+ज' अर्थ है 'कीचड़ से (मैं) उत्पन्न; पर इससे केवल 'कमल' का अर्थ लिया जायेगा, अत: 'पंकज' योगरूढ़ है इसी तरह, अन्य शब्दों को भी समझना चाहिए।

नोट

11.3 सारांश

मनुष्य सर्वाधिक सचेत और सामाजिक प्राणी है। समाज में रहते हुए उसे विचार-विमर्श की आवश्यकता होती है।भाषा में शब्द का महत्त्व स्वतः सिद्ध है, क्योंकि भाषा में मूलतः दो ही तत्त्व होते हैं– शब्द और व्याकरण। शब्द को ही विचार मान सकते हैं, क्योंकि शब्द ही विचार के विधायक हैं।

भाषा सामाजिक प्राणियों के मस्तिष्क में एकत्रित विकासशील अभिव्यक्ति का माध्यम है, तो शब्द भाषा की सार्थक स्वतंत्र लघुतम इकाई है। जब शब्दों को व्याकरण का आधार मिल जाता है, तो भाषा का रूप सामने आता है। मूल शब्द के एक अथवा अनेक अर्थ होते हैं। व्याकरण के अभाव में अनेक शब्दों का समूह पूर्ण अर्थ प्रकट कर दे, यह सदा संभव नहीं होता है। भाषा का सदा ही पूर्ण अर्थ होगा क्योंकि उसको किसी न किसी प्रकार का व्याकरणिक आधार प्राप्त होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि शब्द सार्थक इकाई है और भाषा पूर्ण अभिव्यक्ति का आधार है। संस्कृत व्याकरण में शब्द को ब्रह्म की भी संज्ञा दी गई है। वैदिक साहित्य में ऐसा शब्दार्थ अनेक स्थलों पर मिलता है जहाँ पर दार्शनिक भावाभिव्यक्ति होती है, वहाँ ऐसा ही अर्थ निकलता है। डॉ. भोलानाथ तिवारी ने 'भाषा-विज्ञान कोश' में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए है- "शब्द का बंध शब्द् धातु से है, जिसका अर्थ है-शब्द करना। प्रसिद्ध हिंदी वैयाकरण प. कामताप्रसाद गुरु ने 'हिंदी व्याकरण' में शब्द की परिभाषा करते हुए कहा है- "एक या अधिक अक्षरों से बनी हुई स्वतंत्र सार्थक ध्वनि को शब्द कहते हैं।"

किसी व्यक्ति, कृति या भाषा के शब्द-समूह में कई प्रकार के शब्द होते हैं। अज्ञातव्युत्पत्तिक (देशज) परंपरागत शब्द देशी शब्द, विदेशी शब्द, संकर शब्द, पारिभाषिक शब्द, अनुकरणात्मक शब्द।

11.4 शब्दकोश

1. **स्फोट ध्वनि–** वेग से ध्वनि का बाहर निकलना।
2. **वैयाकरण–** व्याकरण संबंधी, व्याकरण का ज्ञाता।
3. **संकर–** मिश्रण, योग, दो या अधिक अलंकारों का संयोग, मेल से बना हुआ।
4. **देशज–** बोलचाल की भाषा से स्वतः उत्पन्न हुआ शब्द।

11.5 अभ्यास प्रश्न

1. शब्द की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डालिए एवं परिभाषा समझाइए।
2. शब्द के प्रकार का विस्तार से उल्लेख कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन

1. (ख) 2. (ग) 3. (क) 4. (क) 5. (ग)

11.6 संदर्भ पुस्तकें

पुस्तकें

1. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा–* नरेश मिश्र, संजय प्रकाशन, दिल्ली
2. *आधुनिक हिंदी व्याकरण और रचना–* डॉ॰ वासुदेव नंदन प्रसाद, भारती भवन, पटना
3. *हिंदी प्रयोग–* रामचंद्र वर्मा/बदरीनाथ कपूर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

नोट

इकाई 12: रूप परिवर्तन के कारण एवं दिशाएँ

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- रूप परिवर्तन के कारण एवं रूप परिवर्तन की विभिन्न दिशाओं से परिचित होंगे।

प्रस्तावना

भाषा की व्याकरणात्मक अभिव्यक्ति का लघुतम माध्यम 'रूप' है। दूसरी शब्दावली में कहा जा सकता है कि ध्वनियों का सार्थक युग्म 'रूप' है जो व्याकरण के अनुशासन में परिवर्तित होकर कथन की आकृति में दिखलाई पड़ता है। रूप का यही लघु और दीर्घ समूह-वाक्य कहा जाता है। 'रूप' को 'पद' भी कहते है। अर्थात् 'रूप' एवं 'पद' एक दूसरे के पर्याय हैं। अत: रूपों या पदों का सम्यक् अध्ययन और प्रयोग रूपविज्ञान की संज्ञा प्राप्त करता है। परन्तु यहीं एक तथ्य ध्यान रखने योग्य है कि 'पद' संज्ञा 'शब्द' संज्ञा का पर्याय नहीं है। 'शब्द' और 'पद' में अन्तर होता है। सार्थक ध्वनि समूह 'शब्द' कहलाता है तो वाक्य में शब्द का प्रयोग 'पद' कहा जाता है। यहीं यह भी ध्यान रखने की बात है कि बिना 'पद' या रूप बनाए किसी भी मूल शब्द (प्रातिपदिक या धातु) का प्रयोग वाक्य में नहीं किया जा सकता। संस्कृत-वैय्याकरणों ने निर्देशित भी किया है कि '**नाविभक्तिकं पदं प्रयुञ्जीत**'। अर्थात् विभक्ति रहित पद का प्रयोग भाषा में नहीं करना चाहिए।

12.1 रूप-परिवर्तन के कारण एवं दिशाएँ

'रूप' का सम्बन्ध ध्वनियों से है। अत: सामान्य तौर पर रूप-परिवर्तन और ध्वनि-परिवर्तन में विभाजक रेखा खींच पाना कठिन कार्य लगता है। किन्तु इन दोनों में वैज्ञानिक विभेद है। ध्वनि-परिवर्तन से पद की एक-दो ध्वनियाँ प्रभावित होती हैं और रूप-परिवर्तन से पद का सम्पूर्ण आकार बदल जाता है। इस तरह कहा जा सकता है कि ध्वनि-परिवर्तन का क्षेत्रफल बड़ा होता है और रूप-परिवर्तन का सीमित।

नोट

क्या आप जानते हैं 'रूप' और 'पद' एक दूसरे के पर्याय हैं। अत: रूपों या पदों का सम्यक अध्ययन रूपविज्ञान कहलाता है।

12.1.1 रूप परिवर्तन के कारण

रूप-परिवर्तन के उल्लेखनीय कारण निम्नांकित हैं–

1. **सरलीकरण की प्रवृत्तिः** सरलीकरण की प्रवृति मानव की वृत्ति रही है। साथ ही कठिनता से सरलता की ओर बढ़ना भाषा की भी प्रकृति होती है। अत: इस प्रकृति और प्रवृति ने रूप-परिवर्तन में योगदान किया है। हिन्दी में कारकों वचनों एवं लिंगों की रूप-संख्या में न्यूनता इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। भाषा-व्याकरण के इन रूपों में पहले संख्याधिक्य के कारण जहाँ क्लिष्टता का अनुभव होता था वहाँ इनकी संख्यात्मक न्यूनता के कारण सरलता आ गयी है। कुछ उदाहरण और भी लिए जा सकते हैं। वैदिक व्याकरण का 'लेट लकार' संस्कृत में लुप्त हो गया है तथा संस्कृत के 'सुप्' और 'तिङ्' प्रत्यय हिन्दी में लुप्त हो चुके हैं। इस तरह रूप-रचना में सरलीकरण की प्रवृत्ति ने एक नए भाषा रूप को जन्म दिया है।

2. **नवीनताबोधः** नये के प्रति ललक का भाव मानवीय प्रकृति है। शब्दों की रूप-रचना में भी उसकी यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। परम्परागत शब्दों के प्रयोग से ऊबकर मानव-मेधा अभिनव शब्दबोध के प्रति जिज्ञासु बनती है और इसी कड़ी में उसके द्वारा नवीन और सुन्दर पद-रूप गढ़ लिये जाते हैं, जैसे-सुन्दरता से सौन्दर्य, विविधता से वैविध्य, विशेषता से वैशिष्ट्य, नवीनता से नव्य एवं मृदुता से मार्दव आदि।

3. **सादृश्य-समीकरणः** रूप-रचना में वैविध्य लाने के लिए सादृश्य-समीकरण का प्रयोग किया जाता है। रूप-परिवर्तन में सादृश्य-विधान का उपयोग संसार की प्राय सभी जीवित भाषाओं ने किया है। संस्कृत और हिन्दी भाषाओं से कुछ उदाहरण लिये जा सकते हैं। संस्कृत में करिन् + आ = करिना (करिणा) एवं दण्डिन् + आ = दण्डिना जैसे शब्दों में 'ना' का संयोग व्याकरणसम्मत है। इन शब्दों के सादृश्य पर हरि + आ = हरिणा एवं वारि + आ = वारिणा जैसे शब्द प्रयोग व्याकरणविरुद्ध हैं परन्तु सादृश्य-समीकरण के कारण इनके प्रयोग चलने लगे। इसी तरह हिन्दी में 'तीनों' के सादृश्य पर 'दोनों' शब्द चलने लगा है जबकि 'दो' शब्द व्याकरणसम्मत है।

4. **स्पष्टताः** भाषिक स्पष्टताबोध ने रूप-परिवर्तन में नये प्रयोग किये हैं। भाषा का प्रयोक्ता अपनी अभिव्यक्ति को अधिक स्पष्ट करने के लिए भाषा के अपने ही पुराने रूप को बदल देता है। उसे जब तक लगता रहता है कि उसकी बात ठीक से नहीं समझी जा रही है जब तक अपनी भाषा को भिन्न-भिन्न रूपों में रचता रहता है। इस रचाव की मनोदशा उसकी भाषा को अधिक स्पष्ट आकृति देती है। इस तरह की रूप-रचना व्याकरणसम्मत तो नहीं होती किन्तु स्पष्ट होती है, जैसे-'दरअसल में' एवं 'सर्वश्रेष्ठ' सरीखे स्पष्टतावादी शब्दों को लिया जा सकता है। 'दर' का अर्थ ही होता है 'में', फिर भी स्पष्ट होने की दशा में 'दरअसल में' जैसा नया रूप चल पड़ा है। इसी तरह 'श्रेष्ठ' का अर्थ ही होता है 'सबसे अच्छा', फिर भी अधिक स्पष्टता के लिए 'सर्वश्रेष्ठ' जैसा नया रूप चलाया जा चुका है।

नोट्स अपनी बात को स्पष्ट करने के उद्देश्य से भाषा प्रयोक्ता शब्द के रूप परिवर्तन पर जोर देने लगा है। यथा-श्रेष्ठ शब्द जो कि 'सबसे अच्छा' का अर्थ देता है उसकी जगह सर्वश्रेष्ठ का प्रयोग किया जाने लगा है और यह शब्द रूढ़ होकर मान्य भी हो गया है।

5. अज्ञान: भाषा-व्याकरण की जानकारी के अभाव में आजकल अनेक शब्द-रूपों के प्रचलन चल पड़े हैं। अत: कतिपय रूप-रचना ज्ञान के अभाव में एक कारण के रूप में होती रहती है। इस तरह के रूप-परिवर्तन हिन्दी में अधिक हिन्दी में अधिक मिलते हैं। इसका भी एक प्रधान कारण है। चूँकि हिन्दी ने दूसरी भाषाओं के शब्दों को अधिक आत्मसात् किया है। इसलिए जब तक दूसरी भाषाओं की व्याकरण-संस्कृति का ज्ञान नहीं होगा तब तक हिन्दी-भाषी ऐसी अज्ञानता का परिचय देते रहेंगे। कुछ उदाहरण लिये जा सकते हैं-श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर, श्रेष्ठतम, सर्वश्रेष्ठ, उपर्युक्त से उपरोक्त, फिजूल से बेफ़जूल; पूजनीय से पूज्यनीय; सौन्दर्य से सौन्दर्यता; अनुगृहीत से अनुग्रहीत एवं संयासी से सन्यासी इत्यादि।

6. बल-प्रयोग: बल देने अथवा कथन पर जोर देने के लिए भी भाषा के रूप में परिवर्तन हो जाता है। उदाहरण के लिए कुछ रूप-रचना के नमूने लिये जा सकते हैं—खालिस के स्थान पर 'निखालिस', खिलाफ के स्थान पर 'बेलिलाफ', अनेक स्थान पर 'अनेकों' एवं इस्तीफा के स्थान पर 'इस्थीपा' इत्यादि।

7. आवश्यकता: आवश्यकता के कारण आविष्कार का होना सर्वविदित बात है। भाषा की रूप-रचना में भी इस तथ्य को स्वीकारा जा सकता है। भाषा में हमें जो सम्प्रेषित करना है यदि वह सम्प्रेषण नहीं हो पा रहा है तो भाषा के उस रूप को हम बदल देते हैं जिसमें पहले बात कही गयी थी। उदाहरण के लिए हिन्दी में कबीर एवं बिहारी के भाषिक नमूने पर्याप्त होगें। अपनी साधना की रीति पर कबीर ने 'साधू' की जगह 'साधो-रूप चलाया' जिसका अभिप्राय था 'साधना'। इसी तरह बिहारी ने प्राकृतिक सौन्दर्य को पत्र की पंक्तियों में तलाशते हुए 'पत्र ही तिथि पाइयत' जैसे शब्द रूपों की रचना की है।

टास्क नवीनता-बोध के कारण शब्द के रूप परिवर्तन का पाठ से इतर उदाहरण दीजिए।

12.1.2 रूप-परिवर्तन की दिशाएँ

रूप-परिवर्तन सामान्यतया निम्नांकित दिशाओं में लक्षित किया जा सकता है—

1. पुराने रूपों का लोप: रूप-परिवर्तन की दिशाओं में एक दिशा पुराने प्रचलित रूपों के विलोप की है। ध्वनि-परिवर्तन की स्थिति में पुराना प्रयोग होने के कारण सम्बन्धतत्त्व लुप्त हो जाते हैं। परिणामत: अर्थबोध की बाधा आने पर सम्बन्धतत्त्व के नये रूप जोड़ लिये जाते हैं। इस तरह नये रूप प्रचलित होकर पुराने का धीरे-धीरे परित्याग कर देते हैं। उदाहरण के लिए संस्कृत के प्रयोग रूप को छोड़कर हिन्दी के प्रयोग रूप ने अपने को परिवर्तित कर लिया है। आज हिन्दी में तीन कारक रह गये हैं जबकि संस्कृत में आठ कारक रूप-पचलित थे। इसी तरह हिन्दी में दो ही वचन और दो ही लिंग रह गये हैं जबकि संस्कृत में तीन वचन और तीन लिंग के प्रचलन मिलते हैं।

2. सादृश्य के कारण नये रूपों का उद्भव: रूप-परिवर्तन की एक दिशा सादृश्य-विधि है। सादृश्य के कारण सम्बन्धतत्त्व के नये रूप विकसित होकर अनेकरूपता का परिचय देते हैं। इस विधि में नवीनता का आकर्षण रहता है। हिन्दी में परसर्गों का विकास यही सादृश्य-विधान है। 'चलिए' और 'पढ़िए' के सादृश्य का आधार लेते हुए 'कीजिए' के स्थान पर 'करिए' का उदाहरण लिया जा सकता है।

3. प्रत्यय और शब्दों में अधिकपदत्त्व: रूप-परिवर्तन के कुछ अस्वाभाविक अभिलक्षण मिलते हैं जिनके प्रयोग जाने-अनजाने बहुत से लोग करते हैं। अर्थात् एक प्रत्यय के होते दूसरे प्रत्यय का प्रयोग तथा उपयुक्त शब्द के होते दूसरे शब्द का प्रयोग लोगों द्वारा किया जाता है, जैसे-'कागजात' से 'कागजातों', 'अनेक' से 'अनेकों' शब्द-प्रयोगों में क्रमश: 'आत्' एवं 'इक' प्रत्यय मौजूद हैं। इनके साथ क्रमश: 'ओं' भी जोड़कर अतिरिक्त प्रत्यय लगाये गये हैं। इसी तरह 'सर्वश्रेष्ठ' एवं 'दरअसल' शब्दों में 'सर्व' तथा 'दर' शब्द अधिक हैं, परन्तु रूप रचना में ऐसे भी अधिकपदत्व मिलते हैं।

स्व-मूल्यांकन

दिए गए कथन के सामने सही (✓) अथवा गलत (×) का निशान लगाइए–

1. हिंदी में भी संस्कृत की तरह तीन लिंगों का प्रयोग होने लगा है। ☐
2. रूप और पद एक दूसरे के पर्याय हैं। ☐
3. रूप परिवर्तन के कारण संपूर्ण पद का आकार बदल जाता है। ☐
4. हिंदी में चूँकि अन्य भाषाओं के शब्द आत्मसात् नहीं किए गए हैं अत: रूप परिवर्तन भी कम ही देखने में आता है। ☐

4. अभिनव रूप-रचना: कुछ पुराने और कुछ नये रूपों को ग्रहण कर आजकल प्रत्ययों के अभिनव रूप प्रचलित हैं। उदाहरण के लिए 'छठा' पुराना रूप है तो 'छठवाँ' नया रूप है।

5. रूप-परिवर्तन की मौलिक दिशा: पदों की आकृति में समूल परिवर्तन करके नयी पद-रचना की एक स्वतन्त्र संस्कृति इधर दिखलाई पड़ती है। उदाहरण के तौर पर 'तुझको' के स्थान पर 'तेरे की', 'किया' के स्थान 'करी' तथा 'मुझको' के स्थान पर 'मेरे को' देखे जा सकते हैं।

12.2 सारांश

भाषा की व्याकरणात्मक अभिव्यक्ति का लघुतम माध्यम 'रूप' है। दूसरी शब्दावली में कहा जा सकता है कि ध्वनियों का सार्थक युग्म 'रूप' है जो व्याकरण के अनुशासन में परिवर्तित होकर कथन की आकृति में दिखलाई पड़ता है। रूप का यही लघु और दीर्घ समूह-वाक्य कहा जाता है। 'रूप' को 'पद' भी कहते है। अर्थात् 'रूप' एवं 'पद' एक दूसरे के पर्याय हैं। अत: रूपों या पदों का सम्यक् अध्ययन और प्रयोग रूपविज्ञान की संज्ञा प्राप्त करता है।

'रूप' का सम्बन्ध ध्वनियों से है। अत: सामान्य तौर पर रूप-परिवर्तन और ध्वनि-परिवर्तन में विभाजक रेखा खींच पाना कठिन कार्य लगता है। किन्तु इन दोनों में वैज्ञानिक विभेद है। ध्वनि-परिवर्तन से पद की एक-दो ध्वनियाँ प्रभावित होती हैं और रूप-परिवर्तन से पद का सम्पूर्ण आकार बदल जाता है। इस तरह कहा जा सकता है कि ध्वनि-परिवर्तन का क्षेत्रफल बड़ा होता है और रूप-परिवर्तन का सीमित।

रूप-परिवर्तन के उल्लेखनीय कारण निम्नांकित हैं– 1. सरलीकरण की प्रवृत्ति, 2. नवीनताबोध, 3. सादृश्य-समीकरण, 4. स्पष्टता, 5. अज्ञान, 6. बल-प्रयोग, 7. आवश्यकता

रूप-परिवर्तन की दिशाएँ– रूप-परिवर्तन सामान्यतया निम्नांकित दिशाओं में लक्षित किया जा सकता है– 1. पुराने रूपों का लोप, 2. सादृश्य के कारण नये रूपों का उद्भव, 3. प्रत्यय और शब्दों में अधिकपदत्त्य, 4. अभिनव रूप-रचना, 5. रूप-परिवर्तन की मौलिक दिशा

12.3 शब्दकोश

1. **जिज्ञासु–** जिसे जानने की इच्छा हो, उत्सुक
2. **आत्मसात्–** अपने अधिकार में अपने में मिलाना
3. **अनुगृहीत–** एहसानमंद, उपकृत

12.4 अभ्यास-प्रश्न

1. रूप परिवर्तन के कारणों पर प्रकाश डालिए।
2. रूप परिवर्तन की विभिन्न दिशाओं का उल्लेख कीजिए।

नोट

उत्तरः स्व-मूल्यांकन

1. (×) 2. (✓) 3. (✓) 4. (×)

12.5 संदर्भ पुस्तकें

1. *भाषा और भाषा विज्ञान*– गरिमा श्रीवास्तव, संजय प्रकाशन, दिल्ली
2. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा*– नरेश मिश्र, संजय प्रकाशन, दिल्ली
3. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा का स्वरूप*– विकास–देवेन्द्र प्रसाद सिंह, हिंदी बुक सेंटर, दिल्ली

इकाई 13: वाक्य की अवधारणा, वाक्य परिवर्तन के कारण एवं दिशाएँ

नोट

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- वाक्य की अवधारणा से परिचित होंगे।
- वाक्य परिवर्तन के कारणों से अवगत होंगे।
- वाक्य-रचना में परिवर्तन की विभिन्न दिशाओं से परिचित होंगे।

प्रस्तावना

भाषाविज्ञान में वाक्य की परिभाषा, वाक्यों की संरचना, वाक्य के मूलाधार, वाक्यों के प्रकार, वाक्यों के निकटस्थ अवयव और वाक्यों के रचनांतरण आदि पर विचार किया जाता है।

13.1 वाक्य की अवधारणा

वाक्य भाषा का लघुतम उच्चार है। भाषा शब्द भाष् धातु से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है बोलना। वाक्य की व्युत्पत्ति वाक् (बाच) धातु से मानते हैं। वाक् का अर्थ भी बोलना है। इस प्रकार भाषा और वाक्य दोनों का अर्थ बोलना ही निर्धारित किया गया है। वाक्य का अर्थ है 'वह जो बोला जाय।' भारतीय आचार्यों ने 'पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराने वाले शब्द समूह को वाक्य' कहा है।

ध्वनि, पद, अर्थ आदि भाषा के एकांश माने गए हैं, किंतु उच्चार या भाषा में वाक्य की ही प्रधानता है। यह सही है कि ध्वनि और शब्द या पद सार्थक होते हैं, किन्तु पूर्ण अर्थ या अभिलषित अर्थ की अभिव्यक्ति वाक्य से ही होती है। जैसे, राम है जाता घर मोहन खाता रोटी है। उपर्युक्त उदाहरण में ध्वनि, शब्द या पद सार्थक हैं, किन्तु इनसे पूर्ण अर्थ या इच्छित अर्थ की प्राप्ति नहीं होती। राम घर जाता है और मोहन रोटी खाता है। इससे इच्छित अर्थ व्यंजित होता है।

नोट

समय-समय पर भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने वाक्य की परिभाषा की है। कुछ प्रमुख विद्वानों की परिभाषाएँ उद्धृत हैं–

डॉ. जाल्मन दीमशित्स ने 'हिंदी व्याकरण' में कहा है– "वाक्य वाक्-क्रिया की एक समग्र इकाई के नाते वाक्य के लिए लाक्षणिक है, विधेयता, प्रकारता तथा अनुतान में पूर्णता।"

अरस्तू के अनुसार "A sentence is a composite significant sound, of which certain parts of themelves singnify themselves, for every sentence is composed from nouns and verbs, but there may be a sentence without verb." अर्थात् "वाक्य सार्थक ध्वनियों का समूह है, जिससे किसी भाव की अभिव्यक्ति होती है। प्रत्येक वाक्य संज्ञा और क्रिया से बनता है, किंतु क्रिया के बिना भी वाक्य रचना हो सकती है।"

वाक्य को परिभाषित करते हुए ब्लूमफील्ड ने कहा है– 'वाक्य एक पूर्ण उक्ति है।'

बाजेल के अनुसार, 'वाक्य एक ऐसी छोटी-से-छोटी इकाई है, जो इसी प्रकार की अन्य इकाइयों के साथ प्रतिनिधनीय सम्बन्ध रखती है'– The Sentence, the smallest unit such that every unit of the kind is commutable with every other.

सिमोन पॉटर कहते हैं कि 'वाक्य भाषा की मुख्य इकाई और लघुतम पूर्ण उच्चार है'– The sentence is the chief unit of speech. It may be difined quite simply as a minimum complete utterance.

ग्लीसन कहते हैं कि 'रूप और वाक्य के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना कठिन है'– The distinction between morphology and syntax is not always sharp.

पंतजलि ने महाभाष्य में वाक्य की परिभाषा इस प्रकार की है– "आख्यात साव्यकारक विशेषण वाक्यम्।" अर्थात् जहाँ क्रिया अव्यय, कारक तथा विशेषण पद एकत्र हों, उसे वाक्य कहते हैं।

आचार्य विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण में लिखा है– "वाक्यं स्याद् योग्य-ताकांक्षासक्तियुक्त: पदोच्चय:।" अर्थात् पदों का वह समूह जो योग्यता, आकांक्षा और आसक्ति से युक्त हो, उसे वाक्य कहते हैं।

डॉ. भोलानाथ तिवारी ने भाषाविज्ञान में वाक्य की परिभाषा इस प्रकार की है– "वाक्य भाषा की सहज इकाई है, जिसमें एक या अधिक शब्द हों, जो अर्थ की दृष्टि से पूर्ण हो या अपूर्ण व्याकरणि दृष्टि से अपने विशिष्ट संदर्भ में अवश्य पूर्ण होती है, साथ ही परोक्षरूप से कम से कम एक क्रिया का भाव अवश्य होता है।"

हिंदी के प्रसिद्ध वैयाकरण **पं. कामतप्रसाद गुरु** ने 'हिंदी व्याकरण' में वाक्य की परिभाषा में इस प्रकार दी है– "प्रत्येक पूर्ण विचार को वाक्य और प्रत्येक भावना को शब्द कहते हैं।"

आचार्य देवेंद्रनाथ शर्मा के अनुसार, "भाषा की न्यूनतम पूर्ण सार्थक इकाई वाक्य है।"

डॉ. देवेंद्रनाथ शर्मा ने ध्वनि, पद और वाक्य के आपसी संबंधों को रेखांकित करते हुए कहा है– "वाक्य पूर्णत: मानसिक या मनोवैज्ञानिक तत्त्व है उसमें पदों का प्रयोग भाव या विचार के अनुसार होता है। पद, ध्वनि और वाक्य के बीच की संयोजन कड़ी है, क्योंकि उसमें उच्चारण और सार्थकता दोनों का योग रहता है, किंतु न तो ध्वनि की तरह वह केवल उच्चारण है और न वाक्य की तरह पूर्णत: सार्थक।"

डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने ध्वनि, पद और वाक्य को सत्, चित्त और आनंद रूपों में स्वीकार करते हुए कहा है–ध्वनि, भाषा का शारीरिक तत्त्व, प्राकृतिक तत्त्व की प्रधानता के कारण प्रकृति के तुल्य 'सत्' हैं पद में शारीरिक तत्त्व, प्राकृतिक तत्त्व की प्रधानता के कारण प्रकृति के तुल्य 'सत्' हैं पद में शारीरिक और मानसिक दोनों तत्त्व के कारण अभिव्यक्ति रूप है, अत: आनंद या 'सच्चिदानंद' रूप है।

दोनों ही मतवादी आचार्य यह मानते हैं कि पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराने वाले शब्द-समूह की संज्ञा वाक्य है। वाक्य और पद दोनों का अस्तत्व इतना क्लिष्ट है कि उनका स्पष्ट अन्तर प्रकट करना बड़ा कठिन हैं ग्लीसन में भी कहा है कि पद और वाक्य के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना कठिन है।

आधुनिक भाषाविज्ञान वाक्य को ही महत्त्वपूर्ण सार्थक इकाई मानकर भाषा के विश्लेषण की और अग्रसर हैं अन्विताभिधानवादी सिद्धान्त से उसका सहज सम्बन्ध दिखाई पड़ता हैं आधुनिक भाषा-विज्ञान और अन्विताभिधानवाद

नोट

की सहमति के बावजूद अभिहितान्वयवादियों की स्थापना को सर्वथा गलत नहीं माना जा सकता। जब पद और वाक्य के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती तो अभिहितान्वयवादियों की इस स्थापना को कि पद ही भाषा का प्रमुख तत्त्व है, सर्वथा अस्वीकार्य नहीं किया जाना चाहिए।

'पदे न वर्णा' कारिका की व्याख्या करते हुए भर्तृहरि ने कहा है– 'वर्णा: पदानि च असत्यानि वाक्यमवेतु अक्रममपूर्वापरमेकं नित्यं सत्यम्। अर्थात् वर्ण और पद असत्य हैं। वाक्य ही क्रम और पूर्वापर से रहित, एक, नित्य और सत्य हैं 'वाक्य की ये विशेषताएँ वर्ण औरपदों की सापेक्षता में ही सच हैं। निश्चय ही वाक्य पर क्रम और पूर्वापर सम्बन्ध का बन्धन इतना नहीं है, जितना वर्ण और पद पर है। वाक्य भाषा की लघुतम सार्थक इकाई होने पर भी संपूर्ण अभिव्यक्ति का एक अंश मात्र हैं तात्पर्य कि वाक्य संपूर्ण वक्तव्य का एक खण्ड हे, हिस्सा हैं डॉ. बाबूराम सक्सेना के मत से 'इस चर्चा में हम न भी जाएँ कि वह वक्तव्य भी मनुष्य की संपूर्ण विचारधारा की एक लहर मात्र है और मनुष्य की संपूर्ण विचारधारा भी विचार की एक बड़ी धारा का अवयव मात्र है तो भी वाक्य वक्तव्य का अंश होने के कारण क्रम और पूर्वापर सम्बन्ध से तो बँधा हुआ है ही।

वाक्य की निरपेक्ष सत्ता नहीं होती। एक वाक्य अन्य वाक्यों से संदर्भित होता है। एक ही वाक्य संपूर्ण विचार को धारण करने में असमर्थ है। वाक्य संपूर्ण विचार, वक्तव्य या अभिव्यक्ति का अंश है। जैसे ध्वनियों की सार्थकता पद या रूप में है और पद की सार्थकता वाक्य के संदर्भ में होती है, उसी प्रकार वाक्य की सम्पूर्ण विचार के संदर्भ में सार्थकता स्वयंसिद्ध हो जाती है। व्याकरणिक संरचना की दृष्टि से एक वाक्य सम्पूर्ण हो सकती है, किन्तु प्रेषणीयना के संदर्भ से वह सम्पूर्ण प्रेषण-व्यापार का एक अंग मात्र ही ठहरता है। तात्पर्य कि अर्थ की दृष्ट से वाक्य की सत्त को सापेक्ष मानना उचित होगा। डॉ. भेलानाथ तिवारी भी कहते हैं कि 'वाक्य पूर्ण (पूरे भाव) के खण्ड मात्र हैं, अत: अपूर्ण हैं। मनोवैज्ञानिक भी वाक्य को अपूर्ण मानते हैं, क्योंकि वह भाव की अविच्छिन्न धारा का अंश मात्र हैं।

वाक्य की संरचना पदों या रूपों से होती है। रूप के बिना वाक्य की संरचना नहीं हो सकती। अत: पद जोड़कर वाक्य की संरचना हो या वाक्य तो तोड़कर पद की उपलब्धि हो, पद की अपनी सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पद या रूप में संरचना और अर्थ तत्त्व का संयोग होता है। संरचना अथवा उच्चारण का सम्बन्ध शरीर से है औ अर्थ मन से सम्बन्धित हैं 'पद ध्वनि और वाक्य के बीच की कड़ी है, क्यांकि उसमें उच्चारण और सार्थकता दोनों का योग रहता है, किन्तु न तो ध्वनि की तरह वह केवल उच्चारण है न वाक्य की तरह पूर्णत: सार्थक।

अभिहितान्वयवादियों के अनुसार पदार्थों का परस्पर संबंध पदों द्वारा उपस्थित न होने पर भी आकांक्षादि के बल से भाषित होता है। उनके अनुसार पद की संरचना से ही वाक्य के अर्थ की सिद्धि होती है। आचार्य विश्वनाथ ने वाक्य रूप पद समूह की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए कहा है– 'वाक्यं स्याद्योग्यताकांक्षासत्ति युक्त: पदोच्चय:' अर्थात् वाक्य ऐसे पदों का समूह है जिसमें योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति का रहना अनिवार्य है।

राजशेखर ने वाक्य के सरल स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा है–'पदानामभिधित्सितार्थ ग्रंथनाकर: संदर्भो वाक्यम्।' अर्थात् अभिधित्सित (जिसके प्रतिपादन की इच्छा हो) अर्थ का गुम्फन करने वाले पदो का संदर्भ वाक्य है। अर्थ-गुम्फम पर मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र और भाषाविज्ञान की दृष्टियों से विचार किया गया है। तर्कशक्ति के द्वारा 'योग्यता' का निर्धारण होता है। मनोविज्ञान की दृष्टि 'आकांक्षा' की उपादेयता सिद्ध करती है। भाषाविज्ञान 'आसत्ति' की विशेषताओं पर बल देता है। 'इस प्रकार आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति की विशेषताएँ ही अभिथित्सित अर्थ के गुम्फन करने वाले पद-संदर्भ की विशेषताओं वे ठ रूप में स्वीकार की गई हैं। सीमांसक आकांक्षा को प्रथम स्थान देते हैं तो नैयायिक योग्यता को और वैयाकरण आसत्ति को।

1. योग्यता– एक पद के अर्थ के साथ दूसरे पद के अर्थ का सम्बन्ध योग्यता है– 'एक पदार्थेऽपर पदार्थसम्बन्धो योग्यता।' दूसरे आचार्य एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ अन्वय (सम्बन्ध) को योग्यता कहते हैं–'योग्यता परस्परान्वय प्रयोजक धर्मवत्त्वम।' आचार्य विश्वनाथ के अनुसार पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध या अन्वय में बाधा का अभाव योग्यता है। 'आग से सींच रहा है' (वह्निना सिञ्चति) वाक्य के आग और सींचना शब्द में अर्थ का अन्वय नहीं होता। अर्थ की प्रतीति में यहाँ बाधा हो जाती है। कारण कि सींचना क्रिया–वस्तु को आर्द्र करना, थंगोना का अर्थ अन्वित नहीं होता। 'पचसासिंचति', अर्थात् जल से सींच रहा है में अन्वय की बाधा का अभाव होने से जल के द्रवत्व और सींचना क्रिया का अन्वय प्रयोजित हो जाता है। व्याकरणिक संरचना में भी अन्वय की बाधा होती है। जैसे राम जाती है (लिंग विषयक अयोग्यता), हमने बोला था (विभक्ति की अयोग्यता) आदि में व्याकरणिक

नोट

संरचना के कारण अर्थ में अन्वय में बाधा उपस्थित होती है।

'योग्यता' वास्तव में अर्थ धर्म है, किन्तु उसे पदोच्चय धर्म भी माना जाता है। 'अर्थ और योग्यता का साक्षात् सम्बन्ध है, जिससे यह सिद्ध है कि पद और योग्यता परम्परा सम्बद्ध हैं।'

2. आकांक्षा– वाक्य रूप पदोच्चय में आकांक्षा का होना न केवल आवश्यक, बल्कि स्वाभाविक हैं विश्वनाथ ने आकांक्षा की परिभाषा इस प्रकार दी है–'आकांक्षा प्रतीति पर्यवसानविहर:।' अर्थ की प्रतीति में अभिप्रेत प्रतीति की समाप्ति का अभाव आकांक्षा है। इसका अभिप्राय यह है ि आकांक्षा श्रोता की यह जिज्ञासा है कि किस पद का अर्थ किस पद का स्मारक है। जैसे 'घोड़ा लाओ' वाक्य में घोड़ा को लाओ की और लाओ को घोड़ा की आकांक्षा हैं वाक्य में एक पद दूसरे पद की आकांक्षा रखता हैं मतलब कि वाक्यवर्ती पद परस्पर साकांक्ष अर्थ के बोध हैं। आकांक्षा से ही कोई पद समूह वाक्य रूप में पहचाना जा सकता है। जैसे 'घोड़ा' पद सुनने के बाद श्रोता 'लाओ' पद सुनने का इच्छुक रहता हैं इसीलिए नागेश भट्ट ने परमलघु मंजूषा में कहा है कि 'वाक्य समयग्राहिका आकांक्षा।' ये दोनों पद साध्य-साधन भाव से सम्बद्ध हैं और परस्पर साकांक्ष होने से वाक्य रूप में अन्वित होते हैं।

3. आसत्ति– विश्वनाथ के अनुसार 'आसत्तिर्बुद्ध्य विच्देद:' अर्थात् पदार्थ की अविच्छिन्न (अव्यवहित) उपस्थिति आसत्ति है। 'बुद्ध्यविच्छेद' का तात्पर्य है श्रोत में पद प्रतीति का अविच्छिन्न प्रवाह। नागेश भट्ट के अनुसार 'प्रकृत अन्वय बोध के प्रतिकूल पद का अव्यवधान ही आसत्ति है।' जैसे आज घोड़ा कहा जाय और कल लाओ कहा जाय तो पदर्थ की अविच्छिन्न उपस्थिति नहीं है। इसमें 'कालव्यवधान' उपस्थित होने से अर्थ की प्रतीति नहीं होगी। देश और काल की दृष्टि से पदों की सन्निधि या आसन्नता आवश्यक र्ह। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पदों के बीच समय और पदार्थ दोनों के अव्यवधान की आसत्ति कहते हैं।

डॉ. भोलानाथ तिवारी के मत से भारतीय दृष्टि से वाक्य के लिए पाँच बातें आवश्यक हैं– सार्थकता, योगयता, आकांक्षा, सन्निधि और अन्विति। सार्थकता से डॉ तिवारी का तात्पर्य है कि वाक्य के शब्द सार्थक होने चाहिए। ध्वनि, पद या रूप तथा वाक्य में स्वत: सार्थकता होती है, क्योंकि भाषा के ये अवयव सार्थक होने पर ही ग्राह्य और विचार्य होते हैं। अत: ध्वनि, पद और वाक्य सार्थक होते हैं। उसकी सार्थकता पर अलग से विचार करने की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार योग्यता का अर्थ ही होता है–एक पद के अर्थ के साथ दूसरे पद के अर्थ का अन्वय। अत: अन्विति योगयता के अंतर्गत ही अंतर्भूत है।

अन्य विद्वान् योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति के अतिरिक्त तात्पर्य को भी वाक्य के लिए आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार प्रसंग-निरपेक्ष प्रयोग तात्पर्य वृत्ति की दृष्टि से व्यर्थ हो सकते हैं। 'अत: तात्पर्य वृत्ति वाक्य अथवा वाक्यों की नियोजिका है।'

13.2 वाक्य रचना

वाक्य-रचना पदों के संयोग से होती है। इसमें मुख्यत: चार बातें आववश्यक मानी गई हैं– 1. पदक्रम या शब्दक्रम, 2. अन्वय, 3. लोप, 4. आगम।

1. पदक्रम– योगात्मक भाषाओं में पदक्रम अनिवार्य होता है। चीनी जैसी भाषाओं में पक्रम का अत्यन्त महवपूर्ण स्थान है। वियोगात्मक भाषाओं में भी पदक्रम के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पदक्रम का अर्थ है वाक्य में निश्चित स्थान पर पद का प्रयोग। जैसे हिन्दी में कर्ता पहले, कर्म बीच में और क्रिया अंत में होती हैं जैसे 'राम रोटी खाता है।' अंग्रेजी में क्रिया कर्ता के बाद होती है। जैसे Ram reads a book.

2. अन्वय– अन्वय का अर्थ है व्याकरणिक समरूपता। भाषा में कर्ता, कर्म, क्रिया, क्रिया-विशेषण, विशेषण आदि के लिंग, वचन, पुरुष आदि की अनुरूपता होती है। अलग-अलग भाषाओं में अन्वय अलग-अलग होता है। जैसे राम: गच्छति–राम जाता है। सीता गच्छति–सीता जाती है।

3. लोप– वाक्य-रचना में सभी शब्दों का प्रयोग सदा नहीं किया जाता। कभी-कभी कुछ शब्द लुप्त हो जाते हैं लोप होने वाले शब्द निश्चित होते हैं जैसे तुम कहाँ जाओगे? श्रोता कहता है–घर। यहाँ 'मैं' तथा 'जाऊँगा' का लोप हो गया है। वाक्य में जिन शब्दों का लोप हो गया होता है उनको अर्थ के लिए ले आना अध्याहार कहलाता है। 'अध्याहार का अर्थ है वाक्य का अर्थ करते समय लुप्त शब्दों को ले आना। उनके बिना अर्थ स्पष्ट नहीं होता।

नोट

4. आगम– अर्थ के लिए कभी-कभी कुछ अतिरिक्त शब्दों को ले आया जाता हैं इसे आगम कहते हैं। किन्तु 'अपेक्षित न हो तो अतिरिक्त शब्दों से बचना चाहिए।'

वाक्य में निम्नलिखित बातें दृष्टिगत हाती हैं–

(क) वाक्य भाषा की सहज इकाई है।

(ख) वााक्य में एक शब्द भी हो सकता है और एक से अधिक भी।

(ग) वाक्य में अर्थ की पूर्णता हो सकती है और नहीं भी।

(धा) वाक्य व्याकरणिक संरचना की दृष्टि से पूर्ण होता है। व्याकरणिक पूर्णता कभी-कभी संदर्भ के आश्रित होती है।

(ङ) वाक्य में कम-से-कम एक समायिका क्रिया अनिवार्यत: होती है।

क्या आप जानते हैं भावों की अभिव्यक्ति के संदर्भ में वाक्य भाषा की सहज तथा प्रथम इकाई है।

13.3 वाक्य परिवर्तन के कारण

भाषा की विभिन्न इकाइयों में परिवर्तन का क्रम सतत् चलता रहता है। वाक्य की संरचना में भी परिवर्तन चलता रहता है, इन परिवर्तन के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं–

1. **मुख-सुख**–मनुष्य थोड़े परिश्रम से अधिक से अधिक कार्य करना चाहता है, उसे ही मुख-सुख या प्रयत्नलाघव कहते हैं। इसी प्रयत्न में मनुष्य छोटे-छोटे वाक्य से विस्तृत भाव प्रकट करना चाहता है। इस प्रकार कभी वाक्य के पद या प्रयत्न का लोप होता है, तो कभी पदक्रम में परिवर्तन हो जाता है। यह वाक्य-परिवर्तन का प्रमुख कारण है।

2. **अन्य भाषा-प्रभाव**–विभिन्न भाषाओं के प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव से वाक्य में परिवर्तन होता रहता है। जब कोई व्यक्ति अपनी भाषा के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा का प्रयोग करता है, तो उस भाषा की वाक्य रचना के अनुसार वह अपनी भाषा में भी वाक्य बनाने लगता है। संस्कृत में 'अथ' और 'इति' के प्रयोग-आधार पर रचना की जाती थी। अब उसके स्थान पर उद्धरण चिह्न का प्रयोग किया जाता है; यथा–

   "अहं आगमिष्यामि"।

   हिंदी वाक्य-रचना पर अंग्रेजी और फारसी का प्रबल प्रभाव है। लंबे वाक्यों में ऐसी रचना मिलती है; यथा–

   'सरिता ने कहा है कि मैं जाऊँगी।' > 'सरिता ने कहा कि वह जाएगी'।

   अंग्रेजी प्रभाव के कारण हिंदी में ऐसी रचना मिलती है।

3. **स्पष्टता**–हम अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए वाक्य में कुछ-न-कुछ परिवर्तन कर लेते हैं। परिवर्तन की इस प्रक्रिया में कभी एक ही वाक्य में कई उपवाक्य आ जाते हैं, तो कभी वाक्य के किसी पद के साथ कोष्ठक में स्पष्टतासूचक शब्द-प्रयोग करते हैं।

4. **बलाघात**–वक्ता जब वाक्य के किसी पदविशेष पर बल देना चाहता है, तो उस पर बलाघात की स्थिति होगी। इस प्रक्रिया के कारण वाक्य-गठन में परिवर्तन होता है; यथा–

सुरेंद्र घर जा रहा है।	(सामान्य वाक्य)
घर जा रहा है सुरेंद्र।	(यहाँ 'घर' शब्द का बल दिया गया है)
जा रहा है घर, सुरेंद्र।	(यहाँ 'जा रहा है' पर बालाघात है)

   वक्ता वाक्य के जिस अंश पर बल देना चाहता है, उसे वाक्य में सबसे पहले रखता है।

5. **विभक्तियों का घिसना**–प्राचीन भाषाएँ संयोगात्मक रूप में थी। विकास-क्रम में उनका रूप वियोगात्मक हो गया है। विभक्तियाँ और प्रत्ययों का कार्य परसर्गों तथा सहायक क्रियाओं से लिया जाता है। इस प्रकार

नोट

वाक्य में परिवर्तन हो जाता है। संयोगात्मक भाषा के वाक्य के पदक्रम में परिवर्तन कर सकते हैं, किंतु वियोगात्मक भाषा का पदक्रम स्थिर होता है।

टास्क भाषाओं के वियोगात्मक तथा संयोगात्मक रूप से आप क्या समझते हैं।

6. **मानसिक स्थिति–**वाक्य-संरचना पर वक्ता और लेखक की मन:स्थिति का विशेष प्रभाव पड़ता है। शांत या सामान्य मन:स्थिति में अलंकृत भाषा का प्रयोग होता है, तो दु:ख, शोकादि के अवसर पर छोटे-छोटे, सरल वाक्यों का। इस प्रकार मन:स्थिति के कारण वाक्य में परिवर्तन होना स्वाभाविक है।
7. **नवीनता–**मनुष्य स्वभाव से ही नवीनता प्रेमी है। इस प्रवृत्ति के कारण वाक्य में भी परिवर्तन हो जाता है। आजकल हिंदी में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से चल पड़ी है; यथा–

   'एक कबाड़ी की दुकान' का 'दुकान एक कबाड़ी की', 'दाम सौ रुपये मात्र' का 'दाम मात्र सौ रुपये' प्रयोग होने लगे हैं।
8. **भावुकता–**भावुकता के कारण भी वाक्य में परिवर्तन होता है। जब वक्ता या लेखक विशेष भाव-प्रवाह में बोलता या लिखता है, तो उसके वाक्य में कर्त्ता, कर्म और क्रिया की सैद्धांतिक व्यवस्था न होकर विचित्र-सी संरचना होती है; यथा–

   वाह रे माधुर्य! वाह रे लज्जा! धिक् बेहया! आदि
9. **अज्ञानता–**अज्ञानता के कारण भी वाक्य में परिवर्तन हो जाता है; यथा–

   बाजार खुल रहा है > बाजार खुल रही है।

   ट्रक जा रहा > ट्रक जा रही है।

   वह रिक्शे से जा रहा है > वह रिक्षा से जा रहा है।
10. **परंपरा-प्रभाव–**हिंदी का उद्‌भव संस्कृत भाषा से हुआ है। हिंदी में संस्कृत के परंपरागत गुण हैं। वर्तमान समय के हिंदी-प्रयोग में पर्याप्त नवीनता आ रही है, किंतु हम किसी न किसी रूप में परंपरा से जुड़े हैं। आदर-संदर्भ में एकवचन कर्त्ता के साथ क्रिया तथा सर्वनाम आदि का बहुवचन रूप प्रयुक्त होता है; यथा–

    'आचार्य शुक्ल महान साहित्यकार थे', 'वे बस्ती में रहते थे', गुरु जी आ रहे हैं, वे आज वाक्य-विषय पर व्याख्यान देंगे।

13.4 वाक्य-रचना में परिवर्तन की दिशाएँ

वाक्य-रचना में परिवर्तन मुख्य रूप से निम्नांकित रूपों या दिशाओं में होता है–

(1) **वचन-संबंधी परिवर्तन–**भाषाओं के विकास में वाक्य-रचना में वचन-संबंधी परिवर्तन प्राय: हो जाते हैं। संस्कृत में द्विवचन भी था, अत: दो के लिए अलग कारकीय रूप होते थे और उसके साथ क्रिया के द्विवचन के रूप प्रयुक्त होते थे, हिन्दी में आते-आते द्विवचन का लोप हो गया तो 'दो' की संख्या 'बहुवचन' कारकीय रूप में लगाकर द्विवचन का भाव व्यक्त किया जाने लगा।

संस्कृत	**हिन्दी**
तौ	वे दो
बालकौ	दो बालक

किन्तु क्रिया-रूप द्विवचन के स्थान पर बहुवचन के रूप में प्रयुक्त होने लगे–

दो बालक आए हैं।

नोट

नोट्स पुरानी हिन्दी में आदर के लिए भी एकवचन की क्रिया, तथा एकवचन के विशेषण का ही प्रयोग होता था, किन्तु अब हिन्दी में आदर के लिए बहुवचन का प्रयोग वर्मा (नौकर) **अच्छा है**, वर्मा (अध्यापक) अच्छे हैं। होता है।

अंग्रेजी में you मूलत: बहुवचन है, किन्तु अब एकवचन में आता है। हिन्दी 'तुम' की ठीक यही स्थिति है।

(2) **लिंग-संबंधी परिवर्तन–**संस्कृत में कर्ता या कर्म के लिंग के अनुसार क्रिया परिवर्तित नहीं होती थी, किन्तु हिन्दी में परिवर्तित होती है–

राम: गच्छति = राम जाता है।

सीता गच्छति = सीता जाती है।

पहले हिन्दी में स्त्रीलिंग प्रयोग था–

अब हम जा रही हैं।

अब प्राय: लड़कियाँ और महिलाएँ प्रयोग करने लगी हैं–

हम जा रहे हैं–

पंजाबी लोग हिन्दी में 'माताजी आ रहे हैं' जैसे प्रयोग करते हैं, जो अशुद्ध है।

(3) **पुरुष-संबंधी परिवर्तन–**पहले प्रयोग चलता था–राम ने कहा कि मैं जाऊँगा–अब अंग्रेजी के प्रभाव से सुनने में आने लगा है राम ने कहा कि वह जाएगा।

(4) **लोप–**पूर्ववर्ती प्रयोगों में कुछ लुप्त हो जाने से वाक्य अपेक्षाकृत छोटे हो जाते हैं। जैसे हिन्दी में–

प्राचीन प्रयोग–राम नहीं आता है।

नया प्रयोग–राम नहीं आता।

प्राचीन प्रयोग–राम नहीं आ रहा है।

नया प्रयोग–राम नहीं आ रहा।

प्राचीन प्रयोग–आँखों से देखी घटना।

नया प्रयोग–आँखों-देखी घटना।

प्राचीन प्रयोग–वह पढ़ेगा-लिखेगा नहीं।

नया प्रयोग–वह पढ़े-लिखेगा नहीं।

(5) **आगम–**अतिरिक्त शब्दों के आ जाने से वाक्य बड़े हो जाते हैं। हिन्दी में पुराना प्रयोग था–

राम ने कहा मैं जाऊँगा।

फ़ारसी प्रभावी के कारण 'कि' आ गया–

राम ने कहा कि मैं जाऊँगा

हिन्दी का प्राकृत प्रयोग है–

जो लड़का आया था, चला गया।

अब अंग्रेजी प्रभाव के कारण एक अतिरिक्त शब्द 'वह' प्रयुक्त होने लगा है–

वह लड़का जो आया था, चला गया।

नोट

स्व-मूल्यांकन

दिए गए कथन के सामने सही (✓) अथवा गलत (×) का निशान लगाइए–

1. हिंदी वाक्य रचना पर फारसी और अंग्रेजी का प्रबल प्रभाव है।
2. मनुष्य थोड़े परिश्रम से अधिक कार्य करना चाहता है उसे मुख-सुख कहते हैं।
3. हिंदी का उद्भव संस्कृत भाषा से हुआ है।
4. पुरानी हिंदी खरोष्ठी लिपि में लिखजी जाती थी।
5. संस्कृत में कर्त्ता या कर्म के लिंग के अनुसार क्रिया परिवर्तित नहीं होती थी, किंतु हिंदी में होती है।

(6) **पदक्रम में परिवर्तन**–वाक्य-रचना इससे भी प्रभावित होती है। विभक्ति-लोप, नये प्रयोग आदि के कारण पदक्रम परिवर्तित होता रहता है। संस्कृत और हिन्दी की तुलना करें तो संस्कृत में पदक्रम बहुत निश्चित नहीं था, किन्तु हिन्दी में वह काफ़ी निश्चित हो गया है। यह एक बहुत बड़ा परिवर्तन है। इधर हाल में भी हिन्दी में, पदक्रम-संबंधी कई परिवर्तन हुए हैं। दो का उल्लेख ऊपर हो चुका है: (1) मात्र संज्ञा के पूर्व प्रयोग–मात्र दस रुपये (2) विशेषण पदबंध का संज्ञा के बाद प्रयोग–दुल्हन, एक रात की। बल देने के लिए हिन्दी में पदक्रम में काफ़ी परिवर्तन किए जाते हैं–

घर आज जाऊँगा।

आज घर जाऊँगा।

आज जाऊँगा घर।

'ही' शब्दों के बाद आता रहा है। अब कभी-कभी शब्दों के बीच में भी सुनने में आता है–

कानपुर जाना है।

कान ही पुर जाना है।

'तो' को भी यही स्थिति है–

जाऊँगा तो, किन्तु आज नहीं।

जाऊँ तो गा, किन्तु आज नहीं।

13.5 सारांश

भाषाविज्ञान में वाक्य की परिभाषा, वाक्यों की संरचना, वाक्य के मूलाधार, वाक्यों के प्रकार, वाक्यों के निकटस्थ अवयव और वाक्यों के रचनांतरण आदि पर विचार किया जाता है।

भाषा का मुख्य कार्य अभिव्यक्ति है। भाव की पूर्ण अभिव्यक्ति वाक्य के माध्यम से होती है। वाक्य के अभाव में भाव या विचार की स्थिति संदिग्ध हो जाएगी।

हिंदी के प्रसिद्ध वैयाकरण पं. कामतप्रसाद गुरु ने 'हिंदी व्याकरण' में वाक्य की परिभाषा में इस प्रकार दी है– "प्रत्येक पूर्ण विचार को वाक्य और प्रत्येक भावना को शब्द कहते हैं।"

भाषा की विभिन्न इकाइयों में परिवर्तन का क्रम सतत् चलता रहता है। वाक्य की संरचना में भी परिवर्तन चलता रहता है, इन परिवर्तन के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं– 1. मुख-सुख 2. अन्य भाषा-प्रभाव 3. स्पष्टता 4. बलाघात 5. विभक्तियों का घिसना 6. मानसिक स्थिति 7. नवीनता 8. भावुकता 9. अज्ञानता 10. परंपरा-प्रभाव।

वाक्य-रचना में परिवर्तन मुख्य रूप से निम्नांकित रूपों या दिशाओं में होता है– (1) वचन-संबंधी परिवर्तन (2) लिंग-संबंधी परिवर्तन (3) पुरुष-संबंधी परिवर्तन (4) लोप (5) आगम (6) पदक्रम में परिवर्तन

13.6 शब्दकोश

नोट

1. **विभक्ति–** अलगाव, पार्थक्य, बाँट
2. **संदिग्ध–** संदेहयुक्त
3. **अनुतान–** वाक्य के उच्चारण में उतार-चढ़ाव

13.7 अभ्यास प्रश्न

1. वाक्य परिवर्तन के कारणों पर प्रकाश डालिए।
2. वाक्य रचना में परिवर्तन की दिशाएँ का विश्लेषण कीजिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन

1. (✓) 2. (✓) 3. (✓) 4. (×) 5. (✓)

13.8 संदर्भ पुस्तकें

पुस्तकें

1. *भाषा और भाषा विज्ञान–* गरिमा श्रीवास्तव, संजय प्रकाशन, दिल्ली
2. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा–* नरेश मिश्र, संजय प्रकाशन, दिल्ली
3. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा का स्वरूप-* विकास–देवेन्द्र प्रसाद सिंह, हिंदी बुक सेंटर, दिल्ली

नोट

इकाई 14: वाक्य के प्रकार एवं वाक्य-विश्लेषण

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- वाक्य विश्लषण से परिचित होंगे।
- वाक्य के प्रकारों से परिचत होंगे।

प्रस्तावना

वाक्य, भाषा की सबसे छोटी किन्तु सार्थक तथा वास्तविक इकाई होता है। भर्तृहरि तो 'भाषा' की सबसे छोटी इकाई 'वाक्य' को ही मानते हैं। उनसे पूर्व यह बात किसी ने इतने बलपूर्वक नहीं कही थी–

''यदन्तः शब्द तत्त्वं तु नादैरंकं प्रकाशितं।
तदाहुरपरेशब्दं तस्य वाक्ये तथेकता।।''

वस्तुतः वाक्य ही अक्षर, ध्रुव कूटस्थ, अपरिणामी, अक्षय एवं किसी प्रकार के अवयवों से रहित है, पद नहीं। वाक्य ही सार्थक होता है, पद नहीं। कुल मिलाकर वाक्य भाषा की मुख्य इकाई और लघुतमपूर्ण विचार–"The sentence is the cheif unit of speech, it may be defined quite simply as a minimum complete utterance."

14.1 वाक्य के भेद या प्रकार

विभिन्न आधारों पर वाक्य के अनेक भेद बताए गये हैं–

1. आकृति के आधार पर,
2. संरचना के आधार पर,
3. शैली के आधार पर,
4. क्रिया के आधार पर तथा
5. अर्थ के आधार

1. **आकृति के आधार पर**–वाक्यों की आकृति के आधार पर उनके दो भेद माने जाते हैं, अयोगात्मक तथा योगात्मक। आगे चलकर योगात्मक वाक्यों के भी तीन भेद हो जाते हैं, श्लिष्ट योगात्मक, अश्लिष्ट योगात्मक तथा प्रश्लिष्ट योगात्मक। इस प्रकार पद-विन्यास अथवा आकृति के आधार पर वाक्य के चार प्रकार हो जाते हैं– (अ) अयोगात्मक, (ब) श्लिष्ट योगात्मक, (स) अश्लिष्ट योगात्मक तथा (द) प्रश्लिष्ट योगात्मक वाक्य। इन्हें क्रमशः इस प्रकार देखा जा सकता है।

(अ) अयोगात्मक वाक्य (Isolating)–इन वाक्यों में सभी शब्दों की स्वतंत्र सत्ता होती है। यहाँ पदों की रचना प्रकृति-प्रत्यय के योग से नहीं की जाती। प्रत्येक शब्द का अपना निश्चित स्थान होता है और इसी आधार पर इनका व्याकरणिक सम्बन्ध जाना जाता है। चीनी भाषा अयोगात्मक वाक्यों के लिए प्रसिद्ध है। इस भाग में पदों का स्थान ही व्याकरणिक सम्बन्ध का बोध कराता है। यथा–

न्गो-ता-नी = मैं तुमको मारता हूँ।

नी-तान-न्गो = तुम मुझे मारते हो।

(ब) श्लिष्ट योगात्मक वाक्य (Inflecting)–जहाँ पदों की रचना विभक्तियों की सहायता अथवा योग से की जाय, उन्हें श्लिष्ट योगात्मक वाक्य कहते हैं। यहाँ विभक्ति धातु के साथ इस प्रकार संश्लिष्ट हो जाती है कि दोनों का अस्तित्व अलग-अलग नहीं जान पड़ता है। प्रत्ययों का अस्तित्व एकदम समाप्त हो जाता है। उक्त विभक्तियाँ अन्तर्मुखी होती हैं। यथा–''जैदुन अम्रन ज़रब अ'' (जैद ने अमर को मारा) लेकिन संस्कृत की विभक्तियाँ बहिर्मुखी होती है। यथा 'राघवः गृहं गच्छति', 'मोहनः मृगं पश्यति' आदि।

(स) अश्लिष्ट योगात्मक वाक्य (Agglutinating)–जिन वाक्यों की रचना प्रत्ययों के योग से होती है, उन्हें अश्लिष्ट योगात्मक वाक्य कहते हैं। प्रत्यय पदों के पूर्व मध्य और अन्त में प्रयुक्त किये जाते हैं। तुर्की भाषा विशेषतः प्रत्यय प्रधान है। संस्कृत में प्रत्यय शब्द के अन्त में प्रयुक्त किये जाते हैं। कृत्रिम भाषा 'एस्पैरेन्तो' में भी प्रत्यय प्रधान भाषा के दर्शन यदा-कदा हो जाते हैं।

अफ्रीका के बांटू परिवार की जुलू भाषा में प्रत्यय प्रायः शब्द से पूर्व में लगते हैं।

(द) प्रश्लिष्ट योगात्मक वाक्य (Incorporating)–जब अनेक शब्दों के योग से एक ऐसा सामासिक पद बन जाय कि उसी से वाक्य का बोध होने लगे, तब वाक्य प्रश्लिष्ट योगात्मक कहलाता है। इन वाक्यों में कर्त्ता, कर्म, क्रिया सभी एक पद में इस प्रकार गुंथे हुए होते हैं कि, पूरा वाक्य एक शब्द प्रतीत होता है। दक्षिणी अमेरिका की चेराकी भाषा में इस प्रकार के वाक्य मिल जाते हैं। यथा–

अमोखल = नाव, नातेन = लाओ, निन = हम

इन शब्दों के मेल से बने वाक्य 'नाधोलिनिन' का अर्थ है–''हमारे लिए एक नाव लाओ।''

2. **संरचना के आधार**–वाक्य-रचना के आधार पर वाक्य के तीन भेद होते हैं।

(क) साधारण अथवा सरल वाक्य (Simple sentence)

(ख) संयुक्त वाक्य (Compound sentence) तथा

(ग) मिश्र तथा जटिल वाक्य (Complex sentence)।

(क) साधारण अथवा सरल वाक्य–जिस वाक्य में केवल एक कर्त्ता तथा एक क्रिया होती है, उसे साधारण अथवा सरल वाक्य कहते हैं। यथा राम वृक्ष पढ़ता है। मुरारी खेती करता है।

नोट

(ख) संयुक्त वाक्य–कुछ सरल वाक्यों अथवा सरल एवं मिश्र वाक्यों अथवा मिश्र एवं मिश्र वाक्यों को परस्पर जोड़ने से संयुक्त वाक्य बनता है। इसे बिना किसी बाधा के तोड़कर खण्डों अथवा विभागों में विभक्त कर सकते हैं। यथा 'तुम जाओ और अपने पिताजी से कहना'। इस वाक्य में दो सरल वाक्य हैं–'तुम जाओ'। 'अपने पिताजी से कहना'। इन दोनों वाक्यों को 'और' से जोड़कर संयुक्त वाक्य बनाया गया है। आगे एक मिश्र और सरल वाक्य को जोड़कर बने संयुक्त वाक्य का उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है–''मैं तुम्हारे पास आऊँगा, क्योंकि तुमसे एक जरूरी काम है, पर तुरन्त लौट भी जाऊँगा।

(ग) मिश्र वाक्य–जिस वाक्य में दो वाक्य खण्ड जुड़े हों तथा एक वाक्य दूसरे पर पूरी तरह निर्भर करता हो, वह मिश्र वाक्य कहलाता है। मिश्र वाक्य संयुक्त वाक्य से पूरी तरह भिन्न होता है, क्योंकि मिश्र वाक्य में प्रथम वाक्यांश के बाद दूसरे की आकांक्षा बनी रहती है, जबकि संयुक्त वाक्य के प्रत्येक अंश में पृथक-पृथक आकांक्षा की पूर्ति हो जाती है। मिश्र वाक्य के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं–उसने कहा कि मैं जाऊँगा। भैंस भीग रही है, क्योंकि वर्षा हो रही है। अध्यापक मेहनत से पढ़ा रहे हैं, क्योंकि बच्चों की परीक्षा सन्निकट है।

3. **शैली के आधार पर**–शैली का आशय यहाँ रचना-शैली से है। शैली के आधार पर वाक्य के तीन प्रकार बताये गये हैं।

(अ) शिथिल वाक्य,

(ब) समीकृत वाक्य तथा

(स) आवर्तक वाक्य

(अ) शिथिल वाक्य–जब कोई लेखक अथवा वक्ता बिना अलंकार का सहारा लिए किसी बात को सीधे-सादे ढंग से कहे तो उसे शिथिल वाक्य कहते हैं। यथा–'राम, सीता और लक्ष्मण जंगल में जा रहे थे। राम आगे, सीता बीच में तथा लक्ष्मण सबसे पीछे थे। कुछ दूर आगे जाने पर सीता को प्यास और थकान महसूस हुई। उन्होंने राम से पूछा–आप पर्णकुटी कहाँ बनायेंगे।

(ब) समीकृत वाक्य–साम्य मूलक अथवा वैषम्यमूलक संगति के द्वारा वक्ता जब अपने भावों को व्यक्त करता है, तब उसे समीकृत वाक्य कहते हैं। समीकृत वाक्य के उदाहरण हैं, 'जैसा देश वैसा भेष'। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' आदि। विषमीकृत वाक्य के उदाहरण हैं, 'एक तो चोरी, दूसरे सीना जोरी'। 'कहाँ राजा भोज कहाँ गंगु तेली' आदि।

(स) आवर्तक वाक्य–श्रोता अथवा पाठक के मन में जिज्ञासा या उत्सुकता पैदा करने के बाद जो वाक्य वक्ता अथवा लेखक द्वारा प्रयुक्त किये जाते हैं, उन्हें आवर्तक वाक्य कहते हैं।

आवर्तक वाक्य का उदाहरण दीजिए।

4. **क्रिया के आधार पर**–क्रिया पद के आधार पर भी वाक्य दो प्रकार के होते हैं।

(अ) क्रियायुक्त तथा

(ब) क्रियापद हीन।

(अ) क्रियापद युक्त वाक्य–जिन वाक्यों में क्रिया का प्रयोग हुआ रहता है, वे क्रियापदयुक्त वाक्य कहलाते हैं। अधिकतर वाक्य क्रियापद युक्त ही होते हैं। यथा–राम ने रावण को मारा। सुकुल विद्यालय जाता है आदि।

(ब) क्रियापद हीन वाक्य–यदि कोई क्रिया वाक्य के अभाव में भी सम्यक् अर्थ की अभिव्यक्ति दे, तो वह क्रियापद हीन वाक्य कहलाता है, यथा–

प्रमोद–अरे कहाँ से?

महेन्द्र–तुम्हारे यहाँ से।

प्रमोद–कहो, क्यों, कैसे?

महेन्द्र–वैसे ही।

'आम के आम गुठलियों के दाम 'मुहावरा भी इसके अन्तर्गत समझा जायेगा।

5. **अर्थ के आधार पर–**इस आधार पर वाक्य के नौ भेद किये जाते हैं, यथा–

(क) विधि वाक्य– वह पढ़ता है।

(ख) निषेध वाक्य– वह नहीं पढ़ता है।

(ग) आज्ञार्थक वाक्य– अब तुम पढ़ो।

(घ) इच्छार्थक वाक्य– भगवान तुम्हें सकुशल रखें।

(ड.) सम्भावनार्थक वाक्य– शायद आज धूप निकले।

(च) संदेहार्थक वाक्य– मोहन आ रहा होगा।

(छ) प्रश्नार्थक वाक्य– क्या तुम कल जाने वाले हो?

(ज) संकेतार्थक वाक्य– वह मेरा पैसा दे देता तो मैं पुस्तक खरीदता।

(झ) विस्मयादि बोधक वाक्य– अरे! अभी तुम यहीं हो।

14.2 वाक्य विश्लेषण

भारतीय आचार्यों एवं भाषा-वैज्ञानिकों ने समय-समय पर वाक्य के अनिवार्य तत्वों पर विचार किया है। आचार्य कुमारिल भट्ट ने वाक्य के तीन अनिवार्य तत्त्व बताए हैं–आकांक्षा, योग्यता और आसक्ति। आचार्य विश्वनाथ ने भी साहित्य दर्पण में इन्हीं तीन अनिवार्य तत्त्वों की ओर संकेत किया है–

वाक्यं स्याद् योग्यताकांक्षासतियुक्तः पदोच्चयः।

1. **योग्यता–**वाक्य के संदर्भ में योग्यता का अर्थ है–वाक्य के विभिन्न पदों में पारस्परिक योग्यता अर्थात् अर्थ की दृष्टि से एक पद का दूसरे पद के साथ संबंध भाव में बाधा न होना योग्यता है। इसे दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि वाक्य के विभिन्न पदों के अन्वय में कोई बाधा न होना योग्यता है। वाक्य के पदों के अन्वय में दो प्रकार की बाधाएँ होती हैं।

   (क) अर्थमूलक अयोग्यता–जब कोई वाक्य व्याकरण की दृष्टि से योग्य हो, किंतु अर्थ-प्रतीति की दृष्टि से अनुपयुक्त हो, तो वह वाक्य नहीं होगा; यथा-वह आग से पौधों को सींच रहा है। वह पानी खा रहा है। दोनों ही वाक्य व्याकरण की दृष्टि से योग्य हैं; किंतु अर्थ की दृष्टि से अयोग्य हैं, क्योंकि आग से सिंचन कार्य नहीं होता है और न ही पानी खाया जाता है। सिंचन कार्य पानी से होता है और पानी पिया जाता है। इस प्रकार दोनों पद समूह तभी वाक्य की योग्यता प्राप्त कर पाएँगे, जब इन रूपों में होंगे–वह पानी से पौधों को सींच रहा है। वह पानी पी रहा है। ऐसे वाक्यों को ही समाज-स्वीकृति प्राप्त होती है।

   (ख) व्याकरणमूलक अयोग्यता–ऐसे वाक्य जिन्हें समाज में यंत्र-तंत्र मान्यता मिल जाने से अर्थ अभिव्यक्ति संभव होती है, किंतु व्याकरणिक दृष्टि से उनकी संरचना अशुद्ध होती है, तो मानक भाषा में उसे वाक्य नहीं माना जाएगा। यह व्याकरणिक अयोग्यता लिंग, वचन, विभक्ति आदि किसी भी रूप में हो सकती है; यथा–

   रमेश घर जाती है। –लिंग अयोग्यता

नोट

हम जाता हूँ। –वचन अयोग्यता

तुमने बोले–विभक्ति अयोग्यता

2. आकांक्षा–आकांक्षा का शाब्दिक अर्थ है– इच्छा, अपेक्षा या जिज्ञासा। वाक्य में शब्द या पद एक-दूसरे से संबंधित होते हैं। यह संबंध-भाव वाक्य के आकांक्षा-तत्त्व के ही कारण संभव होता है। वाक्य में प्रयुक्त शब्दों को अर्थ-अभिव्यक्ति के संदर्भ में एक-दूसरे की अपेक्षा रहती है। मानक हिंदी में प्रायः कर्त्ता, कर्म और क्रिया का क्रमिक प्रयोग होता है, किंतु वाक्य में इनको एक-दूसरे की अपेक्षा होती है। कर्त्ता और कर्म को क्रिया की अपेक्षा होती है, तो कर्म को कर्त्ता और क्रिया की। क्रिया को कर्ता और कर्म की अपेक्षा होती है। इस अपेक्षा की पूर्ति पर ही वाक्य की संरचना और अर्थ की अभिव्यक्ति संभव है। इस प्रकार आकांक्षा की अपूर्णता पर वाक्य अपूर्ण होता है; यथा''रजनी'' कहने से वाक्य पूरा नहीं होता है। इससे मन में जानने की इच्छा होती है कि वह क्या करती है? ''गाती है'' कहने से कर्ता संबंध में जिज्ञासा होती है कि कौन गाती है? क्या गाती है? इसी प्रकार ''गीत'' कहने से कर्त्ता और क्रिया के विषय में जिज्ञासा होती है। उक्त तीनों पद–''रजनी'', ''गीत'' और ''गाती है'' एक साथ साकांक्ष प्रयुक्त होने से–''रजनी गीत गाती है'', पूर्ण वाक्य की संरचना होती है। वाक्य की आकांक्षा शक्ति के द्वारा श्रोता की जिज्ञासा की पूर्ति होती है। ''तुम मेरे लिए...'' से पूर्ण भाव प्रकट नहीं होता है। इसमें इच्छा शेष रह जाती है। इसलिए इसे वाक्य नहीं मान सकते हैं। आकांक्षा पूर्ति हेतु ''फूल लाओगे?'' पदों या वाक्यांश को जोड़ देने पर वाक्य संरचना पूरी हो जाती है–''तुम मेरे लिए फूल लाओगे?''

वाक्य की आकांक्षा के संदर्भ में कभी-कभी विशेष संरचना सामने आती है। वक्ता या लेखक वाक्य का कुछ अंश श्रोता या पाठक के परिचित संदर्भ में चमत्कारिक रूप देने के लिए छोड़ देता है। श्रोता या पाठक उसे भाव-वेग से पूरा करता हुआ आकांक्षा की पूर्ति करता है; यथा–कई बार मित्र को पत्र लिखने पर जब उत्तर नहीं आता, तो उत्तर पाने के लिए विशेष आकांक्षा–आधारित वाक्यों का प्रयोग करता है–''कई पत्र लिखे, तुमने उत्तर नहीं दिया। अबकी बार उत्तर न दिया, तो मैं....। सच है, तो मैं...'' यहाँ लेखक और पाठक संबंध-संदर्भ की गंभीरता से वाक्य की पूर्ति होगी।

3. आसक्ति–इसे सन्निधि की भी संज्ञा दी जाती है। इसका शाब्दिक अर्थ है–समीपता। यहाँ वाक्य में आसक्ति का अर्थ है– वाक्य में प्रयुक्त शब्दों या पदों का विशेष अंतराल के साथ क्रमिक रूप में प्रयोग। वाक्य में विभिन्न पदों की दूरी सिमट जाए या अधिक हो जाए, तो वाक्य का अस्तित्व संदिग्ध हो जाएगा; यथा–''यतनकलघरचलना'' की सार्थकता तब तक अस्पष्ट है जब तक ''यतन कल घर चलना'' रूप में नहीं लिखा जाता है। इसी प्रकार यदि इस वाक्य का ''यतन'' सबेरे बोले, ''कल'' दोपहर में बोले ''घर'' शाम को और ''चलना'' रात में बोले, तो यह वाक्य नहीं हो सकता है। वाक्य के विभिन्न पदों का एक विशेष अंतराल के बाद प्रयोग अनिवार्य है।

आधुनिक भाषा वैज्ञानिक चिंतन-प्रक्रिया में वाक्य के कुछ अन्य अनिवार्य तत्त्व बताए गए हैं–सार्थकता, अन्विति और पदक्रम।

नोट्स

वाक्य की आकांक्षा के संदर्भ में कभी-कभी विशेष संरचना सामने आती है। वक्ता या लेखक वाक्य का कुछ अंश श्रोता या पाठक के परिचित संदर्भ में चमत्कारिक रूप देने के लिए छोड़ देता है। श्रोता या पाठक उसे भाव-वेग से पूरा करता हुआ आकांक्षा की पूर्ति करता है।

1. सार्थकता–भाषा की मूल प्रथम इकाई वाक्य का उद्देश्य है–पूर्ण और सार्थक अभिव्यक्ति। वाक्य की सार्थकता का अर्थ है– वाक्य में प्रयुक्त सभी शब्दों और पदों का सार्थक रूप में प्रयोग; यथा–''गाय को गो-माता कहते हैं'' में सार्थकता है। यदि इस वाक्य के शब्दों को इस प्रकार ''यगा को गो तामा तेहक है'' प्रयोग करें, तो सार्थकता समाप्त

हो जाती है और यह वाक्य नहीं रह जाता है।

यहाँ पर ध्यातव्य है कि योग्यता के अंतर्गत पदों और शब्दों की सार्थकता का भाव निहित होता है। वाक्य के ऐसे रूप को समाज द्वारा योग्यता संदर्भ से भी स्वीकृति नहीं मिल सकती है। अतः सार्थकता को वाक्य का भिन्न रूप में अनिवार्य तत्त्व कहना तर्कसंगत नहीं है।

2. **अन्विति–**इसके लिए अन्वय शब्द का भी प्रयोग होता है। अन्विति का अर्थ है–व्याकरणिक रूप में एकरूपता। इसके अनुसार वाक्य के विभिन्न पदों में वचन, लिंग पुरुष आदि संदर्भों में समानता होनी चाहिए। डॉ. भोलानाथ तिवारी के अनुसार वाक्य में दो या दो से अधिक शब्दों की आपसी व्याकरणिक एकरूपता को अन्वय कहते हैं।

योग्यता-संदर्भ में व्याकरणमूलक योग्यता पर विचार किया जाता है। वाक्य की व्याकरणिक योग्यता (विभिन्न पदों में वचन, लिंग, विभक्ति आदि की अनुकूलता) ही अन्विति है। इस प्रकार अन्विति को वाक्य का अलग अनिवार्य तत्त्व कहना उचित न होगा। अन्वय का विचार कर्त्ता-क्रिया, कर्म-क्रिया, विशेषण-विशेष्य, सर्वनाम-संज्ञा संबंधों में कर सकते हैं।

(i) कर्त्ता और कर्म से निरपेक्ष क्रिया–जब कर्ता और कर्म दोनों के साथ कारक चिह्न हों, तो क्रिया सदा पुंल्लिंग एकवचन में होती है; यथा–लड़की ने लड़के को देखा, लड़के ने लड़की को देखा।

(ii) सर्वनाम और संज्ञा अन्वय–सर्वनाम सदा उसी संज्ञा के लिंग, वचन का अनुसरण करता है, जिसके स्थान पर प्रयुक्त हो; यथा-वह (नीलम) घर जाती है। वह (विनोद) दिल्ली से आ रहा है।

आदरसूचक वाक्य में सर्वनाम और क्रिया शब्द बहुवचन हो जाते हैं; यथा-गुरु जो आ रहे हैं। वे संस्कृत पढ़ाएँगे।

(iii) कर्ता-क्रिया अन्वय–यदि कर्ता के साथ कारक चिह्न न प्रयुक्त हो, तो क्रिया कर्ता के अनुसार होगी, यथा-लड़की आम खाती है, लड़का इमली खाता है।

कर्त्ता आदर सूचक हो, तो क्रिया बहुवचन होगी, यथा-महात्मा गाँधी अहिंसा के पुजारी थे, पिताजी जा रहे हैं।

कर्त्ता के साथ में, को, से आदि लगने पर क्रिया का अन्वय नहीं होगा, यथा–महेश ने रोटी खा ली, बालिका को जाना है।

वाक्य में एक ही लिंग, वचन, पुरुष के कारक रहित कर्त्ता और, तथा से युक्त हों, तो क्रिया उसी लिंग में, बहुवचन होगी; यथा-मोहन, सोहन और सागर जा रहे हैं, लता, मीना और माधुरी जा रही है।

स्व-मूल्यांकन

सही विकल्प चुनिए–

1. जहाँ पदों की रचना विभक्तियों की सहायता से की जाए–

   (क) मिश्रित वाक्य (ख) साधारण वाक्य (ग) श्लिष्ट योगात्मक वाक्य

2. जिस वाक्य में केवल एक कर्त्ता तथा एक क्रिया हो उस .... वाक्य कहते हैं।

   (क) सरल अथवा साधारण वाक्य (ख) संयुक्त वाक्य (ग) अयोगात्मक वाक्य

3. जिस वाक्य में दो वाक्य खण्ड जुड़े हों तथा एक वाक्य पूरी तरह दूसरे पर निर्भर करता हो वह .... वाक्य कहलाता है।

   (क) मिश्र वाक्य (ख) संयुक्त वाक्य (ग) श्लिष्ट वाक्य

4. जब बिना अलंकार की सहायता के बात सीधे ढंग से कही जाए तो उसे .... वाक्य कहते हैं।

   (क) समीकृत वाक्य (ख) आवर्तक वाक्य (ग) शिथिल वाक्य

नोट

3. पद-क्रम–पद क्रम के लिए ''क्रम'' शब्द का भी प्रयोग होता है। इसका अर्थ है– वाक्य के विभिन्न पदों को भाष-विशेष के सिद्धांतानुसार क्रम में रखना।

संस्कृत भाषा में सामान्यत: पदक्रम का विशेष महत्त्व नहीं होता; यथा– ''ग्राम निकषा नदी नास्ति'' को विभिन्न पदक्रम में इस प्रकार भी लिख सकते हैं–

निकषा ग्रामं नदी नास्ति।

नदी नास्ति ग्रामं निकषा।

नास्ति नदी ग्रामं निकषा। आदि-आदि।

संस्कृत भाषा में पदक्रम में ऐसी व्यवस्था का आधार है–संबंध तत्त्व का अर्थ तत्त्व के साथ सामासिक रूप में प्रयोग।

सभी भाषाओं के वाक्य में पदों का विशेष क्रम होता है। इस पदक्रम की व्यवस्था से पूर्ण और स्पष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति होती है।

हिंदी भाषा में सामान्यत: कर्त्ता, कर्म और क्रिया का क्रमश: प्रयोग होता है; यथा–''अंशुल आम खाता है'' में अंशुल-कर्त्ता, आम-कर्म और खाता है–क्रिया है। अंग्रेजी में हिंदी के विपरीत कर्त्ता, क्रिया और कम्र का क्रमिक प्रयोग होता है; यथा–He eats mango, कर्त्ता + क्रिया + कर्म।

वाक्य का यह क्रम विशेष संदर्भ (बलाघात) में बदल दिया जाता है। वाक्य के जिस भाग पर बल दिया होता है, उसे सर्वप्रथम प्रयोग करते हैं; यथा–

विपिन तुम्हारे साथ घर जा रहा है।	–	सामान्य वाक्य
तुम्हारे साथ विपिन घर जा रहा है।	–	तुम्हारे साथ पर बल
जा रहा है, तुम्हारे साथ विपिन घर?	–	जा रहा है पर बल

इस प्रकार के विशेष पदक्रम वाले वाक्यों से विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। पदक्रम संदर्भ में ध्यातव्य तथ्य निम्नलिखित हैं–

1. विशेषण का प्रयोग प्राय: विशेष्य से पूर्व होता है; यथा-वह अच्छा लड़का है। सुंदर चित्र लाओ। यदा-कदा विपरीत प्रयोग भी मिल सकते हैं; यथा-वह है सुंदर।

2. क्रिया विशेषण का प्रयोग प्राय: कर्त्ता और क्रिया के मध्य होता है; यथा–धीरे चलता है, तुम तेज दौड़ते हो।

3. संबोधन प्राय: वाक्य के प्रारंभ में आता है, यथा-दोस्त! आ जाओ। भगवान। तुम कहाँ हो? यदा-कदा इसके विपरीत प्रयोग भी मिल सकते हैं; यथा-बैठो मित्र।

4. अधिकतम कारक प्राय: क्रिया के पूर्व वाक्य के मध्य में प्रयुक्त होता है; यथा-कलम मेज पर है। कलम संदूक में है।

5. निवेदनात्मक 'न' का प्रयोग वाक्य के अंत में होता है; यथा-आप आइएगा न!

6. निषेधात्मक अव्यय प्राय: क्रिया के पूर्व आते हैं; यथा–मैं नहीं आऊँगा। तुम वहाँ न जाना।

7. ही, भी, तो, तक, भर आदि जिस पर बल देना हो उसके बाद आते हैं; यथा–**मैं ही** आऊँगा, **तुम भी** चलना, **आप तो** आएँगे, **शाम तक** आ जाना आदि।

8. ''मात्र'' और ''केवल'' शब्दों का प्रयोग वाक्य में पहले और बाद में भी होता है; यथा–

मात्र दो रुपये	दो रुपये मात्र
केवल चार पैसे	चार पैसे केवल

9. विस्मयादिबोधक प्रायः वाक्य के प्रारंभ में आते हैं; यथा–

   वाह! कितना सुंदर दृश्य है।

   अरे! वह गिर गया।

10. प्रश्नवाचक शब्द प्रायः उस पद के पूर्व आता है, जिससे वह संबद्ध हो; यथा–क्या तुम पढ़ रहे हो? तुम क्या पढ़ रहे हो? तुम पढ़ क्या रहे हो? तुम पढ़ रहे हो क्या?

पदक्रम के विषय में भी ध्यातव्य है कि पद्यात्मक रचना की अपेक्षा गद्य में पदक्रम अधिक व्यवस्थित होता है। लिखित भाषा से उच्चरित भाषा में पदक्रम अधिक प्रभावशाली और स्पष्ट होता है। पदक्रम की इस स्पष्टता के कारण ही उच्चरित भाषा में अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत सशक्त होती है।

14.3 सारांश

वाक्य, भाषा की सबसे छोटी किन्तु सार्थक तथा वास्तविक इकाई होता है। भर्तृहरि तो 'भाषा' की सबसे छोटी इकाई 'वाक्य' को ही मानते हैं। वस्तुतः वाक्य ही अक्षर, ध्रुव कूटस्थ, अपरिणामी, अक्षय एवं किसी प्रकार के अवयवों से रहित है, पद नहीं। वाक्य ही सार्थक होता है, पद नहीं। विभिन्न आधारों पर वाक्य के अनेक भेद बताए गये हैं– 1. आकृति के आधार पर, 2. संरचना के आधार पर, 3. शैली के आधार पर, 4. क्रिया के आधार पर तथा 5. अर्थ के आधार

भारतीय आचार्यों एवं भाषा-वैज्ञानिकों ने समय-समय पर वाक्य के अनिवार्य तत्वों पर विचार किया है। आचार्य कुमारिल भट्ट ने वाक्य के तीन अनिवार्य तत्त्व बताए हैं–आकांक्षा, योग्यता और आसक्ति। आचार्य विश्वनाथ ने भी साहित्य दर्पण में इन्हीं तीन अनिवार्य तत्त्वों की ओर संकेत किया है–

वाक्यं स्याद् योग्यताकांक्षासतियुक्तः पदोच्चयः।

वाक्य के संदर्भ में योग्यता का अर्थ है–वाक्य के विभिन्न पदों में पारस्परिक योग्यता अर्थात् अर्थ की दृष्टि से एक पद का दूसरे पद के साथ संबंध भाव में बाधा न होना योग्यता है। इसे दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि वाक्य के विभिन्न पदों के अन्वय में कोई बाधा न होना योग्यता है। वाक्य के पदों के अन्वय में दो प्रकार की बाधाएँ होती हैं।

(क) अर्थमूलक अयोग्यता

(ख) व्याकरणमूलक अयोग्यता

आकांक्षा का शाब्दिक अर्थ है– इच्छा, अपेक्षा या जिज्ञासा। वाक्य में शब्द या पद एक-दूसरे से संबंधित होते हैं। यह संबंध-भाव वाक्य के आकांक्षा-तत्त्व के ही कारण संभव होता है। वाक्य में प्रयुक्त शब्दों को अर्थ-अभिव्यक्ति के संदर्भ में एक-दूसरे की अपेक्षा रहती है।

क्रिया को कर्ता और कर्म की अपेक्षा होती है। इस अपेक्षा की पूर्ति पर ही वाक्य की संरचना और अर्थ की अभिव्यक्ति संभव है। इस प्रकार आकांक्षा की अपूर्णता पर वाक्य अपूर्ण होता है; आसक्ति–इसे सन्निधि की भी संज्ञा दी जाती है। इसका शाब्दिक अर्थ है–समीपता। यहाँ वाक्य में आसक्ति का अर्थ है– वाक्य में प्रयुक्त शब्दों या पदों का विशेष अंतराल के साथ क्रमिक रूप में प्रयोग।

14.4 शब्दकोश

1. **सन्निकट–** पास, करीब
2. **श्लिष्ट–** सम्मिलित, संयुक्त, अनेकार्थक (जैसे- श्लिस्ट पद)
3. **आवर्त्तक–** चक्कर लगाने वाला, बार-बार मन में उठने वाल।

नोट

14.5 अभ्यास-प्रश्न

1. वाक्य के भेद समझाइए।
2. वाक्य विश्लेषण के अनिवार्य तत्त्वों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन

1. (ग) 2. (क) 3. (क) 4. (ग)।

14.6 संदर्भ पुस्तकें

1. *भाषा और भाषा विज्ञान*– गरिमा श्रीवास्तव, संजय प्रकाशन, दिल्ली
2. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा*– नरेश मिश्र, संजय प्रकाशन, दिल्ली
3. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा का स्वरूप*– विकास– देवेन्द्र प्रसाद सिंह, हिंदी बुक सेंटर, दिल्ली

नोट

इकाई 15: अर्थ विज्ञान की अवधारणा और शब्द-अर्थ संबंध

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- अर्थ विज्ञान एवं शब्द-अर्थ संबंध को समझने में।

प्रस्तावना

भाषा की आत्मा–अर्थ से संबंधित वैज्ञानिक अध्ययन को अर्थविज्ञान कहते हैं। अर्थविज्ञान में भाषा की सार्थक इकाई का अध्ययन किया जाता है, जो मानव-समाज के भावादान-प्रदान में सहयोगी होती है। अर्थ– अध्ययन संदर्भ में अर्थ का स्वरूप, अर्थ बोध, शब्द-अर्थ संबंध, अर्थ-परिवर्तन की दिशाएँ, अर्थ-परिवर्तन के कारण आदि पर विचार किया जाता है।

15.1 अर्थ विज्ञान की अवधारणा

भाषा की लघुतम, स्वतंत्रत सार्थक इकाई शब्द है, इसलिए अर्थ-अध्ययन के समय शब्द पर विचार करना आवश्यक है। भर्तृहरि ने शब्द के विषय में लिखा है कि संसार में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो शब्द-ज्ञान के बिना संभव हो। समस्त ज्ञान शब्द के ही माध्यम से अनुभव होता है।

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके: यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञान सर्व शब्देन भासते।।

शब्द-शक्ति जहाँ बाह्य जगत के व्यवहार का साधन है, वहीं आंतरिक हर्ष-विषाद आदि भावों का ज्ञान रूप है। संसार का कोई प्राणी ऐसा न होगा जिसमें शब्द शक्तिरूपी चैतन्यता न हो। गूँगा भले ही शब्दों का उच्चारण नहीं कर सकता, किंतु उसके अंतराल में उठने वाले भावों में कितने एक शब्द एक साथ पंक्तिबद्ध होकर उसे चेतना-शक्ति प्रदान करते हैं, इसे कौन अस्वीकार करेगा? मानव-समाज में शब्द के महत्त्व का मुख्य आधार उसका आत्मा रूपी अर्थ है। **महर्षि पतंजलि** ने अर्थ को शब्द की आंतरिक शक्ति के रूप में स्वीकार किया है।

नोट

पाश्चात्य विद्वान डॉ. शिलर ने अर्थ को वैयक्तिक बताते हुए कहा है कि अर्थ उस व्यक्ति पर आधारित होता है जो कि कुछ ग्रहण करना चहता है। डॉ. रसाल ने संबंध विशेष की संज्ञा दी है।

भारतीय विद्वान प्रतीति को अर्थ मानते हैं, तो पाश्चात्य विद्वान संदर्भ या संबंध को अर्थ के रूप में स्वीकार करते हैं।

अर्थ के बिना शब्द का अस्तित्व संदिग्ध हो जाएगा। इस प्रकार कह सकते हैं कि अर्थ के बिना भाषा का कोई मूल्य नहीं है। शब्द को यदि शरीर कहें तो अर्थ इसकी आत्मा है। शब्द के उच्चारण से श्रोता को जो प्रतीति होती है, उस प्रतीति को अर्थ की संज्ञा दी जाती है। यह प्रतीति हमें ज्ञानेंद्रिय और मन के द्वारा होती है। इस प्रकार स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि अर्थ भाषा का अभ्यंतर रूप है और शब्द बाह्य रूप।

टास्क अर्थ विज्ञान से आप क्या समझते हैं?

15.2 शब्द-अर्थ संबंध

कवि कुल गुरु कालिदास ने शिव-पार्वती की अर्चना संदर्भ से शब्द-अर्थ के संबंध के स्पष्ट करते हुए कहा है—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये।

जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ।

यदि 'कलम' शब्द का विचार करें, तो कलम शब्द और 'कलम' वस्तु में अभेद्य संबंध दिखाई देता है; यथा—'यह कलम है', 'कलम काली है।'

यहाँ 'कलम' शब्द और 'कलम' वस्तु के पृथक् रूप का आभास नहीं होता है। कभी-कभी तो यह भेद करना कठिन हो जाता है कि शब्दों पर विचार हो रहा है अथवा शब्द के द्वारा किसी वस्तु पर। वास्तव में शब्द द्वारा निर्दिष्ट वस्तु का ज्ञान होता है, किंतु शब्द वस्तु आदि से भिन्न है। विचारणीय है कि क्या काले रंग वाली निब से युक्त, सुनहरी टोपी वाली कलम ही 'कलम' शब्द है? उक्त निर्दिष्ट वस्तु कलम है। यहाँ काला रंग भी कलम शब्द से पूर्ण भिन्न, उस वस्तु (कलम) का गुण है।

शब्द-अर्थ पर सूक्ष्म चिंतन करने से यह ज्ञात होता है कि शब्द के द्वारा पहले उसका निजी भाषायी स्वरूप प्रकट होता है और उसके पश्चात उसका अर्थ बोध होता है। इस प्रकार शब्द और अर्थ का अभिन्न संबंध स्पष्ट होता है। यहाँ पर यह भी ज्ञातव्य है कि 'कलम' कहने से 'कागज', 'पुस्तक' या अन्य किसी वस्तु का बोध नहीं होता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि प्रत्येक शब्द से विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है। यही कारण है कि वक्ता और श्रोता प्रायः एक शब्द से एक ही अर्थ ग्रहण करते हैं।

नोट्स शब्दों का अर्थ जन सामान्य द्वारा स्वीकृत होता है। यदि जन सामान्य द्वारा 'फूल' या अन्य किसी शब्द का कोई भिन्न अर्थ मान लिया जाए, तो वही अर्थ प्रकट होगा।

3. शब्द का उच्चरित स्वरूप और अर्थ-अभिव्यक्ति—जब एक शब्द का उच्चारण दो या दो से अधिक व्यक्ति करते हैं, तो उनके उच्चारण में आपसी अंतर स्पष्ट होता है। यह उच्चारण-भिन्नता ही वक्ता की जानकारी देती है। एक शब्द का चाहे जितने आदमियों द्वारा प्रयोग किया जाए, किंतु उनका समान ही अर्थ निकलता है।

4. शब्द-अर्थ संबंधः चिंतन-परंपरा—प्राचीनकाल से ही शब्द और अर्थ के संबंध पर विचार होता रहा है। **पतंजलि** ने अर्थ को शब्द की आंतरिक शक्ति बताते हुए शब्द और अर्थ के संबंध को नित्य कहा है, तो **भर्तृहरि** ने दोनों

को एक ही आत्मा के दो रूपों में स्वीकार किया है। शब्द-अर्थ के विभिन्न चिंतन को निम्नलिखित वर्गों में रख सकते हैं–

(क) **उत्पत्तिवाद**–ऋग्वेद में प्रस्तुत प्राचीन मतानुसार मानव-मन में अर्थ विद्यमान होते हैं, जिनसे शब्द की उत्पत्ति होती है, अर्थात् शब्द उत्पाद है और अर्थ उत्पादक।

(ख) **अभिव्यक्ति**–यह विचार महर्षि पतंजलि की देन-स्वरूप है। उसके अनुसार शब्द-प्रयोग से अर्थ की अभिव्यक्ति होती है–"श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्य: प्रयोगेणाभिज्वलित: आकाशदेश: शब्द:।"

(ग) **प्रतीकवाद**–भर्तृहरि के अनुसार शब्द के प्रतीक रूप से विभिन्न वस्तुओं या पदार्थों की प्रतीति होती है। इस प्रकार शब्द और अर्थ में प्रतीकात्मक संबंध की बात सामने आती है।

(घ) **ज्ञाप्तिवाद**–किशेरी दास वाजसनेयी के अनुसार शब्द से अर्थ की ज्ञाप्ति होती है। जिस प्रकार बहुत ठंडेपन से बर्फ का आभास होता है, उसी प्रकार शब्द से अर्थ का आभास होता है। इसके अनुसार शब्द ज्ञापक और अर्थ ज्ञाप्य है।

स्व-मूल्यांकन

रिक्त स्थान की पूर्ति करें–

1. भर्तृहरि के अनुसार संसार में कोई भी ऐसा ज्ञान नहीं है जो .... बिना संभव हो।
2. शब्द के उच्चारण से श्रोता को जो प्रतीति होती है उस प्रतीति को .... कहते हैं।
3. .... में अपने अनुभव के द्वारा शब्द के अर्थ की प्रतीति होती है।
4. .... में एक-दूसरे के अनुभव पर विश्वास कर शब्द का अर्थ निश्चित करते हैं।

5. अर्थ-प्रतीति–अर्थ-प्रतीति के दो आधार हैं–आत्मानुभव और परानुभव।

(क) **आत्मानुभव** में अपने अनुभव के द्वारा शब्द के अर्थ की प्रतीति होती है; यथा–'रसगुल्ला' शब्द से एक मीठे स्वादिष्ट खाद्य-पदार्थ का ज्ञान होता है।

(ख) **परानुभव** में एक-दूसरे के अनुभव पर विश्वास कर शब्द का अर्थ निश्चित करते हैं; यथा–'जहर' के विषय में लगभग सभी को पता होता है कि इसके खाने से प्रणांत हो जाता है, जबकि अनेक व्यक्ति ऐसे मिल जाएँगे जिन्होंने जहर देखा भी नहीं होगा। इस प्रकार जहर की अनुभूति परानुभव पर आधारित है।

क्या आप जानते हैं शब्दों का अर्थ हमारे मन में पहले से निश्चित होता है किन्तु परानुभव द्वारा भी हम किसी शब्द का अर्थ निश्चित करते हैं। यथा-चन्द्रमा पर कैसी जलवायु है। उसकी विषमता का अनुभव .... कुछ वैज्ञानिकों के अनुभव के आधार पर ही जान पाते हैं।

6. शब्दार्थ-बोध के साधन–भारतीय परिवेश में शब्दार्थ-बोध के साधनों में परंपरा, कोश, व्याकरण, प्रकरण, व्याख्या, आप्त-वाक्य, सान्निध्य और सुर-लहर का विशेष महत्त्व है। जब सामान्य रूप से किसी शब्द के अर्थ का ज्ञान नहीं होता, तो इनमें से एक या अधिक आधारों का सहारा लेते हैं। यदि 'उन्मेष' शब्द का अर्थ व्यवहार से नहीं होता तो परंपरा के अतिरिक्त कोश, व्याकरण आदि का सहारा लेते हैं। शब्दकोश से 'खिला हुआ', 'विस्तृत' आदि अर्थों का बोध होता है।

15.3 सारांश

भाषा की लघुतम, स्वतंत्रत सार्थक इकाई शब्द है, इसलिए अर्थ-अध्ययन के समय शब्द पर विचार करना आवश्यक है। भर्तृहरि ने शब्द के विषय में लिखा है कि संसार में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो शब्द-ज्ञान के बिना संभव हो।

नोट

समस्त ज्ञान शब्द के ही माध्यम से अनुभव होता है। शब्द-शक्ति जहाँ बाह्य जगत के व्यवहार का साधन है, वहीं आंतरिक हर्ष-विषाद आदि भावों का ज्ञान रूप है। संसार का कोई प्राणी ऐसा न होगा जिसमें शब्द शक्तिरूपी चैतन्यता न हो। गूँगा भले ही शब्दों का उच्चारण नहीं कर सकता, किंतु उसके अंतराल में उठने वाले भावों में कितने एक शब्द एक साथ पंक्तिबद्ध होकर उसे चेतना-शक्ति प्रदान करते हैं, इसे कौन अस्वीकार करेगा? मानव-समाज में शब्द के महत्त्व का मुख्य आधार उसका आत्मा रूपी अर्थ है। अर्थ के बिना शब्द का अस्तित्व संदिग्ध हो जाएगा। इस प्रकार कह सकते हैं कि अर्थ के बिना भाषा का कोई मूल्य नहीं है। शब्द को यदि शरीर कहें तो अर्थ इसकी आत्मा है।

कवि कुल गुरु कालिदास ने शिव-पार्वती की अर्चना संदर्भ से शब्द-अर्थ के संबंध के स्पष्ट करते हुए कहा है–

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ।

शब्द-अर्थ पर सूक्ष्म चिंतन करने से यह ज्ञात होता है कि शब्द के द्वारा पहले उसका निजी भाषायी स्वरूप प्रकट होता है और उसके पश्चात उसका अर्थ बोध होता है। इस प्रकार शब्द और अर्थ का अभिन्न संबंध स्पष्ट होता है।

15.4 शब्दकोश

1. **अभ्यंतर–** वस्तु का भीतरी भाग, बीच का अवकाश, भीतर, परिचित।
2. **निर्दिष्ट–** बताया हुआ, निर्देश किया गया।
3. **उन्मेष–** प्रकट होना, खिलना, हल्का प्रकाश।

15.5 अभ्यास प्रश्न

1. अर्थ विज्ञान की अवधारणा समझाइए।
2. शब्द-अर्थ संबंध पर एक टिप्पणी लिखिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन

1. शब्द ज्ञान **2.** अर्थ प्रतीति **3.** आत्मानुभव **4.** परानुभव।

15.6 संदर्भ पुस्तकें

पुस्तकें

1. *भाषा और भाषा विज्ञान*– गरिमा श्रीवास्तव, संजय प्रकाशन, दिल्ली
2. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा*– नरेश मिश्र, संजय प्रकाशन, दिल्ली
3. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा का स्वरूप*-विकास– देवेन्द्र प्रसाद सिंह, हिंदी बुक सेंटर, दिल्ली

नोट

इकाई 16: अर्थ परिवर्तन के कारण एवं दिशाएँ

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- अर्थ परिवर्तन के कारण एवं दिशाओं को समझने में।

प्रस्तावना

भाषा की विभिन्न इकाइयों के सतत परिवर्तन के अनुसार विभिन्न शब्दों के अर्थों में परिवर्तन होता रहता है। शब्द के इस प्रकार अर्थ-परिवर्तन को विकास सिद्धांत के आधार पर अर्थ-विकास की संज्ञा दी जाती है।

16.1 अर्थ परिवर्तन के कारण एवं दिशाएँ

16.1.1 अर्थ परिवर्तन की दिशाएँ

संस्कृत के विद्वान यास्क, पतंजलि तथा भर्तृहरि आदि ने शब्दार्थ-विकास पर विस्तार से चिंतन करते हुए अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना शक्तियों के माध्यम से शब्दार्थ-परिवर्तन की दिशाएँ निश्चित की हैं।

भाषाविज्ञान में इस दिशा पर नए ढंग से चिंतन किया गया है। इस विषय में फ्रांसीसी विद्वान 'ब्रील' का नाम बहुचर्चित है। उन्होंने अर्थ-विकास की तीन दिशाएँ निश्चित की हैं। यह दिशा-निर्धारण शब्द के पूर्ववर्ती और परवर्ती अर्थ-भिन्नता के आधार पर किया गया है, अर्थात् कुछ शब्दों का अर्थ एक समय कुछ होता है, तो परवर्ती काल में कुछ और हो जाता है। अर्थ-परिवर्तन की निम्नलिखित दिशाएँ सामने आती हैं–

1. अर्थ विस्तार

अर्थ-विस्तार का सामान्य भाव है–अर्थ क्षेत्र का विस्तृत होना। जब कोई शब्द एक समय सीमित अर्थ में प्रयुक्त होता रहा हो और बाद में उसकी अर्थ-सीमा का विस्तार हो जाए, तो उसे अर्थ-विस्तार कहते हैं; यथा–

नोट

तेल–संस्कृत में एक विशेष तिलहन 'तिल' के तरल पदार्थ को तेल कहते हैं। इस शब्द के अर्थ में धीरे-धीरे विस्तार हुआ। आज सरसों, मूँगफली, सोयाबीन, नारियल, मछली आदि से तैयार किए गए तरल पदार्थ को तेल कहते हैं। अधिक परिश्रम के संदर्भ में प्रयुक्त होने वाले मुहावरे में मनुष्य के तेल निकालने की बात कही जाती है–"उसने मेरा तेल निकाल दिया।"

कुशल–संस्कृत में तीक्ष्ण अग्रभाग वाली एक विशेष घास 'कुश' को सावधानी से उखाड़ने वाले को कुशल कहते थे। आज इसका अर्थ चतुरता या निपुणता के संदर्भ में लिया जाता है। खेल में कुशल, कला में कुशल व व्याख्यान में कुशल आदि संदर्भों में इसका प्रयोग करते हैं।

स्याही–इसका प्रारंभिक अर्थ था–काली। इस आधार पर लेखन योग्य बनाए गए काले रंग के तरल पदार्थ को स्याही कहते थे। आज लाल, नीली, गुलाबी आदि रंगों को स्याही मिलती है।

इसी प्रकार प्रवीण, गोशाला, गवेषणा (गाय ढूँढ़ना) आदि शब्दों का अर्थ-विस्तार हुआ है।

2. अर्थ-संकोच

अर्थ-संकोच न की प्रक्रिया अर्थ-विस्तार के पूर्ण विपरीत है। जब किसी शब्द का पूर्ण-विस्तृत अर्थ परवर्ती काल में संकुचित रूप में प्रयुक्त होने लगता है, तो उसे अर्थ-संकोच कहते हैं; यथा–

मृग–प्राचीन संस्कृत में मृग का अर्थ जंगली जानवर था, जिसके अंतर्गत सभी वन्य पशु आ जाते थे। पशुओं में श्रेष्ठ 'शेर' को इसलिए मृगेंद्र, मृगपति या मृगराज कहते हैं। वर्तमान समय में इसका अर्थ संकुचित होकर मात्र 'हिरण' रह गया है।

सर्प–सर्प शब्द का निर्माण सृप धातु से बना हुआ है। इस शब्द का अर्थ है–रेंगने वाले जीव, जिसके अंतर्गत केंचुआ, साँप आदि रेंगने वाले जीव आ जाते हैं। वर्तमान समय में इसका मात्र साँप के लिए होता है।

मंदिर–संस्कृत में मंदिर शब्द का प्रयोग विस्तृत रूप में घर, राजमहल, देवालय आदि के लिए होता है। हिंदी में इस शब्द का प्रयोग केवल देवालय या आराधना-गृह के लिए होता है।

इसी प्रकार वृषभ (बैल, साँड, रुद्रद्रेव) और (कमल, मेढक, मछली) आदि शब्दों के अर्थ में संकोच हो गया है।

3. अर्थादेश

अर्थादेश का सामान्य अर्थ है–एक अर्थ के स्थान पर दूसरे अर्थ का प्रचलन अर्थात् जब कोई शब्द पहले एक अर्थ में प्रचलित हो और बाद में किसी अन्य अर्थ में प्रयुक्त होने लगे, तो उसे अर्थादेश कहते हैं। इस परिवर्तन से शब्द नए अर्थ में प्रयुक्त होने लगता हैं; यथा–

साहस–शब्द प्राचीन संस्कृत में चोरी, डकैती और व्यभिचार आदि संदर्भों में कार्य करने के अर्थ में प्रयुक्त होता था, आज इसका प्रयोग अच्छे कार्यों के संदर्भ में उत्साह दिखाने में होता है।

अर्थादेश को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं–

(क) अर्थोत्कर्ष

जब कोई शब्द प्रारंभ में निम्न विकृत अर्थ में प्रयुक्त होता रहा हो और बाद में उच्च या उत्कृष्ट अर्थ में प्रयुक्त होने लगता है, तो उसे अर्थ-विकास की अर्थोत्कर्ष दिशा कहते हैं। इसमें शब्दार्थ का भावानात्मक रूप उत्कर्ष प्राप्त करता है; यथा–

कर्पट–संस्कृत में 'कर्पट' शब्द का प्रयोग फटे-पुराने, जीर्ण-शीर्ण वस्त्र के संदर्भ में किया जाता था, वर्तमान समय में कर्पट शब्द अच्छे वस्त्र के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है।

मुग्ध–संस्कृत में इस शब्द का प्रयोग मूर्ख के अर्थ में होता था। धीरे-धीरे इसके अर्थ में परिवर्तन आया और मोहित, आकर्षित और भोलेपन के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है।

सभ्य–इस शब्द का प्रयोग पहले 'सभा में बैठने वाले' के अर्थ में होता था। सभा में सभ्य और असभ्य दोनों प्रकार

के व्यक्ति हो सकते हैं। इसके अर्थ में उत्कर्ष आया और यह शब्द सुसंस्कृत व्यक्ति के संदर्भ में प्रयुक्त होने लगा है।

इसी प्रकार साहस, गोष्ठी (गोशाला > सभ्य लोगों की बैठक), फिरंगी (डाकू > यूरोपियन) आदि शब्दों में अर्थोत्कर्ष देख सकते हैं।

(ख) अर्थापकर्ष

अर्थ-विकास की यह प्रक्रिया अर्थोत्कर्ष के ठीक विपरीत है। जब कोई शब्द पहले उच्च या अच्छे अर्थ में प्रयुक्त हो और बाद में निम्न अर्थ में प्रयुक्त होने लगे, तो उसे अर्थापकर्ष कहेंगे; यथा–

असुर–शब्द वैदिक साहित्य में देवता के अर्थ में प्रयुक्त होता था। आज इसका प्रयोग राक्षस के अर्थ में होता है।

अभियुक्त–संस्कृत में अभियुक्त का अर्थ था–प्रामाणिक पुरुष, किंतु वर्तमान समय में इसका प्रयोग अपराधी के अर्थ में होता है।

पाषंडी–अशोक कालीन भारतवर्ष में एक विशेष संप्रदाय 'पाषंडी' का उदय हुआ था। इस संप्रदाय वालों पर विशेष श्रद्धा होने से, उन्हें दान दिया जाता था। आज पाषंडी का अर्थ परिवर्तित होकर ढोंगी या दिखावा करने वाला हो गया है।

इस प्रकार चतुर्वेदी > चौबे (चारों वेदों का ज्ञाता > अधिक खाने वाला), मधुर > माहुर, भद्र > भद्दा, आबदस्त (नमाज़ पढ़ने के पूर्व हस्त शुद्धि का जल > शौचालय का जल) आदि शब्दों में अर्थापकर्ष देख सकते हैं।

टास्क पाठ से इतर अर्थ-परिवर्तन का उदाहरण दीजिए।

4. मूर्तीकरण

इसे स्थूलीकरण भी नाम दिया जाता है। जब भावों के सूक्ष्म रूप के स्थान पर स्थूल अर्थ विकसित हो जाता है, तो उसे अर्थ-विकास की मूर्तीकरण दिशा कहते हैं; यथा–

क. **पुराण**–पहले पुराण का सामान्य अर्थ पुरातन या पुराना था। अब 'पुराण' का अर्थ ग्रंथ-विशेष है। इस प्रकार विशेषण भाव संज्ञा का स्थान ले लेता है।

ख. **सवारी**–इस शब्द से मूल अर्थ सवारी क्रिया का बोध होता था, किंतु वर्तमान समय में यह स्थूल संदर्भ से जुड़कर संज्ञार्थ द्योतन करता है। अर्थात् 'सवारी' शब्द का प्रयोग 'सवार' अर्थ में होने लगा है; जैसे–लो, एक सवारी और आ गई।

ग. **सामग्री**–इसका प्रारंभिक अर्थ समग्रता के संदर्भ में 'संचय' रहा है किंतु अब इसके अर्थ का मूर्तीकरण होकर 'वस्तुओं' का ज्ञान करता है; यथा-हवन सामग्री आ गई है। ध्यातव्य है कि सामग्री में कई वस्तुओं का योग होता है, समग्रता के आधार पर शब्द एकवचन में प्रयुक्त होता है।

घ. **सुहाग**–इसका मूल शब्द सौभाग्य है, जिसका अर्थ है–उत्तम या अनुकूल भाग्य इसका तद्भव रूप सुहाग संज्ञा अर्थात् स्थूल संदर्भ में प्रयुक्त होने लगा है; उदाहरणार्थ–उसका सुहाग जहाँ भी रहे प्रसन्न रहे।

5. अमूर्तीकरण

अर्थ-विकास की इस दिशा के लिए सूक्ष्मीकरण नाम भी दिया जाता है। जब किसी शब्द के मूर्त अर्थ के स्थान पर सूक्ष्म या भावात्मक अर्थ प्रकट होने लगता है, तो उसे अमूर्तीकरण अर्थ-विकास की संज्ञा देते है; यथा–

क. **अंकुश**–यह शब्द हाथी आदि को रोकने के लिए प्रयोग किए जाने वाले भाले के अर्थ में होता था। जब अंकुश का प्रयोग रोक या रुकावट भाव के लिए भी किया जाता है; यथा–उस पर किसी का अंकुश नहीं है।

नोट

ख. **काँटा**–पूर्ववर्ती समय में इसका प्रयोग कंटक अर्थात् बबूल और गुलाब आदि दृश्य और स्पर्श से त्वचा में चुभाने वाली स्थूल वस्तु के रूप में होता था, किंतु परवर्ती काल में इसे सूक्ष्म भाव 'दर्द' या 'टीस' के लिए होने लगा है; यथा-वह दिनेश के लिए काँटा बन गया है।

ग. **कुर्सी**–पहले कुर्सी शब्द एक वस्तु के रूप में अर्थ प्रकट करता था, किंतु अब उसके साथ 'पद' अर्थ को प्रकट करने लगा है। यह कहते हुए प्रायः सुनते है, "आजकल कुर्सी का ही झगड़ा है।"

घ. **गधा**–एक सीधा-जानवर जो भारवाहक के रूप में मानव का सहयोगी है, अब गधा शब्द का प्रयोग 'मूर्ख' अर्थ में भी किया जाता है; यथा–वह पूरा गधा है, उत्तर नहीं दे सकेगा।

ङ. **परदा**–इस शब्द का अर्थ था–अलग रखने या छिपाव के लिए किया जाने वाला आधार; यथा-दीवार पर पर्दा या कपड़े का पर्दा, किंतु परदा शब्द का प्रयोग दुराव भाव के लिए किया जाने लगा हैं; यथा–वह परदे में रहने वाली महिला है।

च. **रोटी**–इस शब्द का सामान्य अर्थ एक विशेष भोज्य पदार्थ है, किंतु आज रोटी का प्रयोग आजीविका के संदर्भ में किया जाता है; यथा–रोजी रोटी की बात है।

छ. **लाठी**–पूर्ववर्ती समय में इस शब्द का प्रयोग लुगड, बाँस और बेंत आदि से निर्मित स्थूल वस्तु के लिए होता था, किंतु परवर्ती समय में इसका प्रयोग सूक्ष्मभाव 'सहारा' अर्थ में भी किया जाने लगा है; यथा–युगेश्वर अपने बूढ़े दादा की लाठी है।

इस प्रकार गाँधी, हरिश्चंद्र, विभीषण, जयचंद्र व्यक्ति-विशेष के नाम थे, किंतु इन नामों के प्रयोग क्रमशः अहिंसा के पुजारी, सत्यव्रत धारी, घर का भेदी, देश-द्रोही सूक्ष्म भावों के अर्थ में प्रयोग किए जाते हैं।

स्व-मूल्यांकन

रिक्त स्थान की पूर्ति करें–

1. प्राचीन संस्कृत में 'मृग' का अर्थ था ....।
2. साँप शब्द का निर्माण .... से हुआ है।
3. वैदिक काल का 'उष्ट्र' शब्द बाद में उष्ण प्रदेश में .... के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा।
4. शब्द 'असुर' वैदिक काल में देवता के अर्थ में प्रयुक्त होता था जो आधुनिक काल में .... के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

16.1.2. अर्थ-परिवर्तन के कारण

भाषा में अर्थ-परिवर्तन की प्रक्रिया सतत चलती रहती है। अर्थ का मन से सीधा संबंध है। मानव-मन पर विभिन्न परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है, जिसके कारण विभिन्न शब्दों के अर्थों में परिवर्तन होता है। अर्थ-परिवर्तन की प्रक्रिया व्यक्तिगत स्तर से प्रारंभ होकर सामाजिक स्तर पर पहुँच जाती है। विभिन्न भाषाओं के शब्दों में होने वाले परिवर्तन के निम्नलिखित प्रमुख कारण हैं–

1. **लाक्षणिक प्रयोग**–मनुष्य अपनी बात को अच्छे से अच्छे ढंग से कहना चाहता है। इसके लिए वह लाक्षणिक प्रयोग करता है। ऐसे में अभिव्यंजना की नई शक्ति आती है और शब्द का अर्थ परिवर्तित हो जाता है; जैसे–सुरेन्द्र शेर है, वह पूरा बैल है, तुम गीदड़ हो। इसी प्रकार कुत्ते की पूँछ, पत्थर का दिल, ऊँट की टाँग, सुराही की गर्दन आदि का भाषा में लाक्षणिक प्रयोग होने से अर्थ में परिवर्तन हो जाता है।
2. **परिवेश-परिवर्तन**–परिवेश-परिवर्तन के साथ अनेक शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं। भौगोलिक, सामाजिक, भौतिक तीनों ही परिवेश-परिवर्तनों से शब्द के अर्थ में परिवर्तन होता रहता है। भौगोलिक परिवर्तन के कारण वैदिक काल का 'उष्ट्र' शब्द जो 'भैंसे' के अर्थ में प्रयुक्त होता था, बाद में उष्ण प्रदेश में 'ऊँट' के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। सामाजिक परिवेश-परिवर्तन के कारण स्कूल, पाठशाला, मदरसा आदि शब्दों के अर्थ

में भिन्नता का आभास होता है। डॉक्टर, वैद्य, हकीम आदि शब्दों की भिन्नता सामाजिक परिवेश-परिवर्तन की देन है। भौतिक साधनों में होने वाले परिवर्तन से भी शब्दार्थ में परिवर्तन होता है। 'गिलास' अंग्रेजी का आगत शब्द है, जो शीशे के गिलास के अर्थ में प्रयुक्त होता था। आज इसके अर्थ में विस्ता हो गया है और पीतल, ताँबा, स्टेनलेस स्टील आदि के गिलास होते हैं। इसी प्रकार बुशर्ट, कमीज आदि शब्दों में भौतिक-परिवर्तन आधार पर अर्थ-भिन्नता आती है।

3. **विनम्रता-प्रदर्शन**—शिष्टाचार, विनम्रता-प्रदर्शन में अनेक शब्दों के अर्थ में परिवर्तन आ जाता है; यथा—धनी व्यक्ति अपने घर को 'गरीबखाना' कहता है, किसी गरीब के घर को 'दौलतखाना' कहा जाता है। इसी प्रकार 'आपकी कृपा है', 'कैसे पधारे', 'आज्ञा दीजिए' 'सेवाएँ बताइए' आदि प्रयोग विनम्रता के कारण किए जाते हैं।
4. **व्यंग्य**—व्यंग्य आधार पर अनेक शब्दों के विपरीत अर्थ निकलते हैं; यथा—कुरूप को कामदेव, कंजूस को दानवीर, अंधे को नैन-सुख, झूठ बोलने वाले को सत्यवादी हरिश्चंद्र कहते हैं, तो अर्थ की भिन्नता स्वत: स्पष्ट हो जाती है। इसी प्रकार दुष्ट लड़के को 'बहुत सीधा लड़का है', देर से आने वाले को 'बहुत जल्दी आ गए', कुछ भी उत्तर न दे पाने वाले को 'बहुत बुद्धिमान हो' कहते हैं, तो व्यंग्य आधार पर अर्थ-परिवर्तन की अभिव्यक्ति होती है।
5. **सुश्रव्यता**—मनुष्य स्वभाव से मंगल प्रेमी है। अमंगल, अशुभ, व्रीडा, जुगुप्सा आदि संदर्भों को प्रकारांतर से प्रकट करता है। ऐसे में हम अमंगल, अशुभ आदि बातों के लिए शुभ-सुंदर शब्दों का प्रयोग करते हैं; यथा—मल त्याग स्थान के लिए पाखाना (पैर रखने का स्थान), शौचालय (पवित्र-घर), दिशा जाना (दिशाओं में भ्रमण), प्रसाधन (श्रृंगार कक्ष), बाथरूम (स्नानागार) आदि शब्दों के प्रयोग होते हैं। इसी प्रकार मृत्यु के लिए स्वर्गवास, स्मृतिशेष, बैकुण्ठवास आदि शब्दों के प्रयोग मिलते हैं।
6. **व्यक्ति-आधार**—व्यक्तिगत आधार पर भी शब्दार्थ में भेद होता है। यदि 'अध्यक्ष महोदय आ रहे हैं' वाक्य को हिंदी, अंग्रेजी, संस्कृत आदि विभागों के सदस्य कहें, तो उनके लिए भिन्न-भिन्न अर्थ की अभिव्यक्ति होगी। यदि काशी में 'सभा' कहें तो नागरी प्रचारिणी सभा का बोध होगा, यदि मद्रास में 'सभा' कहें तो दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा का।
7. **अज्ञानता और भ्रांति**—बहुत से शब्दों में अज्ञानता और भ्रांति के कारण अर्थ-परिवर्तन हो जाता है; यथा—सहस्र को सहस्त्र, एडवांस को अठवांस, लैटिन को लैट्रिन कहना या लिखना। इस प्रकार खालिस (शुद्ध) को निखालिस, फिजूल को बेफिजूल कहने से भी अर्थ-परिवर्तन को आधार मिल जाता है।
8. **शब्दार्थ अस्पष्टता**—अधिकांश भाषाओं में कई ऐसे शब्द मिल जाते हैं, जो एक-दूसरे के निकटार्थी होते हैं। सामान्य व्यक्ति के लिए उनमें भेद करना कठिन हो जाता है। ऐसी स्थिति में भिन्न अर्थ वाले शब्द का प्रयोग भिन्न स्थान पर हो जाता है। हिंदी में कृपा, अनुग्रह, दया, निवेदन, प्रार्थना, विनती; लघु, छोटा, अनुज; बहुत, ज्यादा, अधिक, पर्याप्त आदि शब्दों की आपसी अस्पष्टता उनके भिन्नार्थ प्रयोग का कारण बन जाती है।
9. **सादृश्य**—यदा-कदा सादृश्य के कारण शब्दों के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है; पुस्तकालय के लिए अंग्रेजी शब्द लाईब्रेरी के लिए लगभग समान 'रायबरेली' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार प्रश्रय (प्रेम) शब्द का आश्रय अर्थ में प्रयोग मिलता है।
10. **तद्भवता**—कुछ शब्दों के तत्सम से तद्भव परिवर्तन पर अर्थ में भिन्नता आ जाती है; यथा—श्रेष्ठ (सज्जन) से तद्भव सेठ होने पर इसका अर्थ धनी व्यक्ति हो गया। इसी प्रकार क्षीर > खीर, स्तन > थन, गर्भिणी > गाभिन, परीक्षक > पारखी, स्थान > थान, थाना आदि शब्दों के तद्भव रूपों से अर्थ की भिन्नता प्रकट होती है।

नोट

क्या आप जानते हैं अकसर लोग शब्द की सही जानकारी न होने के कारण 'फिजूल' यानि व्यर्थ के लिए बेफिजूल शब्द का प्रयोग करते हैं जबकि बेफिजूल शब्द निरर्थक है।

11. **भावात्मक बल**—भावात्मक प्रभाव की अभिव्यक्ति के लिए कभी-कभी बौद्धिक प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार के शब्द-प्रयोग में अर्थ-परिवर्तन होना स्वाभाविक ही है; यथा—'पलंगतोड़' मिठाई का नाम कितना विचित्र लगता है, किंतु यह नाम विशेष स्वादिष्ट होने के भाव को प्रकट करने के उद्देश्य से रखा गया है। इसी प्रकार एक बंगाली मिठाई का नाम 'प्राणहारा' है।
12. **पुनरावृत्ति**—कुछ शब्दों की पुनरावृत्ति के कारण अर्थ में परिवर्तन हो जाता है; यथा—विंध्याचल के स्थान पर विंध्याचल पर्वत, हिमाचल के स्थान पर हिमाचल पर्वत का प्रयोग होता है। 'अचल' का अर्थ पर्वत होता है, इसके बाद भी पर्वत शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार दुर्जन > दुर्जन व्यक्ति, सज्जन > सज्जन व्यक्ति, पाव (पुर्तगाली में रोटी का समानार्थी शब्द) > पाव रोटी के प्रयोग मिल जाते हैं।
13. **प्रयोगाधिक्य**—कुछ शब्दों का जब बहुत अधिक प्रयोग होने लगता है, तो उनसे संबंधित मूल अर्थ में भिन्नता आ जाती है। ऐसे शब्दों का प्रयोग सामान्य व्यक्तियों के लिए होने लगता है; यथा—महात्मा (महान आत्मावाला), महाजन (महान), साधु (सज्जन), बाबू (श्रेष्ठ पुरुष), चौधरी (ठाकुर/श्रेष्ठ जाट) आदि।

नोट्स भाषा में अर्थ-परिवर्तन की प्रक्रिया सतत् चलती रहती है यह व्यक्तिगत स्तर से आरंभ होकर सामाजिक स्तर तक पहुँच जाती है। भौतिक साधनों में होने वाले परिवर्तन से भी शब्दों के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। जैसे अंग्रेजी का शब्द 'गिलास' पहले केवल शीशे के गिलास के अर्थ में प्रयुक्त होता था जबकि आज ताँबे का स्टील का प्लास्टिक आदि का गिलास भी उसी अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है।

14. **अन्य भाषाओं के गृहीत शब्द**—जब किसी भाषा में अन्य भाषा के शब्द आते है, तो उनमे से कुछ शब्दों के अर्थ में परिवर्तन हो जाता हैं; यथा—फारसी में 'मुर्ग' का अर्थ पक्षी है, हिंदी में इसी से बना शब्द 'मुर्गा' एक विशेष पक्षी का ही अर्थ देता है। अंग्रेजी का ग्लास (Glass) शब्द काँच का पर्यायी है, हिंदी में इससे बना 'गिलास' शब्द का एक पात्र विशेष अर्थ देता है। संस्कृत तथा हिंदी में वाटिका का अर्थ बगीचा है, किंतु इससे बना बंगला शब्द 'बाड़ी' घर के अर्थ में प्रयुक्त होता है।
15. **अन्य भाषा-प्रभाव**—यदा-कदा अन्य भाषाओं के प्रभाव से भी शब्दों के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। हिंदी भाषा के मानक रूप पर पंजाबी, बंगाली, मराठी और आदि भाषओं का प्रभाव पड़ता है; यथा—बंगला में 'पानी' में साथ 'खाना' क्रिया का प्रयोग किया जाता है। कभी-कभी विभिन्न बोलियों के प्रभाव से भी शब्द-अर्थ में भिन्नता होती है; यथा—मानक, हिंदी में 'मच्छर के कटाने के संदर्भ को हरियाणवी में 'मच्छर लड़े हैं', अवधी में 'मच्छर लागइ' अर्थात 'मच्छर लगते हैं' कहते हैं।
16. **अंधविश्वास**—कभी-कभी अंधविश्वास के कारण शब्द के अर्थ में परिवर्तन होता है। धर्म-प्रधान भारत देश में अंधविश्वास की प्रबल धारा दिखाई देती है। इस अंधविश्वासी धारा के कारण कुछ क्षेत्रों की नारियाँ अपने पति का नाम नहीं लेती हैं, तो कुछ क्षेत्रों में स्त्रियों का नाम नहीं लिया जाता है। उनके संबोधन के लिए घुमा-फिरा कर किसी अन्य नाम का प्रयोग किया जाता है; यथा—ईश्वर सिंह के लिए पर्यायी आधार पर 'परमात्मा सिंह' नरेश शर्मा के लिए 'राज या राजा शर्मा'। कभी-कभी तो सर्वनाम शब्दा का बलाघात के साथ प्रयोग कर काम चला लिया जाता है; यथा—'उनको भेज दीजिए !' वे कहाँ है? आदि। इसी प्रकार स्त्रियों को उनके गाँव या शहर के नाम से संबोधित करते हैं; यथा—अयोध्यावाली, सोनीपतवाली,

नोट

मथुरावाली। कहीं-कहीं पर 'साँप' और 'उसके दंसन' का उच्चारण अशुभ मानते हैं, इसलिए 'साँप न डस लिया या काट लिया' के स्थान पर 'कीड़ा छू गया है' कहते हैं।

16.2 सारांश

भाषा की विभिन्न इकाइयों के सतत परिवर्तन के अनुसार विभिन्न शब्दों के अर्थों में परिवर्तन होता रहता है। शब्द के इस प्रकार अर्थ-परिवर्तन को विकास सिद्धांत के आधार पर अर्थ-विकास की संज्ञा दी जाती है।

भाषाविज्ञान में इस दिशा पर नए ढंग से चिंतन किया गया है। इस विषय में फ्रांसीसी विद्वान 'ब्रील' का नाम बहुचर्चित है। उन्होंने अर्थ-विकास की तीन दिशाएँ निश्चित की हैं। यह दिशा-निर्धारण शब्द के पूर्ववर्ती और परवर्ती अर्थ-भिन्नता के आधार पर किया गया है, अर्थात् कुछ शब्दों का अर्थ एक समय कुछ होता है, तो परवर्ती काल में कुछ और हो जाता है। अर्थ-परिवर्तन की निम्नलिखित दिशाएँ सामने आती है– अर्थ विस्तार, अर्थ-संकोच, अर्थादेश, मूर्तीकरण, अमूर्तीकरण।

भाषा में अर्थ-परिवर्तन की प्रक्रिया सतत चलती रहती है। अर्थ का मन से सीधा संबंध है। मानव-मन पर विभिन्न परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है, जिसके कारण विभिन्न शब्दों के अर्थों में परिवर्तन होता है। अर्थ-परिवर्तन की प्रक्रिया व्यक्तिगत स्तर से प्रारंभ होकर सामाजिक स्तर पर पहुँच जाती है। विभिन्न भाषाओं के शब्दों में होने वाले परिवर्तन के निम्नलिखित प्रमुख कारण हैं– लाक्षणिक प्रयोग, परिवेश-परिवर्तन, विनम्रता-प्रदर्शन, व्यंग्य, सुश्रव्यता, व्यक्ति-आधार, अज्ञानता और भ्रांति, शब्दार्थ अस्पष्टता, सादृश्य, तद्भवता, भावात्मक बल, पुनरावृत्ति, प्रयोगाधिक्य, अन्य भाषाओं के गृहीत शब्द, अन्य भाषा-प्रभाव, अंधविश्वास।

16.3 शब्दकोश

1. **आगत–** आया हुआ, प्राप्त, घटित
2. **अर्थापकर्ष–** किसी अच्छे भावाभिव्यंजक शब्द को निम्न भाव में प्रयोग करना, यह अर्थोपकर्ष का विपरीतार्थक है।
3. **व्रीडा–** लज्जा, शर्म।

16.4 अभ्यास प्रश्न

1. अर्थ-परिवर्तन की विभिन्न दिशाओं को विस्तार से समझाइए।
2. अर्थ-परिवर्तन के कारणों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन

1. जंगली जानवर **2.** सृप धातु **3.** ऊँट **4.** राक्षस।

16.5 संदर्भ पुस्तकें

पुस्तकें

1. *भाषा और भाषा विज्ञान–* गरिमा श्रीवास्तव, संजय प्रकाशन, दिल्ली
2. भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा– नरेश मिश्र, संजय प्रकाशन, दिल्ली
3. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा का स्वरूप–* विकास–देवेन्द्र प्रसाद सिंह, हिंदी बुक सेंटर, दिल्ली

नोट

इकाई 17: भारतीय भाषा परिवार– द्रविड़, नाग

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- द्रविड़ एवं नाग परिवार की भाषाओं एवं उनके विस्तार क्षेत्र से परिचित होंगे।

प्रस्तावना

पाँच से अधिक आर्य तथा अनार्य परिवारों की भाषाएँ देश में मिलती हैं। दक्खिन के साढ़े चार प्रांतों अर्थात् आंध्र, कर्नाटक, केरल, तमिलनाडू और आधे सिंहल में सभ्य द्रविड़ भाषाएँ बोली जाती हैं; भारत के शेष प्रांतों में आर्य भाषाओं का व्यवहार होता है; आंध्र, उड़ीसा, बिहार, चेदि-कोशल, राजस्थान और महाराष्ट्र के सीमांत पर वन्य प्रदेशों में और सिंध की सीमा के पार कलात में भी केछ अपरिष्कृत द्रविड़ बोलियाँ भी हिमालय और विंध्य-मेखला के पड़ोस में बोली जाती हैं। इनके बोलने वालों की संख्या लगभग एक करोड़ है; उसमें से कोई बयालीस लाख आस्ट्रिक (अथवा आग्नेय) परिवार की बोलियाँ हैं; शेष सब तिब्बत-बर्मी अर्थात् चीनी परिवार की हैं। नागाभाषाएँ तिब्बत चीन परिवार के अंतर्गत तिब्बती-बर्मी उपपरिवार की परिभाषाएँ हैं।

17.1 द्रविड़ परिवार

आर्य भाषा परिवार के पीछे प्रधानता में द्रविड़ परिवार ही आता है और प्राय: सभी बातों में यह परिवार मुंडा से भिन्न पाया जाता है। मुंडा में कोई साहित्य नहीं है, पर द्रविड़ भाषाओं में से कम-से-कम चार में तो सुंदर और उन्नत साहित्य मिलता है। मुंडा का संबंध भारत के बाहर भी है पर द्रविड़ भाषाओं का एकमात्र अभिजन दक्षिण भारत ही है। कील के प्रो. श्रेडर (O. Schrader of Kiel) ने द्रविड़ और फिनो-अग्रिक परिवारों में संबंध दिखाने का यत्न किया है। पेटर शिमट ने आस्ट्रेलिया की भाषाओं से द्रविड़ भाषाओं का घनिष्ठ संबंध सिद्ध करने का बड़ा यत्न किया है; तो भी अभी तक पूरा निश्चय नहीं हो सका कि द्रविड़ परिवार का कोई संबंध विदेशों से भी है। इसीलिए कुछ लोगों की यह कल्पना भी मान्य नहीं हो सकी कि एक द्रविड़ बोली ब्राहुई भारत के उत्तर-पश्चिमी द्वार पर मिलती है, अत: द्रविड़ लोग भारत में उत्तर-पश्चिम से आये होंगे। हो सकता है कि व्यापारी द्रविड़ पश्चिमी देशों के संबंध से वहाँ पश्चिमोत्तर में जा बसे हों।

नोट

विद्यमान द्रविड़ भाषाएँ चार वर्गों में बाँटी जाती हैं-(1) द्रविड़ वर्ग, (2) आंध्र वर्ग, (3) मध्यवर्ती वर्ग और (4) बहिरंग वर्ग अर्थात् ब्राहुई बोली। तमिल, मलयालम, कनाडी और कनाडी की बोलिया, तुलु और कोडगू (कुर्ग की बोली) सब द्रविड़ वर्ग में हैं। तेलुगु या आंध्र भाषा अकेली एक वर्ग में है। इन परिष्कृत भाषाओं की उत्तरी सीमा महाराष्ट्र (सी. पी.) का चाँदा जिला है। उसके आगे कुछ अपरिष्कृत बोलियाँ पाई जाती हैं। वे दूसरी भाषाओं के प्रवाह से घिरकर द्वीप-सी बन गई हैं और धीरे-धीरे लुप्त भी हो रही हैं।

मध्यवर्ती वर्ग

इन सब बोलियों में अधिक प्रसिद्ध गोंडी बोली है। इस गोंडी का अपनी पड़ोसिन तेलुगु की अपेक्षा द्रविड़ वर्ग की भाषाओं से अधिक साम्य है। उसके बोलने वाले गोंड लोग आंध्र, उड़ीसा, बरार, चेदि-कोशल (बुंदेलखंड और छत्तीसगढ़) और मालवा के सीमांत पर रहते हैं। पर उनका केंद्र चेदि-कोशल ही माना जाता है। गोंड एक इतिहास प्रसिद्ध जाति है, उसकी बोली गोंडी बोली का प्रभाव उत्तराखंड में भी ढूँढ निकाला गया है पर गोंडी बोली न तो कभी उन्नत भाषा बन सकी, न उसमें कोई साहित्य उत्पन्न हुआ और न उसकी कोई लिपि ही है। इसी से गोंडी शब्द कभी-कभी भ्रमजनक भी होता है। बहुत से गोंड अब आर्य भाषा अथवा उससे मिली बोली बोलते हैं, पर साधारण लोग गोंड मात्र की बोली को गोंडी मान लेते हैं। इसी से गोंडी की ठीक गणना करना सहज नहीं होता। सन् 1921 में गोंडी की जनसंख्या सोलह लाख से ऊपर थी, पर अब विचार किया जा रहा है कि उनकी संख्या बाहर लाख से कम न होगी। गोंड लोग अपने आपको 'कोइ' कहते हैं।

गोंडी के पड़ोस में ही उड़ीसा में इसी वर्ग की 'कुई' नाम की बोली पाई जाती है। उसकी जनसंख्या चार लाख अस्सी हजार है। इसका संबंध तेलुगु से विशेष देख पड़ता है। इसमें क्रिया के रूप बड़े सरल होते हैं। इसे बोलने वाले सबसे अधिक जंगली हैं; उसमें अभी तक कहीं-कहीं नर-बलि की प्रथा पाई जाती है। उड़िया लोग उन्हें कोंधी, कांधी अथवा खोंध कहते हैं।

कुई के ठीक उत्तर छत्तीसगढ़ और छोटा नागपुर में (अर्थात् चेदि-कोशल और बिहार के सीमांत पर) कुरुख लोग रहते हैं। ये ओराँव भी कहे जाते हैं। इनकी संख्या गोंडों से कुछ कम अर्थात् आठ लाख छियासठ हजार है। इनकी भाषा कुरुख अथवा ओराँव भी द्रविड़ से अधिक मिलती-जुलती है। जनकथा के आधार पर यह माना जाता है कि ये लोग कर्नाटक से आकर यहाँ बसे हैं अर्थात् उनकी बोली कर्नाटकी से संबंध रखती है। इस बोली में कई शाखाएँ अर्थात् उपबोलियाँ भी हैं। गंगा के ठीक तट पर राजमहल की पहाड़ियों में रहने वाली मल्तो जाति की बोली 'मल्तों' कुरुख की ही एक शाखा है।

बिहार और उड़ीसा में कुरुख बोलियों का प्रभाव दिनोंदिन अधिक पड़ रहा है। राँची के पास के कुछ कुरुख लोगों में मुंडारी का अधिक प्रयोग होने लगा है।

गोंडी, कुई, कुरुख, मल्तो आदि के समान इस वर्ग की एक बोली कोलामी है। वह पश्चिमी बरार में बोली जाती है। उसका तेलुगु से अधिक साम्य है; उस पर मध्यभारत की आर्य भीली बोलियों का बड़ा प्रभाव पड़ा है। टोडा की भाँति वह भी भीली के दबाव से मर रही है। आजकल उसके बोलने वाले लगभग तेईस-चौबीस हजार हैं।

ब्राहुई वर्ग

सुदूर कलात में ब्राहुई लोग एक द्रविड़ बोली बोलते हैं। इनमें से अनेक ने बलूची अथवा सिंधी को अपना लिया है, तो भी अभी ब्राहुई के वक्ता डेढ़ लाख से ऊपर हैं। यहाँ के सभी स्त्री पुरुष प्राय: दुभाषिये होते हैं। कभी-कभी स्त्री सिंधी बोलती है और पति ब्राहुई। यहाँ किस प्रकार अन्यवर्गीय भाषाओं के बीच में एक द्रविड़ भाषा जीवित रह सकी, यह एक आश्चर्य की बात है।

नोट

आंध्र वर्ग

आंध्र वर्ग में केवल आंध्र अथवा तेलुगु भाषा है और अनेक बोलियाँ। वास्तव में दक्षिण-पूर्व के विशाल क्षेत्र में केवल तेलुगु भाषा बोली जाती है। उसमें कोई विभाषाएँ नहीं हैं। उसी भाषा को कई जातियाँ अथवा विदेशी थोड़ा विकृत करके बोलते हैं पर इससे भाषा का कुछ नहीं बिगड़ता। विभाषाएँ तो तब बनती हैं जब प्रांतीय भेद के कारण शिष्ट और सभ्य लोग भाषा में कुछ उच्चारण और शब्द-भंडार का भेद करने लगे और उस भेदों वाली बोली में साहित्य-रचना भी करें। ऐसी बातें तेलुगु के संबंध में नहीं हैं। तेलुगु का व्यवहार दक्षिण में तमिल से भी अधिक होता है; उत्तर में चाँदा तक, पूर्व में बंगाल की खाड़ी पर चिकाकोल तक और पश्चिम में निजाम के आधे राज्य तक उसका प्रचार है। संस्कृत ग्रंथों का यही आंध्र देश है और मुसलमान इसी को तिलंगाना कहते थे। मैसूर में भी इसका व्यवहार पाया जाता है। बंबई और मध्य प्रदेश में भी इसके बोलने वाले अच्छी संख्या में मिलते हैं। इस प्रकार द्रविड़ भाषाओं में संख्या की दृष्टि से यह सबसे बड़ी है। संस्कृति और सभ्यता की दृष्टि से यह तमिल से कुछ ही कम है। आधुनिक साहित्य के विचार से तो तेलुगु अपनी बहिन तमिल से भी बढ़ी-चढ़ी है। विजयानगरम् के कृष्णराय ने इसकी उन्नति के लिए बड़ा यत्न किया था, पर इसमें वाङ्मय बारहवीं शताब्दी के पहले का नहीं मिलता। इसमें संस्कृत का प्रचुर प्रयोग होता है। इसमें स्वर-माधुर्य इतना अधिक रहता है कि कठोर तमिल उसके सौंदर्य को कभी नहीं पाती। इसके सभी शब्द स्वरांत होते हैं, व्यंजन पद के अंत में आता ही नहीं, इसी से कुछ लोग इसे पूर्व की इटाली भाषा (Italy of the East) कहते हैं।

द्रविड़ वर्ग की भाषाओं में तमिल सबसे अधिक उन्नत और साहित्यिक भाषा है। उसका वाङ्मय बड़ा विशाल है। आठवीं शताब्दी से प्रारंभ हो कर आज तक उसमें साहित्य-रचना होती आ रही है। आज भी बँगला, हिंदी, मराठी आदि भारत की प्रमुख साहित्यिक भाषाओं की बराबरी में तमिल का भी नाम लिया जा सकता है। तमिल की विभाषाओं में परस्पर अधिक भेद नहीं पाया जाता, पर चलती भाषा के दो रूप पाये जाते हैं-एक छंदस्-काव्य की भाषा जिसे वे लोग 'शेन' (= पूर्ण) कहते हैं और दूसरी बोलचाल की जिसे वे कोडुन् (गँवारू) कहते हैं।

आंध्र वर्ग में केवल आंध्र अथवा तेलुगु भाषा है और अनेक बोलियाँ। तेलगू भाषा की विभाषाएँ नहीं है।

मलयालम

मलयालम 'तमिल की जेठी बेटी' कही जाती है। नवीं शताब्दी से ही वह अपनी माँ तमिल से पृथक् हो गई थी और भारत के दक्षिण-पश्चिमी समुद्र-तट पर आज वही बोली जाती है। वह ब्राह्मणों के प्रभाव के कारण संस्कृत-प्रधान हो गई है। कुछ मोपले अधिक शुद्ध और देशी मलयालम बोलते हैं क्योंकि वे आर्य संस्कृति से कुछ दूर ही हैं। इस भाषा में साहित्य भी अच्छा है और त्रावणकोर तथा कोचीन के राजाओं की छत्रछाया में उसका अच्छा वर्धन और विकास भी हो रहा है।

कनारी

कनारी मैसूर की भाषा है। उसमें अच्छा साहित्य है, उसकी काव्यभाषा अब बड़ी प्राचीन और आर्ष हो गई है। उसका अधिक संबंध तमिल भाषा से है, पर उसकी लिपि तेलुगु से अधिक मिलती है। इस भाषा में भी स्पष्ट विभाषाएँ कोई नहीं हैं।

इस द्रविड़ वर्ग की अन्य विभाषाओं में से टुळु एक बहुत छोटे क्षेत्र में बोली जाती है। यद्यपि इसमें साहित्य नहीं है। पर काल्डवेल ने उसको विकास और उन्नति की दृष्टि से बहुत उच्च भाषाओं में माना है। कोडगू कनारी और टुळु के बीच की भाषा है। उसमें दोनों के ही लक्षण मिलते हैं। भूगोल की दृष्टि से भी वह दोनों के बीच में पड़ती है। उसमें दोनों के ही लक्षण मिलते हैं। भूगोल की दृष्टि से भी वह दोनों के बीच में पड़ती है। टोडा और कोटा नीलगिरि के जंगलियों की बोलियाँ हैं। उनके बोलने वाले भी दो हजार से कम ही हैं। इनमें से टोडा जाति और उनकी भाषा मरणोन्मुख है।

17.2 नाग परिवार

नोट

नागा–भाषाएँ मुख्यत: नागालैण्ड में बोली जाती हैं। नागालैण्ड 1882 ई. से 1957 ई. तक असम राज्य के अन्तर्गत 'नागा हिल्स' जिले के नाम से जाना जाता था। 1957 ई. से 1969 ई. तक यह 'नागा हिल्स और तुएनसाङ एरिया' के नाम से प्रसिद्ध रहा। पहली दिसम्बर 1969 ई. को 'नागालैण्ड' राज्य के रूप में घोषित हुआ। इसका क्षेत्रफल 6966 वर्ग मील है तथा भारतीय जनगणना 1972 ई. के अनुसार जनसंख्या 5,16,449 है।

नागालैण्ड में अब सात जिले हैं–कोहिमा, मोकोकचूङ, तुएनसाङ, फेक, वोखा, जुनहेबोतो तथा मोन। कोहिमा नागालैण्ड की राजधानी है जो समुद्र–तल से 4800 फीट की ऊँचाई के एक सुरम्य पहाड़ी पर बसी हुई है।

नागा–भाषाएँ

नागा–भाषाएँ तिब्बती–चीनी परिवार के अन्तर्गत तिब्बती–बर्मी उप–परिवार की भाषाएँ हैं। नागा भाषा समुदाय बोलियों की एक लम्बी श्रृंखला से निर्मित है। इन बोलियों में पर्याप्त भिन्नताएँ वर्तमान हैं। नाथन ब्राडन (1837) ने इन नागा–भाषाओं को तीन वर्गों–'नोक्ते', 'कोन्याक' और 'आओ'–में विभाजित किया। सर. जी. ग्रियर्सन (1903) ने नागा–भाषाओं के वर्गीकरण का प्रथम स्मरणीय कार्य किया। आर. शेफर (1967) ने उत्तरी नागा–भाषाओं का वर्गीकरण किया। जी. ई. मेरीसन (1967) का उत्तर–पूर्वी भारत के नागा–भाषाओं का वर्गीकरण अपेक्षाकृत आधुनिक तथा प्रारूपात्मक (Typological) अध्ययन पर आधारित है।

नागालैण्ड में बोली जाने वाली कुल बोलियों की संख्या लगभग 22 है–आओ, अंगामी, सेमा, लोथा, कोन्याक, चौक्री, चाङ, साङ्तम, फोम, यीमचूङ्र, कुकी, रेङ्मा, खेजा, रोङ्मेई, जैमी, लियाङ्मेइ, पीचुरी, खियाङ्गण, कचारी, माओ, माकवारे और तिरखिर।

नागाभाषी परस्पर विचारों के आदान–प्रदान के लिए भाषा के एक मिलते–जुलते रूप का प्रयोग करते हैं, जिसे नागामिज की संज्ञा दी जाती है। नागमिज एक पिजिन (Pidgin) भाषा है जो सम्पूर्ण नागालैण्ड में बोली और समझी जाती है। अनपढ़ या कम पढ़े–लिखे लोगों के बीच यह सम्पर्क भाषा का काम करती है। आकाश–वाणी, कोहिमा से इस भाषा में समाचार प्रसारित होता है। यह असमी, बंगला, हिन्दी तथा नागा भाषाओं के सम्मिश्रण से निर्मित एक खिचड़ी भाषा है।

नागा उपभाषाएँ, उनका क्षेत्र तथा जनसंख्या

भौगोलिक आधार पर नागालैण्ड की 22 नागा–भाषाओं की तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है:

वर्ग 1–आओ, लोथा, साङ्तम, यीमचुङ्र, खियाङ्गण, माकवारे और तिरखिर।

वर्ग 2–अंगामी, सेमा, कचारी, कुकी, जैमी, लियाङ्मेइ, रोङ्मेइ, रेङ्मा, चाक्री, खेजा, पोचुरी ओर आओ।

वर्ग 3–कोन्याक, फोम और चाङ।

इन 22 भाषाओं में आओ, लोथा, अंगामी एवं सेमा ही प्रमुख हैं क्योंकि शिक्षा तथा साहित्य के क्षेत्र में अन्य भाषाओं की अपेक्षा इनकी प्रमुखता है।

आओ भाषा

नागा–भाषाओं में आओ भाषा का प्रमुख स्थान है। 'आओ' शब्द का अर्थ 'गया' होता है जो आओबा (Aoba) क्रिया (जाना) का भूतकालिक रूप है। बोलने वालों की संख्या की दृष्टि से कोन्याक भाषा के बाद इसका दूसरा स्थान है। आओ भाषा बोलने वाले आओ या आओर कहलाते हैं तथा नागालैण्ड के मोकोकचूङ जिले के लगभग 69 गाँवों में बसे हुए हैं। आओ भाषी लोग अपने निवास–क्षेत्र को 'आओ लिमा' (Ao lima) कहते हैं। 'लिमा' शब्द का अर्थ 'देश' या 'प्रदेश' है। 'आओ' लोगों के मुख्य गाँव मेलोङयीमसेन, लोङ्पा, मापाङ्चुकित, ऊङ्मा, तुली और चाङ्की हैं। उङ्मा इनका सबसे बड़ा गाँव है। अधिकांश आओ ईसाई धर्मावलम्बी हैं।

नोट

आओ क्षेत्र के दक्षिण-पूर्व में फोम ओर चाङ् भाषा-भाषी हैं।

आओ भाषा की दो मुख्य बोलियाँ हैं-मुङ्सेन और चोङ्ली। मुङसेन मोकोकचूङ् गाँव में मानक रूप में प्रयुक्त होती है। इसमें लोकगीतों की समृद्ध परम्परा है।

चाङ्की (मुख्य रूप से चाङ्की गाँव की बोली) मुङ्सेन की एक उपबोली है जो आओ क्षेत्र के दक्षिण-पूर्व में बोली जाती है।

चोङ्ली आओ क्षेत्र के उत्तरी ओर पूर्वी भाग में आधे से अधिक जनसंख्या द्वारा बोली जाती है। ईसाई धर्म-प्रचारकों ने इसी बोली के माध्यम स धर्म-प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया। इसका परिणाम यह हुआ कि चोङली का प्रचार धीरे-धीरे समस्त आओ क्षेत्र में हो गया। आज चोङ्ली ही आओ की साहित्यिक भाषा है। शिक्षा का माध्यम यही चोङ्ली है तथा मैट्रिकुलेशन तक के लिए मातृभाषा के रूप में स्वीकृत है। आओ भाषा के इसी रूप को प्रस्तुत अध्ययन का आधार माना गया है।

लोथा भाषा

लोथा वोखा जिले के निवासियों की मातृभाषा है। इसके बोलने वाले लोथा कहे जाते हैं। लोथा-भाषी अपने को 'क्योन' (Kyon) कहते है जिसका अर्थ 'आदमी' होता है। असमियों ने सबसे पहले इनके लिए 'ओता' (Ota) का प्रयोग किया जिसका अर्थ 'लता' होता है। तत्पश्चात् अंग्रेजी ने इसका उच्चारण 'ल्होता' (Lhota) किया। स्वतन्त्रता के बाद यही 'ल्होता' आज के लोथा के रूप में परिवर्तित हो गया।

लोथा भाषियों के उत्तर में आओ, पूर्व में सेमा, पश्चिम में मिकिर और अंगामी तथा दक्षिण में रेङ्ता भाषा-भाषी हैं। भारतीय जनगणना 1971 ई. के अनुसार लोथा बोलने वालों की संख्या 36,949 हैं।

लोथा की दो बोलियाँ हैं-लोयो (Loyo) और ङ्ड्रेङ (Ndreng)। लोयो दोयाङ नदी के उत्तर में तथा ङ्ड्रेङ दोयांग नदी के दक्षिण में बोली जाती है। वोखा जो लोथा का जिला मुख्यालय है, ङ्ड्रेङ के क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। यही बोली शिक्षा का माध्यम है तथा इसी में पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण हुआ है। लोथा भाषी क्षेत्र में लोथा छठवीं कक्षा तक मातृभाषा के रूप में तथा आठवीं कक्षा तक अतिरिक्त भाषा के रूप में पढ़ाई जाती है।

अंगामी भाषा

नागालैण्ड के कोहिमा जिले में बोली जाने वाली भाषाओं में अंगामी का सर्व-प्रमुख स्थान है। यह अंगामी कबीले की मातृभाषा है। कोहिता जिले में बसने वाले चाखेसांग, रेगमा, पोचुरी, जेलियांग इत्यादि कबीले भी अंगामी भाषा को समझ और बोल लेते हैं। कोहिमा जिले के नागाओं की सम्पर्क भाषा के रूप में अंगामी को स्वीकार किया जा सकता है। यह भाषा पश्चिम में दीमापुर तक, पूर्व में चिचामा तक बोली जाती है।

अंगामी क्षेत्र के दक्षिण में माओ और तांखुल नागा, दक्षिण-पश्चिम में जेमी, पश्चिम में असम राज्य के मिकिर, उत्तर-पूर्व में सेमा और पूर्व में चोक्री भाषाभाषी हैं। ये अंगामी कोहिमा तथा कोहिमा के चारों तरफ कई गाँवों में घने रूप से बसे हुए हैं। 'कोहिमा बस्ती' इनका सबसे बड़ा गाँव का आदमी दूसरे गाँव की बोली को अच्छी तरह समझ लेता है। अंगामी भाषा की तीन मुख्य बोलियाँ चोक्री, खोनोमा और कोहिमा हैं। चाक्री को अब पूर्वी अंगामी के रूप में एक भिन्न भाषा माना जाने लगा है।

ग्रियर्सन ने भारतीय भाषा सर्वेक्षण में श्री मैकावे (1887) के व्याकरण के आधार पर अंगामी व्याकरण की रूपरेखा प्रस्तुत की है। श्री हट्टन (1921) ने भी अपनी पुस्तक 'अंगामी नागा' में श्री मैकावे जी के व्याकरण को आधार मानकर अंगामी व्याकरण पर सामग्री प्रस्तुत की है। किन्तु श्री मैकावे जी का व्याकरण मुख्य रूप से जोत्समा, खोनोमा और मोजेमा गाँव की बोलियों पर आधारित है। आज खोनोमा बोली अंगामी की मानक बोली नहीं है। अंगामियों ने कोहिमा बोली को शिक्षा का माध्यम स्वीकार किया है। सीाी प्रकार की साहित्यिक रचनाएँ कोहिमा बोली में ही हैं। प्रस्तुत अध्ययन का आधार भी यही बोली है।

नोट

अंगामी भाषा का अध्यापन पहली कक्षा से लेकर दसवीं तक मातृभाषा के रूप में होता है।

स्व-मूल्यांकन

सही विकल्प चुनिए–

1. गोंडी लोग अपने आपको कहते हैं–

   (क) आर्य (ख) भूमिहार (ग) कोइ

2. द्रविड़ वर्ग की भाषाओं में .... सबसे उन्नत भाषा है।

   (क) तमिल (ख) कन्नड़ (ग) मलयालम

3. नागालैण्ड 1881 ई. से 1957 तक असम राज्य के अंतर्गत .... जिले के नाम से जाना जाता था।

   (क) दीमापुर (ख) नागा हिल्स (ग) कोहिमा

4. नागालैण्ड, कोहिमा में बोली जाने वाली भाषाओं में .... प्रमुख है।

   (क) सेमा (ख) नगा (ग) अंगामी

सेमा भाषा

सेमा एक नागा भाषा है इसके बोलने वाले भी सेमा कहे जाते हैं। सेमा शब्द अपने मूल रूप 'समी' (Sumi) से निकला है। 'समी' एक यौगिक शब्द है। इसमें दो शब्द 'स' (Su) और 'मी' (mi) है। 'स' शब्द 'बहुत' का पर्याय है और 'मी' शब्द का अर्थ आदमी होता है। इसी प्रकार 'समी' शबद का अर्थ बहुत आदमी होता है।

सेमा नागालैण्ड के केन्द्र भाग जुनहेबोतो जिले की भाषा है। इसके उत्तर में आओ, दक्षिण में अंगामी, पूरब में यीमचुँगर तथा पश्चिम में लोथा हैं, सांगतम और रेंगमा क्रमश: इनकी उत्तरी और दक्षिणी-पश्चिमी कोण से सटे हुए हैं। भारतीय जनगणना 1971 ई. के अनुसार सेमा बोलने वालों की संख्या 64,227 है।

सेमा भाषा की मुख्य चार बोलियाँ है–

1. दोयांग नदी के तट पर बसे लेजामी और उसके चारों तरफ बोली जाने वाली पश्चिमी बोली।
2. खेजा क्षेत्र के अन्तर्गत चिजेमी गाँव में बोली जाने वाली पूर्वी सेमा।
3. चिजोलिमी गाँव और उसके चारों तरफ बोली जाने वाली 'चिजोलिमी' बोली।
4. जुनहेबोतो शहर में तथा उसके चारों तरफ बोली जाने वाली 'केन्द्रीय बोली।'

पूर्वी सेमा पर खेजा का प्रभाव है। 'केन्द्रीय बोली' ही सेमा की मानक बोली है तथा सेमा भाषा के सभी प्रकाशन इसी बोली में हैं। प्रस्तुत अध्ययन का आधार यही केन्द्रीय बोली है।

जुनहेबोतो जिले के सभी विद्यालयों में कक्षा पाँचवीं तक प्राय: सभी विषयों की शिक्षा का माध्यम सेमा भाषा है। राज्य सरकार ने मातृभाषा के रूप में सेमा का शिक्षण कक्षा छठवीं तक स्वीकार किया है। सेमा भाषा का शिक्षण सेमा भाषी क्षेत्र में भाषा के रूप में कक्षा आठवीं तक होता है।

17.3 सारांश

आर्य भाषा परिवार के पीछे प्रधानता में द्रविड़ परिवार ही आता है और प्राय: सभी बातों में यह परिवार मुंडा से भिन्न पाया जाता है। मुंडा में कोई साहित्य नहीं है, पर द्रविड़ भाषाओं में से कम-से-कम चार में तो सुंदर और उन्नत साहित्य मिलता है। मुंडा का संबंध भारत के बाहर भी है पर द्रविड़ भाषाओं का एकमात्र अभिजन दक्षिण भारत ही है। विद्यमान द्रविड़ भाषाएँ चार वर्गों में बाँटी जाती हैं-(1) द्रविड़ वर्ग, (2) आंध्र वर्ग, (3) मध्यवर्ती वर्ग और (4) बहिरंग वर्ग अर्थात् ब्राहुई बोली। तमिल, मलयालम, कनाडी और कनाडी की बोलिया, तुलु और कोडगू (कुर्ग की बोली) सब द्रविड़ वर्ग में हैं। तेलुगु या आंध्र भाषा अकेली एक वर्ग में है। इन परिष्कृत भाषाओं की उत्तरी सीमा महाराष्ट्र (सी. पी.) का चाँदा जिला है। उसके आगे कुछ अपरिष्कृत बोलियाँ पाई जाती हैं। वे दूसरी भाषाओं के प्रवाह से घिरकर

नोट

द्वीप-सी बन गई हैं और धीरे-धीरे लुप्त भी हो रही हैं। मध्यवर्ती वर्ग में अधिक प्रसिद्ध गोंडी बोली है। इस गोंडी का अपनी पड़ोसिन तेलुगु की अपेक्षा द्रविड़ वर्ग की भाषाओं से अधिक साम्य है। उसके बोलने वाले गोंड लोग आंध्र, उड़ीसा, बरार, चेदि-कोशल (बुंदेलखंड और छत्तीसगढ़) और मालवा के सीमांत पर रहते हैं। पर उनका केंद्र चेदि-कोशल ही माना जाता है। सुदूर कलात में ब्राहुई लोग एक द्रविड़ बोली बोलते हैं। इनमें से अनेक ने बलूची अथवा सिंधी को अपना लिया है, तो भी अभी ब्राहुई के वक्ता डेढ़ लाख से ऊपर हैं। आंध्र वर्ग में केवल आंध्र अथवा तेलुगु भाषा है और अनेक बोलियाँ। वास्तव में दक्षिण-पूर्व के विशाल क्षेत्र में केवल तेलुगु भाषा बोली जाती है। उसमें कोई विभाषाएँ नहीं हैं। उसी भाषा को कई जातियाँ अथवा विदेशी थोड़ा विकृत करके बोलते हैं पर इससे भाषा का कुछ नहीं बिगड़ता। मलयालम 'तमिल की जेठी बेटी' कही जाती है। नवीं शताब्दी से ही वह अपनी माँ तमिल से पृथक् हो गई थी और भारत के दक्षिण-पश्चिमी समुद्र-तट पर आज वही बोली जाती है। कनारी मैसूर की भाषा है। उसमें अच्छा साहित्य है, उसकी काव्यभाषा अब बड़ी प्राचीन और आर्ष हो गई है। उसका अधिक संबंध तमिल भाषा से है, पर उसकी लिपि तेलुगु से अधिक मिलती है।

नागा-भाषाएँ मुख्यत: नागालैण्ड में बोली जाती हैं। नागालैण्ड 1882 ई. से 1957 ई. तक असम राज्य के अन्तर्गत 'नागा हिल्स' जिले के नाम से जाना जाता था। पहली दिसम्बर 1969 ई. को 'नागालैण्ड' राज्य के रूप में घोषित हुआ। इसका क्षेत्रफल 6966 वर्ग मील है तथा भारतीय जनगणना 1972 ई. के अनुसार जनसंख्या 5,16,449 है। गा-भाषाएँ तिब्बती-चीनी परिवार के अन्तर्गत तिब्बती-बर्मी उप-परिवार की भाषाएँ हैं। नागा भाषा समुदाय बोलियों की एक लम्बी श्रृंखला से निर्मित है। इन बोलियों में पर्याप्त भिन्नताएँ वर्तमान हैं। नागालैण्ड में बोली जाने वाली कुल बोलियों की संख्या लगभग 22 है। भौगोलिक आधार पर नागालैण्ड की 22 नागा-भाषाओं की तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। इन 22 भाषाओं में आओ, लोथा, अंगामी एवं सेमा ही प्रमुख हैं क्योंकि शिक्षा तथा साहित्य के क्षेत्र में अन्य भाषाओं की अपेक्षा इनकी प्रमुखता है।

17.4 शब्दकोश

1. **अभिजन–** उच्चकुल में जन्म
2. **विभाषा–** बोली
3. **वाङ्‌मय–** साहित्य, वचन संबंधी

17.5 अभ्यास-प्रश्न

1. द्रविड़ परिवार की विभिन्न बोलियाँ एवं उसके विस्तार क्षेत्र का वर्णन कीजिए।
2. नाग परिवार की बोलियाँ एवं उसके विस्तार क्षेत्र पर प्रकाश डालिए

उत्तर: स्व-मूल्यांकन

1. (ग)   2. (क)   3. (ख)   4. (ग)

17.6 संदर्भ पुस्तकें

1. *भाषा विज्ञान–* डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, किताब महल, इलाहाबाद
2. *भाषा और भाषा विज्ञान–* गरिमा श्रीवास्तव, संजय प्रकाशन, दिल्ली
3. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा का स्वरूप–* विकास–देवेन्द्र प्रसाद सिंह, हिंदी बुक सेंटर, दिल्ली
4. *भाषा विज्ञान: हिंदी भाषा और लिपि–* डॉ॰ रामकिशोर शर्मा, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद

नोट

इकाई 18: प्राचीन एवं मध्यकालीन आर्य भाषाएँ: उद्भव एवं विकास

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- प्राचीन आर्य भाषाओं के उद्भव और विकास को समझने में,
- मध्यकालीन आर्य भाषाओं के उद्भव और विकास को समझने में,

प्रस्तावना

विश्व के भाषा खंड चार हैं– **(1) अफ्रीकी-खंड–** इसमें मुख्यत: चार भाषा-परिवार हैं: (i) बुशमैन, (ii) बाँटू, (iii) सूडान, (iv) हैमेटिक-सेमेटिक। कुछ विद्वान् सेमेटिक और हैमेटिक को अलग-अलग परिवार मानते हैं।

(2) यूरेशिया खंड– इसमें मुख्यत: नौ भाषा-परिवार हैं: (i) हैमेटिक-सेमेटिक, (ii) काकेशियन, (iii) यूराल-अल्टाइक, (iv) चीनी, (v) द्रविड़, (vi) आस्ट्रो-एशियाटिक, (vii) जापानी-कोरियाई, (viii) मलय-पालिनेशियन, (ix) भारोपीय। कुछ भाषाएँ अनिश्चित परिवार की भी हैं।

(3) प्रशांतमहासागरीय खंड– इसमें मुख्यत: मलय-पालिनेशियन परिवार हैं। कुछ लोग इसे कई परिवारों का समूह मानते हैं।

(4) अमरीकी-खंड– अमरीकी परिवार। कुछ लोग इसमें लगभग सौ परिवार मानते हैं। इनमें कुछ परिवार तो एकाधिक भाषा-खंडों में हैं तथा कुछ को काफ़ी विद्वान् एक परिवार में रखने के पक्ष में हैं। इस प्रकार विश्व में मुख्यत: निम्नांकित भाषा परिवार हैं (1) भारोपीय, (2) द्रविड़, (3) चीनी, (4) सेमेटिक-हैमेटिक, (5) यूराल-अल्टाइक, (6) काकेशियन, (7) जापानी-कोरियाई, (8) मलय-पालिनेशियन, (9) आस्ट्रो-एशियाटिक, (10) बुशमैन, (11) बांटू, (12) सूडान, (13) अमरीकी। यहाँ मुख्य रूप से द्रविड़ परिवार की प्राचीन एवं मध्यकालीन आर्यभाषाओं पर चर्चा की जाएगी। इससे पहले यहाँ भारोपीय भाषा परिवार का परिचय दिया जा रहा है।

भारोपीय भाषा परिवार– भारत से लेकर प्राय: पूरे यूरोप तक बोले जाने के कारण इस परिवार को 'भारोपीय परिवार' कहते हैं। **क्षेत्र–** यह परिवार एशिया में भारत, बांग्लादेश, श्रीलंका, पाकिस्तान, अफ़ग़ानिस्तान, ईरान; यूरोप में रूस, रूमानिया, फ्रांस, पुर्तगाल, स्पेन, इंग्लैंड, जर्मनी आदि, तथा अमेरिका, कनाडा, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया

नोट

के अनेक भागों में बोला जाता हैं मुख्य भाषाएँ–: प्राचीन– संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, प्राचीन फ्रांसीसी, अवेस्ता, ग्रीक, लैटिन आदि। आधुनिक–अंग्रेजी, रूसी, जर्मन, स्पेनी, फ्रांसीसी, पुर्तगाली, इतावली, फ़ारसी हिंदी, बांग्ला, गुजराती, मराठी आदि। महत्त्व– इस परिवार का महत्त्व कई कारणों से है: (1) यह विश्व के बहुत बड़े भागों में बोला जाता है। अर्थात् भौगोलिक क्षेत्रफल की दृष्टि से यह सबसे बड़ा परिवार है। (2) इसमें अन्य परिवारों की तुलना में भाषाओं और बोलियों की संख्या बहुत अधिक है। इस परिवार की भषाओं को बोलने वालों की संख्या विश्व में अन्य परिवारों की तुलना में बहुत अधिक है। (4) साहत्य-रचना के क्षेत्र में भी इस परिवार की भाषाएँ अग्रणी हैं। (4) इस परिवार की भाषाओं और बोलियों का ही अध्ययन-विश्लेषण विश्व में सर्वाधिक हुआ हैं (6) भाषा-विज्ञान के विकास में इस परिवार की भाषाओं के विद्वानों (पाणिनी, भर्तृहरि, ससूर, ब्लूमफ़ील्ड, चॉम्स्की आदि) ने ही सर्वाधिक कार्य किया है।

भाषा वैज्ञानिक डॉ. भोलानाथ तिवारी ने भारोपीय परिवार की भाषाओं को ध्वनि के आधार पर दो वर्गों में रखा है– (क) केंतुम् वर्ग (ख) सतम् वर्ग

(क) केंतुम् वर्ग– इसकी शाखाएँ इस प्रकार हैं– केल्टिक, जर्मनिक, लैटिन, ग्रीक, तोखारी।

(ख) सतम् वर्ग– इसकी शाखाएँ हैं– इलीरियन, बाल्टिक, स्लाव, आर्मीनियमन, भारत-ईरानी।

यहाँ सतम वर्ग की भारत-ईरानी शाखा का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

भारत-ईरानी शाखा– इस शाखा के अन्य नाम 'हिंद-ईरानी' या आर्य भी हैं। भारोपीय परिवार की यह शाखा बहुत महत्त्वपूर्ण हैं इस परिवार का प्राचीनतम प्रामाणिक साहित्य अपने शुद्ध अर्थों में इसी शाखा में मिलता है। इतना ही नहीं, ऋग्वेद के बराबर पुराना शुद्ध साहित्य संसार की किसी भी भाषा में कदाचित् नहीं मिलता। ऋग्वेद की कुछ ऋचााएँ दो हजार ई. पू. तक लिखी जा चुकी थीं, ऐसी कुछ विद्वानों की धारणा है और 1500 ई. पू. तक तो इसका बहुत अंश लिखा जा चुका था, ऐसा अधिकांश लोग मानते हैं। पारसियों का धर्मग्रन्थ 'ज़ेन्द अवेस्ता' भी लगभग 7वीं सदी ई. पू. का है। इसके अतिरिक्त इस शाखा की भाषाओं की गठन तथा उनका साहित्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

भारत-ईरानी के मूलभाषी अन्यों का साथ छोड़ने के बाद जब आगे बढ़े, तो कुछ लोग ईरान में रुक गये और कुछ लोग और बढ़कर भारतवर्ष में आ बसे। इस प्रकार इस शाखा की भारतीय और ईरानी दो प्रमुख भाषाएँ हुईं। बहुत लोगों ने इन दोनों को भोपीय की अलग-अलग शाखा माना है, किन्तु ऐसा मानना वैज्ञानिक नहीं है, क्योंकि ये दोनों बहुत सी बातों में साम्य रखती हैं, जिससे स्पष्ट है कि ये दोनों पहले से अलग न होकर एक शाखा के रूप में थीं और बाद में अलग हुईं।

भारत में आर्यों के आने के बाद से उनकी भारतीय आर्य भाषा का इतिहास शुरू होता है। उल्लेख्य है कि यहाँ भारतीय ने भारत के अतिरिक्त पाकिस्तान, बांग्लादेश तथा श्रीलंका भी शामिल हैं। आर्य पहले सप्तसिन्धु (आधुनिक पंजाब) में आये फिर धीरे-धीरे मध्यदेश कोसल होते अवंती और बंगाल तक फैल गये। इनका यह आगमन एवं फैलना संघर्षों से खाली नहीं था। पहले इनको दास, दस्यु या शूद्र अर्थात् 'द्रविड़', लोगों से युद्ध करना पड़ा। पूर्व में कदाचित् निषादों एवं किरातों से भी इनका संघर्ष हुआ, किन्तु सर्वत्र इनकी विजय हुई और अंत में उत्तरी भारत प्राय: पूर्णत: इनका हो गया। तब से, आजतक भारतीय आर्य भाषा की आयु लगभग साढ़े तीन हजार वर्षो की हो चुकी है। भाषिक विशेषताओं के आधार पर भारतीय आर्य भाषा की इस लंबी आयु को 3 कालों में बाँटा गया है, और तीनों कालों में आर्य भाषा को तीन नामें से अभिहित किया गया है। (1) प्राचीन भारतीय आर्य भाषा (प्रा. भा. आ.) 1500 ई. पू.–500 ई. पू., (2) मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा (म. भा. आ.) 500 ई. पू.– 1000 ई, (3) आधुनिक आर्य भाषा (आ. आ. भा.) 1000 ई. से अबतक। यहाँ प्राचीन एवं मध्यकालीन आर्यभाषा के उद्‌भव और विकास पर प्रकाश डाला गया है।

18.1 प्राचीन आर्य भाषाएँ

आर्य जब भारत में आए, उस समय उनकी भाषा तत्कालीन ईरानी भाषा से कदाचित् बहुत अलग नहीं थी। किन्तु जैसे-जैसे यहाँ के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रभाव, विशेषत: आर्येतर लोगों से मिश्रण के कारण पड़ने लगे, भाषा परिवर्तित

नोट

होने लगी। इस प्रकार वह अपनी भगिनी-भाषा ईरानी से कई बातों में अलग हो गई। भारतीय आर्य भाषा का प्राचीनतम रूप वैदिक संहिताओं में मिलता है। इनमें रूपाधिक्य है, नियमितता की अपेक्षाकृत कमी है और अनेक प्राचीन शब्द हैं जो बाद में नहीं मिलते। वैदिक संहिताओं का काल मोटे रूप में 1200 ई. पू. से 900 ई. पू. के लगभग है। यों वैदिक संहिताओं की भाषा में भी एकरूपता नहीं है। कुछ की भाषा बहुत पूर्ववर्ती है, तो कुछ की परवर्ती। उदाहरणार्थ अकेले ऋग्वेद में ही प्रथम और दसवें मण्डलों की भाषा तो बाद की है, और शेष की पुरानी। यही पुरानी भाषा अपेक्षाकृत अवेस्ता के निकट है। अन्य संहिताएँ (यजु, साम, अथर्व) और बाद की हैं। वैदिक संहिताओं की भाषा तत्कालीन बोलचाल की भाषा से कुछ भिन्न है क्योंकि यह काव्य-भाषा है। उस समय तक आर्यो का केन्द्र सप्तसिन्धु या आधुनिक पंजाब था, यद्यपि पूर्व में वे बहुत आगे तक पहुँच गये थे। ब्राह्मणों-उपनिषदों की भाषा कुछ अपवादों को छोड़कर संहिताओं के बाद की है। इसमें उतनी जटिलता एवं रूपाधिक्य नहीं है। इनके गद्य भाग की भाषा तत्कालीन बोलचाल की भाषा के बहुत निकट है। इस समय तक आर्यो का केन्द्र मध्यदेश हो चुका था, यद्यपि इधर की भाषा उत्तर जितनी शुद्ध नहीं थी। इस भाषा का काल 900 ई.पू. से बाद का है। भाषा का और विकसित रूप सूत्रों में मिलता है। इसका काल 800 ई. पू. से बाद का है। यह संस्कृत पाणिनीय संस्कृत के काफ़ी पास पहुँच गई है, यद्यपि उसमें पाणिनीय संस्कृत की एकरूपता नहीं है। इसी काल के अन्त में लगभग 5वीं सदी में पाणिनी ने अपने व्याकरण में संस्कृत के उदीच्य में प्रयुक्त रूप के अपेक्षाकृत अधिक परिनष्ठित एवं पण्डितों में मान्य रूप को नियमबद्ध किया, जो सदा-सर्वदा के लिए लौकिक या क्लैसिकल संस्कृत का सर्वमान्य आदर्श बन गया। पाणिनि की रचना के बाद बोलचाल की भाषा पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, आधुनिक भाषाओं के रूप में विकास करती आज तक आई है, किन्तु संस्कृत में साहित्य-रचना भी इसके समानान्तर ही होती चली आ रही है, जो मूलत: पाणिनीय संस्कृत होने पर भी हर युग की बोलचाल की भाषा का अनेक दृष्टियों से कुछ प्रभाव लिए हुए है और यही कारण है कि बोलचाल की भाषा न होने पर भी, उस साहित्यिक संस्कृत में भी विकास होता आया है। भाषा के जानकार इस बात से परिचित हैं कि रामायण-महाभारत की भाषा पाणिनि के बाद की है। पुराने पुराणों की भाषा और भी परवर्ती है। फिर कालिदास से होते हुए क्लैसिकल संस्कृत हितोपदेश तक तथा और आगे तक आई है।

इस प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के वैदिक और लौकिक संस्कृत दो रूप मिलते हैं।

वैदिक संस्कृत– (1500 ई. पू. से 800 ई. पू. तक) इसे 'प्राचीन संस्कृत', 'वैदिकी', 'वैदिक संस्कृत' या 'छन्दस्' आदि अन्य नामों से भी पुकारा गया है। संस्कृत का यह रूप, वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणें, आरण्यकों तथा प्राचीन उपनिषदों आदि में मिलता है। यों इन सभी में भाषा का कोई एक सुनिश्चित रूप नहीं है। जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, वैदिक साहित्य में इस भाषा का कोई एक सुनिश्चित रूप नहीं है। जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, वैदिक साहित्य में इस भाषा का विकास होता दिखाई पड़ता है, फिर भी कुछ ध्वन्यात्मक एवं व्याकरणिक बातें ऐसी हैं, जिनको वैदिक की सामान्य विशेषताएँ माना जा सकता है। तत्कालीन बोलचाल की भाषा इसके समीप रही होगी, किन्तु इसका यह आश्य नहीं कि बोलचाल की भाषा के सभी रूप इसमें सुरक्षित हैं।

ध्वनियाँ–मूल भारोपीय एवं भारत-ईरानी से संस्कृत की (वैदिक तथा लौकिक) कुछ प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण ध्वनियों का विकास किस रूप में हुआ, यहाँ देखा जा सकता है। कुछ स्थानों पर तो भारोपीय के पुनर्निर्मित तारांकित रूप दिये गये हैं और कुछ में मात्र ग्रीक या लैटिन आदि के ही रूप दिये गये हैं। उक्त प्रकार के स्थानों में उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत ग्रीक या लैटिन आदि के शब्दों या रूपों में प्रयुक्त सम्बद्ध ध्वनि मूल भारोपीय का प्रतिनिधित्व करती है। उदाहरण के अभाव में कहीं-कहीं अवेस्ता आदि से ही तुलना करके संतोष करना पड़ता है।

सं. अ: (1) भारो. *अ से (भारो. *agei, ग्री. agei, अवे. azaiti, सं. अजति; ग्री. agros लै. ager, अं. acre, सं.अज्र)। (2) भारो. *ह्रस्व ए से (भारो. *esti, ग्री. esti, लै. est, अवे, astiya अस्तय, सं. अस्ति; लै. equus, आवे अस्प, सं. अश्व)। (3) भारो. *ह्रस्व ओ से (भारो. *potis, ग्री. posos, लै. potis, अवे. पइतिश्, सं. पति:; ग्री. domos, लै. domus, रूसी dom, सं. दम)। (4) भारो. *न से (भारो. *tntos, ग्री. tatos, सं. तत:)। (5) भारो. *म् से (भारो. dekm, ग्री. deka, लै. decem, गोथिक taihum, सं. दश)।

नोट

सं. आ: (1) भारो. * आ (दीर्घ) से (भारो. *mater, ग्री. mater, लै. mater, अवे. मातर् सं. मातृ)। (2) भारो. *ए (दीर्घ) से (ग्री. men, लै. mensis, सं. मास्)। (3) भारो. *ओ (दीर्घ) से (लै. vox, अवे. वाख्श, सं. वाक्)। (4) भारो. *gntos, ग्री. gnotos, अवे. जातो, सं. जात:)। (5) भारो. *म़ (दीर्घ) से (भारो. *ghs, ग्री. Khthon, अवे. ज, सं. क्षा:)।

सं. इ: (1) भारो. *अ से (भारो. *peter, ग्री. pater, अवे. पितर्. सं. पितृ)। (2) भारो. *इ से (भारो. *idh, ग्री. इथ, अवे. इद, सं. इह, पा. इध)। (3) भारो. *ऋ से (भारो. *grre, अवे. गइरि; सं. गिरि)।

सं. ई: (1) भारो. *ई से (ग्री. pion, सं. पीवन्)।

सं. उ: (1) भारो. उ से (भारो. *daughter, ग्री. taugater, फा. दुख्तर, सं. दुहितृ)।

सं. ऊ: भारो"ऊ से (प्राचीन स्लाव दूमु (dymu), रूसी दइउम, सं. धूम, लै. fumus)।

सं. ऋ: (1) भारो. ऋ से (भारों. *prskhati, सं. पृच्छति, प्राचीन उच्च जर्मन forscon)।

(2) भारो. *लृ से (भारो. *plaus, आवे. परथु, सं. पृथु)।

सं. ॠ: मूलत: भारो. से नहीं आया है। ह्रस्व इ एवं ह्रस्व उ से अंत होने वाले शब्दों में षष्ठी बहुवचन में दीर्घ करने (सखि-सखीनाम्, गुरु-गुरुणाम्) की प्रवृत्ति थी। इसी के सादृश्य पर ह्रस्व ऋ से अन्त होने वाले प्रातिपादकों के रूपों में दीर्घ ॠ(धातृ–धातृणाम्, धातन्, पितृ-पितृणाम् आदि) की प्रवृत्ति चल पड़ी; और इस प्रकार ॠ का विकास सादृश्य के कारण हुआ।

सं. लृ. भारो. लृ से (अवे. krp, सं. क्लृप्)।

सं. ए: (1) भारो. *अइ से (ग्री. daipher, रूसी देविर् सं. देवर)।

(2) भारो. *एइ से (लिथुवानियन eiti, सं. एति)। (3) भारो. *ओ (ह्रस्व) से (ग्री. oida, रूसी वेद, सं. वेद, अवे. वएद)।

सु. ओ: (1) भारो. *अउ से (ग्री. auos, लिथु sausas, रूसी सुख–सं. शोष) (2) भारो. *ऍउ से (ग्री. euo, सं. ओषिति)। (3) भारों. *ओउ से (*jouk–, लिथु laukas, सं. लोक)।

सं. ऐ: भारो. के *आइ,*एइ,*ओइ इन तीन संयुक्त स्वरों से। अर्थात् इ-अंत्य उन संयुक्त स्वरों से जिनके प्रारम्भ में दीर्घ स्वर (आ, ए, ओ) थे (ग्री. eleipsa, सं. अरैक्षम्)।

सं. औ: भारो. के *आउ, *एउ,*ओउ, इन तीन संयुक्त स्वरों से। इनमें प्रथम स्वर दीर्घ है तथा दूसरा ह्रस्व उ (ग्री. bous, सं. गौ:; ग्री. naus, सं. नौ)।

सं. क्, ख्, ग्, घ्: भा. यू. में कवर्गीय ध्वनियाँ तीन थीं–कंठ्स, कंठोष्ठ्य, कंठतालव्य। प्रथम दो वर्गों का विकास प्राय: सं. कवर्ग में (परवर्ती स्वर के अग्र होने की स्थिति अपवाद है।) हुआ है। (लै. coxa, सं. कक्ष: भारो. *kwos, सं. क:; भारे. *makhos सं. मख; ग्री. zugon, सं. युगम: भारो. *ghwono सं. घन)। यों यदि विस्तार में जाएँ तो ख् और घ् के विकास में कुछ विवाद तथा अनियमितताएँ भी हैं।

सं. च्, छ्, ज्, झ: च्, ज् का विकास उन कंठ्य या कंठोष्ठ्य क्, ग् से माना जाता है, जिनके बाद अग्रस्वर हों: भारो. *kwe, लै. que, सं. च, भारो. *gwiwos, सं. जीव। छ प्राय: अग्रस्वर के पूर्व आने वाले *स्ख (ग्रीक skia, स. छाया) से आया है। 'झ' ध्वनि भारोपीय से विकसित शब्दों में नहीं मिलती। यह अनुकार, झंकार, झंझा, झरण आदि या मुंडा (झुंट) एवं द्रविड़ आदि से आगत शब्दों में ही मिलती है। कुछ भारत–ईरानी शब्द भी कदाचित् भारत में झ-युक्त अवे. ग्ज़रइति; सें. *झरति) हो गये। क् ग् से च्, ज् के विकास के कारण ही अनेक शब्दों में एक ध्वनि दूसरे के स्थान पर (वाच, वाक्, युज्-युग) आ जाती है।

सं. ट्, ठ्, ड्, ढ्,: सं. में ये ध्वनियाँ या तो उन शब्दों में मिलती हैं, जो द्रविड़ आदि आर्येतर भाषाओं से आये हैं। (इस प्रकार द्रविड़ प्रभाव या देन है) जैसे कुटि, कठिन आदि, या फिर भारोपीय शब्दों की *त्, *थ, *ज़्द(*nis (उच्चरित रूप z) da > नीड) *ज़्ध् (*astos (उच्चरित रूप z) dhwam > अस्तोड्वम) ध्वनियों से विकसित हुई हैं। त् ध्वनि *ऱ्* क्य (इसका संस्कृत रूप श मिलता है, तथा अग्रस्वर के पूर्ववर्ती *ग्, घ् (कंठ्य या कंठोष्ठ्य) (सं. में इसका विकास ज्, ह् रूप में हुआ है) के सम्पर्क से ही प्राय: ट् हुई है: *कतुस > सं. कटु। भारो. *थ ध्वनि भी इसी प्रकार र आदि के प्रभाव से ठ् में विकसित हुई है: *grwtho > जठर। ऋग्वेद में स्वर मध्यम ड्ढ् ही ळ् ल्ह हो गये हैं।

नोट

सं. त् थ् द् ध्: ये भारो. *त्, *थ्, *द्, *ध् से ही प्राय: विकसित हुए हैं: ग्री. तनु सं. तनु; भारो *rothos, अवे. रथ, सं. रथ; भारो. *dekm, . वक्ष; भारो. *dhedhore, सं. दधार।

सं. प्, फ् ब्, भ्: भारो. *प्, *फ्, *ब, *भ से ही प्राय: निकले हैं: भारो. "पेन्क्वे सं. पंच; भारो. *phallo सं. फल; भारो. *barghis, सं. बर्हि:; भारो. *obhrus, सं. भ्रू।

सं. ङ्, ञ्, ण्, न्, म् : भारो. *न, *म से ही न्, म् विकसित हैं: भारो. *nizda > नीड; भारो. *gwegwome >सं. जगाम। ञ् उस ङ् से आया है जो क्, ज् आदि होने वाले क्, ग् आदि के पूर्व था : भारो. * पेङक्वें > सं. पंच्। *ङ, भारो. *ङ् है। ण् या तो द्रविड़ शब्दों में है या र आदि से प्रभावित न है।

सं. य्, र्, ल्, व् : भारो. के अपने अनुरूप अंतस्थों के विकसित हुए हैं। यों र्, ल्, का आपसी परिवर्तन भी मिलता हैं सम्भवत: रलयोरभेद: अत्यन्त प्राचीन काल से है। व् ध्वनि कंठोष्ठ्य कवर्ग से भी विकसित हुई है। भारो. *yugom सं. युगम्- भारो. *klu सं. श्रू; भारो. *ugra, सं. उग्र; भारो. *phallo, सं. फल, भारो. *ekwos, सं. अश्व।

सं. स्, ष्, श्: भारो. *स से सं. रा : भारो. *ekwos, सं. अश्व।

सं. स्, ष, श् : भारो *स से सं. रा: भारो. *menos, सं. मनस्। भारो. *स् ध्वनि अ या आ को छोड़ अन्य स्वरों के पूर्व होने पर प्राय: ष् हो गई है। –*स+उ=षु (भानुषु) दंत्य ध्वनियों के 'ट' होने पर उनके प्रभाव से तथा कुछ अन्य परिस्थितियों में भी समीपवर्ती 'स्' 'ष्' हो गया है। भारो. कंठ्य-तालव्य *क् सं. में श हो गया है : भारो. *dedorke, सं. ददर्श।

सं. व-यह भारो. *व का ही विकसित रूप है।

सं. ह् अघोष ह् (विसर्ग)-भारो. के पदांत *स तथा *र् से निकला है: भारो. *potis, सं. पति:। घोष ह् तीनों घ, *घ तथा * घ तथा * भ् से विकसित हुआ है: *ghwnti, सं. हन्ति, *idh, सं. इह, अवे. इद्, *grbh–सं. ग्रह्।

ऊपर संस्कृत ध्वनियों का विकास, मूल भारोपीय भाषा को आधार मानकर दिखाया गया है। मूल भारत-ईरानी के आधार पर भी ध्वन्यात्मक विकास की कुछ प्रमुख बातें यहाँ देखी जा सकती हैं। इसमें इस बात का पता चल जायगा कि भारतीय आर्य भाषा में, ईरानियों से अलग होने के बाद क्या-क्या प्रमुख परिवर्तन हुए तथा प्राचीन ईरानी में हुए परिवर्तनों से वे कितने भिन्न थे। प्रमुख बातें ये हैं: (1) मूल भारत ईरानी जो *ज़ तथा* ज ध्वनियाँ थीं, प्राचीन ईरानी से क्रमश: ज़् सं., जानु, प्राचीन फ़ा. सं. जीव) हो गया। इस प्रकार इन दोनों ध्वनियों के स्थान पर एक ध्वनि हो गई, (2) भारत ईरानी का* ज़ ईरानी में तो बन रहा किन्तु संस्कृत में उसका लोप हो गया: भारत-ईरानी का *मेज़्ध, सं. मेधा, अवे. मज्दा। (3) *ज़्ह् (झ) तथा *ज़्ह् ईरानी में ज् तथा ज् हो गये, किन्तु संस्कृत में ह हो गये: सं. हिम, अवे. जिम। (4) *ग्ज़्ह, ब्ज़्ह जैसे घोष, संस्कृत में आकर अघोष हो गये, किन्तु ईरानी में यह अघोषतत्व नहीं आया: सं. दिप्स्, अवे. दिब्ज़् (4) महाप्राण ध्वनियाँ संस्कृत में तो न्यूनाधिक रूप से आईं किन्तु ईरानी में प्राय: उनका अल्पप्राण रूप हो गया या संघर्षी: सं. रथ, अवे. रथ्, सं. शफ, अवे. सफ: सं. भरति, अवे. वरइति। (6) भारत-ईरानी *अइ, का प्राचीन फ़ा. में 'अइ' ही रहा, किन्तु अवेस्ता में यह अए हो गया एवं सं. में ए: मूल भा. यू. *eitiya = वह जाता है, प्राचीन फ़ा. aitiy, सं. एति। (7) भारत-ईरानी *अउ का प्राचीन फ़ा. में 'अउ' ही रहा किन्तु अवे. में अओ या आउ हो गया और संस्कृत में ओ : प्राचीन फ़ा. रउच, सं. रोचस्, अवे. रओचो।

स्वराघात–मूल भारोपीय भाषा में स्वराघात बहुत महत्त्वपूर्ण था। आरम्भ में वह बलात्मक था, जिसके कारण मात्रिक अपश्रुति विकसित हुई, किन्तु बाद में वह संगीतात्मक हो गया, जिसने गुणिक अपश्रुति को जन्म दिया। इस भाषा-परिवार के विघटन के समय स्वराघात केवल उदात्त तथा स्वरित था। भारत-ईरानी स्थिति में अनुदात्त भी विकसित हो गया। इस प्रकार वैदिक संस्कृति को परम्परागत रूप से अनुदात्त, उदात्र एवं स्वरित तीन प्रकार के स्वराघात (संगीतात्मक) प्राप्त हुए थे। स्वराघात का इतना अधिक महत्त्व था कि सभी संहिताओं, कुछ ब्राह्मणों एवं आरण्यकों तथा वृहदारण्यक आदि कुछ उपनिषदों की पांडुलिपियाँ स्वराघात-चिह्नित मिलती हैं और बिना स्वराघात के वैदिक छन्दों को पढ़ना अशुद्ध माना जाता है। स्वराघात के कारण शब्द का अर्थ भी बदल जाता था। 'इन्द्रशत्रु:' वाला प्रसिद्ध उदाहरण सर्वविदित है : इन्द्र, शत्रु:=जिसका शत्रु इन्द्र है (बहुब्रीहि), इन्द्रशत्रु=इन्द्र का शत्रु (तत्पुरुष)। शब्द आदि के अर्थ जानने में स्वराघात का कितन महत्त्व था, यह बेंकट माधव के 'अंधकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित्। एवं स्वरै: प्रणीतानां भवन्त्यर्था: स्फुटा इव' (अर्थात् जैसे अन्धकार में दीपकों की सहायता से चलता हुआ कहीं ठोकर नहीं खाता, उसी प्रकार स्वरों (स्वराघात) की सहायता से किये गये अर्थ स्फुट और संदेहशून्य

नोट

होते हैं) कथन से स्पष्ट है। स्वराघात में परिवर्तन से कभी-कभी लिंग में भी परिवर्तन हो जाता था।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है वैदिक स्वराघात तीन प्रकार के थे: उदात्त अर्थात् उच्च, अनुदात्त अर्थात् निम्न तथा स्वरित अर्थात् मध्य। उदात्त, अनुदात्त तो स्पष्ट है, किन्तु स्वरित विवादास्पद है। यों मोटे रूप से 'समाहार: स्वरित:' के आधार पर स्वरित को उदात्त तथा अनुदात्त तथा अनुदात्त का समाहार कहा जा सकता है।

वैदिक साहित्य में स्वराघात के अंकित करने की कई पद्धतियाँ प्रचलित रही हैं। उदाहरणार्थ ऋग्वेद, अथर्ववेद आदि में प्राय: उदात्त अचिह्नित मिलता है, अनुदात्त के नीचे पड़ी रेखा खींचते हैं तथा स्वरित के ऊपर खड़ी रेखा, जैसे अग्निना। सामदेव में उदात्त के लिए 1, स्वरित के लिए 2, तथा अनुदात्त के लिए 3, लिखने की परम्परा रही है[1] ब[3]हिषि[2]। शतपथ ब्राह्मण आदि में केवल उदात्त को चिह्नित करते रहे हैं: पुरुष:।

ऐतिहासिक दृष्टि से वैदिक में मूल स्वराघात प्राय: उसी अक्षर पर है, जिस पर मूल भारोपीय में था: ग्रीक Tatos, सं. तत, स्. किन्तु विस्तार में बहुत अन्तर है। पहले लोग संस्कृत स्वराघात को मूल भारोपीय सा मानते थे, किन्तु अब इस दृष्टि से ग्रीक अधिक समीप मानी जाती है।

वैदिक भाषा में प्राय: सभी शब्दों या पदों पर स्वराघात होता है। कुछ च, वा, इव जैसे शब्द स्वराघातशून्य होते हैं। यों बहुत से ऐसे भी रूप होते हैं जो कुछ स्थितियों में तो स्वराघातयुक्त होते हैं, और कुछ में स्वराघातशून्य। उदाहरणार्थ सम्बोधन का रूप यदि वह वाक्यारम्भ में न हो तो प्राय: स्वराघातशून्य होता है। वैदिक संस्कृत में प्रातिपादिक, समास, संधि, कारकरूप, क्रिया तथा नामधातु आदि के स्वराघात के नियम अलग-अलग हैं।

टर्नर के अनुसार वैदिक संस्कृत में संगीतात्मक एवं बलात्मक दोनों ही स्वराघात था।

रूप-रचना– वैदिक भाषा में लिंग तीन थे: पुलिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग। वचन भी तीन थे: एक., द्वि., बहु.। कारक आठ थे: कर्त्ता, सम्बोधन, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण।

सामान्य कारक विभक्तियाँ ये थीं:

एकवचन		**द्विवचन**		**बहुवचन**	
पु. स्त्री.	नपु.	पु. स्त्री.	नपुं.	पु. स्त्री.	नपुं.
कर्त्ता– स्	म्	-औ	-ई	-अस्	-नि,-इ
सम्बो.– "	–	"	"	"	"
कर्म–	-अम्	"	"	"	"
करण– -आ,-एन	-आ,-एन	-भ्याम्	-भ्याम्	-भिस्	-भिस्
सम्प्र.– -ए	-ए	"	"	-भ्यस्	-भ्यस्
अपा.- -अस्	-अस्	"	"	"	"
सम्बन्ध– "	"	-ओस्	-ओस्	आम्	आम्
अधि.– -इ	-इ	"	"	सु	सु

विशेष (1) अकारान्त शब्दों को छोड़कर अन्य अपने मूल रूप में ही कर्ता एक. नपुं. में आते हैं। अकारन्त में -म् लगता है। (2) सम्बोधन के रूप केवल स्वरांत स्त्री. पु. एकवचन छोड़कर प्राय: कर्ता के रूपों के समान होते हैं। -मन्, -अन्, -मंत, -वंत, आदि कई स्वरान्त प्रातिपादिक (पु. एक.) भी अपवाद हैं।

उपर्युक्त रूपों में अधिकांश मूल भारोपीय-विभक्ति से सीधे आये हैं, और प्रयोग एवं रूप की दृष्टि से उनके समीप हैं। जैसे *स से स (अवे. श, ग्री. स आदि), *म् से द्वितीया -अम् (ग्री. -न्. -अ्, अवे. -अम् आदि), चतुर्थी *अइ, ऍइ से ए (ग्री. ओइ), *ऍस,* ओस् से अस्, द्विवचन *ओ से ओ, बहु. -अस *ओस् से, *भास से भ्यस्, तथा *स् से सु आदि। करण बहु.-एभि: (देवेभि:) में 'ए' सर्वनामों से आया है।

विशेषणों के रूप भी संज्ञा की तरह चलते थे।

तुलना के लिए -तर (ग्री. तें रों, लैटिन तेंर, अवे. तर) एवं तम (लैटिन–तिमो, अवे. तम) क्रमश: मूल भारोपीय भाषा के *तो में जुड़कर -तर, -तम आदि हो गये। इसी प्रकार इयांस् (ग्री. ईऑस, योस्, लैटिन ior, अवे. -यह-) तथा इष्ठ (ग्री. इस्तो, अवे. इश्त) क्रमश: मूल भारोपीय *यो स् एवं *इस्थ् से विकसित हैं।

मूल भारोपीय में सर्वनाम के मूल या प्रातिपदिक बहुत अधिक थे। विभिन्न बोलियों में कदाचित् विभिन्न मूलों के रूप चलते थे। पहले सभी मूलों से सभी रूप बनते थे, किन्तु बाद में मिश्रण हुआ और अनेक मूलों के अनेक

नोट

रूप लुप्त हो गये। परिणाम यह हुआ कि मूलतः विभिन्न मूलों से बने रूप क ही मूल के रूप माने जाने लगे। वैदिक भाषा में उत्तम पुरुष में ही, यद्यपि प्राचीन पंडितों ने 'अस्मद्' को सभी रूपों का मूल माना है, किन्तु यदि ध्यान से देखा जायतो अह-(अहम्) म- (मम्, मया, मम, मयि), आव (आवम्, आवाम्, वाम्, आवयोः), वध (वयं), अस्म (अस्मिाभिः, अस्मभ्यम्, अस्मे आदि), इन पाँच मूलों पर आधारित रूप हैं। मध्यम आदि अन्य सर्वनामों में भी एकाधिक मूल हैं। इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वनामों के पीछे अनेक मूल रूपों की परम्परा है। अधिकांश सर्वनामों की परम्परा मूल भारोपीय भाषा तक खो गई हैं जैसे भारो. *eghom से अहम् (अवे. अज़ेम, लैटिन ego , पुरानी चर्च स्लाव अजु आदि), *uei से वयम् (अवे. एवम्) या *tu से तू (लै. तू, प्राचीन उच्च जर्मन दू, प्राचीन आइरिश तू, अवे. तू) आदि। सर्वनामों की कारकीय विभक्तियाँ प्रायः संज्ञाओं जैसी ही हैं।

वैदिक भाषा में धातुओं के रूप आत्मने (middle), परस्मै (active) दो पदों में चलते थे। कुछ धातुएँ आत्मनेपदी, कुछ परस्मैपदी एवं कुछ उभयपदी थीं। आत्मनेपदी रूपों का प्रयोग केवल अपने लिए होता था तथा परस्मै का दूसरा के लिए। क्रियारूप तीनों वचनों (एक., द्वि., बहु.) एवं तीनों पुरुषों (उत्तम, मध्यम, अन्य) में होते थे। काल तथा क्रियार्थ मिलाकर क्रिया के कुल 10 प्रकार के रूपों का प्रयोग मिलता है: लट् (Present), लङ् (imperfect), लिट् (perfect), लुङ् (aorist), लुट्, निश्चयार्थ (indicative), सम्भावनार्थ (subjunctive लेट), विध्यर्थ (injunctive), आदरार्थ आज्ञार्थ (oypative), तथा अज्ञार्थ (impertive, लोट्) ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में लेट् का प्रयोग बहुत मिलता है, किन्तु धीरे-धीरे इसका प्रयोग कम होता गया और अन्त में लौकिक संस्कृत में पूर्णतः समाप्त हो गया। वैदिक में भविष्य के रूप बहुत कम हैं। उसके स्थान पर प्रायः सम्भावनार्थ या निश्चयार्थ का प्रयोग मिलता है। क्रिया-रूपों में तीन विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं– (1) कुछ रूपों में धातु के पूर्व भूत्तकरण आगम अ-या-आ आता था (लङ्, लुङ्, लृङ् में)। (2) धातु तथा तिङ् प्रत्ययों के बीच, कुछ धातुओं में विकरण जोड़े जाते थे। विकरण के आधार पर धातुओं के दस गण या वर्ग थे। जुहोत्यादि एवं अदादिगण विकरण रहित थे, शेष में निम्नांकित विकरण थे: भ्वादि में -उ-, दिवादि में -य-, स्वादि में -नु', तुदादि में स्वराघातयुक्त -अ-, रुधादि में -न-, तनादि में -न-, क्र् यादि में -ना-, तथा चुरादि में -अय-। (3) इच्छार्थक (desiderative), अतिशयार्थक (intensive), लट् (कुछ धातुओं में), लिट्, लुङ् (एक रूप में) में द्वित्व का प्रयोग होताहै इसमें महाप्राण के द्वित्व में महाप्राण का अल्पप्राण हो जाता है ('भी' से 'बिभी–'), कंठ्य का वर्ग के क्रमानुसार तालव्य ('गुह' के 'जुगूह') हो जाता है, तथा अन्य स्थानों पर प्रायः द्वित्व ('बुध' से बु-बु) होता है। यदि ऊष्म से धातु का आरम्भ हो तथा बाद में अघोष ध्वनि हो तो वही ध्वनि फिर आ जाती है, यदि वह महाप्राण हो तो उसका अल्पप्राण हो जाता है, तथा कंठ्य हो तो तालव्य: स्था–तस्था, स्कन्द–चस्कन्द, स्वज्-सस्वज्।

समास–समास रचना की प्रवृत्ति मूल भारोपीय एवं भारत-ईरानी में भी थी। वहीं से यह परम्परा वैदिक संस्कृत में आई। वैदिक में समस्त पद प्रायः दो शब्दों के ही मिलते हैं। इससे अधिक शब्दों के समास अत्यन्त विरल हैं। जहाँ तक समास के रूपों का प्रश्न है, वैदिक में केवल तत्पुरुष, कर्मधारय, बहुब्रीहि एवं द्वन्द्व, ये चार ही समास मिलते हैं। लौकिक संस्कृत के शेष दो बाद में विकसित हुए हैं।

शब्द–वैदिक भाषा में शब्दों की दृष्टि से दो बातें उल्लेख्य हैं। एक बात तो यह कि अनेक तथाकथित मूल शब्द से विकसित या तद्भव शब्द प्रयुक्त होने लगे। वेदों में 'इह' (यहाँ) इसी प्रकार का हैं इसका मूल शब्द *इध है। पालि 'इध' और अवेस्ता 'इद' इस बात के प्रमाण हैं कि महाप्राण व्यंजन के स्थान पर 'ह' के विकास से 'इध ' से ही 'इह' बना है।

कट (मूल शब्द कृत), एकादश (मूल एकादश) भी इसी प्रकार के शब्द हैं। 'विशति' भी मूलतः 'द्विशति' रहा होगा, यद्यपि यह विकार भारत में आने वे पहले ही आ चुका था। शब्दों की दृष्टि से दूसरी विशेषता यह है कि उस काल में ही भाषा में अनेक आर्येतर शब्दों का आगमन होने लगा था। उदाहरण के लिए वैदिक भाषा में अणु, अरणि, कपि, काल, गण, नाना, पुष्कर, पुष्प, मयूर, अटवी, तंडुल, मर्कट आदि शब्द एक ओर यदि द्रविड़ से आये हैं, तो वार, कंबल, वाण, कोसल (स्थानवाचीनाम), अंग (स्थानवाचीनाम) आदि आस्ट्रिक भाषा से।

बोलियाँ–ऊपर संकेत किया जा चुका है कि आर्य कदाचित् एकाधिक टोलियों में भारत में आये और इन टोलियों में भी आपस में कुछ भाषिक विभिन्नता थी। इसका आशय यह है कि 'आर्य भाषा' के भारत में आने के पहले

नोट

ही उसमें सच्चे अर्थों में भाषिक एकरूपता नहीं थी। उदाहरण के लिए विद्वानों का विचार है कि मूल भारोपीय के र, ल भारत-ईरानी में प्राय: 'र' ही हो चुके थे, और भारतीय आर्य भाषा में फिर नये सिरे से 'र' ध्वनि अनेक शब्दों में 'ल' में विकसित हो गईं। यही कारण है ऋग्वेद में 'लृ' ध्वनि 'र्' की तुलना में बहुत कम मिलती हैं तथा परवर्ती साहित्य में धीरे-धीरे उसमें वृद्धि हुई है। यों मेरा विचार है कि प्रमुख भारत-ईरानी में तो मूल भारोपीय के र् ल् का विकास 'र्' में हो चुका था, किन्तु उस समय भक कृछ टोलियाँ या बोलियाँ ऐसी थीं, जिनमें 'ल्' ध्वनि पूर्णत: लुप्त नहीं हुई थी। इस प्रकार व कुछ दृष्टियों से अनुकरूपताओं से युक्त भारतीय आर्य भाषा भारत में आई, और यह ज्यों-ज्यों पूर्व की ओर फैलती गई, इसका स्वरूप स्थानीय भाषाओं के प्रभाव के कारण बदलता गया। ब्राह्मण ग्रंथों से इस बात का पता चलता है कि वैदिक काल में प्राचीन आर्य भाषा के कम-से-कम तीन रूप–या ती बोलियाँ–अवश्य थे: पश्चिमोत्तरी, मध्यवर्ती, पूर्वी। प्रथम अफ़गानिस्तान से लेकर पंजाब तक था, दूसरा पंजाब से मध्य उत्तर प्रदेश तक तथा तीसरा उसके पूर्व। यदि र्-ल् ध्वनियों को ही आधार मानें तो कह सकते हैं कि पश्चिमोत्तरी बोली र् प्रधान थी, मध्यवर्ती में र् ल् दोनों थे, और पूर्वी ल्-प्रधान थी। ऋग्वेद में पश्चिमोत्तरी बोली का ही प्रतिनिधित्व हुआ है। पश्चिमोत्तरी बोली में स्थानीय प्रभाव प्राय: बहुत कम पड़ा था, क्योंकि स्थानीय आर्येतर जातियाँ कुछ अपवादों को छोड़कर, वहाँ से भागकर दक्षिणपूर्व चली गई थीं। इसी कारण पश्चिमोत्तरी बोली को आदर्श माना गया। उसे उस समय 'उदीच्य' या 'उत्तरी' कहते थे। कौशीतकि ब्राह्मण (7-8) में आता है: तस्मादुदीच्यां प्रज्ञाततरा वायुद्यते। उदञ्च उ एव यन्ति वाचं शिक्षितुम्। यो वा तत आगच्छति, तस्य या शुश्रूषन्त इति। अर्थात्....उत्तर में अधिक विज्ञता से, या प्रामाणिक भाषा बोली जाती है उत्तर दिशा में ही बोलना सीखने जाते हैं। जो वहाँ से आता है, उससे सुनना चाहते हैं। मध्यदेशीय विशेषत: पूर्वी लोग संयुक्त व्यंजन; स्वराघात, सन्ति में तो गड़बड़ी करते ही थे, साथ ही 'र्' का 'ल्' भी कर देते थे। शतपथ ब्राह्मण (3-2-1-23) में कहा गया है: तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन: पराबभूवु:। अर्थात् वे असुर 'हे, अरय:' के स्थान पर 'हेलय: हेलय:' उच्चारण करते हुए पराभव को प्राप्त हुए। यहाँ भी र् ल् की ओर संकेत है। इसी प्रकार उधर य् के स्थान पर व् उच्चरित करने की प्रवृत्ति भी थी।

किन्तु भाषा के ये तीन रूप सामान्य लोगों में थे। पण्डितों की भाषा एक सीमा तक परिनिष्ठित थी, और उपलब्ध वैदिक साहित्य में कुछ अपवादों को छोड़कर प्राय: उसी का साहित्यिक रूप मिलता है।

पूर्ववर्ती एवं परवर्ती वैदिक भाषा– प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के प्रथम रूप वैदिक के भी दो रूप मिलते हैं। पहला रूप ऋग्वेद के प्रथम एवं दसवों मंडल को छोड़कर अय मण्डलों तथा अन्य प्राचीन ऋचाओं आदि की भाषा में है तथा दूसरा उक्त दो मण्डलों में, अन्य वेदों में के परवर्ती भागों में, तथा आरण्यकों, उपनिषदों आदि में । वैदिकी के इ दोनों रूपों में प्रमुख अन्तर निम्नांकित हैं:-

ध्वनि– (1) टवर्गीय ध्वनियाँ पूर्ववर्ती में बहुत कम हैं पर परवर्ती में उनका अनुपात बढ़ गया है। (2) पूर्ववर्ती में र् का प्रयोग अधिक है, किन्तु परवर्ती में ल् ध्वनि–रोमन्–लोमन्, म्रुच–म्लुच। (3) यह संकेत किया जा चुका है कि वैदिकी में प्राचीन घ्, धु, भ्र आदि महाप्राणों का 'ह्' हो रहा था। यह प्रवृत्ति इस काल में भी काम कर रही थी। इसीलिए महाप्राणों के स्थान पर 'ह' पूर्ववर्ती भाषा में कम मिलता है, किन्तु परवर्ती में अपेक्षाकृत अधिक है। उदाहरणार्थ प्राचीन वैदिक गृभाण, परवर्ती वैदिक संस्कृत गृहाण। इसी प्रकार पूर्ववर्ती आज्ञार्थ-घि (तिङ् प्रत्यय) के स्थान पर परवर्ती में-हि मिलता है।

व्याकरण– व्याकरणिक दृष्टि से भी कई अन्तर हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि नाम एवं धातु के रूपाधिक्य एवं अपवाद परवर्ती में बहुत कम हो गए हैं, और परवर्ती की भाषा वैदिकी को छोड़कर लौकिक संस्कृत की ओर बढ़ती चली आ रही है। पूर्व वैदिकी में देवा: दैवै: के अतिरिक्त देवास:, देवेभि: रूप भी हैं, किन्तु परवर्ती में देवास:, देवेभि: जैसे रूप अत्यंत विरल हो गये हैं। 'अश्विना' जैसे द्विवचन रूप भी परवर्ती में प्राय: नहीं मिलते। पुराने कृणुम: जैसे रूपों के स्थान पर परवर्ती में कुर्म: जैसे रूप मिलते हैं। यह वस्तुत: ध्वन्यात्मक परिवर्तन के कारण हुआ है। 'नु विकरण में न् के लोप के कारण 'उ' रह गया हैं अन्य भी इस प्रकार के अनेक रूपीय अन्तर हैं।

शब्द–शब्दों के क्षेत्र में सबसे प्रमुख बात यह हुई कि अनेक पूर्ववर्ती शब्द समाप्त हो गए, और वे परवर्ती वैदिकी में नहीं मिलते। ईम, वीति, विचर्षणि ऐसे ही शब्द हैं। इसके विरुद्ध परवर्ती वैदिकी में अनेक ऐसे शब्द प्रयुक्त होने

लगे जो पूर्ववर्ती में नहीं मिलते। इसके अतिरिक्त यों तो पूर्ववर्ती वैदिकी में भी आस्ट्रिक, द्रविड़ आदि शब्द आ गए थे, किन्तु उसकी संख्या अत्यल्प थी, पर परवर्ती वैदिकी में उनका संख्या अपेक्षाकृत बढ़ गई।

ऊपर जो बातें पूर्ववर्ती वैदिकी की तुलना में परवर्ती वैदिकी में कही गई हैं, परवर्ती वैदिकी या वैदिकी की तुलना में लौकिक संस्कृत या संस्कृत में भी प्रायः उन्हीं का आधिक्य मिलता है।

संस्कृत– इसे 'लौकिक संस्कृत' तथा 'क्लैसिकल संस्कृत' भी कहते हैं। भाषा के अर्थ में 'संस्कृत' (संस्कार की गई, शिष्ट या अप्रकृत) शब्द का प्रथम प्रयोग वाल्मीकि रामायण में मिलता है। लौकिक संस्कृत का मूल आध ार इनमें उत्तरी बोली थी, क्योंकि वही प्रामाणिक मानी जाती थी। पाणिनि ने अन्यों के भी कुछ रूप आदि लिए हैं और उन्हें वैकल्पिक कहा है। इस प्रकार मध्यदेशी तथा पूर्वी का भी संस्कृत पर कुछ प्रभाव है। लौकिक या क्लैसिकल संस्कृत साहित्यिक भाषा है, अतः जिस प्रकार हिन्दी में जयशंकर प्रसाद की गद्य या पद्य भाषा को बोलचाल की भाषा नहीं का सकते, उसी प्रकार संस्कृत को भी बोलचाल की भाषा नहीं कह सकते। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जिस प्रकार प्रसाद जी की भाषा का आधार परिनिष्ठित खड़ी बोली हिन्दी है, जो बोचलाच की भी भाषा है, उसी प्रकार पाणिनीय संस्कृत भी तत्कालीन पण्डित समाज की बोलचाल की भाषा पर ही आधारित है। पाणिनि द्वारा उसके लिए 'भाषा' (भाष्=बोलना) शब्द का प्रयोग, सूत्र 'प्रत्यभिवादेऽशूद्रे' दूर से बुलाने में 'प्लुत' के प्रयोग का उनके द्वारा उल्लेख, बोचलाच के कारण विकसित संस्कृत को व्याकरण की परिधि में बाँधने के लिए कात्यायन द्वारा वार्तिकों की रचना, ये बातें यह सिद्ध करती हैं कि संस्कृत कभी बोचलाल की भाषा थी। अतः हार्नले, वेबर तथा ग्रियर्सन आदि पश्चिमी विद्वानों का यह कथन कि संस्कृत बोलचाल की भाषा नहीं थी, निराधार है। संस्कृत, भारतीय भाषाओं (आर्य तथा आर्येतर) की जीवनमूल तो रही ही है, साथ ही तिब्बती, अफ़गानिस्तानी, चीनी, जापानी, कोरियाई, सिंहली, बर्मी तथा पूर्वी द्वीप-समूह की भी अनेकानेक भाषाओं को इसने अनेक–विशेषतः शाब्दिक–स्तरों पर प्रभावित किया है।

ऊपर वैदिक भाषा की प्रमुख विशेषताएँ उल्लिखित हैं। लौकिक संस्कृत उससे मूलतः बहुत अधिक भिन्न नहीं है। इसीलिए इसकी सभी विशेषताओं को विस्तार से अलग गिनाने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ केवल वैदिक और लौकिक संस्कृत में अन्तरों का ही उल्लेख किया जा रहा है।

वैदिक संहिताएँ काव्यरूप में लिखी गई हैं।

18.2 मध्यकालीन आर्य भाषाएँ

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा काल में, जनभाषा पर आधारित, वैदिक एवं लौकिक संस्कृत भाषा के दो रूप, साहित्य में प्रयुक्त हुए। दूसरे रूप-लौकिक संस्कृत-को पाणिनि ने अपने व्याकरण में जकड़ कर उसे सदा सर्वदा के लिए एक स्थायी रूप दे दिया, किन्तु जनभाषा भला इस बन्धन को कहाँ मानती? वह अबाधगति से परिवर्तित होती रही, बढ़ती रही। इस जनभाषा के मध्यकालीन रूप को ही 'मध्यकालीन आर्यभाषा' की संज्ञा दी गई है। इसका काल मोटे रूप से 500 ई. पू. से 1000 ई. तक का, अर्थात् डेढ़ हज़ार वर्षों का है।

स्व-मूल्यांकन

1. **रिक्त स्थान की पूर्ति करें–**

   1. रामायण-महाभारत की भाषा आचार्य .... के बाद की है।
   2. भारतीय आर्यभाषा का प्राचीनतम रूप .... में मिलता है।
   3. 5वीं सदी में पाणिनी ने अपने व्याकरण में लौकिक .... का जो रूप नियमबद्ध किया था वह आज भी मान्य है।

नोट

मध्यकालीन आर्य भाषा को प्राकृत भी कहा गया है। **प्राकृत** शब्द के सम्बन्ध में दो मत हैं।

(1) कुछ लोग इसकी व्युत्पत्ति **'प्राक् कृत'** अर्थात् 'पहले की बनी हुई' या 'पहले की की हुई' मानते हैं। दूसरे शब्दों में प्राकृत **'नैसर्गिक' 'प्रकृत'** या **अकृत्रिम**-भाषा है और इसके विपरीत **संस्कृत कृत्रिम** या संस्कार की हुई भाषा है। नमि साधु ने 'काव्यालंकार' की टीका में लिखा है: 'प्राकृतेति, सकलजगञ्जन्तूनां व्याकरणादिमिरनाहतसंस्कार: सहजो वचनव्यापार: प्रकृति: प्रकृति तत्र भव: सेव वा प्राकृतम्'। इस रूप में **प्राकृत** पुरानी भाषा है, और **संस्कृत** उसका संस्कार करके बनाई हुई बाद की भाषा। ग्रियर्सन ने इसी को प्राइमरी प्राकृत कहा है, इसका अर्थ यह है कि इस अर्थ में प्राकृत शब्द का प्रयोग उस जनभाषा के लिए है, जो वैदिक एवं संस्कृत काल में जनभाषा थी और जिसका कुछ परिनिष्ठित एवं पंडितों द्वारा मान्य रूप वैदिक है, एवं परवर्ती काल में जिसका सुसंस्कृत साहित्यिक रूप 'संस्कृत' है। अर्थात् वह वैदिक की भी जननी है, और उसी का कुछ परवर्ती रूप संस्कृत की जननी है। वाक्पतिराज ने 'गउडबहो' में कहा है-

सयलाओ इमं वाया विसंति एत्तो य णेंति वायाओ।
एंति समुद्धं चिह णेंति सायराओ च्चिय जलाई।

(जैसे जल सागर में प्रवेश करता है और सागर से ही निकलता है, उसी प्रकार सभी भाषाएँ प्राकृत में ही प्रवेश करती हैं, और प्राकृत से ही निकली हैं।)

नमि साधु ने 'काव्यालंकार की टीका में लिखा है कि प्राकृत पुरानी भाषा है और संस्कृत उसका संस्कार करके बनाई हुई बाद की भाषा।

(2) दूसरे लोग प्राकृत की उत्पत्ति अन्य ढंग से करते हैं। कुछ मत का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है:

1. **प्रकृतिः संस्कृत तत्र भवं प्राकृतमुच्यते** (प्रकृति या मूल संस्कृत है, उससे जन्मी भाषा को प्राकृत कहते हैं)
—मार्कण्डेय
2. **प्रकृते, संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता** (प्रकृत संस्कृत की विकृति प्राकृत है।)—लक्ष्मीधर।
3. **प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं तत आगर्त वा प्राकृतम्** (प्रकृति या मूल संस्कृत है, और संस्कृत से जो आई है, प्राकृत है)
—हेमचन्द्र
4. **प्रकृतेः संस्कृतात् आगतं प्राकृतम्** (प्रकृत संस्कृत से निकली प्राकृत है)
—सिंहदेवमणि
5. **संस्कृत रूपायाः प्रकृतेः उत्पन्नत्वात् प्राकृतम्** (प्रकृत संस्कृत से उत्पन्न प्राकृत)
—प्रेमचन्द तर्कवागीश
6. **प्राकृतस्य सर्वमेव संस्कृत योनिः** (प्राकृत की जननी संस्कृत है)
—वासुदेव

मध्यकालीन आर्य भाषा के विषय में ग्रियर्सन के मत का उल्लेख कीजिए।

इनका आशय यह है कि प्राकृत संस्कृत से ही उत्पन्न है। यहाँ हम देखते हैं कि दोनों मत एक दूसरे के विरोधी हैं। एक प्राकृत से संस्कृत का जन्म मानता है, तो दूसरा संस्कृत से प्राकृत का जन्म। वस्तुत:, अपने-अपने स्थान

पर ये दोनों ही मत ठीक हैं। यदि हम उस जनभाषा को प्राकृत कहते हैं, जिसका परिनिष्ठित साहित्यिक रूप संस्कृत है, दूसरे शब्दों जिससे संस्कृत उत्पन्न है, तो पहला मत ठीक है, अर्थात् प्राकृत संस्कृत की जननी है, किन्तु यदि हम संस्कृत-कालीन जनभाषा को भी संस्कृत ही कहें–जो मूलत: वही थी, केवल संस्कृत साहित्य भाषा थी, और वह जनभाषा–तो दूसरा मत सही है, क्योंकि 5000 ई. पू. से 1000 ई. तक बोली जाने वाली प्राकृत भाषा उसी का विकसित रूप है, अर्थात् उसी से निकली है। अब प्राय: इसी भाषा को प्राकृत कहते हैं, अत: इसे अर्थात् प्राकृत को हम संस्कृत से उत्पन्न मान सकते हैं। हाँ, यह बात ध्यान में रखने की है, यह प्राकृत भाषा वैदिक या लौकिक संस्कृत से उद्‌भूत नहीं है, अपितु तत्कालीन जनभाषा से उद्‌भूत है या उसका विकसित रूप है।

इन 1500 वर्षों की प्राकृत भाषा को तीन कालों में विभाजित किया गया है:

(1) प्रथम प्राकृत (500 ई. पू. से 1 ई. तक)

(2) द्वितीय प्राकृत (1 ई. 500 ई. तक)

(3) तृतीय प्राकृत (500 ई. से 1000 ई. तक)।

प्रथम प्राकृत– इसमें पालि तथा अभिलेखी प्राकृत आती हैं।

पालि– पालि बौद्ध धर्म (विशेषत: दक्षिणी बौद्धों) की भाषा हैं इसे 'मागधी' या 'देश भाषा' भी कहा गया है। मोटे रूप से इसका काल 5वीं सदी ई. पू. से पहली सदी तक है। यों कुछ लोगों ने इसका काल छठी सदी ई. पू. से दूसरी सदी ई. पू. तक भी माना है। कुछ इसका आरम्भ दूसरी सदी ई. पू. से भी मानते हैं। **'पालि'** नाम– 'पालि' शब्द की व्युत्पति को लेकर विद्वानों में बहुत मतभेद है। पालि शब्द के पुराने प्रयोग 'भाषा' के अर्थ में नहीं मिलते। इसका प्राचीनतम प्रयोग चौथी सदी में लंका में लिखित ग्रन्थ 'दीपवंस' में हुआ हैं वहाँ इसका अर्थ 'बुद्धवचन' है। बाद में प्रसिद्ध आचार्य बुद्धघोष ने भी इसका प्रयोग लगभग इसी अर्थ में किया है। तब से काफ़ी बाद तक पालि शब्द का प्रयोग पालि साहित्य में हुआ है, किन्तु कभी भी भाषा के अर्थ में नहीं। भाषा के अर्थ में वहाँ मगध भाषा, मागधी, मागधिक भाषा आदि का प्रयोग हुआ है। सिंहल के लोग इसे अ भी मागधी कहते हैं। भाषा के अर्थ में 'पालि' का प्रयोग अत्याधुनिक है और यूरोप के लोगों द्वारा हुआ है। शुरू में अशोक की शिलालेखी प्राकृतों के लिए भी इसका प्रयोग हुआ था, पर बाद में भ्रामक समझकर छोड़ दिया गया। पालि की व्युत्पत्ति प्रमुखत: दो प्रकार की है। एक तो वे हैं, जिन्में 'पालि' के प्राचीनतम प्राप्त अर्थ का ध्यान रखा गया है, और दूसरी वे हैं, जिनमें अन्य आधार लिए गये हैं। यहाँ संक्षेप में कुछ प्रमुख मतों का उल्लेख किया जा रहा है।

(1) श्री विधु शेखर भट्टाचार्य के अनुसार 'पालि' का सम्बन्ध संस्कृत 'पक्ति' (झपन्ति झ पत्ति झ पट्टि झ पल्लि झ पालि) से है। शुरू में बुद्ध की पंक्तियों के लिए इसका प्रयोग हुआ और बाद में उसी से विकसित होकर भाषा के अर्थ में। किन्तु 'पंक्ति' से 'पालि' हो जाना तत्कालीन ध्वनि-परिवर्तन के नियमों के अनुकूल नहीं है।

(2) एक मत के अनुसार वैदिक और संस्कृत आदि की तुलना में यह 'पल्लि' या 'गाँव' की भाषा थी। 'पालि' शब्द 'पल्लि का ही विकास है, अर्थात् इसका अर्थ है 'गाँव की भाषा'। 'पल्लि की 'पालि' बन तो सकता है, किन्तु यह प्रवृत्ति पालि काल के बहुत बाद में मिलती है।

(3) एक मत के अनुसार यह सबसे पुरानी प्राकृत है। (भण्डारकार तथा वाकरनागल मानते हैं) इसीलिए शायद इसे 'प्राकृत नाम दिया गया और 'पालि' शब्द 'प्राकृत' (झ पाकट झ पाअड झ पाअल झ पालि) का ही विकसित रूप हैं यह विकास भी बहुत तर्क-सम्मत नहीं है।

(4) कोसाम्बी नामक बौद्ध विद्वान् के अनुसार इसका सम्बन्ध 'पालू' अर्थात् 'रक्षा करना' से है, इसने बुद्ध के उपदेशों को सुरक्षित रखा है इसीलिए यह नाम पड़ा है।

(5) 'पा पालेति रक्खतीति' रूप में भी कुछ लोगों ने 'पा' में 'लि' (णिच) प्रत्यय लगाकर इसकी व्युत्पत्ति दी है। 'आत्थान पाति रक्खतीति तस्मात् पालि' अर्थात् यह अर्थों की रक्षा करती है, अत: पालि है। इस प्रकार की व्युत्पत्ति कुछ प्राचीनों ने भी दी है किन्तु यह भी कल्पना की दौड़ मात्र है।

(6) एक अन्य मत से 'प्रालेय' या 'प्रालेयक' (पड़ोसी) से पालि का सम्बन्ध है।

नोट

(7) भिक्षु सिद्धार्थ सं. 'पाठ' से (बुद्ध पाठ या बुद्ध-वचन) इसे (पाठ झ पालि झ पाळि; पालि में संस्कृत 'ठ' का 'ळ' हो जाता है) निकला मानते हैं।

(8) कुछ लोग 'पालि' को पंक्ति अर्थ का बोधक एक संस्कृत शब्द मानते हैं। इनके अनुसार यही शब्द पहले बुद्ध की पंक्तियों के लिए फिर उनके उपदेशों के लिए और फिर पुस्तक के लिए और फिर उस भाषा के लिए प्रयुक्त होने लगा।

(9) राजवाड़े के अनुसार कुछ लोग पालि का सम्बन्ध संस्कृत प्रकट (पाअड़ झ पाअल झ पालि) से भी जोड़ने के पक्ष में हैं।

(10) डॉ. मैक्सवेलेसर ने 'पालि' को 'पाटलि' (पाटलीपुत्र की भाषा) से व्युत्पन्न माना है।

(11) सबसे प्रामाण्कि व्युत्पत्ति भिक्षु जगदीश कश्यप द्वारा दी गई है। प्राय: बहुत से भारतीय विद्वान् इससे सहमत हैं। इनके अनुसार 'पालि' का सम्बन्ध 'परियाय' (सं. पर्याय) से है। 'धम्म-परियाय' या 'परियाय' का प्रयोग प्राचीन बौद्ध साहत्य में बुद्ध के उपदेश के लिए मिलता है। इसकी विकास-परम्परा परियाय झ पलियाय झ पालियाय झ पालि है।

'पालि' भाषा का प्रदेश– यह प्रश्न भी कम विवादास्पद नहीं है कि पालि मूलत: किस प्रदेश की भाषा थी। इस प्रश्न पर प्राय: बहुत विद्वानों ने विचार किया है, जिनमें कुछ प्रमुख मत निम्नांकित हैं–

(1) श्रीलंका के बौद्धों की यह धारणा यह है कि यह मगध की बोली थी। इसीलिए वे लोग 'पालि' को मागधी भी कहते हैं। पालि ग्रन्थों में मूल 'भाषा' के लिए 'मागधी' शब्द का प्रयोग भी इसी ओर संकेत करता है: सा मागधी मूल भाषा नरा मायादिकप्पिका। इसीलिए डॉ. श्यामसुन्दरदास तथा चाइल्डर्स आदि कई अन्य विद्वान् इसे मगध की भाषा मानते हैं। किन्तु भाषा की विवेचना करने पर यह बात अशुद्ध ठहरती हैं उदाहरणार्थ यदि ध्वनियों का विचार किया जाय तो मागधी में प्राचीन श, ष, स् तीनों के स्थानों पर 'श्' ध्वनि मिलती है, जब कि पालि में 'स'। इसी प्रकार मागधी में 'र' के लिए भी 'ल' ही ध्वनि आती है, जबकि पालि में र और ल दोनों हैं। व्याकरण की दृष्टि से भी इसका मागधी में 'र्' के लिए भी 'ल' ही ध्वनि आती है, जबकि पालि में र और ल दोनों हैं। व्याकरण की दृष्टि से भी इसका मागधी से साम्य नहीं है। उदाहरणार्थ पालि में अकारांत शब्दों (पुल्लिंग; नपुंसक) का कर्ता एकवचन में ओकारांत (धम्मो) होता हे, किन्तु मागधी में एकारांत (धम्मे)। पालि में ए वाले रूप हैं, किन्तु बहुत कम। ऐसी स्थिति में पालि को मगध की भाषा नहीं मान सकते।

(1) गाइगर, विंडिश इसे मागधी का ही एक रूप मानते हैं, यद्यपि इसे पूरे देश की भाषा होने के कारण इसमें अन्य बोलियों के तत्त्व भी स्वीकार करते हैं।

(2) वेस्टगार्ड, ई. कुहन, फ्रैंक तथा स्टैन कोनो पालि को उज्जयिनी या विंध्यप्रदेश की बोली पर आधारित मानते हैं।

(3) ग्रियर्सन ने इसे मागधी माना था, यद्यपि इस पर पैशाची का भी प्रभाव स्वीकार किया था।

(4) ओल्डनबर्ग ने खारवेल के खंडगिरि (कलिंग) शिलालेख से पाली की समानता देख पालि को कलिंग की भाषा कहा था।

(5) रीज़ डैविड्ज़ ने इसे कोसल की बोली कहा है।

(6) ल्यूडर्ज़, पालि को पुरानी अर्धमागधी के संबंध मानते थे।

(7) उपर्युक्त मतों से एक बात स्पष्ट है कि पालि में विभिन्न प्रदेशों की बोलियों के तत्त्व हैं, इसी कारण विभिन्न लोगों ने इसे विभिन्न स्थानों से संबद्ध किया है। वस्तुत: अपने मूल में पालि मध्य प्रदेश की भाषा है। ऊपर कथित स्, र्, ल्; ओ का उसमें मिलना भी इसी का प्रमाण हैं यों उस समय वह पूरे भारत में एक अंतर्प्रान्तीय भाषा जैसी थी, इसी कारण उसमें अनेक प्रादेशिक बोलियों विशेषत: बुद्ध की अपनी भाषा होने से मागधी के भी कुछ तत्त्व मिल गए थे। इस प्रकार अपने मूल रूप में पालि को शौरसेनी प्राकृत का पूर्व रूप मान सकते हैं। पालि कदाचित दक्षिण-पश्चिम में पनपी। अशोकी प्राकृत की दक्षिणी बोली से इसका कुछ साम्य है। इस प्रसंग में यह भी उल्लेख है कि पालि संस्कृत से काफ़ी प्रभावित होती रही है।

पालि साहित्य का सम्बन्ध प्रमुखतः भगवान् बुद्ध से है। इसमें उन्हीं से संबद्ध काव्य, कथाओं या अन्य साहित्य-विधाओं की रचना प्रमुखतः हुई। यों कुछ उस विशेष संस्कृत या दर्शन से संबद्ध पुस्तकें भी लिखी गई हैं। इसी प्रकार कोश, छन्द-शास्त्र या व्याकरण की भी कुछ पुस्तकें लिखी गई हैं। परम्परागत रूप से पालि साहित्य को पिटक और अनुपिटक दो वर्गों में बाँटते हैं, जिनमें जातक (जिसे ग्रन्थ न कहकर ग्रन्थ-संग्रह कहना उचित है), धम्मपद मिलिन्दपञ्हो, बुद्धघोष की अट्ठकथा तथा महावंश आदि प्रमुख है। पालि साहित्य का रचना काल 483 ई. पू. से लेकर आधुनिक काल तक लगभग ढाई हजार वर्षों में फैला हुआ है, और इसने एशिया के एक अरब से ऊपर लोगों को प्रतयक्षतः या अप्रत्यक्षतः कई दृष्टियों से प्रभावित किया है। पालि भाषा का प्रभाव भारत की भाषाओं के अतिरिक्त श्रीलंका, बर्मा और स्याम की भाषा पर विशेष, तथा तिब्बत, चीन और जापान आदि की भाषाओं पर कुछ-कुछ पड़ा है।

ध्वनियाँ– पालि के प्रसिद्ध वैयाकरण कच्चायन के अनुसार पालि में कुल 47 ध्वनियाँ हैं : अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऍ, ऑ, ए, ओ, कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, य्, य, र्, ळ्, ळह् व, व़, स्, ह् निग्गहीत।

(1) अर्थात् स्वरों में ह्रस्व ऍ, ऑ इन दो का विकास हो गया था। ऐसा बलाघात के कारण हुआ। शब्द में संयुक्त या द्वित्त व्यंजन होने पर बलाघात उसपर चला जाता था, अतः पूर्ववर्ती स्वर ह्रस्व हो जाता था: सं: मैत्री झ पा. मॅत्ती, सं. ओष्ठ झ पा. ओट्ठॅ।

(2) ऋ, ॠ, ऌ पूर्णतः समाप्त हो गई। ऋ का पालि में प्रायः अ (हृदय–हदय, कृषि–कसि), इ (ऋण–इण), अथवा उ (पृथिवी–पुथवी) हो गया। कभी-कभी रु (वृक्ष–रुक्ख) या र आदि अन्य ध्वनियाँ भी हो गईं। ऌ का उ (क्लृप्त-कुत्त) हो गया।

(3) ऐ, औ भी नहीं रहे। ऐ कहीं तो ए (ऐरावण-एरावण) हो गयी और कहीं ऍ (मैत्री–मॅत्ती)। इसी प्रकार औ का ओ (गौतम-गोतम) अथवा ऑ हो गया हैं इस तरह कुल स्वर 10 थे।

(4) व्यंजनों में, वैदिक की तरह ही, पालि में भी ळ्, ळ्ह ध्वनियाँ थीं। यह उल्लख्य है कि लौकिक संस्कृत के लिखित रूप में ये दोनों नहीं थीं।

(5) विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय भी नहीं रहे।

(6) वैदिक तथा संस्कृत में श्, ष्, स् तीन थे। पालि में तीनों के स्थान में स् हो गया। वैदिक शवशान, (श्मशान)–पा. सुसान, शय्या–सेय्या, निषण्ण–निसिन्न, तृष्णा–तसिण, साधु–साहू।

(7) अनुस्वार पालि में स्वतंत्र ध्वनि है, जिसे वैयाकरणों ने निग्गहीत नाम से अभिहित किया है।

तुलनात्मक दृष्टि से यह उल्लेख्य है कि वैदिक में कुल ध्वनियाँ 55, लौकिक संस्कृत में 52, किन्तु पालि में 47 थीं।

ध्वनि-प्रक्रिया की दृष्टि से पालि में निम्नांकित परिवर्तन उल्लेख्य हैं:

(1) घोषीकरण–स्वर मध्यग अघोष व्यंजन के घोष होने की कुछ प्रवृत्ति है : माकन्दिय झ मागन्दिय, उताहो झ उदाहु। प् ब् होकर नहीं रुकता अपितु व हो जाता है: कपित्थ झ कवित्थ। ट्, ड् होकर ळ् हो जाता है: स्फटिक झ पळिक।

(2) अघोषीकरण– यह प्रवृत्ति अधिक नहीं है। इसका कारण सम्भवतः पैशाची प्रभाव है। मृदग झ मुतिंग, परिघ झ परिख, अगुरु झ अकलु, कुसीद झ कुसीत, छगल झ छकल।

(3) महाप्राणीकरण–सुकुमार झ सुखुमाल, परशु झ सुखुमाल, परशु झ फरसु, कील झ खील, पल झ फल।

(4) अल्प-प्राणीकरण– भगिनी झ बहिणी।

(5) समीकरण– यह प्रवृत्ति बहुत अधिक है: चत्वर झ चच्चर, निम्न झ निन्न, सर्व झ सब्ब, मार्ग झ म़ग्ग, धर्म झ धम्म, कर्म झ कम्म, जीर्ण झ जिण्ण।

(6) स्वर मध्यम संस्कृत ड्, ढ्, ळ्, ळ्ह्: आपीड झ आवेळ, मीढ झ मीळ्ह।

नोट

(7) र् ल् का आपसी परिवर्तन र झ ल, परि झ पलि, तरुण झ तलुण, ल झ र, किल झ किर। र् का ल् पूर्वी प्रभाव है तो ल् का र् पश्चिमी।

(8) महाप्राण के ह हो जाने की भी कुछ प्रवृत्ति है: भवति झ होति, लघु झ लहु, रुधिर झ रुहिर। यह प्रवृत्ति घोष महाप्राणों में ही है।

मात्रा– पालि में विशेष मात्रा-नियम (law of Mora) मिलता है। कुछ थोड़े अपवादों को छोड़कर इस भाषा में अक्षर (syllable) एक या दो मात्राओं से अधिक का नहीं होता। इस बात को कुछ विस्तार में यो कह सकते हैं कि अक्षर या तो एक मात्रा का (ह्रस्व स्वरांत) होगा, या दो मात्रा का (दीर्घ स्वरांत, अथवा ह्रस्व स्वर-युक्त व्यंजनांत)। इस मात्रा-नियम ने पालि-ध्वनि-प्रक्रिया में एक विशेषता ला दी है। जहाँ भी संस्कृत शब्दों में संयुक्त व्यंजन या द्वित व्यंजन के पूर्व दीर्घ स्वर है, पालि में या तो (1) संयुक्त या द्वित्त, (प्राय: द्वित्त) व्यंजन रहता (या हो जाता) है तथा उसके पूर्व का स्वर ह्रस्व (कार्य > कय्य, जीर्ण > जिण्ण, मार्ग > मग्ग) हो जाता है, या फिर (2) व्यंजन संयुक्त या द्वित न होकर एक या सामान्य हो जाता है और स्वर दीर्घ: दीर्घ > दीर्घ, लाक्षा > लाखा। ए, ऐ, ओ, और के ह्रस्व रूप प्राय: एँ, ओँ मिलते हैं: श्लेष्मन् > सेॅम्ह, मैत्री > मेॅत्ती >, ओष्ठ > ओॅट्ठ।

स्वराघात– पालि में स्वराघात की स्थिति विवादास्पद है। टर्नर के अनुसार पालि में वैदिकी की भाँति ही संगीतात्मक एवं बलात्मक दोनों स्वराघात था। ग्रियर्सन पालि में केवल बलात्मक स्वराघात मानते है।। जूल ब्लाक को पालि में किसी भी स्वराघात के होने के बारे में संदेह है। कुछ लोग पालि में केवल संगीतात्मक स्वराघात मानते हैं। मेरे विचार में पालि में मुख्यत: बलात्मक स्वराघात ही था, यद्यपि संगीतात्मकता के भी कुछ अवशेष रहने की सम्भावना है।

व्याकरण– पालि भाषा, व्याकरणिक दृष्टि से वैदिक संस्कृत की भाँति ही स्वच्छंद एवं विविध रूपोंवाली है। किन्तु साथ ही वैदिक या संस्कृत की तुलना में उसमें पर्याप्त सरलीकरण भी हुआ है। यह सरलीकरण, उच्चारण में, समीकरण आदि के रूप में तो हुआ ही है, साथ ही, सादृश्य के आधार पर विकास के कारण व्याकरण के क्षेत्र में भी हुआ है।

(1) व्यंजनांत प्रातिपदिक प्राय: नहीं है। अंत्य व्यंजन-लोप के सामान्य नियम के कारण या तो अंत्य व्यंजन लुप्त हो गए हैं, (विद्युत् > विज्जु) या अंत्य स्वरागम के कारण शब्द स्वरांत (शरत्–शरद) हो गए हैं। (2) सादृश्य के कारण अनेक भिन्न-भिन्न स्वरांत शब्दों के बहुत से रूप भी समान हो गए हैं। इस दिशा में अकारांत शब्दों ने अपने प्रयोग-बाहुल्य के कारण अन्यों को प्रभावित किया हैं उदाहरणार्थ इकरांत (अग्गि), उकारांत (भिक्खु) के सम्प्रदान एवं सम्बन्ध के रूप आकरांत के समान (अग्गिस्स, भिक्खुस्स) मिलते हैं। (3) लिंग तीन हैं। यों अपने बहुप्रयोग के कारण पुल्लिंग ने नपुंसकलिंग को पभावित किया है: जैसे 'सुखै' के लिए 'सुखो'। (4) द्वे, उभे जैसे दो-एक को छोड़कर पालि में द्विवचन नहीं है। (5) वैदिक की तरह रूपाधिक्य भी पालि में है। उदाहरणार्थ ध र्म का सं. में सप्तमी में एक. में केवल 'धर्मे' होगा किन्तु पालि में धम्मे के अतिरिक्त, धम्मस्मि तथा धम्मम्हि भी। (6) पालि सर्वनाम प्राय: पूर्ववर्ती सर्वनाम रूपों के ही ध्वनि नियमों के अनुकूल विकास हैं। इनमें एक ही अन्तर है, और वह मामूली नहीं है कि वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में, सारे के सारे मध्यम पुरुष बहुवचन के रूप य-से शुरू होते हैं, किन्तु पालि में सारे के सारे त- से शुरू होते हैं। जैसे युष्मे-तुम्हे, युष्माकम्–तुम्हाकं आदि। इस परिवर्तन पर मूल पुस्तक में सर्वनाम के पसंग में विचार किया गया है। (7) क्रिया रूपों में 3 पुरुष तथा 2 वचन (द्वि नहीं है) है। पद केवल परस्मै है। आत्मने कुछ अपवादों को छोड़कर नहीं है। धातुओं के दसों गण हैं, यद्यपि संस्कृत की तुलना में कुछ मिश्रण हो गया हैं एक ही धातु के कुछ रूप एक गण के समान हैं तो कुछ दूसरे के। इससे पता चलता है कि जन-मस्तिष्क में गणों की सत्ता धीरे-धीरे समाप्त हो रही थी। क्रिया रूपों के प्रत्यय प्राय: पूर्ववर्ती ही हैं केवल उनमें ध्वन्यात्मक परिवर्तन आ गए हैं जैसे– -धि का -हि। क्रियार्थ चार (निश्चयार्थ (indicative), आज्ञार्थ (imperative), आदरार्थ आज्ञा (optative) तथा (subjunctive) सम्भावनार्थ) एवं काल, चार (लट्, लुङ्, लृट्, लृङ्) हैं। पालि में लिट् (Perfect) नहीं है।

शब्द–इस दृष्टि से कोई विशेष उल्लेख्य बात नहीं है। तद्भव शब्द अधिक हैं। तत्सम उससे बहुत कम। पहले संस्कृत

नोट

में जिन द्रविण, आस्ट्रिक आदि शब्दों का उल्लेख हुआ है, उनमें अनेक इसमें भी हैं। परवर्ती साहित्य में कुछ विदेशी शब्द भी हैं।

पालि में विभिन्न तत्त्व– पालि में अनेक व्याकरणिक एवं ध्वन्यात्मक तत्त्व मिलते हैं। (1) इसमें ळ् ळ्ह् कुछ संगीतात्मक स्वराघात, नाम तथा क्रिया रूपों की विविधता (उदाहरणार्थ वैदिक में प्रथमा बहृ. के देवा:, देवास: दो रूप थे। सं. में केवल 'देवा:' है किन्तु पालि में देवा, देवासे दोनों हैं, भवामि और विकसित रूप 'होमि', पालि में दोनों हैं), अनेक वैदिक रूपों के समान रूप (नपु. प्रथमा बहु. रूपा) (रूपानि भी है, जो नियमित है) जो वैदिक युगा से प्रभावित है), एवं लैट् (subjunctive संभावनार्थ) आदि का होना इसे वैदिक के समीप सिद्ध करना है। (2) अनेक शब्दों में र् के स्थान पर ल् का हो जाना मागधी जैसा है: एरड > एलंद। (3) कुछ में र-ल दोनों है (तरुण > तरुण, तलुण; त्रयोदश > तेरस, तेलस); श एवं ष का स् हो गया है (शिशु > सिसु, घोष > घोस), तथा अकरांत पु. एवं नपुं. लिंग के शब्दों का प्रथमा एक. ओकारांत (धम्मो) है। ये बाते पालि को मध्यदेशीय प्राकृत या शौरसेनी के निकट ले जाती है। (4) परिघ > पलिख, कुसीद > कुसीत, अगुरू > अकलु जैसे उदाहरणों में अघोषीकरण की प्रवृत्ति इसमें पैशाची प्राकृत की प्रवृत्तियों को स्पष्ट करती ळैं इस तरह पालि में अनेक प्रवृत्तियों एवं तत्त्वों का मिश्रण हैं

बोलियाँ एवं भाषा रूप– पालि काल में आर्य-भाषी भारत में वे ही चार बोलियाँ थीं, जिनका उल्लेख लौकिक संस्कृत के प्रसंग में कि जा चुका है: पश्चिमोत्तरी, दक्षिणी, मध्यवर्ती तथा पूर्वी। हाँ संस्कृत काल की तुलना में उनके अन्तर कुछ और उभर आये थे।

इसी प्रसंग में पालि भाषा में विकास का भी उल्लेख किया जा सकता है। पालि साहित्य देखने से पता चलता है कि आद्यंत पालि का एक रूप नहीं रहा हैं उसकी कम से कम चार सीढ़ियों का अनुमान लगता हैं भाषा की पहली सीढ़ी त्रिपिटक (सुत्त, विनय, अभिधम्म) की गाथाओं में मिलती ळै। यह पालि का प्राचीनतम रूप है। इसमें रूपों का बाहुल्य है। यह भाषा वैदिक संस्कृत के बहुत निकट है। भाषा का इससे कुछ विकसित रूप त्रिपिटक के गद्य भाग में मिलता हैं यहाँ रूप कम हैं और भाषा में अपेक्षाकृत एकरूपता है। इसमें कुछ ऐसे नये रूप भी मिलते हैं, जो प्रथम में नहीं हैं, साथ ही प्रथम के कई पुराने रूपों को इसमें स्थान नहीं मिला है। पालि के विकास की तीसरी सीढ़ी और बाद के गद्य जैसे 'मिलिन्दपञ्ह' या बुद्धघोष की 'अट्ठकथा' आदि में मिलती है। चौथी सीढ़ी उत्तरकालीन काव्य-ग्रन्थों–जैसे दीपवंस, महावंस आदि की भाषा में मिलती हैं इस रूप पर संस्कृत का पर्याप्त प्रभाव है, साथ ही इस भाषा में जीवन के लक्षण नहीं हैं। एक कृत्रिमता-सी है, जो यह स्पष्ट कर देती है कि पुस्तकीय ज्ञान के आधार पर इसका भवन खड़ा है।

अभिलेखी (Inscriptional) प्राकृत

प्रथम प्राकृत के अन्तर्गत पालि के अतिरिक्त अभिलेखी प्राकृत भी आती है। इसके अधिकांश लेख शिला पर हैं, अत: इसकी एक संज्ञा शिलालेख प्राकृत भी है। इसकी सामग्री है–

(1) अशोकी अभिलेख।

(2) अशोकेतर अभिलेख।

अशोकी अभिलेख

प्रसिद्ध भारतीय सम्राट अशोक ने भारत के विभिन्न क्षेत्रों में, जनता के लिए, तत्कालीन बोचलाच की भाषा में, अपनी धार्मिक एवं शासनिक आज्ञाएँ एवं सूचनाएँ आदि अंकित कराई थीं। इन्हीं अभिलेखों की भाषा को अशोकी प्राकृत या शिलालेखी प्राकृत कहते हैं। इनमें कुछ अभिलेख लाटों पर हैं, इसी कारण इसे लाटबोली या लाट प्राकृत भी कहा गया है। कुछ अभिलेख गुफाओं में हैं, इसी आधार पर विपशेल ने इसे लेण प्राकृत (सं. लयन (=गुफा) > लेण) या लेण बोली कहा है।

ये अभिलेख तीन प्रकार के हैं। कुछ तो चट्टों पर हैं, कुछ लाटों या स्तम्भों पर, और कुछ गुफा-दीवारों पर। शाहबाजगढ़ी और मनसेरा के लेख खरोष्ठी लिपि में हैं और शेष ब्राह्मी में। इन्हें निम्नांकित 8 वर्गों में विभाजित किया जा सकता है:

नोट

(1) लघु शिलालेख– 248-242 ई. पू. के माने जाते हैं। ये मैसूर राज्य के सिद्धपुर, जतिंग रामेश्वर, ब्रह्मगिरि, जबलपुर जिले के रूपनाथ, शाहाबाद जिले के सहसराम तथा निज़ाम राज्य के मास्की, ईडागुडी में पाये गए हैं। इनका सम्बनध अशोक के वैयक्तिक जीवन एवं धर्मनिष्ठा से है।

(2) भब्रू शिलालेख– यह 247 ई. पू. का है और जयपुर राज्य में वैराट पर्वत की एक चोटी पर है। यह बौद्ध-धर्म-विषयक है।

(3) चतुर्दश बृहद् शिलालेख– इनका काल 246 ई. पू. के आस-पास हैं ये शाहबाज़गढ़ी (पेशावर के पास), मनसेरा (ऐबटाबाद के पास), सोयारा (थाना), कालसी (देहरादून), धौली (पुरी), जौगढ़ (गंजाम), गिरनार (जूनागढ़ के पास), तथा डूडागुडी (निजाम राज्य) आदि में मिले हैं। इनका विषय प्रमुखतः नैतिक नियम है।

(4) कलिंग शिलालेख– समय 246 ई. पू.। ये भी धौली और जौगढ़ में हैं इनका विषय कलिंग का शासन है।

(5) बराबर गुफा अभिलेख– समय 247-240 ई. पू. के बीच। गया के समीप बराबर नामक पहाड़ी में ये गुफालेख हैं। इनमें धर्म-विषयक बातें हैं।

(6) नेपाल तराई के स्तम्भ लेख– ये निगलीवा तथा रुक्मिनदेई में मिले हैं। अशोक की तीर्थयात्रा इनका विषय हैं काल है 249 ई. पू.।

(7) सप्त स्तम्भ लेख– ये 243 ई. पू. के लगभग के हैं। इनका विषय है अहिंसा आदि धर्मनीति। ये टोपरा (दिल्ली), मेरठ, कौशांबी (इलाहाबाद), बलौरिया (नन्दनगढ़) आदि में मिले हैं।

(8) लघु-स्तम्भ लेख– ये साँची, सारनाथ, प्रयाग में मिले हैं। इनमें अधार्मिक प्रवृत्तियों का विरोध है।

इन शिलालेखों का इतिहास की दृष्टि से तो महत्त्व है ही, भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी कम महत्त्व नहीं है। इनसे इस बात का पता चल जाता है कि तीसरी सदी में ई. पू. के मध्य के आसपास प्राकृत के स्थानीय रूपों का तुलनात्मक अध्ययन करने में बड़ी सहायता मिलती है।

इन लेखों का तुलनात्मक अध्ययन कई विद्वानों ने किया है, किन्तु परिणाम के संबंध में फ्रैंक, सेनार्ट, गुणे आदि विद्वानों में मतभेद है। कुछ के अनुसार इनसे तत्कालीन प्राकृत की दो, कुछ के अनुसार तीन, कुछ के अनुसार चार, और कुछ के अनुसार पाँच बोलियों का पता चलता है। पीछे संस्कृत काल में 4 बोलियों का संकेत किया जा चुका है, ऐसी स्थिति में इस काल में 5 बोलियों का अपने प्रारम्भिक रूप में विकसित हो जाना असम्भव नहीं है। यों इनमें कम-से-कम 4 बोलियों के रूप तो हैं ही: पश्चिमोत्तरी, दक्षिणी-पश्चिमी, मध्यपूर्वी, पूर्वी।

अशोकेतर अभिलेख

ये ई. पू. की अन्तिम तीन सदियों के छोटे और खंडित अभिलेख हैं। इनमें कुछ शिला पर हैं, कुछ स्तम्भ पर तथा कुछ ताम्रपत्र आदि पर। इनमें पश्चिमोत्तरी भारत का शिंकोट अभिलेख, ग्वालियार का बेसनगर स्तम्भ-लेख, मध्य भारत का जोगीमारा गुफालेख, बिहार का सोहगौरा ताम्रलेख तथा उड़ीसा के हाथीगुम्फा गुफालेख आदि हैं। प्रथम की लिपि खरोष्ठी है, शेष की ब्राह्मी। इनमें भी कुछ आपवादों को छोड़कर भाषा के प्राय: वे ही रूप मिलते हैं, जो कि अशोकी अभिलेखों में। उपर्युक्त अभिलेखों में बेसनगर का अभिलेख हिलिओदोरस नामक यूनानी दूत का है, तथा हाथीगुम्फा वाला जैनधर्मावलम्बी कलिंगराज खारवेल का। इन दोनों की भाषा कुछ-कुछ पाल के समीप है, तथा संस्कृत से प्रभावित है। इनका काल दूसरी सदी ई. पू. है। इन दोनों से इस बात का संकेत मिलता हैं कि बौद्ध-जैन धर्म ने लोगभाषा की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया था, किन्तु इस समय तक आते-आते फिर संस्कृत का महत्त्व बढ़ने लगा था।

इस प्रसंग में श्रीलंका में प्राप्त कुछ अभिलेखों (समय पहली सदी ई. पू. से तीसरी सदी ई. तक) का उल्लेख भी किया जा सकता है। इनमें प्राय: आगे वर्णित मध्यपूर्वी बोली की ही विशेषताएँ मिलती हैं। आगे तत्कालीन प्राकृत के चारों रूपों का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

पश्चिमोत्तरी– इसमें प्रमुखतः शाहबाज़गढ़ी और मनसेरा के अभिलेख आते हैं। यह उल्लेख्य है कि ये लेख खरोष्ठी लिपि में हैं। स्वरदीर्घता और व्यंजन-द्वित इनमें अंकित नहीं है। अन्य सभी बोलियों के तुलनात्मक अध्ययन से यह

निष्कर्ष निकलता है कि शाहबाज़गढ़ी वाला अभिलेख पिश्चमोत्तरी बोली का ठीक प्रतिनिधित्व करता है, किन्तु मनसेरा वाले पर मध्यपूर्वी एवं पूर्वी बोली का प्रभाव है। उदाहरणार्थ प्रथमा एकवचन में शाहबाज़गढ़ी में–ओ है, किन्तु मनसेरा में-ए। प्राकृतों में होने वाले सामान्य सभी परिवर्तन इसमें प्राय: मिलते हैं। इसकी प्रमुख विशेषताएँ ये हैं:

(1) ऋ > (मृग > म्रुग) या रि (मृग > म्रिग) या र (वृद्धि > व्रधि)। (2) र का ल इसमें नहीं हुआ है: स्वर्ग > स्पग्र, भ्रातृ > भ्रत, व्रज > व्रच, सर्व > सव्र। (3) श्, ष्, स्, तीनों ही ध्वनियाँ हैं: प्रियदर्शी > प्रियद्रशि, वृद्धेष > वुध्रेषु, औषध > ओषुढ, स्वर्ग > स्पग्र। यों श् का स् (द्रादश > दुवडस) या ष् सा स् (हापयिष्यति > हापेसदि) भी मिलता है: (4) ण् ध्वनि है: प्रायुण, आणप। (5) ञ् ध्वनि भी है: मञिषु, मञतु, राञा, वञन। अघोषीकरण की पैशाची प्रवृत्ति शाहबाजगढ़ी में कुछ है। बाढ़म् > पढम्, व्रज > व्रच।

व्यंजनांत प्रादिपदिक प्राय: नहीं हैं। अकरांत पुल्लिंग एकवचन में- ओ (जनो) हैं मनसेहरा में-ए है, जो पूर्वी प्रभाव है। सप्तम विभक्ति-स्प- है, जब कि दक्षिणी पश्चिमी में -म्ह-है। ये दोनों -स्म-के विकास हैं। द्विवचन नहीं है: सरलीकरण की प्रवृत्ति है। आत्मनेपद लुप्तप्राय हो गया है। प्राय: रू ध्वन्यात्मक परिवर्तनों के साथ सुरक्षित है। संस्कृत के 10 गण प्राय: -अ या -अय गण तक सीमित हो गए हैं।

दक्षिणी-पश्चिमी

शिलालेखी प्राकृत की इस बोली का स्वरूप प्रमुखत: गिरनार (गुजरात) के अभिलेख में है। यह भाषा अपेक्षाकृत अधिक पुरानी है। इसके सम्बन्ध में निम्नांकित बातें उल्लेख्य हैं:

(1) ऋ का प्राय: अ होता है: वृद्धि झ वढि, मृत झ मत। किन्तु यदि ऋ के पूर्व व् हो तो ऋ का उ हो जाता है। वृत्त झ वुत।

(3) ऊष्मों में केवल स् है। श्, ष् भी स् हो गए हैं: दश झ दस, यश: झ यसो:, औषध झ ओसुढ, शुश्रूषा झ सुसुंसा।

(4) ण् ध्वनि है: ब्राह्मण झ ब्राम्हण, कल्याण झ कलाण।

(5) ञ् ध्वनि है: राजा झ राञा, अन्य झ अञ।

(6) व्यंजनांत प्रातिपदिक प्राय: नहीं है। प्रथमा एकवचन -ओ (जनो) अंत्य है। सम्पमी में -स्म- का -म्ह' हो गया है। कारक-रूपों में सरलीकरण की प्रवृत्ति है, किन्तु क्रिया-रूप में यह बात नहीं है, सरलीकरण कम है। आत्मनेपद है।

मध्यपूर्वी

इस बोली में देहरादून के पास का कालसी शिलालेख, टोपरा (दिल्ली) का स्तम्भलेख तथा कुछ अपवादों को छोड़कर जोगीमारा एवं नागार्जुनी गुफा-लेख आदि आते हैं। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित हैं:

(1) ऋ का इ हो जाता है: कृत्य > गिच्य। (2) र का या तो लोप हो गया है या ल् : राजा > लाजा, चत्वारि > चतालि, करोति > कलेति। (3) ऊष्मों में प्राय: स् ही है। जोगीमारा में अवश्य श् तथा नागार्जुनी में ष् हैं। क्रोशिक > कोसिक्य, प्रियदर्शी > पियदसि। (4) ण् नहीं है: प्रियेण > पियेना (5) ञ् भी नहीं है। (6) अंत्य -अ का -आ हो जाने की प्रवृत्ति है, जिससे पता चलता है कि उधर बलाघात के साथ-साथ स्वराघात भी था।

स्वार्थे प्रत्यय-का प्रयोग बहुत हुआ है, और यह प्राय: तालव्यकृत होकर-क्य हो गया है। प्रथमा एकवचन -अ: का -ए हो गया है :प्रिय: > पिये। शाहबाजगढ़ी आदि में यह ओ (प्रियो) है।

पूर्वी

इसमें उड़ीसा के धौली, जौगढ़ शिलालेख, सोहगौरा ताम्रलेख हाथीगुंफा के लेख आदि आते हैं। यह मध्यपूर्वी के काफ़ी समान है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं:

(1) ऋ का इ हो गया है: मृग > मिग। (2) र् का सर्वत्र ल् हो गया है: राजा > लाजा, मयूर: > मजुला। (3) ऊष्मों में केवल स् है। श्, ष्, भी स् हो गए हैं: प्रियदर्शी > पियदसि, सुश्रूषा > सुसूसा। (4) ण् नहीं है। उसके स्थान पर न् है: प्रियेण > पियेन। (5) ञ् भी नहीं है।

नोट

प्रथम एक. में -अ का -ए हो गया है: जने। उत्तम पुरुष सर्वनाम के रूप, औरों की तुलना में अधिक हैं। आत्मनेपद है।

अभिलेखी प्राकृत (1 ई. तक की), वस्तुत: कुछ अपवादों को छोड़कर, पालि एवं परवर्ती प्राकृत के बीच में आती है। परवर्ती प्राकृत में आनेवाले विकासों के बीच यहाँ हैं। पूर्ववर्ती भाषा की तुलना में सरलीकरण प्राय: सभी क्षेत्रों में दिखाई देता है। प्रातिपादिक प्राय: स्वरांत हैं। द्विवचन नहीं हैं। लिंग तीन हैं। आत्मनेपद कुछ क्षेत्रीय अपवादों को छोड़कर समाप्तप्राय है। जहाँ तक मैं समझता हूँ संगीतात्मक एवं बलात्मक दोनों ही स्वराघात हैं। कुछ यूनानी एवं ईरानी शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरणार्थ शाहबाज़गढ़ी शिलालेख में निनिस्त, निपेसित, निपेसपिता (लिखित, लेखिता, लिखापिता के स्थान पर) आते हैं, जो पुरानी फ़ारसी धातु निपिस् (=लिखना) से बने हैं। अशोक के कई शिलालेखों में लिपि' शब्द 'जो लिखा गया हो' या 'अभिलेख' आदि के अर्थ में आया है। भारतीय वैयाकरणों ने इस शब्द को 'लिप्' धातु (= लीपना) से संबद्ध माना हैं इस सम्बन्ध में तर्क यह दिया जाता है कि पहले, भारत में, ताड़पत्र या भोजपत्र पर लोहे आदि की नोकीली कलम से लिखते थे, फिर उस पर काला रंग या स्याही लीप या पोत देते थे और रंग अक्षर के गड्ढ़ों में भर जाता था। इस प्रकार लिखा जाता था। किन्तु मेरे विचार में यह 'लिपि' शब्द लिप् धातु से संबद्ध न होकर उपर्युक्त 'निपिस्' से ही संबद्ध है।

अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत

अश्वघोष का रचना-काल 100 ई. के आस-पास माना जाता है। उनके दो संस्कृत नाटकों की खंडित प्रतियाँ मध्य एशिया में मिली हैं, जिन्हें जर्मन विद्वान् ल्यूडर्स ने संपादित किया है। इन नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत में स्पष्टत: तीन प्राकृत बोलियाँ हैं:

(1) प्राचीन मागधी या पूर्वी प्राकृत– 'दुष्ट' द्वारा इस बोली का प्रयोग हुआ है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं: (क) मध्यम-ओ- के स्थान पर-ए का (करोमि >कलेमि) प्रयोग। (ख) प्राचीन र् का ल् (करोमि >कलेमि) हो जाना। (ग) उष्मों में केवल श् का प्रयोग। स् और ष् भी श हो गए हैं: कस्य >किशश। (घ) ण् का न् (कारणाट >कालना)। (ङ) व्याकरण में प्रथमा एक. में -अ: का -ए (वृत: >वृत्ते) हो गया है। (च) -क-युक्त उत्तम पुरुष सर्वनाम अहं >अहकं। (छ) षष्ठी एक. में स्व का -हो (मर्कटस्य >मक्कटहो)।

(2) प्राचीन शौरसेनी या पश्चिमी प्राकृत– विदूषक एवं गणिका ने इसका प्रयोग किया है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ ये हैं: (क) ऋ का इ: अकृतज्ञ >अकितञ्ञ, हृदय >हिदय, (ख) म् का ब् (सं. त्वम् >तुवव, तुलनीय पुरानी फ़ारसी तुबम्) तथा न् का म् (भवान >भवाम्) आदि कुछ विकास असामान्य हैं। (ग) संयुक्त व्यंजनों में ज्ञ एवं न्य् का ञ्ञ (प्रकृतज्ञ >अकितञ्ञ, हन्यन्तु >हञ्ञन्तु), क्ष का क्ख् (साक्षी >सक्खी) तथा व्य् का व्व् (धारयितव्य: >धारयितव्वो) उल्लेख्य है। (घ)) अकरांत प्रथमा एकवचन का -अ-ओ (आदंश: >आदंसो, दुष्कर: >दुष्करो) हो गया है। कुछ बातें पालि के समान हैं।

(3) प्राचीन अर्धमागधी मध्यपूर्वी– गोभम् द्वारा प्रयुक्त बोली। (क) इसमें श् नहीं है। (ख) र् का ल् हो गया है: करोति >कलेति। (घ) अकारांत प्रथमा एक. में. -अ: का -ओ हो गया है। (ङ) स्वार्थे प्रत्यय-क,-अक, -आक, -इक (पाण्डर-> पाण्डलाक) बहुत प्रयुक्त हुए हैं।

अश्वघोष की ये प्राकृत या अशोकी प्राकृत से भिन्न हैं। साहित्यिक प्राकृति होने के कारण संस्कृत का प्रभाव इन पर स्वाभाविक है।

धम्मपद की प्राकृत

1892 में फ्रांसीसी पर्यटक दुत्रुइलदरॉ को खोतान में खरोष्ठी लिपि में कुछ लेख मिले। ओलडेनवर्ग, सेनार्ट तथा कुछ भारतीय एवं अन्य अभारतीय विद्वानों के प्रयास के बाद में इन लेखों का उद्धार हुआ और यह प्राकृत में लिखा गया 'धम्मपद' निकला। खरोष्ठी लिपि में होने के कारण इसे 'खरोष्ठी धम्मपद' भी कहते हैं। इसकी रचना 200 ई. के लगभग की मानी गई है। इसकी भाषा भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश की है। यह निय प्राकृत की तुलना में पुरानी है, साथ ही संस्कृत से प्रभावित भी है। :धम्मपद की प्राकृत' तथा 'निय प्राकृत' खरोष्ठी लिपि में ळें, अत: इ दोनों में दीर्घ स्वर एवं द्वित्त व्यजन लिखे नहीं गए हैं। ऐसी स्थिति में यह कहना कठिन है कि ये हैं या नहीं। धम्मपद की प्राकृत की प्रमुख विशेषताएँ ये हैं:

(1) ऋ का अ, उ, रू, रि: स्मृति > स्वति, मृत: मुतु, वृद्ध > मुतु, वृद्ध > व्रिध। (2) अंत्य-ए का -इ: सर्वे > सर्वि। (3) ह, प्र, ब्र के बाद का उ प्राय: ओ : बहु > बहो। (4) अंत्य-य, -इय् का इ: समादाय > समदि। (5) कभी-कभी अघोषीकरण : योगक्षेम: > योकक्षेमस्, विराग > विराकु, समागत: > समकत। (6) स्, श्, ष् तीनों हैं: (क्षेम: > क्षेस्, समादाय > समदि, शोचति < शोयति।) (7) स्वरमध्यग ज्, च् का य: शोचति > शोयति। (8) अकारांत प्रथमा एक. के अ: का ओ या उ: पंडित: > पनितो, पनितु।

निय प्राकृत

ऑरेल स्टेन को 1900 से 1914 के बीच चीनी तुर्किस्तान के 'निय' नामक प्रदेश में तथा आसपास कई लेख मिले, जो खरोष्ठी लिपि में थे। 1936 में टी-बरो ने इनकी भाषा का अध्ययन करके इन्हें प्राकृत में लिखा बताया। इसकी सामग्री प्रमुखत: 'निय' प्रदेश में मिलने के कारण इन लेखों की भाषा का नाम 'निय प्राकृत' पड़ा है। यह शान-शान साम्राज्य की राजभाषा थी। प्राकृत धम्मपद की भाँति ही निय प्राकृत' पड़ा है। यह शान-शान साम्राज्य की राजभाषा थी। प्राकृत धम्मपद की भाँति ही निय प्राकृत' पड़ा हैं यह शान-शान साम्राज्य की राजभाषा थी। प्राकृत धम्मपद की भाँति ही निय प्राकृत काा आधार भी भारत के पश्चिमोत्तरी प्रदेशकी प्राकृत है। यह तीसरी सदी की भाषा है। अशोक परवर्ती पश्चिमोत्तरी खरोष्ठी शिलालेखों की भाषा से इससे बहुत समानताएँ हैं। प्राकृत धम्मपद से भी समानताएँ हैं, किन्तु अपेक्षाकृत कम। आधुनिक दरद भाषाओं (विशेषत: तोरवारी) के भी यह पर्याप्त निकट हैं निय प्राकृत पर शब्दों एवं अन्य क्षेत्रों में ईरानी, मंगोलियन तथा क्रोरैनी प्रभाव पड़ा है। जहाँ तक ईरानी शब्दों का सम्बन्ध है लगभग 50 हैं। कुछ शब्द हैं: अनद (= सावधानी से), गंज (खज़ाना), दिविर (क्लर्क), स्तोर (शुतुर), नमतए (नमदा) आदि। इनमें अनेक शब्द ऐसे भी हैं, जो इस भाषा के बाहर जाने के पहले पश्चिमोत्तरी प्राकृतों में आ चुके थे। क्रोरैनी (ज्ञतवतंपदपब) वहाँ की स्थानीय भाषा थी। यह कदाचित् तोखारी से संबद्ध थी। इससे निय प्राकृत में एक हज़ार से ऊपर नाम तथा 'ओगन' (एक प्रकार की नाप) आदि लगभग 100 शब्द आए हैं। प्रमुख विशेषताएँ ये हैं:

(1) कुछ शब्दों में ए का इ (तेषु झ तिषु, क्षेत्र झ छित्र) हो जाता है, यद्यपि प्राय: ए सुरक्षित है। (2) ऋ का नियमत: करि हो जाता है: अतृप्त झ अत्रिप्त, कृत झ क्रित। यों अ, इ, उ, रु भी मिलते हैं। कृत झ किड, भृति झ हुडि आदि। (3) ह्, प्र्, ब्र, के बाद उ प्राय: ओ हो जाता है (बहु झ बहो) ऐसा विशेषज्ञों ने कहा है। किन्तु, वस्तुत: जहाँ ऐसा हुआ है ओ और उ के चिन्हों के बीच इतना कम अन्तर है। कि सनिश्चय कहना कठिन है। यही बात धम्मपद की प्राकृत के बारे में भी है। (4) अत्य-य,-इय का -इ हो जाता है: मूल्य झ मुलि, ऐश्वर्य झ एश्वरि। (5) शान-शान प्रदेश की स्थानीय बोली क्रोरैनी में घोष स्पर्श थे। इसी कारण कुछ जगह घोष का अघोष मिलता है। लिपि में भी इस दृष्टि से कुछ दोष है, अत: यह कहना कठिन है कि जहाँ ऐसा हुआ हे, सचमुच हुआ है या लिपि-दोष के कारण वर्तनी में गड़बड़ी है: योगक्षेम: झ यकछेम, बलि झ पल्पि। (6) श्, ष, स्, तीनों हैं: तेषु झ तिषु, ऐश्वर्य झ एश्वरि, शर्करा झ शकर, दत्तोसि झ दितेसि। यद्यपि स् की प्रवृत्ति अधिक है। स् का ज् तथा श् का ज़ भी हो गया है: दिवस झ दिवज़, अवकाश झ अवगज। (7) अघोष स्पर्श, एवं संघर्षी व्यंजनों के स्वरमध्यग होने पर घोष होने की प्रवृत्ति भी है: अवकाश झ अवगज़, यथा झ यध। (8) व् का कभी-कभी म् भी हो जाता है: एवम् झ एम, भावना झ भमन। (9) अकारांत प्रथम एकवचन में -अ: का -ओ अथवा -उ अथवा -अ अथवा -ए हो जाता है: मनुष्य: झ मनुष। सर्वनाम में भी यह प्रवृत्ति हैतत: झ तदो, स: झ से। (10) संज्ञारूप साहित्यिक प्राकृतों की तुलना में कम हो गए हैं। कर्त्ता, कर्म प्राय: समान हो गए हैं। कारण में भी कभी-कभी कर्त्ता प्रयुक्त हुआ हैं (11) नपुंसकलिंग नहीं है। (12) द्विवचन के रूप दो (पदेभ्यम् पदेयो) ही हैं, जो प्राचीन भाषा के प्रभाव हैं। (13) क्रिया प्रत्यय जैसे ही हैं। मध्यम पुरुष एक. में -सि के साथ-साथ -तु भी है, जो तीनों कालों में आता है : अरोगेतु तुम आरोग्य हो, उकस्तेतु = चला गया, लभिशतु = पाओगे।

मिश्रित बौद्ध संस्कृत

ऊपर पालि के सम्बन्ध में कहा जा चुका है कि वह दक्षिणी एवं दक्षिणी-पश्चिमी हीनयानी बौद्धों के ग्रन्थों में अपेक्षाकृत अधिक प्रयुक्त हुई। उसी प्रकार उत्तरी भारत के महायानी बौद्धों के धर्म-ग्रन्थों में प्राय: या तो शुद्ध संस्कृत

नोट

प्रयुक्त हुई या एक विशेष प्रकार की संस्कृत भाषा, जिसमें संस्कृत एवं प्राकृत दोनों का मिश्रण है। यहाँ तक कि प्रातिपदिक तो संस्कृत का है और विभक्ति प्राकृत की: प्रष्पेहि। इसे बौद्ध संस्कृत या मिश्र संस्कृत भी कहा गया है। प्रसिद्ध विद्वान् एजर्टन ने इस भाषा पर विशेष रूप से कार्य किया है, तथा इसका कोश भी बनाया है।

मिश्रित बौद्ध संस्कृत में मिश्रण ऐसा है कि भाषा की एकरूपता इसके साहित्य में प्राय: नहीं है। हर ग्रन्थ की भाषा का स्वरूप अपने में अलग है। यही नहीं, ललित-विस्तर या महावस्तु जैसे कई ग्रन्थों में गद्य की मिश्रित संस्कृत, उसी में प्रयुक्त पद्य की मिश्रित संस्कृत से प्राय: भिन्न है। इस भाषा में लिखे गए ग्रन्थों के पद्य भाग को गाथा कहते हैं, इसी आधार पर मैक्समूलर, वेबर तथा बर्नफ आदि ने इसे गाथा संस्कृत कहा है। इस भाषा को लेकर थोड़ा विवाद भी रहा है। बर्नफ इसे स्वाभाविक भाषा मानते हुए, संस्कृत एवं पालि के बीच की कड़ी मानते हैं, किन्तु भाषाशास्त्र की कसौटी पर उनका यह मत खरा नहीं उतरता। यह पालि के बाद की पहली सदी के आसपास की है, और कृत्रिम भाषा है। कीथ, कीलहार्न आदि का कहना है कि जिन ग्रन्थों की यह भाषा है, वे मूलत: किसी प्राकृत में थे। ये ग्रन्थ इनके संस्कृत अनुवाद है। मिश्रण का कारण यह है कि अनुवाद करने में मूल के कुछ रूपांतरित अनूदित रह गए हैं किन्तु ऐसे मत के लिए कोई ठोस आधार नहीं है।

पूरी स्थिति पर विचार करने पर ऐसा लगता है कि यह भाषा मूलत: प्राकृत है, और उस पर संस्कृत का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। इस भाषा को कई प्राकृतों, अर्धमागधी, पालि आदि से जोड़ने का असफल प्रयास किया गया है। इसकी कुछ बातें एक प्राकृत से मिलती हैं, तो कुछ दूसरी से, और कुछ अन्य किसी से भी नहीं। उदाहरणार्थ पश्चिमोत्तरी प्राकृत की अंत्य-अस्, अम् की -अ या-उ हो जाने की प्रवृत्त एक ओर इसमें है, तो दूसरी ओर सम्बोधन का -अहो मागधी जैसा है, और तीसरी ओर लोकेस्मि जैसे रूप हैं, जो कहीं नहीं हैं, और कदाचित 'लोके' एवं 'लोकस्मिं' जैसे रूपों के मिश्रण हैं। यदि संस्कृत को मूल मानकर इसकी प्रमुख विशेषताओं पर विचार करें तो हम देखते हैं कि अनेक विरोधी बातें मिलती हैं, जैसे अ का आ (चरण > चारण) तथा आ का अ (तथा > तथ)। अ का उ (वर्तति > वुट्टति) भी हो जाता है। ऐ का ए (ऐति > एति), ए का ऐ (वेणु > वैणु) या दोनों के स्थान पर इ (एन > इना आदि) भी उल्लेख्य हैं। ओ-औ-उ के सम्बन्ध में भी प्राय: यही प्रवृत्ति है: औरस > ओरस, अहो > अहु आदि। व्यंजनों में घोषीकरण (शउ > शढ), अघोषीकरण (पद > पत), स्वरभक्ति आदि) तथा समीकरण (पुद्गल > पुग्गल) आदि उल्लेख्य हैं। वचन एवं लिंग में काफ़ी अव्यवस्था मिलती हैं एक लिंग के स्थान पर दूसरे का प्रयोग या एकवचन या बहुवचन के स्थान के स्थान पर आना बहुत असामान्य नहीं है। संज्ञा एवं सर्वनामों की विभक्तियों पर अन्य प्राकृतों की तरह एक-दूसरे का प्रभाव पड़ा है। संस्कृत एवं प्राकृतों के क्रियारूपों में एक बड़ा अन्तर यह था कि संस्कृत में वर्तमान का रूप अन्य रूपों से मूलत: अलग था, किन्तु प्राकृतों में आते-आते अधिकांश रूप वर्तमान के मूल पर आधारित होने लगे थे। इस भाषा में भी यह बात है। उदाहरणार्थ सं. में वर्तमान में इच्छित और भविष्य में एषिष्यति है, किन्तु इसमें इच्छति और इच्छिष्यति। इसी प्रकार संस्कृत में तिष्ठति और स्थास्यति, किन्तु इसमें तिष्ठति, तिष्ठास्यति अथवा सं. में पिबति-पास्यति किन्तु इसमें पिबति-पिबिष्यति आदि। 'मा' जोड़कर नकारार्थक प्रयोग भी इसकी एक बड़ी विशेषता है।

मिश्रित बौद्ध संस्कृत के प्रमुख ग्रन्थ जातकमाला, लंकावतार, दिव्यावदान, अवदानशतक, ललितविस्तर तथ महावस्तु आदि हैं।

द्वितीय प्राकृत (1 ई.-500 ई.)

जन-भाषा का संस्कार करके जब उसे 'संस्कृत' संज्ञा से विभूषित किया गया तो, वह जन-भाषा, जो उसकी तुलना में असंस्कृत थी, और पंडितों में प्रचलित इस भाषा के विरुद्ध, जो 'प्रकृत' या सामान्य लोगों में बोली जाती थी, सहज ही, 'प्राकृत' नाम की अधिकारिणी बन बैठी।

प्राकृत शब्द के दो अर्थ हैं। पहले अर्थ में यह 5वीं सदी ई. पू. से 1000 ई. तक की भाषा है, जिसमें प्रथम प्राकृत में 'पालि' और 'अभिलेखी प्राकृत' हैं, द्वितीय प्राकृत में भारत एवं भारत के बाहर प्रयुक्त विभिन्न धार्मिक, साहित्यिक और अन्य प्राकृतें हैं, तथा तृतीय प्राकृत में अपभ्रंश एवं तथाकथित अवहट्ट आती हैं।

द्वितीय प्राकृत के लिए भी 'प्राकृत' नाम का प्रयोग होता है। यहाँ, उपर्युक्त शीर्षक में 'प्राकृत' शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। द्वितीय प्राकृत में ऊपर की अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत (पहली सदी), निय प्राकृत (तीसरी

सदी), मिश्रित बौद्ध संस्कृत के प्राकृतांश (पहली सदी) एवं प्राकृत धम्मपद (दूसरी सदी), की प्राकृत, इन चार को बहुत लोगों ने प्रथम एवं द्वितीय प्राकृत के बीच में या सन्धिकालीन प्राकृत कहा है। भोलानाथ तिवारी के अनुसार इन्हें भी द्वितीय में ही स्थान देना उचित है। आगे जिन प्राकृतों पर विचार करेंगे, उनकी तुलना में ये तथाकथित सन्धिकालीन प्राकृतें कुछ पुरानी हैं। इसीलिए यहाँ उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

प्राकृतों के भेद– धर्म, साहित्य, भूगोल (पश्चिमोत्तरी, पूर्वी आदि), लिखने का आधार (शिलालेखी, धातुलेखी आदि) आदि कई आधारों पर प्राकृतों के भेद किए जा सकते हैं, और कुछ आधारों पर किए भी गए हैं।

धार्मिक दृष्टि से लोगों ने प्राकृत के पालि, अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री और जैन शाौरसेनी प्राय: ये चार भेद माने हैं। साहित्य की दृष्टि से महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची के नाम लिए गये हैं। नाटक में प्रयोग की दृष्टि से इनमें प्रथम तीन की गणना की गई है। प्राकृत के प्राचीन वैयाकरणों में वररुचि उल्लेख्य हैं इन्होंने महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी, इन चार का उल्लेख किय है। हेमचन्द्र ने तीन और नाम दिये हैं आर्ष, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश। इनमें 'आर्ष' को ही अन्य लोगों ने 'अर्ध मागधी' कहा है। वुछ अन्य व्याकरणों तथा अन्य स्रोतों से कुछ और प्राकृतों के भी नाम मिलते हैं, जैसे ब्राह्णीकी, शाकारी, ढक्की, शाबरी, चाण्डाली, आभीरिका, अवन्ती, दाक्षिणात्य, भूत भाषा तथा गौड़ी आदि। इनमें प्रथम पाँच मागधी के ही भौगालिक या जातीय उपभेद थे। आभारिका शौरसेनी की जातीय (आभीरों की) रूप थी और अवन्ती या अवन्तिका उज्जैन के पास की कदाचित् महाराष्ट्री से प्रभावित शौरसेनी थी। दाक्षिणात्य भी शौरसेनी का एक रूप है। हेमचन्द्र की चूलिका पैशाची को ही दण्डी ने 'भूत भाषा' कहा है (गलती से 'पैशाची' की अर्थ 'पिशाच' का या 'भूत' का समझकर)। कुछ लोगों ने लिखा है कि हेमचन्द्र ने 'पैशाची' को ही 'चूलिका पैशाची' कहा है किन्तु वस्तुत: बात ऐसी नहीं है। हेमचन्द्र ने ये दोनों नाम अलग-अलग दिये हैं। दूसरी पहली की ही एक उपबोली है। गौड़ी का अर्थ है 'गौड़' देश का। इसका आशय यह है कि यह मागधी का ही एक नाम है।

इस प्रसंग में कुछ और नामों पर भी विचार आवश्यक है। प्राकृतों के साथ 'गाथा' का नाम भी लिया जाता है। गाथा की भाषा, प्राकृत से प्रभावित रूप है। पहले मिश्रित बौद्ध संस्कृत रूप में इसका उल्लेख हो चुका है। इस भाषा का आगे विकास नहीं हो सका। कुछ लोग एक पश्चिमी प्राकृत की भी कल्पना करते हैं, जो सिन्ध में बोली जाती रही होगी, तथा जिससे ब्राचड अपभ्रंश का विकास हुआ होगा। यह ब्राचड वर्तमान सिन्धी की जननी है। पंजाबी और लहँदा क्षेत्र में भी उस काल में कोई प्राकृत रही होगी, जिसे कुछ विद्वानों ने कैकेय प्राकृत कहा है। टक्क या टाक्की और मद्र या माद्री प्राकृत इसी की शाखाएँ थीं। राजस्थानी और गुजराती, शौरसेनी से प्रभावित तो हैं, किन्तु उनका आधार नागर अपभ्रंश है। वहाँ उस काल में नागर प्राकृत की भी कल्पना कुछ लोगों ने की है। इसी प्रकार पहाड़ी भाषाओं के लिए 'खस' अपभ्रंश की कल्पना की गई है। उसका आधार खस प्राकृत हो सकती है। चम्बल और हिमालय के बीच गंगा के किनारे एक पांचाली प्राकृत का भी उल्लेख किया जाता है।

इस प्रकार प्राकृतों के प्रसंग में लगभग दो दर्जन नामों का उल्लेख मिलता है, किन्तु भाषा-वैज्ञानिक स्तर पर केवल पाँच ही प्रमुख भेद स्वीकार किये जा सकते हैं–

(1) शौरसेनी, (2) पैशाची, (3) महाराष्ट्री, (4) अर्द्धमागधी, (5) मागधी। आगे इन पाँच तथा कुछ अन्यों पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है।

(1) शौरसेनी– यह प्राकृत मूलत: मथुरा या शूरसेन के आस-पास की बोली थी। इसका विकास वहाँ की पालिकालीन स्थानीय बोली से हुआ था। मध्यदेश की भाषा होने के कारण इसे कुछ लोग संस्कृत की भाँति उस काल की परिनिष्ठित भाषा मानते हैं। मध्य देश संस्कृत का केन्द्र था, इसी कारण शौरसेनी उससे बहुत प्रभावित है। इस प्रभाव के कारण शौरसेनी में अपेक्षाकृत प्राचीनता है तथा यह कुछ कृत्रिम है। संस्कृत नाटकों की गद्य की भाषा शौरसेनी ही है। कर्पूरमंजरी का गद्य इसी में है। इसका प्राचीनतम रूप अश्वघोष के नाटकों से मिलता है। जैनों (दिगम्बर सम्प्रदाय) ने साम्प्रदायिक ग्रन्थों के लेखन में भी इसका प्रयोग किया है। ऐसे ग्रन्थों की भाषा 'जैन शौरसेनी' या 'दिगम्बर शौरसेनी' कही गई है। यह मूल शौरसेनी से थोड़ी भिन्न है। पिशेल के अनुसार इसका विकास दक्षिण में हुआ है। शौरसेनी के अन्य स्थानीय रूप अवन्ती, आभीरी आदि हैं। शौरसेनी अपने समय की सर्वाधिक आभिजात्य भाषा थी। नाट्यशास्त्र में इसके नाटकों की प्रधान भाषा होने का संकेत मिलता है: 'शौरसैनम् समाश्रित्य

नोट

भाषा कार्य तु नाटके।' वररुचि ने शौरसेनी प्राकृत का आधार संस्कृत माना हे: 'शौरसैनम् समाश्रितय भाषा कार्य तु नाटके।' वररुचि ने शौरसेनी प्राकृत का आधार संस्कृत माना है: 'प्राकृतिः संस्कृतम्'। राम शर्मन् के 'प्राकृतकल्पतरु' में 'विरच्यते' सम्प्रति शौरसेनी पूर्वेच भाषा प्रकृतिः किलास्या:' रूप में महाराष्ट्रीय को शौरसेनी का आधार माना गया है। पुरुषोत्तम ने 'प्राकृतानुशासनम्' में दोनों बातों को मिला दिया है: संस्कृतानुगमनाद् बहुलम्' तथा 'शेषे महाराष्ट्री।' शौरसेनी की प्रमुख विशेषताएँ ये हैं:

(1) असंयुक्त तथा दो स्वरों के बीच में आने वाला सं. त् इसमें द् हो गया है और थ् ध् (गच्छति झ गच्छदि, कथियझ कधोहि)। यद्यपि इसके अपवाद भी मिलते हैं। जैसे 'तावत्' से 'ताव' और 'दाव दो रूप बनते हैं। यहाँ आदि त् का भी द् है। (2) दो स्वरों के बीच की द् ध् ध्वनियाँ प्राय: सुरक्षित है। (जलद: झ जलदो)। (3) क्ष् का विकास सामान्यत: क्ख् में हुआ। (इक्षु झ इक्खु, कुक्षि झ कुक्खि)। यह उल्लेख्य है कि महाराष्ट्री में यह च्छ् (इक्षु झ उच्छु) हो जाता हैं (4) ऋ का विकास इ होता है: गृध्र झ गिद्ध। (5) संयुक्त व्यंजनों के सरलीकरण की प्रवृत्ति है, किन्तु अर्धमागधी या महाराष्ट्री आदि से म (कर्तुम झ कादुं, उत्सव झ उस्सव झ ऊसव)। यह भी उल्लेख्य है कि ऐसी स्थिति में क्षतिपूरक दीर्घीकरण (अ झ आ, उ झ ऊ) की प्रवृत्ति है। (6) आदरार्थ आज्ञा के रूप महाराष्ट्री एवं अर्द्धमागधी की भाँति -एज्ज लगाकर (वट्टेज्ज) नहीं बनते। वे संस्कृत के अनुसार है : सं. *वर्तेत झ वट्ट (7) कर्मवाच्य के -य-का-इज्ज - (महाराष्ट्री) नहीं होता अपितु -इअ - (गम्यते गमी आदि, क्रियते झ करीअदि) हो जाता है। (8) के वल परस्मैपद का प्रयोग मिलता है, आत्मनेपद का प्राय: नहीं। (9) रूपों की दृष्टि से यह कुछ बातों में संस्कृत की ओर झुकी है, जो मध्य देश में रहने का प्रभाव है, किन्तु साथ ही, महाराष्ट्री से भी इससे काफ़ी साम्य है।

डॉ. घोष के अनुसार प्राचीन शौरसेनी प्राकृत, महाराष्ट्री की जननी है। प्राकृतानुशासन के अनुसार टक्क प्राकृत संस्कृत एवं शौरसेनी का मिश्रित रूप हैं। मध्यदेश की भाषा होने के कारण शौरसेनी का बड़ा आदर रहा हैं राजशेखर ने कहा है—यो मध्ये मध्यदेशं विवसति स कविः सर्वभाषा निषण्णा:।

(2) पैशाची– इसके अन्य नाम पैशाचिकी, पैश्शाचिका, ग्राम्य भाषा, भूतभाषा भूतवचन, भूत भाषित आदि भी मिलते हैं। अन्तिम तीन नाम 'पिशाच' को 'भूत' का पर्याय समझ लेने वे आधार पर रखे हैं। महाभारत में 'पिशाच' जाति का उल्लेख हैं ये उत्तर-पश्चिम में कश्मीर के पास थे। गिग्रयर्सन इसे वहीं की 'दरद' से प्रभावित भाषा मानते हैं हार्नले इसे द्रविड़ों द्वारा प्रयुक्त प्राकृत मानते हैं। पुरुषोत्तम देव ने अपने प्राकृतानुशासन में संस्कृत और शौरसेनी का इसे विकृत रूप माना हैं वररुचि इसका आधार संसस्कृत मानते हैं। पैशाची में साहित्य नहीं के बराबर है। यों ऐसा अनुमान लगाने के आधार हैं, कि कभी इसमें काफ़ी साहित्य था। गुणाढ्य का वृहत्कथा संग्रह 'वृहत्कथा' मूलत: इसी में था। इसके अब केवल दो संस्कृत रूपांतर ही—वृहत्कथामंजरी, कथासरित्सागर—शेष हैं। हम्मीरमर्दन तथा कुछ अन्य नाटकों में कुछ पात्रों ने इसका प्रयोग किया हैं व्याकरणों आदि में भी इसके कुछ रूप सुरक्षित रह गए हैं, यद्यपि उनमें बहुतों के लेखकों को इसका प्रत्यक्ष ज्ञान शायद नहीं था। इसीलिए उनकी बातें प्राय: एक-दूसरे का विरोध करती हैं। पैशाची का जो कुछ रूप प्राप्त हैं, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि पश्चिमोत्तरी प्राकृत से यह बहुत-कुछ मिलती-जुलती थी। यों इस आधार पर इसे पश्चिमोत्तरी प्राकृत की संज्ञा नहीं दी जा सकती। अपभ्रंश से भी इसका सम्बन्ध सिद्ध होता हैं पैशाची के कई भेदों वे उल्लेख मिलते हैं। हेमचन्द्र तथा कुछ अन्यों ने इसका एक रूप चूलिका पैशाची दिया हैं मार्कण्डेय आदि ने इसके कैकेय, पांचाल और शौरसेन तीन भेद दिये हैं। प्राकृत सर्वस्व में देश तथा जाति के आधार पर इसके ग्यारह भेद दिये गए हैं। लेसेन मागध, ब्रचड़, पैशाचिक तीन भेद मानते हैं। इन बहुत से भेदों के आधार पर कुछ लोगों का विचार है कि पैशाची केवल अपने स्थान पर ही प्रचलित न होकर चारों ओर निम्न-स्तर के लोगों में प्रचलित थी। मध्यदेश में इसके प्रचलित होने की पूरी सम्भावना हैं सी कारण यह अपनी ध्वनि-प्रक्रिया में एक सीमा तक संस्कृत से पभावित ज्ञात होती है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित हैं:

(1) दो स्वरों के बीच में आने वाले स्पर्श वर्गों के तीसरे और चौथे घोष व्यंजन इसमें क्रमश: पहले और दूसरे अर्थात् अघोष हो गए हैं गनन झ गकन, मेघ: झ मेखो, दामोदर झ तामोतर, राजा झ राचा। किसी भ भाषा में अघोषीकरण

के कुछ उदाहरण तो मिलते हैं, किन्तु ऐसी सामान्य प्रवृत्ति नहीं मिलती। ऐसी स्थिति में इसका कोई विशेष कारण रहा होगा। संभव है पैशाची मूलत: किसी ऐसी जाति के लोगों में प्रचलित थी, जिनकी अपनी मूल आर्येतर भाषा में घोष ध्वनियाँ नहीं थीं। इसी कारण अघोष की यह प्रवृत्ति आई।

(2) इसके कुछ रूपों में 'ल्' के स्थान पर 'र्' के स्थान पर 'ल्' हो जाता है। दोनों का वैकल्पिक-सा प्रयोग हैं (रद्रं झ लुद्दं, कुमार झ कुमाल, फल झ फर)।

(3) 'ष्' के स्थान पर कहीं तो 'श्' और कहीं 'म' मिलता है। विषम झ विसमो, तिष्ठति झ ख्यितदि।

(4) अन्य प्राकृतों की तरह स्वरों के बीच में आने वाले स्पर्श इसमें लुप्त नहीं होते। (नगर झ नकर)।

(5) ल् ध्वनि का ळ् में भी विकास मिलता है: जल झ जळ, कुल झ कुळ, सललि झ सळिळ।

(6) ण् के स्थान पर न् की भी प्रवृत्ति है: गुण झ गुन, गण झ गन। किन्तु दूसरी ओर न् से ण् होने का उल्लेख भी मिलता है: अधुना झ अहुणा। वस्तुत: जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, वैयाकरणों द्वारा दी गई, ये एक दूसरे की विरोधी बातें बहुत विश्वसनीय नहीं है।

(3) माहाराष्ट्री या महाराष्ट्र– इस प्राकृत का मूल स्थान महाराष्ट्र है। ज़ूल ब्लाख ने मराठी का विकास इसी के बोचलाच के रूप में माना है। कुछ लोग इसे केवल महाराष्ट्र तक सीमित न मानकर महाराष्ट्र अर्थात् पूरे भारत की भाषा मानने के पक्ष में हैं। इसी रूप में डॉ. मनमोहन घोष ने इसे शौरसेनी के बाद की माना है। डॉ. सुकुमार सेन भी लगभग यही मत है। कुछ लोग इसे काव्य की कृत्रिम भाषा मानते रहे हैं, किन्तु अब यह मत निर्मूल सिद्ध हो चुका है। गाहा सत्तसई (हाल), रावणवहो (रावरसेन) तथा वज्जालग (जयवल्लभ) इसकी अमर कृतियाँ हैं। काव्य भाषा रूप में इसका प्रचार पूरे उत्तरी भारत में था और इसमें 'गीति', 'खंड' और 'महा', सभी प्रकार के काव्य लिखे गए। कालिदास, हर्ष आदि के नाटकों के गीतों की भाषा यही है। वुछ लोग समझते हैं कि महाराष्ट्री में केवल कविता की रचना हुई, गद्य की नहीं। किन्तु यथार्थत: बात यह नहीं है। श्वेताम्बर जैनियों ने इनमें अपने कुछ धाम्रिक गद्य-ग्रन्थ भी लिखे हैं, जिनकी भाषा को याकोबी ने 'जैन महाराष्ट्री' कहा है। इस भाषा पर अर्धमागधी का भी प्रभाव पड़ा है। कुछ बौद्ध ग्रन्थ भी महाराष्ट्री में मिलते हैं। महाराष्ट्री, प्राकृतों में परिनिष्ठित भाषा मानी गई है। इसीलिए वैयाकरणों ने पहले इसी का सविस्तार वर्णन किया है, और अन्य प्राकृतों के, केवल इससे अन्तरों का उल्लेख कर दिया हैं इसी आधार पर कुछ लोग इसे 'मराठा देश' से सम्बद्ध न मानकर पूरे भारत (महाराष्ट्र) की कहते हैं। इसे पूरे राष्ट्र में बोली जाने के कारण, महाराष्ट्री कहा गया।

प्राकृतकालीन लेखकों ने प्राकृतों की कोमलता की बड़ी प्रशंसा की है। वस्तुत: यह प्रशंसा महाराष्ट्री की ही है। प्रसिद्ध महाराष्ट्री ग्रन्थ वज्जालग्ग में जयवल्लभ कहते हैं:

ललित महुरक्खरए जुवई यण वल्लहे स सिंगारे।
संते पाउव कव्वे की सक्कइ सक्कयं पढिउं।

(ललित, मधुर, युवतीगण के प्रिय श्रृंगार रसपूर्ण प्राकृत काव्य के होते संस्कृत कौन पढ़ सकता है?) इस भाषा की कोमलता का रहस्य, इसमें हुए व्यंजन-लोप हैं। महाराष्ट्री की कुछ प्रमुख विशेषताएँ ये हैं:

(1) इसमें दो स्वरों के बीच आने वाले अल्पप्राण स्पर्श (क्, त्, प्, द्, ग् आदि) प्राय: लुप्त हो गए हैं। प्राकृत झ पाउअ, गच्छति झ गच्छइ), (2) उसी स्थिति में महाप्राण स्पर्श (ख्, थ्, फ्, ध्, घ्) का केवल 'ह' रह गया है। (क्रोध: झ कोहो, कथयति झ कहेइ, मुख झ मुह)। (3) ऊष्म ध्वानियों स, श का प्राय: 'ह' हो गया है (तस्य झ ताह, पाषाण झ पाहाण)। (4) कर्म वाच्य-य-(गम्यते) का -इज्ज-(गमिज्जइ) बनता है। शौरसेनी में यह -ईअ- था। (5) पूर्वकालिक क्रिया बनाने में 'ऊण' प्रत्यय का प्रयोग होता है। (सं. पृष्ट्वा झ पुच्छिऊण)।

(4) अर्धमागधी– अर्धमागधी का क्षेत्र मागधी और शौरसेनी के बीच में है अर्थात् यह प्राचीन कोसल के आसपास की भाषा है। इसमें मागधी की प्रवृत्तियाँ भी पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं, इसीलिए इसका नाम अर्धमागधी है। जैनियों ने इसके लिए 'आर्ष', 'आर्षी', और 'आदि भाषा' का भी प्रयोग किया हैं इसका प्रयोग प्रमुखत: जैन साहत्य में

नोट

हुआ है। गद्य और पद्य दोनों ही इसमें लिखे गए हैं। यों साहित्यिक नाटकों में भी इसका प्रयोग हुआ हैं इसका प्राचीनतम प्रयोग अश्वघोष में मिलता है। साहित्य-दर्पणकार ने इसे चरों, सेठों और राजपुत्रों की भाषा कहा हैं मुद्राराक्षस और प्रबोध-चंद्रोदय में भी इसका प्रयोग मिलता है। कुछ विद्वानों के अनुसार अशोक के अभिलेखों की मूल भाषा यही थी, जिनको स्थानीय रूपों में रूपांतरित किया गया था। जैनों द्वारा प्रयुक्त महाराष्ट्री तथा शौरसेनी पर इसका प्रभाव पड़ा है।

प्रमुख विशेषताएँ

(1) ष्, श् के स्थान पर प्रायः स् मिलता है। (श्रावक झ सावग, वर्ष झ वास)। (2) अनेक स्थलों पर दंत्य ध्वनियाँ मूर्धन्य हो गई हैं। (स्थित–ठिय, कृत्वा–कट्टु) यह प्रवृत्ति अन्य प्राकृतों की तुलना में इसमें अधिक है। (3) चवर्ग के स्थान पर कहीं-कहीं तवर्ग मिलता है। (चिकित्सा–तेइच्छा), (4) इसमें र् और ल् दोनों हैं। (5) क् के ग् होने की प्रवृत्ति भी कुछ हैः एक झ एग। (6) जहाँ कुछ अन्य प्राकृतों में स्वरों के बीच स्पर्श का लोप हमलता है, वहाँ इसमें 'य' श्रुति मिलती है (सागर झ सायर, स्थित झ ठिय)। (7) गद्य और पद्य की भाषा के रूप में अन्तर है। सं. -अः (प्रथमा एकवचन) के स्थान पर प्रायः गद्य में मागधी की तरह -'ए' का प्रयोग हुआ है, और प्रायः पद्य में शौरसेनी के समान -'ओ' का।

(5) मागधी– मागधी का मूल आधार मगध के आसपास की भाषा है। लास्सन महाराष्ट्र एवं मागध को एक मानते थे। कुछ लोग इसका सम्बन्ध महाराष्ट्री से मानते हैं। वररुचि इसे शौरसेनी से निकली मानते हैं। लंका में 'पालि' को ही 'मागधी' कहते हैं। मागधी में कोई स्वतन्त्र रचना नहीं मिलती। संस्कृत नाटाकें में निम्न श्रेणी के पात्र इसका प्रयोग करते हैं। इसका प्राचीनतम रूप अश्वघोष में मिलता है। इसे 'गौड़ी' भी कहते हैं। बाह्लीकी, ढक्की, शावरी तथा चांडाली इसके जातीय रूप थे। शाकारी इसकी उपबोली थी। इसमें अन्य सभी प्राकृतों से अधिक विकास हुआ है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(1) इसमें स, प्, के स्थान पर 'श' मिलता है। (सप्त > शत्त, पुरुष > पुलिश)। (2) इसमें 'र का' सर्वत्र 'ल' हो जाता है। (राजा > लाजा) (3) 'स्थ' और 'र्थ' के स्थान पर 'स्त' मिलता है। (उपस्थित–उवस्तिद, अर्थवती > अस्तवदी)। (4) कहीं-कहीं ज का य हो जाता है। (जानाति > याणादि, जयते > यायदे)। इसका कारण संघर्ष का आधिक्य है। (5) ऐसे संयुक्त व्यंजनों में, जिनमें प्रथम ध्वनि ऊष्म हो, समीकरण आदि परिवर्तन अन्य प्राकृतों की तरह प्रायः नहीं होते। (हस्त > हश्त)। (6) प्रथम एकवचन में संस्कृत -अः के स्थान पर यहाँ -ए मिलता है। (देव > देवे, सः > से)।

(6) प्राच्या– पुरुषोत्तम ने 'प्राकृतानुशासन' (10वाँ अध्याय) में इसका उल्लेख किया है। यह शौरसेनी से मिलती-जुलती है, इसीलिए उन्होंने इसकी कुछ बातें बतलाकर 'शेष शौरसेनी' कह दिया है। उसमें 'भवति' का 'भोदी' बनता है, तथा निम्नवर्ग के लोगों को सम्बोधित करने में -आ (हीन संबुद्धाव आत्) विभक्ति लगती है। 'वक्र' का वंकुड (वक्रे वुकुडश्च) उसकी एक अन्य विशेषता है।

(7) शाकारी– इसे मागधी की एक उपबोली माना गया हैः शाकारी विभाषा-विशेषो मागध्याः। उसमें स्पर्शसंघर्ष बहुत अधिक था, इसीलिए च् के स्थान पर य्च बोलते थे। य्चभिश् शकार भाषायाम। स्वार्थे प्रतयय-क का प्रयोग इसमें बहुत अधिक होता था। लोप, आगम, विकार सभी का बाहुल्य था।

(8) चांडाली– यह मागधी का विकृत रूप थी–चांडाली मागधी-विकृतिः। इसमें ग्राम्य प्रयोगों का बाहुल्य था–ग्राम्योक्तो बहुलम्। -अः का -ओ, -ए या-इ हो जाता था।

(10) आवन्ती– इसमें महाराष्ट्री एवं शौरसेनी की प्राकृतियों का मिश्रण या द्र् का द्र् या द् (द्रे रेफलोपो वा), 'भवित' का 'हो', 'होइ', 'तव' का, 'तुहु', 'मम' का 'महु' आदि इसकी कुछ विशेषताएँ हैं।

(11) टक्की या टक्कदेशी–यह संस्कृत और शौरसेनी का मिश्रित रूप थी। इसे हरिशचन्द्र ने अपभ्रंश का एक रूप माना है। इसमें उ का आधिक्य था = उद् बहुलम्। त्वम् का तुहुं तथा अहं का हम मिलता है। 'यथा तथोर् जिध तिधौ अर्थात् इसमें 'यथा' का 'जिध' और 'तथा' का 'तिध' हो गया था।

(12) कैकेय पैशाचिका– कैकेय पैशाचिका-इसे संस्कृत मिश्रित शौरसेनी का भ्रष्ट रूप कहा गया है। इसमें अघोषीकरण की प्रवृत्ति विशेष रूप से थी। स्पष्ट ही इसका सम्बन्ध पैशाची से है। ण् का न्, स्वर-भक्ति, लोप, ऋ झ इ आदि इसकी अन्य विशेषताएँ हैं। इसके कुछ उदाहरण हैं : गृह झ किहक, हृदय झ हितय, पिव झ इव, वयम् झ वप्फे । य झ प इसमें विचित्र परिवर्तन है।

(13) शौरसेन पैशाचिका-इस पैशाची बोली में र् का ल्, स्, ष्, का स्, क्ष् तथा च्छ् का श्क् तथा श्च् (क्षस्य श्कः, च्छस्य श्चः) त्थ् का श्त्, तथा -अः का :ओ अथवा -अ हो जाता था।

(14) पांचाल पैशाचिका-यह कैकेय तथा शौरसेन से विशेष अलग नहीं थी। इसमें ल् का र् हो जाता था।

(15) चूलिका पैशाचिका-र् का ल् तथा अघोषीकरण ही इसकी उल्लेख बातें हैं।

प्राकृत् भाषाओं की कुछ सामान्य विशेषताएँ

(1) ध्वनि की दृष्टि से प्राकृत भाषाएँ पालि के पर्याप्त निकट हैं। इनमें भी पालि की तरह ह्रस्व ए और ओ और ळ, ळ्ह का प्रयोग चलता रहा। ऐ, औ, ॠ, लृ का प्रयोग नहीं हुआ। ऋ का प्रयोग लिखने मे तो हुआ, किन्तु भाषा में यह ध्वनि थी नहीं। वे ध्वनि-विशेषताएँ जो पालि से प्राकृत को अलग करती हैं, इस प्रकार हैं : प्राकृत ध्वनियाँ हैं- अ, आ, इ, ई उ, ऊ एॅ, ए, औ, ओ, क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, च्, ज्, झ्, ञ्, ट्, ठ्, ढ्, ण्, त्, थ्, द्, ध्, न्, प्, फ्, ब्, भ्, म्, य, र्, ल्, व्, श्, ष्, स्, ह्, ळ्, ळ्ह, ड्, , ढ्। देश के बाहर मिलने वाले प्राकृतों में ज़्, ज् ध्वनियाँ भी थीं। कुछ समय के लिए अन्य व्यंजनों के संघर्षी रूप भी थे। (क) ऊष्मों में पालि, 'स्' का प्रयोग था। प्राकृत में पश्चिमोतरी क्षेत्र में श्, ष्, स् तीनों ही कुछ काल तक थे। बाद में 'ष्' ध्वनि 'श्' में परिवर्तित हो गई। नीय प्राकृत में भी तीनों ही कुछ काल तक थे। बाद में 'ष' ध्वनि 'श्' में परिवर्तित हो गई। नीय प्राकृत में भी तीनों ऊष्म मिलते हैं। मागधी में केवल 'श्' है। अन्य बहुतों में पालि की तरह प्रायः केवल 'स्' (जैसे अर्धगामी में) मिलता है और कुछ में 'श्' में (पैशाची)। (ख) य्, र्, ल् के प्रयोग के सम्बन्ध में भी कुछ विशेषताएँ हैं। मागधी में 'र' ध्वनि नहीं है। उसके स्थान पर 'ल' मिलता है। कुछ अन्य में कभी-कभी 'र्' के स्थान पर 'ल्' के स्थान पर 'र्' मिलता है। आद्य 'य्' सामान्यतः 'ज्' होता देखा जाता है, किन्तु मागधी में 'ज्' का 'य्' होना भी पाया जाता है। (ग) सबसे विचित्र बात है कुछ ऐसे संघर्षी व्यंजनों का प्रयोग जो प्रायः भारतीय भाषाओं में केवल आधुनिक काल में प्रयुक्त माने जाते हैं, जैसे 'ज़्', 'ग़्' आदि। नीय प्राकृत में 'ज़्' एवं 'ज़्' ध्वनियाँ हैं। यद्यपि यह बाहरी प्रभावों के कारण है, किन्तु ऐसा मानने के लिए आधार है कि दूसरी-तीसरी सदी के लगभग प्राकृतों में सामान्य रूप से बहुत से स्पर्शो का स्वरूप कुछ दिन के लिए परिवर्तन के संक्रान्ति-काल में संघर्षी हो गया था, यद्यपि इन संघर्षी ध्वनियों के लिए उस काल में अलग लिपिचिन्हों का प्रयोग नहीं किया गया। ये स्पर्श घोष (ग़्, घ्, द्, आदि थे।) देखिए नीचे '4'।

(2) प्राकृतों में 'u' का विकास प्रायः '.k' रूप में हुआ है।

(3) पालि-काल में जिन ध्वनि-परिवर्तन की प्रवृत्तियों (समीकरण, लोप, स्वरभक्ति आदि) का प्रारम्भ हुआ था, इस काल में वे और सक्रिय हो गई। ध्वनि-परिवर्तन सबसे अधिक महाराष्ट्री तथा मागधी में हुए।

(4) ध्वनियों के विकास के कुछ विशेष रूप भी इस काल में दिखाई पड़ते हैं, यद्यपि वे सार्वभौम न होकर प्रायः क्षेत्रीय अधिक हैं:

(क) स्वरमध्यग अघोष अल्पप्राण स्पर्श का घोषः मूकः > मूगो, लेष्टु > लेड्डू। इसका कारण है। व्यंजन के दोनों ओर के घोष स्वरों का प्रभाव।

(ख) स्वरमध्यग घोष और अघोष अल्पप्राण स्पर्श का लोपः इन दोनों का लोप हुआ एक ही तरह, किन्तु उनकी लोप की सीढ़ियों में कुछ अन्तर है। घोष व्यंजनों के उच्चारण में उच्चारण-सौकर्य के कारण शिथिलता आई और शिथिलता के कारण पूर्ण स्पर्श अपूर्ण स्पर्श हुआ और फिर स्पर्श पूर्णतः समाप्त हो गया और अपूर्ण स्पर्श संघर्षी हो गए और अन्त में व्यंजनत्व समाप्त हो गया, केवल उनका स्वर रह गया। जैसे सागर > *साग़र > साअर (बाद में उच्चारण-सुविधा के लिए इसमें य-श्रुति आ गई और यह अर्धमागधी आदि में 'सायर' हो गया। गज > *गज़ > गअ, मदन >*मदन > मअण)। अघोष ध्वनियाँ पहले घोष हुई और फिर उपर्युक्त ढंग से उनका भी लोप हुआ। जैसे काक >*काग >काअ, वचन >*वजन >*वजन > वअण। दूसरी सदी ई॰ पू॰ के आसपास घोषीकरण की प्रवृत्ति आई। फिर प्रायः 300 वर्षो बाद संघर्षी होते लोप की प्रवृत्ति आई। संक्षेप में अघोष > घोष > अपूर्ण स्पर्श > संघर्षी > लोप।

नोट

(ग) महाप्राण > ह : इसमें भी पहले संघर्षी ध्वनि (शिथिलता के कारण) आई, फिर और शिथिलता के कारण स्पर्श-अंग और हट गए तथा ध्वनि का स्थान ह् ने ले लिया ' भवति > *भौति > होति। अघोष अल्पप्राण ध्वनियाँ पहले घोष हुई, फिर संघर्षी और फिर ह : मुख > *मुघ > *मुघ > मुह, कथा > *कधा > *कधा कहा। यह उल्लेख्य है कि जब ये ध्वनियाँ संघर्षी बोली जा रही थीं, तो लिपि में चिन्ह न होने के कारण लिखने में असंघर्षी ही थीं। म् का व्, य् का अ, तथा व् का अ भी शिथिलता के कारण ही हुआ है। म्-व् के बीच भी संघर्षी की स्थिति है। कुछ उदाहरण है : श्याम > साँव, जीव > जीअ, नयन > णअण, यमुना > जउँणा।

(5) प्राकृतों में व्यंजनान्त शब्द प्रायः नहीं है।

(6) द्विवचन के रूपों में प्रयोग (संज्ञा, क्रिया आदि में) प्राकृतों में नही मिलता। 'नीय' प्राकृत अपवाद है जिसमें कुछ द्विवचन के रूप है।

(7) आत्मपदने पालि की तरह ही प्राकृतों में भी प्रायः नहीं के बराबर है।

(8) पालि में वैदिकी की भाँति रूप बहुत थे, किन्तु कम हो रहे थे। प्राकृत-काल तक आते-आते सादृश्य के कारण नाम और धातु, दोनों ही रूपों में और भी कमी हुई। इस प्रकार भाषा अधिक सरल हो गई।

(9) वैदिकी और संस्कृत संयोगात्मक भाषाएँ थीं। पालि में भी यह विशेषता सुरक्षित है, किन्तु प्राकृत-काल में भाषा अयोगात्मकता या वियोगात्मकता की ओर तेजी से बढ़ने लगी। भाषा में वियोगात्मकता प्रमुखतः दो कारणों से आती है–(क) कारक-चिन्हों या परसर्गो के प्रयोग से, (ख) क्रिया में कृदन्ती रूपों एवं सहायक क्रिया के प्रयोग से। प्राकृतों में कृदन्ती रूपों का प्रयोग आरम्भ हो गया। कारक-रचना में स्वतंत्र शब्द जोड़े जाने लगे थे जो आधुनिक काल में आकर परसर्ग बने (जैसे संस्कृत 'रामस्य गृहम्' के स्थान पर 'रामस्स केरक घरम्' आदि)।

(10) कर्तृ और कर्म वाच्य का अन्तर मूलरूप (stem) तक सीमित रह गया।

(11) कालों में लिट् (Perfect), एक दो उदाहरणों को छोड़कर, प्रायः समाप्त हो गया। लङ् (imperfect) और लृङ् (Abrist) एक में मिल गए, किन्तु मिलकर भी बहुत दिन तक टिक न सके और अपभ्रंश तक आते-आते समाप्त हो गए।

(12) संस्कृत की तुलना में, शब्दों में, अर्थ की दृष्टि से भी परिवर्तन हुए। धातु के अर्थ शब्दों में पूर्णतः सुरक्षित न रह सके।

(13) संगीतात्मक स्वराघात समाप्त-सा हो गया और बलात्मक स्वराघात कुछ उभर आया।

(14) प्राकृतों में अधिकांश शब्द तद्भव हैं। इनमें उन शब्दों के भी तद्भव हैं जो आस्ट्रिक अनुकरण या अन्य आधारों पर बने बहुत से देशज शब्दों का भी विकास हो गया था। संस्कृत के माध्यम से या सीधे, कुछ ग्रीक, ईरानी, तुर्की एवं अरबी शब्द भी प्रयुक्त होने लगे थे। जैसे ग्रीक खलीन, सुरंग तथा ईरानी शाह, लीपि, दिपि, नमदक आदि। तुर्क और कतक शब्द कदाचित् तुर्की के हैं। 'ताजक' अरबी है। नीय प्राकृत में विदेशी शब्दों की संख्या डेढ़ सौ के लगभग है। ये शब्द ईरानी और क्रोरेनी के हैं।

तृतीय प्राकृत

जैसा कि पहले बताया गया है कि तृतीय प्राकृत में अप्रभ्रंश भाषा आती है। तथाकथित अवहट्ट, जो अपभ्रंश एवं आधुनिक आर्यभाषाओं के बीच की कड़ी है, एक सन्धिकालीन भाषा है, अतः तृतीय प्राकृत की अन्तिम सीमा पर उसे भी रख सकते हैं।

अपभ्रंश

द्वितीय प्राकृत-काल की जनभाषाओं पर तत्कालीन साहित्यिक प्राकृत आधारित थीं, किन्तु साहित्य में आ जाने के कारण उनका जन-स्तर पर विकास नहीं हुआ। जन स्तर पर जनभाषा ही विकसित होती रही। प्राकृत-कालीन जनभाषा का यही विकसित रूप मोटे रूप से 500 ई॰ से 1000 ई॰ के बीच अपभ्रंश कहा जाता है। अपभ्रंश को अवहंस आदि कई अन्य नामों से भी अभिहित किया जाता है, इनके अतिरिक्त ग्रामीण भाषा, देसी, देसी भाषा, आभीरोक्ति, आभीरी आदि नामों से भी अपभ्रंश पुकारी जाती रही है।

नाम-अपभ्रंश शब्द का प्राचीनतम प्रामाणिक प्रयोग पंतजलि (150 ई॰ पू॰ के लगभग) के 'महाभाष्य'[1] में मिलता है। यों भर्तृहरि (5वीं सदी) के 'वाक्यपदीय' (काण्ड 1, कारिका 148 का वार्तिक) से पता चलता है कि 'व्याडि' नाम के संग्रहकार ने भी अपभ्रंश शब्द का प्रयोग किया था। एक 'व्याडि' का उल्लेख महाभाष्यकार (कीलहार्न संस्करण, भाग 1, पृष्ठ 6) ने भी किया है। इसका आशय है कि ये 'व्याडि' महाभाष्यकार पतंजलि से पहले हुए थे। ऐसी स्थिति में यदि 'वाक्यपदीय' और महाभाष्य' के व्याडि एक हों तो अपभ्रंश शब्द के प्रथम प्रयोग का श्रेय 'व्याडि' को दिया जा सकता है। व्याडि और पतंजलि (एकस्यैव शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशा:) में इस शब्द के प्रयोग तो हैं, किन्तु उनमें इसका अर्थ, 'भाषा विशेष' न होकर, तत्सम शब्द का 'तद्भव' या 'विकृत' रूप है। आगे भरत (तीसरी सदी) ने अपने नाटयशास्त्र में इसी अर्थ में 'विभ्रष्ट' शब्द का प्रयोग किया । भरत (17-41, 50) ने मागधी, अवन्ती, प्राच्या आदि सात भाषाओं एवं उनकी कई जातीय या स्थानीय बोलियों का उल्लेख किया है, किन्तु इनमें अपभ्रंश का नाम नहीं है। संकेत यह है कि तीसरी सदी के लगभग तक विकृत शब्दों को 'अपभ्रंश या विभ्रष्ट' आदि कहा तो जाता था, किन्तु किसी भाषा के अर्थ में इस प्रकार का कोई शब्द प्रयोग में नहीं था। लगता है कि आगे चलकर इस प्रकार के 'अपभ्रंश' शब्दों (ऐसे शब्द जो संस्कृत, प्राकृत की तुलना में भी अपभ्रंश थे) के अधिक प्रयोग के कारण ही वह भाषा भी अपभ्रंश या अपभ्रष्ट कही जाने लगी और स्वयं ये नाम भी अपभ्रंशित होकर अवब्भंस, अवहंस या अवहत्थ, अवहट्ट, अवहट्ठ, अवहट एवं औहट आदि[1] रूपों में उस भाषा के लिए प्रयुक्त होने लगे।

समय-पहले यह बताया जा चुका है कि अपभ्रंश का काल मोटे रूप से 500 ई॰ से 1000 ई॰ तक है। यों कुछ लोगों ने 600 से 1100 तक या कभी-कभी 1200 तक भी इसका समय माना है। कुछ दूसरों ने और आगे बढ़कर 7वीं सदी से 13वीं तक भी इसे माना है। मेरे मन में काफी पहले से यह प्रश्न उठता रहा है कि अनेक प्राकृत वैयाकरणों तथा अन्यों ने अन्य प्राकृतों के साथ ही अपभ्रंश को भी गिनाया, तो कहीं ऐसा तो नहीं है कि अपभ्रंश भी अन्य प्राकृतों की समकालिक रही हो। डॉ॰ सुकुकार सेन ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'A Comparative Grammar of Middle Indo-Aryan' के परिवद्धिर्त संस्करण में अपभ्रंश का काल 1 ई॰ से 600 ई॰ माना है। ऐसी स्थिति में इसके काल-निर्धारण की समस्या भी विचारणीय है। भाषा के अर्थ में 'अपभ्रंश' शब्द का प्रथम प्रयोग 'चण्ड' ने इसका प्रयोग किया है (न लोपोभ्रंशेधो रेफस्य), उससे यह अनुमान लगता हैं कि उस काल तक भाषा के रूप में 'अपभ्रंश' नाम पर्याप्त प्रचलन पा चुका था। भामह ने इसी सदी में 'अपभ्रंश' को संस्कृत और प्राकृत के साथ एक काव्योपयोगी भाषा कहा (संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा-काव्यालंकार 1, 16, 28)। वलभी के राजा द्वितीय धरसेन के इसी सदी के एक ताम्रलेख में 'संस्कृतप्राकृतापभ्रंश भाषात्रयप्रतिबद्ध प्रबन्धरचना निपुणान्तकरण:' में भी इसका नाम आता। इससे भी उसी बात का संकेत मिलता है। इसका आशय यह हुआ कि मोटे रूप से 500 ई. के बहुत बाद अपभ्रंश का जन्म नहीं माना जा सकता, क्योंकि छठी सदी में यह स्वीकृत काव्यभाषा बन चुकी थी। और भाषा जन्मते ही काव्यभाषा नहीं बन जाती।

जन्म के बाद काव्यभाषा स्वीकृत होने में सौ-पचास साल लग ही जाते हैं। ऐसी स्थिति में डॉ॰ उदयनारायण तिवारी (हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास में अपभ्रंश का योग, (सातवीं सदी) समय स्वीकार नहीं किये जा सकते। इन लोगों की मान्यताएँ उपर्युक्त उद्धरणों के साथ मेल नहीं खाती। दूसरा प्रश्न यह उठता है कि क्या 500 ई॰ से बहुत पहले अपभ्रंश का जन्म माना जा सकता है, जैसा कि डॉ॰ सेन ने किया है। इस सम्बन्ध में दो बातें कहीं जा सकती हैं। एक तो यह कि ऊपर के वलभी नरेश या भामह के उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि संस्कृत और प्राकृत के बाद ही अपभ्रंश का क्रम आता है। साहित्यिक प्राकृतों का जन्म पहली सदी के आसपास हुआ तथा उनका साहित्य में प्रयोग दूसरों सदी के लगभग से माना जा सकता है। भाषा में इतना अधिक परिवर्तन आने में, कि वह दूसरे नाम की अधिकारिणी बन सके, कम-से-कम चार-पाँच सौ साल तो लगेंगे ही। इसके अतिरिक्त साहित्य की दृष्टि से अपभ्रंश-अंशों का प्रथम दर्शन कालिदास के 'विक्रमोर्वशीयम्' में होता है। इसे याकोबी तथा स॰ प॰ पण्डित अप्रामाणिक मानते हैं, किन्तु डॉ॰ उपाध्ये एवं डॉ तगारे आदि प्रमाणिक मानते हैं। यदि अप्रामाणिक मानें तो इन अपभ्रंश-अंशों का काल और इधर खिसक आता है और प्रामाणिक मानने पर

नोट

भी पहली सदी के पास इसका रचनाकाल नहीं पहुँचता। इस प्रकार सदी या उसके आस-पास अपभ्रंश का जन्म मानने में बाधक सिद्ध होती है। अत: सभी बातों का ध्यान रखते हुए अपभ्रंश का जन्म 500 ई० के आसपास मानना ही अधिक समीचीन ज्ञात होता है। जहाँ अपभ्रंश की उत्तर सीमा का प्रश्न है, उसे मोटे रूप से 1000 ई० के पास ही मानना होगा। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भाषा जन्मते ही साहित्य में प्रयुक्त नहीं होती। उसे मान्यता मिलने में समय लग जाता है और पुरानी हिन्दी की अब तक प्राप्त प्राचीनतम प्रामाणिक रचना 11वीं सदी की राउलवेल (रोडा कृत) है। ऐसी स्थिति में हिन्दी का जन्म 1000 के आसपास ही माना जा सकता है, उसके बहुत बाद नहीं। लगभग सभी आधुनिक आर्यभाषाओं की यही स्थिति है। यह बात दूसरी है कि उसके बहुत बाद तक अपभ्रंश या तथाकथित अवहट्ट में ग्रन्थ लिखे जाते रहे, इसी प्रकार जैसे इस सदी में भी संस्कृत में नाटक एवं काव्य-ग्रन्थ लिखे गए हैं। निष्कर्षत: अपभ्रंश का काल लगभग 500 से 1000 तक ही मानना उचित है।

अपभ्रंश की बोलियाँ-इस प्रश्न पर विचार करने के पूर्व अपभ्रंश का क्षेत्र विचारणीय है। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में उकारबहुला भाषा का सम्बन्ध उत्तर-पश्चिमी भारत से जोड़ा है। इसका आशय यह है कि अपभ्रंश की उकार की प्रवृत्ति उस समय सामने आने लगी थी (यह प्रवृत्ति कुछ प्राकृतों में भी है) और वह सिन्धु-सौवीर, हिमालय के पास थी। लगभग 1200 वर्ष बाद राजशेखर ने अपने काव्य-मीमांसा में टक्क, भादानक, मरुभूमि (अर्थात् टक्क = विपाशा-सिन्धु के बीच, भादनक = न० ल० दे के अनुसार भागलपुर के पास भदरिया, मेरे अपने विचार में यह नंगल (पंजाब) के पास सतलुजी तट पर स्थित 'भदरी' है जहाँ बैसाखी का प्रसिद्ध मेला लगता है, मरुभूमि = राजस्थान), राजस्थान, पंजाब आदि को अपभ्रंश का क्षेत्र माना है। सम्भत: उनका आशय पश्चिमोत्तर प्रदेश में ही विकसित हुई। कीथ आदि कई विद्वानों ने अपभ्रंश का सम्बन्ध मूलत: आभीरों, गूजरों आदि से माना है। यों जो रचनाएँ मिली हैं, उनको देखेने से स्पष्ट हो जाता है कि प्राय: पूरे आर्यभाषा-भाषी भारत [मुल्तान (अब्दुर्रहमान), बिहार-बंगाल (सरहपा, शबरपा), अवध (स्वयंभू), गुजरात (हेमचन्द्र)] में इसका क्षेत्र था (यद्यपि साहित्य में प्रयुक्त परिनिष्ठित अपभ्रंश शौरसेनी अपभ्रंश) का सम्बन्ध मुख्यत: मध्यप्रदेश से था) तथा इस रूप में अपभ्रंश की बोलियों पर विचार किया जा सकता है। अपभ्रंश के भेदों के सम्बन्ध में प्रचीन आचार्यो तथा अर्वाचीन विद्वानों में बड़ा मतभेद है। विष्णुधर्मोत्तरकर के अनुसार तो स्थान-भेद के आधार पर अपभ्रंश के भेदों का अन्त ही नहीं है, अर्थत् अपभ्रंश के अनन्त भेद है। रुद्रट के 'काव्यालंकार' के टीकाकार नमिसाधु (10वीं सदी) ने अपभ्रंश के उपनागर, आभीर और ग्राम्य तीन भेद माने हैं। मार्कण्डेय ने अपने 'प्राकृत-सर्वस्व' में अपभ्रंश के नागर, उपनागर और व्राचड तीन भेद किये है। 'प्राकृत-सर्वस्व' से यह भी पता चलता है कि उस समय कुछ लोग अपभ्रंश के 27 भेद[4] भी मानते थे। इनके अतिरिक्त अपभ्रंश के व्याकरण पर प्रकाश डालने वाले आचार्यो ने भी ध्वनि या रूप विषयक विशेषताओं का उल्लेख करते समय कई अपभ्रंशों के नाम लिए हैं। उदाहरणार्थ, पुरुषोत्तम ने अपने 'प्राकृतानुशासन' में नागर, व्राचड, उपनागर, पंचाल, वैदर्भी, लाटी, ओड्री, कैकेयी, गौड़ी, टक्क, बर्बर, कुन्तल, पांड्य तथा सिंहल आदि का उल्लेख किया है। आधुनिक विद्वानों में इस दृष्टि से प्रथम नाम डॉ० याकोबी का लिया जा सकता है। इन्होंने 'सनत्कुमार चरिउ' में अप्रभंश के पूर्वी, पश्चिमी, दक्षिणी और उत्तरी चार भेद किये हैं। दूसरा उल्लेख्य नाम डॉ० तगारे का है। इन्होंने इस प्रश्न पर कुछ विस्तार से विचार किया है और याकोबी के उत्तरी के उत्तरी अपभ्रंश का खंडन करते हुए केवल तीन अपभ्रंशों (पूर्वी, पश्चिमी, दक्षिणी) की ही सत्ता स्वीकार की है। डॉ तगारे ने दक्षिणी भेद को व्यर्थ सिद्ध करते हुए अपभ्रंश के केवल दो क्षेत्रीय भेदों-पूर्वी और पश्चिमी को मान्यता दी है।

पूरी समस्या पर विचार करने पर लगता है कि दो प्रश्नों को एक में मिला दिया गया है। एक प्रश्न तो यह कि प्राकृत और आधुनिक आर्यभाषा-काल के बीच में अपभ्रंश के कितने भेद देश में प्रचलित थे, और दूसरा प्रश्न यह है कि साहित्य में कितने अपभ्रंशों का प्रयोग हुआ है। जहाँ तक साहित्य में अपभ्रंश के प्रयोग का प्रश्न है, प्राय: विद्वान् इस बात से सहमत हैं कि कुछ स्थानीय प्रभावों के साथ एक परिनिष्ठित अपभ्रंश का ही प्रयोग हुआ है। यह परिनिष्ठित अपभ्रंश पश्चिमी मालवा, गुजरात और राजस्थान की अपभ्रंश है। अर्थात् साहित्य में अपभ्रंश के सभी भेदों का प्रयोग नहीं हुआ है। ऐसी स्थिति में मात्र अपभ्रंश-साहित्य के विश्लेषण के आधार पर निश्चय ही

नोट

अपभ्रंश के सभी क्षेत्रीय भेदों का पता नहीं चल सकता। यही कारण है कि मात्र साहित्य को अपनी दृष्टि में रखने पर अपभ्रंश के दो-तीन भेद ही दिखाई पड़ते हैं, किन्तु भारत में आर्यभाषा के विकास को यदि हम अपने सामने रखें तो इस प्रकार की मान्यताएँ सत्य से बहुत दूर दिखाई पड़ती हैं।

प्रो. आन्त्वाँ मिय्ये तथा अन्य विद्वानों के अध्ययन के आधार पर यह अब एक प्राय: सर्वस्वीकृत मान्यता है कि वैदिकी में ही आर्येतर प्रभाव तथा विकास के कारण भाषा के तीन क्षेत्रीय भेदों (पश्चिमोत्तरी, मध्यवर्ती, पूर्वी) के बीच पड़ चुके थे। यह स्थिति 8वीं सदी ई० पू० के लगभग की है। आगे चलकर संस्कृत में ये तीनों भेद और स्पष्ट हो चुके थे और बोलचाल के कदाचित् एक दक्षिणी भेद की भी नींव पड़ चुकी थी। और आगे चलने पर पालि-काल में भी ये स्थानीय रूप लोकभाषा में पनपते रहे, यद्यपि पालि साहित्य के आधार पर उसके केवल ऐतिहासिक भेद का ही अनुमान लगता है, भौगोलिक का नहीं। तीसरी सदी ई० पू० के लगभग शिलालेखी प्राकृत का प्रयोग मिलता है। इसका अध्ययन-विश्लेषण फ्रैंक, सेनार्ट, गुणे, महेन्दाले आदि अनेक विद्वानों ने किया है और उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस प्राकृत के उत्तर-पश्चिमी, दक्षिण-पश्चिमी और पूर्वी, ये तीन रूप तो स्पष्ट थे। यों दक्षिण और मध्यवर्ती दो अन्य भेदों की भी संभावनाएँ हैं। प्राकृत-काल में आकर प्राकृत के शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी, अर्धमागधी, इन चार का तो हम सर्वस्वीकृत भेद पाते हैं, किन्तु साथ ही पंजाब-सिन्ध आदि की भाषा के लिए पैशाची या केकय की कल्पना भी पूर्णत: निराधार नहीं कही जा सकती। इसका आशय यह हुआ है कि वैदिक संस्कृत से भेदों का प्रारम्भ हुआ और विकास होते-होते अप्रभ्रंश के पूर्व उसके 4-5 क्षेत्रीय रूप अवश्य थे। अब थोड़ी देर के लिए अपभ्रंश को छोड़कर यदि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं को ले लिया जाए तो इनके कम से कम सात-आठ- 'बँगला, असमिया-उड़िया-बिहारी', 'पूर्वी हिन्दी', 'पश्चिमी हिन्दी', 'पहाड़ी', 'राजस्थानी-गुजराती', 'सिन्धी', 'पंजाबी-लहँदी', 'महाराष्ट्री'-स्पष्ट और पूर्णत: भिन्न रूप हैं जिन्हें सरलतापूर्वक और अधिक क्षेत्रीय भेदों में विभाजित किया जा सकता है, जैसा कि इन नामों से स्पष्ट है। अब प्रश्न उठाया जा सकता है कि चार प्राकृतों और आठ आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के बीच में, क्या कड़ी के रूप में काम करने वाले, केवल दो या तीन ही अपभ्रंश रूप हो सकते हैं?

प्राकृत के चार या पाँच भेदों के अपभ्रंश-काल में एक हो जाने को न तो कोई कारण है और न इसकी सम्भावना ही है। ऐसी स्थिति में अपभ्रंश के भेदों की संख्या निश्चय ही चार (प्राकृत) से अधिक होगी। डॉ. प्रियर्सन ने भाषा-सर्वेक्षण के भूमिका भाग में हर आधुनिक भाषा के लिए एक अपभ्रंश का संकेत किया था। यदि उस सीमा तक न भी जाया जाए तो कम से कम हर स्पष्टत: भिन्न भाषा या भाषा-वर्ग के लिए तो एक अपभ्रंश-रूप मानना ही होगा। यह किसी भी स्थिति में नहीं माना जा सकता कि 1000 ई० के आसपास अपभ्रंश का केवल एक पश्चिमी रूप था और 2-3 सौ वर्षों में ही 12-13 सौ ई० के लगभग उस एक रूप से ही सिन्धी, पंजाबी, गुजराती, खड़ीबोली और मराठी जैसे अधिकांशत: भिन्न रूप विकसित हो गए। भाषा के इतिहास में ऐसा होना इन सामान्य स्थितियों में सर्वथा असंभव है। यही बात पूर्वी अपभ्रंश के बारे में भी कही जा सकती है। इन सारी बातों को देखते हुए शौरसेनी (पश्चिमी हिन्दी, पहाड़ी, राजस्थानी, गुजराती), महाराष्ट्री (मराठी), अद्धमागधी (पूर्वी हिन्दी), मागधी (बिहारी, बंगला, उड़िया, असमिया), टक्क-कैकेय (पंजाबी, लहँदा) और ब्राचड या पैशाची (सिन्धी) इन छह अपभ्रंशों (या अपभ्रंशों के क्षेत्रीय भेदों) का अस्तित्व तो हमें मानना ही पड़ेगा। केवल अपभ्रंश के साहित्य को देखकर उपर्युक्त भेदों को झुठलाना उसी प्रकार है, जैसे आज मिथिला से राजस्थान तक खड़ीबोली में साहित्य रचा जा रहा है और दो-चार सदियों के बाद इस क्षेत्र के साहित्य को देखकर कोई यह कह दे कि 20वीं सदी में मिथिला से राजस्थान तक भाषा का केवल एक रूप ही थोड़े अन्तरों के साथ प्रचलित था।

यहाँ तक अपभ्रंश के क्षेत्रीय भेदों पर विचार किया जा रहा था। डॉ० चटर्जी, डॉ० सेन आदि सभी आधुनिक विद्वानों ने अपभ्रंश के एतिहासिक भेदों का भी उल्लेख किया है और प्राचीन या पूर्व अपभ्रंश को अपभ्रंश तथा अग्रसरीभूत या उत्तर अपभ्रंश को 'अवहट्ट' कहा है। इस बात का विचार करने के पूर्व इस भाषा के विभिन्न नामों पर विचार

नोट

आवश्यक है। 'अपभ्रंश' भाषा का अधिक प्रचलित नाम 'अपभ्रंश' ही हो रहा है, लेकिन बाद के लेखकों ने 'अपभ्रंश' शब्द के विकसित या अपभ्रष्ट रूप अवब्भंस या अवहंस का भी इस भाषा के नाम के रूप में प्रयोग किया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण तथा कुछ अन्य ग्रन्थों में इस भाषा का नाम 'अपभ्रष्ट' भी मिलता है। 'अपभ्रंश' शब्द के विकसित रूपों की तरह ही 'अपभ्रष्ट' के विकसित या विकृत या अपभ्रष्ट रूप अवहत्थ, अवहट्ट, अवहट्ठ, अवहट, अवहट, औहट आदि का भी अपभ्रंश भाषा के नाम के रूप में प्रयोग हुआ है। इसका आशय है कि ये सारे शब्द एक प्रकार से समानार्थी रहे हैं। किसी ने भी 'अपभ्रंश' या 'अपभ्रष्ट' का प्रयोग अपभ्रंश की प्राचीन रूप के लिए तथा 'अवहट्ठ' या 'अवहट्ट' आदि अन्य नामों का प्रयोग अपभ्रंश के अन्तिम रूप के लिए नहीं किया है। अद्दहमाण, ज्योतिरीश्वर ठाकुर, विद्यापति या वंशीधर आदि सभी परवर्ती लेखकों के इस प्रसंग में उद्धृत किए जाने वाले प्रयोगों से भी यह स्पष्ट है। ऐसी स्थिति में नामों के प्रयोग के आधार पर उत्तर अपभ्रंश को 'अवहट्ट' या इस प्रकार का कोई और अलग नाम बहुत उचित नहीं लगता। इस प्रसंग में एक तर्क यह भी दिया जाता है कि परवर्ती लेखकों ने 'अवहट्ट' शब्द का ही प्रयोग किया है, अत: परवर्ती भाषा के लिए यह संज्ञा उचित है। वस्तुत: बात ऐसी नहीं है। 12वीं सदी के उक्ति-व्यक्ति-प्रकारणकार दामोदर पंडित ने तत्कालीन बोलचाल की भाषा को 'अपभ्रंश' ही कहा है, अवहट्ट या अवहट्ठ आदि नहीं। इसके अतिरिक्त इस प्रसंग में जिन लेखकों का नाम 'अवहट्ठ' नाम के प्रयोक्ता के रूप में प्राय: लिया जाता है, उनमें भी इस दृष्टि से मतैक्य नहीं है। अद्दहमाण (12 वीं सदी) इसे 'अवहट्ट' कहते हैं, तो ज्योतिरीश्वर ठाकुर (14वीं सदी) 'वर्णरत्नाकर' में इसे 'अवहठ' (पराकृत अवहठ, पृ॰ 44, कलकत्ता, 1940) की संज्ञा देते हैं। 'प्रकृतपैंगलम्' के एक टीकाकार वंशीधर (16वीं सदी) इसे 'अवहट्ट' कहते हैं, तो दूसरे टीकाकार रविकर इसके लिए 'अपभ्रंश' और 'अपभ्रंष्ट' का प्रयोग करते हैं। विद्यापति (14 वीं सदी) ने इसे 'अवहट्ठ' कहा है। इसका आशय मात्र यह है कि परवर्ती काल में 'अपभ्रष्ट' के कई अपभ्रष्ट रूपों (अवहट्ठ, अवहठ, अवहट्ट) तथा 'अपभ्रंश' का तत्कालीन भाषा के नाम के रूप में प्रयोग हुआ है। इससे यह निष्कर्ष किसी प्रकार भी नहीं निकाला जा सकता कि उस काल की अपभ्रंश के लिए मात्र 'अवहट्ट' नाम का ही प्रचलन था।

उपर्युक्त प्रयोग साहित्यिक थे, अत: उन्हें बहुत सतर्क प्रयोग नहीं माना जा सकता। वैयाकरणों की बात लें। पुरुषोत्तम या हेमचन्द्र ने जब अपने व्याकरण लिखे तो तथाकथित 'अवहट्ठ' थी, किन्तु उन लोगों ने अनेकानेक अन्य नाम लिए, किन्तु 'अवहट्ट' या अवहट्ठ' का उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं समझी। सन्धि-कालीन या परवर्ती अपभ्रंश का वर्णन केवल एक ही वैयाकरण ने किया है, और वे हैं संक्षिप्तसारकार। डॉ॰ सेन आदि विद्वानों ने इसे स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि उनका वर्णन परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ठ का है, किन्तु उन्होंने भी इस भाषा को अवहट्ठ आदि न कहकर अपभ्रंश ही कहा है। इसका अर्थ यह है कि पहले कभी भी अपभ्रंश के परवर्ती भाग के लिए कोई विशेष नाम नहीं प्रचलित था। यों अपभ्रंश को सामान्यत: अपभ्रंश ही कहते थे, किन्तु साथ ही अवहट्ट आदि भी उसके समानार्थी के रूप में प्रयुक्त होते थें (14वीं सदी में ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने वर्णरत्नाकर में एक भाट को संस्कृत, पराकृत, अवहठ, पैशाची, शौरसेनी, मागधी इन छह भाषाओं का तत्त्वज्ञ कहा है। स्पष्ट ही यहाँ 'अवहठ' शब्द अपभ्रंश के लिए आया है)। ऐसी स्थिति में 'अपभ्रंश' को 'पुरानी अपभ्रंश' का वाचक तथा उसी के पर्यायवत् प्रयुक्त शब्द 'अवहट्ठ' या 'अवहट्ट' को परवर्ती अपभ्रंश का वाचक मानने का मेरे विचार में कोई औचित्य नहीं है।

इन सारी बातों के अतिरिक्त क्या परवर्ती अपभ्रंश के लिए सचमुच किसी अलग नाम की आवश्यकता है? एक भाषा किसी एक क्षण में नहीं उत्पन्न होती। दो भाषाओं के बीच में संक्रांति-काल होता ही है। वैदिकी और संस्कृत, संस्कृत और पालि, पालि और प्राकृत, प्राकृत और अपभ्रंश के बीच का संक्रांति-काल किसी भी रूप में अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के बीच के संक्रांति-काल किसी भी रूप में अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के बीच के संक्रांति-काल से भिन्न नहीं है। ऐसी स्थिति में कोई कारण नहीं है कि उन संक्रांति-कालीन

भाषाओं को छोड़कर इस संक्रांति-कालीन भाषा को एक अलग नाम दिया जाय। इस प्रकार की संक्रांति-कालीन भाषाओं को नाम देना प्रारम्भ किया जाय। तो इनकी कोई सीमा न होगी। अपभ्रंश और अवहट्‌ठ के बीच भी एक संक्रांति-काल होगा और इसी प्रकार अवहट्‌ठ और आधुनिक भाषाओं के बीच में भी। और फिर उनके बीच भी। इसके अतिरिक्त संक्रांति-कालीन भाषा-रूप को एक अलग नाम देना कहाँ तक वैज्ञानिक है? ऐसा करने से उसे एक अलग भाषा होने का भ्रम होता है, जबकि वह स्वतन्त्र भाषा न होकर संक्रांति-कालीन भाषा-रूप को एक अलग नाम देना कहाँ तक वैज्ञानिक है? ऐसा करने से उसके एक अलग भाषा होने का भ्रम होता है, जबकि वह स्वतन्त्र भाषा न होकर संक्रांति-कालीन भाषा, अर्थात् दो भाषाओं का मिलन-क्षेत्र है। और यों तो हर क्षण भाषा परिवर्तित होती रही है।

ऐसा नहीं कि 'अवहट्‌ठ' शब्द या नाम का 'परवर्ती अपभ्रंश' के लिए प्रयोग बन्द कर दिया जाय। एक बार चल पड़ी परम्परा लाख गलत होने पर भी चलती ही रहती है। यहाँ केवल यह संकेत आवश्यक है कि बिना विशेष वैज्ञानिक आधार, औचित्य या अवश्यकता के यह नाम चल पड़ा है और चलती का नाम गाड़ी है।

अपभ्रंश की बोलियाँ और आधुनिक भाषाओं से उनका सम्बन्ध

ऊपर अपभ्रंश के भौगोलिक रूपों, भेदों या बोलियों का उल्लेख किया गया है। आज की आर्यभाषाओं की जननी के रूप में निम्नांकित अपभ्रंश-बोलियाँ उल्लेख्य है।

1. शौरसेनी

(क) पश्चिमी हिन्दी

(ख) इस अपभ्रंश के नागर रूप से-

(अ) राजस्थानी

(ब) गुजराती

(ग) इस अपभ्रंश के पहाड़ी भागों में स्थित रूप से– पहाड़ी

2. पैशाची या कैकेय टक्क

(क) लहँदा

(ख) पंजाबी (इस पर शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव है)

3. व्राचड,	सिन्धी
4. महाराष्ट्री	मराठी
5. अर्धमागधी	पूर्वी हिन्दी
6. मागधी	

(क) बिहारी

(ख) बंगाली

(ग) उड़िया

(घ) असमिया

पहाड़ी भाषाओं (नेपाली, कुमायूँनी, गढवाली आदि) के लिए डॉ॰ चटर्जी ने खस अपभ्रंश की कल्पना की थी। किन्तु मेरे विचार में ये भी शौरसेनी से ही (शौरसेनी के उस रूप से जो पहाड़ी भागों में प्रचलित था, यदि चाहें तो उसे अपभ्रंश बोली शौरसेनी की खस उपबोली कह सकते हैं) निकली है। 'पूर्वी हिन्दी' का सम्बन्ध डॉ॰ सक्सेना अर्धमागधी से नहीं मानते। उनके विचार में यह अपेक्षाकृत पाली के अधिक निकट है, किन्तु मेरे विचार में उस अपभ्रंश को, जिससे पूर्वी हिन्दी निकली है, अर्धमागधी का कहना ही उचित है। पीछे महाराष्ट्री प्राकृत पर विचार करते समय कहा जा चुका

नोट

है कि महाराष्ट्री केवल महाराष्ट्र की प्राकृत न होकर पूरे आर्य क्षेत्र में काव्य में प्रचलित थी। यहाँ, जिस महाराष्ट्री अपभ्रंश का उल्लेख है, वह अपभ्रंश है जो अपभ्रंश-काल में महाराष्ट्र में प्रयुक्त होती थी। इस अपभ्रंश का सम्बन्ध उस प्राकृत से है जो प्राकृत-काल में महाराष्ट्र की जनभाषा थी। यह आवश्यक नहीं कि वह प्राकृत, काव्यभाषा महाराष्ट्री प्राकृत से सभी बातों में समान रही हो, यद्यपि दोनों का नाम एक है। ऊपर शौरसेनी अपभ्रंश के स्वरूप नागर अपभ्रंश से राजस्थानी एवं गुजराती का सम्बन्ध माना गया है। यह शौरसेनी अपभ्रंश का दक्षिणी-पश्चिमी रूप था। अपभ्रंश की इस उपबोली को कभी-कभी सौराष्ट्री अपभ्रंश भी कहते हैं। पैशाची के स्थान पर कुछ लोग केकय का प्रयोग करते हैं। खस को दरद नाम से भी पुकारा गया है। कुछ लोगों ने पैशाची या केकय से ही सिंधी, पंजाबी एवं लहँदा तीनों को सम्बद्ध किया है किन्तु कुछ 'व्राचड़' से सिन्धी का विकास मानते हैं।

पालि-काल में गुजरात में जो रूप बोला जाता था, दूसरी सदी ई० पू० में वहाँ से जाने वालों के साथ श्रीलंका पहुँचा। प्राकृत-काल में वह सिंहली प्राकृत या एलू प्राकृत (सिंहली के आदि रूप को एलू कहते हैं) था। अपभ्रंश-काल में उसे सिंहली अपभ्रंश या एलू अपभ्रंश कह सकते हैं।

अपभ्रंश के कुछ प्रमुख रूप

शौरसेनी अपभ्रंश-शौरसेनी प्राकृत से विकसित यह अपभ्रंश उत्तर में पहाड़ी बोलियों के क्षेत्र, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, कुछ पूर्वी पंजाब, मध्यप्रदेश के पश्चिमी भाग, राजस्थान एवं गुजरात में बोली जाती थी। इसी का परिनिष्ठित रूप तत्कालीन आर्यभाषी पूरे भारत की भाषा थी। अपभ्रंश साहित्य में इसी भाषा का प्रयोग हुआ है। इसे पश्चिमी अपभ्रंश, नागरक अपभ्रंश, नागरिका या नागर अपभ्रंश भी कहते हैं। कभी-कभी नागरक अपभ्रंश का प्रयोग शौरसेनी अपभ्रंश के गुजरात में प्रयुक्त रूप के लिए भी हुआ है। परमात्मप्रकाश, योगसार, पाहुड़ दोहा, सावयधम्म दोहा, भविस्यत्तकहा, उपदेश-तरंगिणी, सरत्कुमारचरिउ तथा कुमारपाल-प्रतिबोध आदि इसकी प्रमुख साहित्यिक कृतियाँ हैं। इसकी प्रमुख विशेषताएँ ये हैं-

(1) प्राकृत-कल्पतरु के अनुसार इसका आधार महाराष्ट्री एवं शौरसेनी प्राकृत है। (2) उसी के अनुसार इसमें असंयुक्त, अनादि क्, ख् त्, थ्, क्रमशः ग्, घ्, द्, ध् हो जाते थे : नाक झ णाग, सुख झ सुघु, पतितु झ पदिदु, शोथ झ सोधु। किन्तु 'सकल' जैसे कुछ शब्द माहाराष्ट्री प्राकृत की तरह सअल आदि हो जाते हैं: (3) प्राकृतानुशासन के अनुसार श्, ष् का स् हो जाता था : शोथ झ सोधु। (4) अंत्य स्वर ह्रस्व हो गया था- संध्या झ साँझ। (5) स्वर-संयोग के बीच य्, व, ह् का आगम हो जाता था। (6) स्वरमध्यम -म्- कभी-कभी-ब्- हो जाता था तथा परवर्ती स्वर अनुनासिक हो जाता था : कमल झ कवँल। (7) अंत्य -अ, इ -उ कभी-कभी अनुनासिक हो जाते थे। (8) आदि अल्पप्राण स्पर्शो का अनेक शब्दों में महाप्राणीकरण हो गया थ। (9) -ई का स्त्री प्रत्यय तथा -आ का पुल्लिंग प्रत्यय के रूप में विकास हो चुका था। (10) -डा. -डी, .उल्ल, उल्लि, -अ आदि कई स्वार्थे प्रत्यय प्रयुक्त होते थे। (11) अकारांत पुं० प्रथमा एक० -अहः का -ओ (कभी-कभी -ए) तो मिलता ही है, साथ ही -उ एवं -अ भी मिलता है। देवः झ देवः झ देवो झ देवु झ देव। नपुं० -अं तो था ही, पुल्लिंग के प्रभाव से नपुं० में -उ, -अ भी मिलता है। (12) कुछ सर्वनामों में रूपों का आधिक्य है। समवेत रूप से रूप कम हो गए। (13) वर्तमानकालिक कृदंत का प्रयोग तीनों कालों के लिए हो सकता था। कृदंत का प्रयोग बढ़ गया था। (14) क्रिया-रूप कम हो गए थे।

(ख) व्राचड अपभ्रंश-पुरूषोत्तम के प्राकृतानुशासन के अनुसार इसमें ष्, स् का स् त, ध का अस्पष्ट उच्चारण, तथा चवर्ग का तालव्यीकरण हो गया थ। इसका स्थान सिंध के आसपास था।

(ग) उपनागरक अपभ्रंश-इसके अन्तर्गत पुरुषोत्तम ने वैदर्भी, लाटी, औड्री, कैकेयी, गौड़ी, बर्बरी, कौतल, पांड्य तथा सिंहली का उल्लेख किया है। इनमें कैकेयी में प्रतिध्वन्यात्मक शब्द, औड्री में इ, ओ के अधिक प्रयोग, लाटी में सम्बोधन के रूपों का आधिक्य, तथा वैदर्भी में–उल्ल प्रत्यययुक्त शब्दों के आधिक्य का उल्लेख है। टक्की को हरिश्चन्द्र ने अपभ्रंश ने अन्तर्गत रखा है, यद्यपि पुरुषोत्तम इसे प्राकृत मानते हैं।

(घ) दक्षिणी अपभ्रंश-इसका सम्बन्ध महाराष्ट्री क्षेत्र से था। इसकी साहित्यिक कृतियाँ पुष्पदन्त का महापुराण तथा कनकामर करकंडचरिउ आदि है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं:

(1) अन्य अपभ्रंशों में ष् का ख् या क्ख् हो जाता है, किन्तु इसमें छ्। (2) अकारांत पुल्लिंग का एकवचन तृतीया पश्चिमी में -एँ होता है, किन्तु इसमें एण। अर्थात् इसमें इस दृष्टि से विकास कम हुआ है। (3) वर्तमान (उत्तमपुरुष एकवचन) में भी वही प्राचीनता दृष्टिगत होती है: पश्चिमी में -उँ, जबकि इसमें -मि। अन्य पुरुष बहुवचन में -न्ति (पश्चिमी में -हि)।

बहुत से लोग दक्षिणी अपभ्रंश का साहित्य में अस्तित्व नहीं मानते।

(ङ) पूर्वी अपभ्रंश-बंगाल, बिहार, असम, उड़ीसा इसका क्षेत्र था। सरहपा और कण्हपा के दोहे इसी में हैं। इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं:

(1) क्ष् > ख्, क्ख् (क्षण = खण, अक्षर = अक्खर)। (2) व् > ब् (वेद > बेअ)। (3) श् सुरक्षित है तथा स्, ष् दोनों ही श् हो गए हैं। (4) प्रारम्भ में महाप्राण प्राय: नहीं है। (5) अनेक संज्ञाएँ बिना विभक्ति के प्रयुक्त हुई हैं। (6) लिंग का बन्धन कम हो गया है। (7) क्रियार्थक संज्ञा-इब से बनती थी, न कि पश्चिमी की तरह -अण से।

स्व-मूल्यांकन

2. सही विकल्प चुनिए

1. शहबाजगढ़ी, मनसेरा तथा ऐबटाबाद आदि स्थान वर्तमान में किस देश में स्थित हैं–
   (क) बांग्ला देश (ख) भारत (ग) पाकिस्तान
2. अशोक के अभिलेखों की भाषा को कहते हैं–
   (क) शिलालेखी प्राकृत (ख) शौरसेनी प्राकृत (ग) अर्धमागधी
3. प्राचीन शैरसेनी या पश्चिमी प्राकृत का प्रयोग किया है–
   (क) विदूषक एवं गणिका ने (ख) ब्राह्मणों ने (ग) बौद्धों ने
4. पूर्वी हिंदी का संबंध डॉ॰ रामबाबू सक्सेना नहीं मानते हैं–
   (क) मगही से (ख) मैथिली से (ग) अर्धमागधी से

अपभ्रंश की सामान्य विशेषताएँ

(1) इसमें निम्नांकित ध्वनियाँ थीं : अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, एँ, ए, ओं, ओ, कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, य, रश लश व्, व स, ह, ळ, ळह, म्ह, न्ह, ण्ह, ल्ह, रह्, ड्, ढ्। एँ, ओं के लिए स्वतंत्र चिन्ह न होने से, इनके लिए प्राय: इ, उ का व्यवहार होता था। 'अ' का पूर्वी तथा पश्चिमी अपभ्रंशों में संवृत-विवृत का भेद था। ऋ का लिखने में प्रयोग था, किन्तु उसका उच्चारण रि होता था। श का प्रचार केवल मागधी (सम्भवत: पूर्वी मागधी) में था। ळ महाराष्ट्री में तो था ही, साथ ही उड़ीसा में बोली जाने वाली मागधी अपभ्रंश एवं गुजरात, राजस्थान, बाँगडू, पहाड़ी में बोली जाने वाली शौरसेनी में भी था। इन क्षेत्रों में अब भी वह ध्वनि है। ळह् भी कही-कहीं था। म्ह आदि महाप्राण थे। (2) स्वरों का अनुनासिक रूप (ऋ का नहीं) प्रयुक्त होने लगा था। (3) संगीतात्मक स्वराघात समाप्त हो चुका था। बलात्मक स्वराघात विकसित हो चुका था। (4) अपभ्रंश एक उकार-बहुला भाषा थी। यों तो 'ललितविस्तर' तथा 'प्राकृत धम्मपद' आदि ग्रन्थों में भी यह प्रवृत्ति मिलती है, किन्तु वहाँ यह प्रवृत्ति अपने बीज रूप में है। अपभ्रंश में यह बहुत अधिक है जहाँ से यह बजभाषा या अवधी आदि को मिली है (जैसे एक्कु, करणु, पियासु, अंगु, मूलु और जगु आदि)। (4) ध्वनि-परिवर्तन की दृष्टि से जो प्रवृत्तियाँ (लोप, आगम, विपर्यय आदि) पालि में शुरू होकर प्राकृत में विकसित हुई थीं, उन्हीं का यहाँ आकर और विकास हो गया। (6) शब्द के अन्तिम स्वर के ह्रस्व होने की प्रवृत्ति प्राकृत में भी थी, किन्तु अपभ्रंश में, जैसा कि ऊपर कहा गया है, बढ़ गई। अपभ्रंश की ध्वनात्मक विशेषताओं में प्रमुख होने के कारण यह उल्लेख्य है। अन्त्य स्वर का यह ह्रस्वीकरण या कभी-कभी लोप स्वराघात के कारण हुआ है। जिस अन्तिम स्वर पर स्वराघात होगा, उसका लोप या ह्रस्व रूप

नोट

नहीं होता, किन्तु जिस पर स्वाराघात नहीं होता, उस पर बल कम होता जाता है।

इस प्रकार उसका रूप ह्रस्व हो जाता है, या और आगे बढ़कर वह समाप्त भी हो जाता है। सं॰ गर्भिणी, प्रा॰ गब्भिणी, अप॰ गाब्भिणि (सं॰ कीटक, प्रा॰ कीडअ, अप॰ कीड)। इन शब्दों में प्राकृत की तुलना में ह्रस्व या लोप दिखाई पड़ता है। संस्कृत की तुलना में तो यह प्रवृत्ति अपभ्रंश में और भी मिलती है, जैसे हरीडइ (हरीतकी), संझ (सन्ध्या), वरआत्त आदि। (7) अप्रभ्रंश में स्वराघात प्राय: आद्यक्षर पर था, इसीलिए आद्यक्षर तथा उसका स्वर यहाँ प्राय: सुरक्षित मिलता है। जैसे माणिक्य-माणिक्क, घोटक-घेडअ, या घोड़ा आदि (संस्कृत की तुलना में)। प्राकृत की तुलना में छाहा (सं॰ छाया) से छाआ, आमलअ (सं॰ आमलक) से आवँलअ आदि है। (8) म का वँ (प्रा॰ आमलअ, अप॰ आवँलअ, कमल-कवँल), व का व (वचन-बअण), ष्ण का न्ह (कृष्ण-कान्ह), क्ष का क्ख या च्छ (पक्षी-पक्खी, पच्छी), स्म का म्ह (अस्मै-अम्ह), य का ज (युगल-जुगल) ड, द, न, र के स्थान पर 'ल' (प्रदीप्त-पलित आदि) आदि रूप में ध्वनि-विकास की बहुत-सी प्रकृतियाँ मिलती हैं। (9) (विशेषत: परवर्ती अपभ्रंश में) समीकरण के कारण उत्पन्न द्वित्वता में एक व्यंजन बच गया है और पूर्ववर्ती स्वर में क्षतिपूरक-दीर्घीकरण हो गया है। (सं॰ तस्य, प्रा॰ तस्स, अप॰ तासु, कस्य, कस्सं, कासु, कर्म, कम्म, कामु)। (10) पालि, प्राकृत में विकास तो हुआ था, किन्तु सब कुछ ले-देकर वे संस्कृत की प्रवृत्ति से अलग नहीं थी। अपभ्रंश पूर्णत: अलग हो गई और वह प्राचीन की अपेक्षा आधुनिक भारतीय भाषाओं की ओर अधिक झुकी है। (11) भाषा में धातु और नाम दोनों के रूप कम हो गए इस प्रकार भाषा अधिक सरल हो गई। (12) वैदिकी, संस्कृत, पालि तथा प्राकृत संयोगात्मक भाषाएँ थीं। प्राकृत में वियोगात्मकता या अयोगात्मकता के लक्षण दिखाई पड़ने लगे थे, किन्तु अपभ्रंश में आकर ये लक्षण प्रमुख हो गए, इतने प्रमुख कि संयोगात्मक और वियोगात्मक भाषाओं के सन्धिस्थल पर खड़ी अपभ्रंश भाषा वियोगात्मकता की ओर ही अधिक झुकी है। यह बात आगे की दोनों बातों से स्पष्ट हो जाएगी। (13) संज्ञा, सर्वनाम से कारक के रूप के लिए संयोगात्मक भाषाओं में केवल विभक्तियाँ लगती हैं जो जुड़ी होती हैं, किन्तु वियोगात्मक में अलग से शब्द लगाने पड़ते हैं तो अलग रहते हैं। हिन्दी में ने, को, में, से आदि ऐसे ही अलग शब्द हैं। प्राकृत में इस तरह के दो-तीन शब्द मिलते हैं, किन्तु अपभ्रंश में बहुत से कारकों के लिए अलग शब्द मिलते हैं। जैसे करण के लिए सहुँ, तण, सम्प्रदान के लिए केहि, रेसि, अपादान के लिए थिउ, होन्त, सम्बन्ध के लिए केरअ, कर, का और अधिकरण के लिए महें, मज्झ आदि। (14) ऊपर नाम-रूप थे। काल-रूपों के बारे में भी यही स्थिति है। संयोगात्मक भाषाओं में तिङ् प्रत्यय के योग से काल और क्रियार्थ की रचना होती है। वियोगात्मक में सहायक क्रियात्मक के सहारे कृदन्ती रूपों से ये बातें प्रकट की जाती हैं। इस प्रकार की वियोगात्मक प्रवृत्तियाँ प्राकृत में अपनी झलक दिखाने लगी थीं, किन्तु अब ये बातें बहुत स्पष्ट हो गई। संयुक्त क्रिया का प्रयोग होने लगा। तिङन्त रूप कम रह गए। (15) नपुंसकलिंग समाप्तप्राय हो गया (महाराष्ट्रीय एवं दक्षिणी शौरसेनी अपवाद थी)। (16) अकारान्त पुल्लिंग प्रातिपदिको की प्रमुखता हो गई। अन्य प्रकार के थोड़े-बहुत प्रातिपदिक थे भी तो उन पर इसी के नियम प्राय: लागू होते थे। इस प्रकार इस क्षेत्र में एकरूपता आ गई। (17) कारकों के रूप बहुत कम हो गए। संस्कृत में एक शब्द के लगभग 24 रूप होते थे, प्राकृत में उनकी संख्या लगभग 12 रह गई थी, अपभ्रंश में लगभग 6 रूप रह गए: दो वचनों और 3 कारकों 1. कर्ता, कर्म, सम्बोधन, 2. करण, अ करण, 3. सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध) के। (18) स्वार्थिक प्रत्यय -ड का प्रयोग अधिक होने लगा। राजस्थानी आदि में यही -ड़, -ङ् -डिया आदि रूपों में मिलता है। (19) वाक्य में शब्दों के स्थान निश्चित हो गए। (20) अपभ्रंश के शब्द-भण्डार की प्रमुख विशेषताएँ हैं-(क) तद्भव शब्दों का अनुपात अपभ्रंश में सर्वाधिक है। (ख) दूसरा नम्बर देशज शब्दों का है। क्रियाओं में भी ये शब्द पर्याप्त हैं। ध्वनि और दृश्य के आधार पर बने नये शब्द भी अपभ्रंश में काफी हैं। (ग) तत्सम शब्द अपभ्रंश के पूर्वार्द्ध-काल में तो बहुत ही कम हैं, किन्तु उत्तरार्द्ध में उनकी संख्या काफी बढ़ गई है। (घ) इस समय तक बाहर से भारत का पर्याप्त सम्पर्क हो गया था, इसी कारण उत्तरकालीन अपभ्रंश में कुछ विदेशी शब्द भी आ गए हैं, जैसे ठट्ठा (फ़ा॰ तश्त), ठक्कुर (तुर्की तेगिन), नीक, तुर्क, तहसील, नौबति, हुद्दादार (फ़ा॰ ओह्दादार) आदि। (ङ) आस्ट्रिक एवं द्रविड़ के अनेक शब्द तो आत्मसात् ही कर लिए गए थे।

अवहट्ठ या अवहट्ट-जैसा कि पीछे कहा जा चूका है, अवहट्ठ अपभ्रंश, और आधुनिक भाषाओं के बीच की कड़ी है। बल्कि यो कहना अधिक उचित होगा कि यह अपभ्रंश और हुई और आधुनिक भाषाओं का आरम्भ हुआ।

नोट

ऐसी स्थिति में स्वाभाविक है कि लगभग 900 से 1100 ई॰ या कुछ बाद तक की भाषा में अपभ्रंश एवं आधुनिक भाषाओं का बहुत अधिक मिश्रण रहा होगा। 900 से प्राय: 1000 ई॰ तक अपभ्रंश के अंश अधिक रहे होंगे और आधुनिक भाषाओं के अंश कम, किन्तु 1000 ई॰ से 1100 या कुछ बाद तक अपभ्रंश के अंश धीरे-धीरे कम होते गए और आधुनिक भाषाओं के अंश बढ़ते गए। यों तो उसके बाद भी लगभग 13-14वीं सदी तक कुछ-न-कुछ अपभ्रंश-अंश मिलते हैं, किन्तु वे बहुत कम हो गए हैं। तो इस प्रकार संधिकालीन अपभ्रंश या अवहट्ठ भाषा मोटे रूप से 100 ई॰ से 1100 ई॰ या कुछ बाद तक है। यों साहित्य में इसका प्रयोग 14वीं सदी तक होता रहा है। साहित्यिक अवहट्ठ का मूल रूप कदाचित् परिनिष्ठित पशिचिमी अपभ्रंश था, किन्तु जो ग्रन्थ जहाँ रचा गया, वहाँ की भाषा का भी कुछ प्रभाव उस पर पड़ा था। यों साहित्यिक दृष्टि से इसके पूर्वी और पश्चिमी दो ही रूप हैं, किन्तु बोलचाल में सभी आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के मूल में अवहट्ठ के एक-एक भौगोलिक रूप की कल्पना की जा सकती है। अवहट्ठ साहित्य में प्रमुखत: संनेहरासक, उक्ति-व्यक्ति प्रकरण, वर्णरत्नाकर तथा कीर्तिलता आदि हैं। कुछ लोग ज्ञानेश्वरी, राउलवेलि आदि को भी इसके अन्तर्गत रखते हैं। वस्तुत: इनमें कई रचनाओं में कुछ अपभ्रंश के नजदीक हैं, तो कुछ आधुनिक भारतीय भाषाओं के। इस प्रसंग में देसिल बअना या देशी को लेकर कुछ विवाद है। डॉ॰ हीरालाल जैन तथा डॉ॰ बाबूराम सक्सेना अवहट्ठ तथा देशी को एक मानते हैं, किन्तु ब्लॉख, पिशेल आदि दोनों को अलग-अलग मानते हैं। वस्तुत: देशी या देसी शब्द का प्रयोग समय-समय पर प्राकृत एवं अपभ्रंश के लिए होता रहा है और अवहट्ठ जब बोली जा रही थी तो उसके लिए भी इसका प्रयोग हुआ। इस प्रकार अवहट्ठ-काल में देशी का प्रयोग उसी के लिए हुआ है, किसी अन्य के लिए नहीं। अवहट्ठ की प्रमुख विशेषताएँ ये हैं:

(1) अवहट्ठ में वे सभी ध्वनियाँ थीं जो अपभ्रंश में थी। साथ ही उनके अतिरिक्त ऐ, और दो नई ध्वनियों का विकास हो गया है। पुराने अइ का विकास ऐ (भुजपति > भुववइ > भुववै) में, तथा अउ का विकास औ (चतु:हाटक > चउहट्ट) चौहट्ट में हुआ। ह्रस्व ऍ, ओ का प्रयोग कम हो गया। ऋ का प्रयोग लेखन में है, किन्तु उच्चारण में यह रि थी। व्यंजन वे ही थे जो अपभ्रंश में थे। अन्तर केवल कुछ दृष्टियों से आया। संस्कृत के तत्सम शब्दों के आने पर श् ध्वनि का प्रसार और क्षेत्रों में भी कुछ हुआ। ष् केवल लेखन तक ही प्राय: सीमित था। उच्चारण में यह श् ही था। ल्ह (मिल्ह-संदेशरासक), म्ह (ब्राम्हण-उक्तिव्यक्ति), न्ह (ऊन्ह-उक्तिव्यक्ति), र् ह ध्वनियाँ भी थीं।

(2) स्वर-संयोगो के मिलकर एक हो जाने की सामान्य प्रवृत्ति मिलती है। इसे स्वर-संकोचन (Vowel contraction) कहा गया है: मयूर > मऊर > मोर, अन्धकार > अन्धआर > अन्धार, चतुर्विंशति > चउबिस > चौबिस।

(3) अकारण अनुनासिकता (Spontaneous nasalization) भी मिलती है: अश्रु > अस्सु > अँसू, आँसू।

(4) क्षतिपूरक दीघीकरण (Compensatory lengthening)-इसमें व्यंजन-द्वित्व के स्थल पर एक व्यंजन हो जाता है, अत: उस व्यंजन की अनुपस्थिति के कारण हुई मात्रिक क्षति की पूर्ति के लिए पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ हो जाता है। उदाहरणार्थ तुर्की तेगिन > ठक्कुर > ठाकुर, कार्य > कज्ज > काज, कर्म > कम्म > काम, मित्र > मित्त > मीत, उच्छवास > उस्सास > ऊसास। इसके अपवाद भी मिलते हैं: अप्पण > अपन।

(4) अंत्य -ए, -ओ ह्रस्व होकर -इ, -उ हो गए : पर: > परो > परु > क्षणे > खणे > खणि।

(6) स्वरमध्यग-म- प्राय: -व- मिलता है: सम- > सँव। पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक हो जाता है।

(7) अकारांत प्रथमा एकवचन (पुल्लिंग) का -अ: तथा नपुंसकलिंग -अम्, इन दोनों ही के स्थान पर -उ या -अ मिलता है। वस्तुत: हुआ यह कि पुल्लिंग -अ: का -ओ और -ओ का -उ हो गया। इस पुल्लिंग का ही प्रभाव नपुंसकलिंग पर पड़ा और वह भी -उ हो गया। अन्त में -उ निर्बल होकर -अ रह गया।

(8) पुल्लिंग एवं स्त्रीलिंग में भी काफी रूप समान हो गए।

(9) एह, जेह, केह जैसे नए सर्वनाम प्रयोग में आने लगे।

नोट

(10) संयुक्त क्रिया का प्रयोग होने लगा।

(11) परम्परा रूप से तद्‌भव अधिक प्रयोग में आते रहे। हिन्दू धर्म के प्रति पुनर्जागरण के कारण तत्सम शब्द भी काफी प्रयुक्त होने लगे। मुसलमानों के आने के कारण अरबी, फारसी, तुर्की के शब्द भी काफी आ गए। अवहट्‌ठ साहित्य में प्रयुक्त कुछ विदेशी शब्द कुरुवक (कोरवेग), देमान (दीवान), तकतान (तख्त), तथ्य (तश्त), षोजा (ख्वाजा), आदि हैं। देशी शब्दों की संख्या भी पर्याप्त थी, जैसे (गुंडा (= गोली)ए हचड़ (= कीचड़), धाँगड़ (= जंगली), धाड़ा (= धावा) आदि।

18.3 सारांश

आर्य जब भारत में आए, उस समय उनकी भाषा तत्कालीन ईरानी भाषा से कदाचित् बहुत अलग नहीं थी। किन्तु जैसे-जैसे यहाँ के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रभाव, विशेषत: आर्येतर लोगों से मिश्रण के कारण पड़ने लगे, भाषा परिवर्तित होने लगी। इस प्रकार वह अपनी भगिनी-भाषा ईरानी में कई बातों से अलग हो गई। भारतीय आर्य भाषा का प्राचीनतम रूप वैदिक संहिताओं में मिलता है। इनमें रूपाधिक्य है, नियमितता की अपेक्षाकृत कमी है और अनेक प्राचीन शब्द हैं जो बाद में नहीं मिलते। वैदिक संहिताओं का काल मोटे रूप में 1200 ई. पू. से 900 ई. पू. के लगभग है।

भाषा का और विकसित रूप सूत्रों में मिलता है। इसका काल 800 ई. पू. से बाद का है। यह संस्कृत पाणिनीय संस्कृत के काफ़ी पास पहुँच गई है, यद्यपि उसमें पाणिनीय संस्कृत की एकरूपता नहीं है। इसी काल के अन्त में लगभग 5वीं सदी में पाणिनी ने अपने व्याकरण में संस्कृत के उदीच्य में प्रयुक्त रूप के अपेक्षाकृत अधिक परिनिष्ठित एवं पण्डितों में मान्य रूप को नियमबद्ध किया, जो सदा-सर्वदा के लिए लौकिक या क्लैसिकल संस्कृत का सर्वमान्य आदर्श बन गया। पाणिनि की रचना के बाद बोलचाल की भाषा पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, आधुनिक भाषाओं के रूप में विकास करती आज तक आई है।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा काल में, जनभाषा पर आधारित, वैदिक एवं लौकिक संस्कृत भाषा के दो रूप, साहित्य में प्रयुक्त हुए। दूसरे रूप-लौकिक संस्कृत-को पाणिनि ने अपने व्याकरण में जकड़ कर उसे सदा सर्वदा के लिए एक स्थायी रूप दे दिया, किन्तु जनभाषा भला इस बन्धन को कहाँ मानती? वह अबाधगति से परिवर्तित होती रही, बढ़ती रही। इस जनभाषा के मध्यकालीन रूप को ही 'मध्यकालीन आर्यभाषा' की संज्ञा दी गई है।

विश्व के भाषा खंड चार हैं– **(1) अफ्रीकी-खंड–** इसमें मुख्यत: चार भाषा-परिवार हैं: (i) बुशमैन, (ii) बाँटू, (iii) सूडान, (iv) हैमेटिक-सेमेटिक। कुछ विद्वान् सेमेटिक और हैमेटिक को अलग-अलग परिवार मानते हैं।

(2) यूरेशिया खंड– इसमें मुख्यत: नौ भाषा-परिवार हैं: (i) हैमेटिक-सेमेटिक, (ii) काकेशियन, (iii) यूराल-अल्टाइक, (iv) चीनी, (v) द्रविड़, (vi) आस्ट्रो-एशियाटिक, (vii) जापानी-कोरियाई, (viii) मलय-पालिनेशियन, (ix) भारोपीय। कुछ भाषाएँ अनिश्चित परिवार की भी हैं।

(3) प्रशांतमहासागरीय खंड– इसमें मुख्यत: मलय-पालिनेशियन परिवार हैं। कुछ लोग इसे कई परिवारों का समूह मानते हैं।

(4) अमरीकी-खंड– अमरीकी परिवार। कुछ लोग इसमें लगभग सौ परिवार मानते हैं। इनमें कुछ परिवार तो एकाधिक भाषा-खंडों में हैं तथा कुछ को काफ़ी विद्वान् एक परिवार में रखने के पक्ष में हैं। इस प्रकार विश्व में मुख्यत: निम्नांकित भाषा परिवार हैं (1) भारोपीय, (2) द्रविड़, (3) चीनी, (4) सेमेटिक-हैमेटिक, (5) यूराल-अल्टाइक, (6) काकेशियन, (7) जापानी-कोरियाई, (8) मलय-पालिनेशियन, (9) आस्ट्रो-एशियाटिक, (10) बुशमैन, (11) बांटू, (12) सूडान, (13) अमरीकी।

आर्य जब भारत में आए, उस समय उनकी भाषा तत्कालीन ईरानी भाषा से कदाचित् बहुत अलग नहीं थी। किन्तु जैसे-जैसे यहाँ के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रभाव, विशेषत: आर्येतर लोगों से मिश्रण के कारण पड़ने लगे, भाषा परिवर्तित होने लगी। इस प्रकार वह अपनी भगिनी-भाषा ईरानी से कई बातों में अलग हो गई। भारतीय आर्य भाषा का प्राचीनतम रूप वैदिक संहिताओं में मिलता है। इनमें रूपाधिक्य है, नियमितता की अपेक्षाकृत कमी है और अनेक प्राचीन शब्द हैं जो बाद में नहीं मिलते।

भाषा का और विकसित रूप सूत्रों में मिलता है। इसका काल 800 ई. पू. से बाद का है। यह संस्कृत पाणिनीय संस्कृत के काफ़ी पास पहुँच गई है, यद्यपि उसमें पाणिनीय संस्कृत की एकरूपता नहीं है। इसी काल के अन्त में लगभग 5वीं सदी में पाणिनी ने अपने व्याकरण में संस्कृत के उदीच्य में प्रयुक्त रूप के अपेक्षाकृत अधिक परिनष्ठित एवं पण्डितों में मान्य रूप को नियमबद्ध किया, जो सदा-सर्वदा के लिए लौकिक या क्लैसिकल संस्कृत का सर्वमान्य आदर्श बन गया। पाणिनि की रचना के बाद बोलचाल की भाषा पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, आधुनिक भाषाओं के रूप में विकास करती आज तक आई है, किन्तु संस्कृत में साहित्य-रचना भी इसके समानान्तर ही होती चली आ रही है, जो मूलत: पाणिनीय संस्कृत होने पर भी हर युग की बोलचाल की भाषा का अनेक दृष्टियों से कुछ प्रभाव लिए हुए है और यही कारण है कि बोलचाल की भाषा न होने पर भी, उस साहित्यिक संस्कृत में भी विकास होता आया है।

इस प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के वैदिक और लौकिक संस्कृत दो रूप मिलते हैं।

वैदिक संस्कृत– (1500 ई. पू. से 800 ई. पू. तक) इसे 'प्राचीन संस्कृत', 'वैदिकी', 'वैदिक संस्कृत' या 'छन्दस्' आदि अन्य नामों से भी पुकारा गया है। संस्कृत का यह रूप, वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणें, आरण्यकों तथा प्राचीन उपनिषदों आदि में मिलता है।

संस्कृत– इसे 'लौकिक संस्कृत' तथा 'क्लैसिकल संस्कृत' भी कहते हैं। भाषा के अर्थ में 'संस्कृत' (संस्कार की गई, शिष्ट या अप्रकृत) शब्द का प्रथम प्रयोग वाल्मीकि रामायण में मिलता है। लौकिक संस्कृत का मूल आधार इनमें उत्तरी बोली थी, क्योंकि वही प्रामाणिक मानी जाती थी।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा काल में, जनभाषा पर आधारित, वैदिक एवं लौकिक संस्कृत भाषा के दो रूप, साहित्य में प्रयुक्त हुए। दूसरे रूप-लौकिक संस्कृत-को पाणिनि ने अपने व्याकरण में जकड़ कर उसे सदा सर्वदा के लिए एक स्थायी रूप दे दिया, किन्तु जनभाषा भला इस बन्धन को कहाँ मानती? वह अबाधगति से परिवर्तित होती रही, बढ़ती रही। इस जनभाषा के मध्यकालीन रूप को ही 'मध्यकालीन आर्यभाषा' की संज्ञा दी गई है। इसका काल मोटे रूप से 500 ई. पू. से 1000 ई. तक का, अर्थात् डेढ़ हज़ार वर्षों का है।

यह प्राकृत भाषा वैदिक या लौकिक संस्कृत से उद्भूत नहीं है, अपितु तत्कालीन जनभाषा से उद्भूत है या उसका विकसित रूप है।

इन 1500 वर्षों की प्राकृत भाषा को तीन कालों में विभाजित किया गया है:

(1) प्रथम प्राकृत (500 ई. पू. से 1 ई. तक)

(2) द्वितीय प्राकृत (1 ई. 500 ई. तक)

(3) तृतीय प्राकृत (500 ई. से 1000 ई. तक)।

प्रथम प्राकृत– इसमें पालि तथा अभिलेखी प्राकृत आती हैं।

इस प्रकार प्राकृतों के प्रसंग में लगभग दो दर्जन नामों का उल्लेख मिलता है, किन्तु भाषा-वैज्ञानिक स्तर पर केवल पाँच ही प्रमुख भेद स्वीकार किये जा सकते हैं–

(1) शौरसेनी, (2) पैशाची, (3) महाराष्ट्री, (4) अर्द्धमागधी, (5) मागधी। आगे इन पाँच तथा कुछ अन्यों पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है।

जन-भाषा का संस्कार करके जब उसे 'संस्कृत' संज्ञा से विभूषित किया गया तो, वह जन-भाषा, जो उसकी तुलना में असंस्कृत थी, और पंडितों में प्रचलित इस भाषा के विरुद्ध, जो 'प्रकृत' या सामान्य लोगों में बोली जाती थी, सहज ही, 'प्राकृत' नाम की अधिकारिणी बन बैठी।

इस प्रकार प्राकृतों के प्रसंग में लगभग दो दर्जन नामों का उल्लेख मिलता है, किन्तु भाषा-वैज्ञानिक स्तर पर केवल पाँच ही प्रमुख भेद स्वीकार किये जा सकते हैं–

(1) शौरसेनी, (2) पैशाची, (3) महाराष्ट्री, (4) अर्द्धमागधी, (5) मागधी। आगे इन पाँच तथा कुछ अन्यों पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है।

नोट

द्वितीय प्राकृत-काल की जनभाषाओं पर तत्कालीन साहित्यिक प्राकृत आधारित थीं, किन्तु साहित्य में आ जाने के कारण उनका जन-स्तर पर विकास नहीं हुआ। जन स्तर पर जनभाषा ही विकसित होती रही। प्राकृत-कालीन जनभाषा का यही विकसित रूप मोटे रूप से 500 ई॰ से 1000 ई॰ के बीच अपभ्रंश कहा जाता है। अपभ्रंश को अवहंस आदि कई अन्य नामों से भी अभिहित किया जाता है, इनके अतिरिक्त ग्रामीण भाषा, देसी, देसी भाषा, आभीरोक्ति, आभीरी आदि नामों से भी अपभ्रंश पुकारी जाती रही है।

आज की आर्यभाषाओं की जननी के रूप में निम्नांकित अपभ्रंश-बोलियाँ उल्लेख्य है।

1. शौरसेनी

(क) पश्चिमी हिन्दी — (ख) इस अपभ्रंश के नागर रूप से-

(अ) राजस्थानी — (ब) गुजराती

(ग) इस अपभ्रंश के पहाड़ी भागों में स्थित रूप से– पहाड़ी

2. पैशाची या कैकेय टक्क

(क) लहँदा — (ख) पंजाबी (इस पर शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव है)

18.4 शब्दकोश

1. **समीचीन–** यथार्थ, ठीक, उचित
2. **परिनिष्ठित–** पूर्णतया कुशल
3. **उदीच्य–** उत्तर दिशा
4. **आत्मनेपद–** धातु में लगने वाला एक प्रत्यय
5. **अयोगात्मक भाषा–** ऐसी भाषा जिसमें उपसर्ग प्रत्यय लगार अन्य शब्द न बन सके।
6. **योगात्मक भाषा–** ऐसी भाषा जिसमें विकार उत्पन्न हो और उसमें उपसर्ग तथा प्रत्यय जोड़ने सेस नया अर्थ देने वाला शब्द बन सके।

18.5 अभ्यास-प्रश्न

1. प्राचीन आर्य भाषा के उद्भव और विकास पर प्रकाश डालिए।
2. मध्यकालीन आर्यभाषा के उद्भव और विकास पर एक लेख लिखिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन

1. 1. पाणिनी 2. वैदिक संहिताओं 3. संस्कृत

2. 1. (ग) 2. (क) 3. (क) 4. (ग)

18.6 संदर्भ पुस्तकें

1. *भाषा विज्ञान*– डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, किताब महल, इलाहाबाद
2. *भाषा और भाषा विज्ञान*– गरिमा श्रीवास्तव, संजय प्रकाशन, दिल्ली
3. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा का स्वरूप*- विकास– देवेन्द्र प्रसाद सिंह, हिंदी बुक सेंटर, दिल्ली
4. *भाषा विज्ञान: हिंदी भाषा और लिपि*– डॉ॰ रामकिशोर शर्मा, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद

नोट

इकाई 19: संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- संस्कृत के प्राचीन स्वरूप को समझने में समर्थ होंगे
- भारत की प्राचीन भाषा पालि से परिचित होंगे।
- प्राकृत के स्वरूप को समझ सकेंगे।
- अपभ्रंश की विशेषताओं से अवगत होंगे।

प्रस्तावना

इस इकाई के अंतर्गत प्राचीन भारतीय भाषा संस्कृत– वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश के स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

नोट

19.1 संस्कृत

19.1.1 वैदिक संस्कृत

'ऋग्वेद' विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ है। इससे ज्ञात होता है, भारत में बहुत पहले भाषा का चरम विकास हो चुका था। आर्यों में इन्द्र, मित्र, वरुण, सविता आदि देवताओं की उपासना प्रचलित थी। वे देवताओं की प्रशंसा में सूक्तों (सुन्दर कथनों) की रचना करते थे। सूक्त परम्परागत रूप से ऋषि परिवारों में सुरक्षित रखे जाने लगे। बाद में ऋक्संहिता के रूप में इनका संकलन हुआ। धीरे-धीरे वैदिक वाङ्मय में विशेष वृद्धि होती गई। ऋक्संहिता के अतिरिक्त यजुःसंहिता, सामसंहिता और अथर्वसंहिता का संकलन किया गया। इन संहिताओं में मन्त्र, पद्य और गद्य दोनों रूपों में मिलते हैं। यजुःसंहिता कृष्ण और शुक्ल दो भागों में विभाजित है। इसमें मन्त्र, यज्ञों में प्रयोग के क्रम से रखे गए हैं। कृष्ण यजुर्वेद में मन्त्रभाग एवं गद्यमय व्याख्या भाग साथ-साथ हैं, परन्तु शुक्ल यजुर्वेद में मन्त्र भाग संकलित हैं। सामवेद संहिता में, सोमयागों में गाए जाने वाले सूक्त संगृहीत हैं। इसके अधिकांश मन्त्र ऋक्संहिता से लिए गए हैं। अथर्ववेद में, जनसाधारण में प्रचलित मन्त्र-तन्त्र हैं।

संहिताओं के बाद ब्राह्मण ग्रन्थ लिखे गए। इनमें कर्मकाण्ड की व्याख्या है और इसी प्रसंग में अनेक उपाख्यान हैं। इन ग्रन्थों की रचना गद्य में हुई। इनमें ऐतरेय ब्राह्मण सबसे प्राचीन है और इसका रचनाकाल लगभग एक हजार ई. पू. है। सामवेद के ब्राह्मण ग्रन्थों में ताण्ड्य ब्राह्मण उल्लेखनीय है। शतपथ, शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण भाग है और तैत्तिरिय, कृष्ण यजुर्वेद का ब्राह्मण ग्रन्थ है। अथर्व को वेद के रूप में स्वीकार कर लेने पर, इसके साथ भी ब्राह्मण ग्रन्थ जोड़े गए। तदनन्तर उपनिषदों की रचना हुई। उपनिषद् ब्राह्मण ग्रन्थों के परिशिष्ट भाग हैं। इनमें आध्यात्मिक चिन्तन के दर्शन होते हैं। इन्हीं में आर्यों के ज्ञानकाण्ड का विकास हुआ।

वेदों के साहित्य की सुरक्षा के लिए पद-पाठों की व्यवस्था हुई। प्रत्येक वेद की विभिन्न शाखाओं पर प्रातिशाख्य लिए गए हैं। इनमें शाखा के अनुरूप वर्ण-विचार, उच्चारण विधि आदि पर विचार किया गया। पदपाठों और प्रातिशाख्यों से पता चलता है कि वैदिक संहिताओं का प्राचीन रूप सुरक्षित है। यहाँ इनकी भाषा के ध्वनि समूह, पदों और धातुरूपों का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ तरह स्वर ध्वनियाँ थीं। इनमें प्रथम नौ ध्वनियों का समानाक्षर तथा अन्तिम चार ध्वनियों को, प्रातिशाख्यों में सन्ध्यक्षर बताया गया। सन्ध्यक्षरों में अ + इ तथा अ + उ को गुणसन्धि के अनुसार ए और ओ तथा आ + इ एवं आ + उ को वृद्धिसन्धि के परिणामस्वरूप ऐ व औ के रूप में ग्रहण किया। वैदिक भाषा की मुख्य विशेषता है-स्वराघात। प्रधान स्वर से युक्त स्वरध्वनि उदात्त है, स्वरहीन अक्षर की स्वरध्वनि अनुदात्त है और उदात्त स्वर में उठकर अनुदात्त में ढलने वाली ध्वनि स्वरित है। इन्हें व्यक्त करने के लिए अनुदात्त स्वर के नीचे रेखा तथा स्वरित स्वर के ऊपर खड़ी रेखा का चिह्न लगाते हैं। उदात्त स्वर पर कोई रेखा नहीं होती। जुहोति पद में जु अनुदात्त है, हो उदात्त और ति उदात्त स्वरित है। वर परिवर्तन के कारण शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं। ब्रह्मन् शब्द नपुसंकलिंग है और इसका अर्थ है—प्रार्थना, ब्रह्मन् शब्द पुल्लिंग भी है और इसका अर्थ है—स्तोता।

पद की प्रकृति या प्रत्यय या विभक्ति में स्वर परिवर्तन को अपश्रुति कहते हैं। यह स्वर परिवर्तन पाँच प्रकार का है (1) स्वरयुक्त प्रकृत स्वर ए, ओ, अर्, अल् (ये गुण स्वर हैं) का इ, उ, ऋ, लृ में तथा ऐ, औ, आर, आल् वृद्धि स्वरों का ह्रस्वीभूत स्वरों में परिवर्तन हो जाता है - दिदेश (उसने बताया), दिष्ट (बताया हुआ), आप्नोमि (मैं पाता हूँ), आप्नुमः (हम पाते हैं), वर्धाय (वृद्धि के लिए), वृधाये। (2) स्वरयुक्त प्रकृत सम्प्रसारण स्वरों य्, व्, द् का स्वरहीन ह्रस्वीभूत स्वरों इ, उ, ऋ में परिवर्तन होता है- इयज (मैंने यज्ञ किया) इष्ट, वष्टि (वह अच्छा करता है) उश्मसि (कम अच्छा करते हैं), जपह (मैंने पकड़ा), जगृहुः (उन्होंने पकड़ा)। (3) ह्रस्वीभूत क्रम में अ का लोप होता है हन्ति > ध्नन्ति। दधाति (रखता है) > दधमसि ई तथा औ को ऊ हो जाता है- गायति (गाता है), गीत (गाया हुआ, गाथ (गान), धौतरी (कम्पिता), धूर्ति (कम्पित करने की व्यवस्था), धूम (धुआँ)। (4) पदों में स्वर परिवर्तन होने पर समास में द्वित्व की अवस्था में तथा सम्बोधन में ई, ऊ, ईर, ऊर, का परिवर्तन इ, उ, ऋ में हो जाता है-

हूति (पुकार), आहुति, दीपय (जलाओ), दीदिवि (चमकता हुआ), कीर्ति, चमृषे, देवी, देति (सम्बोधन)।

मन्त्रों के रचनाकाल में अ का उच्चारण सम्भवत: विवृत रहा होगा क्योंकि मनों के छन्द ठीक रखने के लिए ऋक् संहिता में ए, ओ के बाद अ स्वर का सन्निवेश आवश्यक हो जाता है। ऋक् प्रातिशाख्य में ऋ का उच्चारण 'र' युक्त स्वर ध्वनि बताया गया है। यही स्थिति ऌ के उच्चारण में है। ऐ और औ के उच्चारण का मूलरूप आइ, आउ था। ऋक् संहिता में छनद की लय को ठीक रखने के लिए र् से सयुंक्त व्यंजन के बीच अति ह्रस्व ध्वनि का समावेश किया जाता है, यह स्वरभक्ति है-इन्द्र > इन्द्रअर।

व्यंजनों में कवर्ग (कण्ठ्य), चवर्ग (तालव्य), टवर्ग (मूर्धन्य), तवर्ग (दन्त्य), पवर्ग (ओष्ठ्य) के अतिरिक्त अध स्वर य्, र्, ल्, व्, ऊष्म ध्वनियाँ श्, ष्, स, महाप्राण ध्वनि ह्, एक अनुनासिक (ं) तथा तीन अघोष ध्वनियाँ-विसर्जनीय(ः), जिह्वातमनरय(ᳵ), उपध्मानीय (ᳶ), विद्यमान हैं। टवर्ग के अन्तर्गत ळ तथा ळ्ह भी शमिल हैं जो क्रमशः ड् और ढ् का स्थान लेते हैं-ईळे (ईड्य), मीळहुषे (मीढ्वान्) हैं। ऋक्संहिता में मूर्धन्य व्यंजन केवल पद के मध्य अथवा अन्त में ही आए हैं-दुष्टर (दुस्तर) अजेय, वष्टि (वस्ति) इच्छा करता है, मृष्ट (मृज्-त), प्रक्षालित, नीडर (निज्द), घोंसला, दृढी (दुज्-धी) अस्वस्थ, दृढ (दृह्-त), नृणाम् (नृ-नाम्) इत्यादि। ये मूर्धन्य व्यंजन ध्वनियाँ, दन्त्य व्यंजनों के परिवर्तन के कारण प्रकट हुई। मूर्धन्य टवर्ग का सन्निवेश, भारतीय आर्यभाषा की अपनी विशेषता है।

ङ्, ञ्, ण्, न्, म् नासिक्स स्पर्श व्यंजनों में केवल न् और म् ही पद में किसी भी स्थान पर स्वतन्त्र रूप से दिखाई देते हैं। ङ्, ञ्, ण् पद के आरम्भ में नहीं आते और ञ्, ण् की स्थिति समीपस्थ या परवर्ती व्यंजन पर निर्भर रहती है। ङ् पदान्त में वहाँ आता है जहाँ क् या ग् का लोप हो या अन्त में दृश् संयुक्त हो-कीदृश् > कीदृङ्। पद के मध्य में ङ् का प्रयोग कवर्ग के किसी भी वर्ण के पूर्व नियमित रूप में आता है-अङ्क, जङ्घा। अन्य व्यजनों से पूर्व यह तभी आता है जब क् या ग् का लोप हो गया हो-युङ्गधि > युङ्धि। ञ्, वर्ण, च् या ज् के पूर्व अथवा पश्चात् आता है।-पञ्च, यज्ञ। ञ, वर्ण, छ् से पूर्व ही आता है - वाञ्छति। ण मूर्धन्य स्पर्श व्यंजनों के पूर्व आता है अथवा ऋ, र्, ष् के परवर्ती न का स्थानापन्न होता है-पुण्डरीक, नृणाम् (नृ + नाम्), रामण। न् किन्हीं प्रत्ययों से पूर्व द्, त्, म् का स्थान भी ग्रहण करता है-अन्न (अद् + न्) मृन् + मय/ (मृद् + मय) मृण्मय। न शुद्ध नासिक्स ध्वनि है जो स्वर से पूर्व अनुनासिक (ँ) तथा व्यंजन से पूर्व अनुस्वार (ं) होती है। अनुस्वार पदान्त में म् तथा न् का स्थान ग्रहण करता है और पद के मध्य में श्, ष्, स्, ह् से पूर्व विद्यमान रहता है-रामं, यशांसि, मांस, सिंह। सामान्यत: अनुस्वार स् से पूर्ववर्ती म् अथवा न् के स्थान पर आता है-संसते (मन् धातु), क्रंस्यते (क्रम् धातु)। र् और ल् ध्वनियों के स्थान पर कभी र् भी होता है। कभी ल् हो जाता है।-श्रीर, श्रील, श्लील।

वैदिक भाषा में शब्दों के दो विभाग हैं- स्वरान्त एवं हलन्त। इनमें तीन लिंग (पुल्लिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग), तीन वचन (एकवचन, द्विवचन, बहुवचन) तथा आठ विभक्ति हैं। विभक्ति और कारकों का गहरा सम्बन्ध है कर्ता-प्रथमा, कर्म-द्वितीया, करण-तृतीया, सम्प्रदान-चतुर्थी, अपादान पञ्चमी, सम्बन्ध-षष्ठी, अधिकरण-सप्तमी, सम्बोधन-प्रथमा। प्रत्येक शब्द में आठों विभक्तियों और तीन वचनों में सुप् प्रत्यय जोड़कर रूप बनाए जाते हैं। सुप् प्रत्यय निम्न प्रकार हैं-

कारक	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
कर्तासु	(स्)	औ	जस् (अस्)
कर्म	अस्	औट् (औ)	शस् (अस्)
करण	टा (आ)	भ्याम्	भिस्
सम्प्रदान	ङे (ए)	भ्याम्	भ्यस्
अपादान	ङस् (अस्)	भ्याम्	भ्यस्
सम्बन्ध	ङसि (अस्)	ओस्	आम्
अधिकरण	ङि (इ)	ओस्	सुप् (सु)

सम्बोधन में कर्ता कारक के प्रत्यय ही, कुछ परिवर्तन के साथ लगते हैं। कर्ता एकवचन के सु तथा अधिकरण बहुवचन के सुप् के प् को जोड़कर सुप् प्रत्याहार बनता है। इन प्रत्ययों को शब्दों में जोड़ते समय भी कुछ परिवर्तन किए जाते है।

नोट

वैदिक भाषा के धातुरूपों में तीन वचन, तीन पुरुष (उत्तम, मध्यम, प्रथम), दो पद (आत्मनेपद, पारस्मैपद), छह काल (वर्तमान-लट्, असम्पन्न भूत-लङ्, सामान्य भूत-लुङ्, सम्पन्नभूत-लिट्, अनद्यतन भविष्य-लट्, सामान्य भविष्य-लृट् तथा पाँच भाव (निर्देश, अनुज्ञा, सम्भावक, निर्बोध एवं अभिप्राय) विद्यमान हैं। धातु रूपों में तीन विशेषताएँ ध्यातव्य हैं– धातु से पूर्व अ उपसर्ग, धातु का द्वित्व तथा धातु एवं प्रत्यय के मध्य विकरण का समावेश। लङ्, लुङ् और लृङ् लकारों में धातु से पूर्व अ उपसर्ग का प्रयोग हैं, धातु का द्वित्व लट् लकार में, किन्ही धातुओं में, लिट्, लुङ्, सन्नन्त/यङ्गन्त प्रक्रियाओं में मिलता है। विकरण का प्रयोग धातुओं के विभाजित गणों में है। भ्वदिगण में अ, दिवादिगण में य, स्वादिगण में नु, तुदादि गण में अ, रुधादिगण में न/न् तनादिगण में उ, क्रयादिगण में ना और चुरादिगण में अय् विवरण आते हैं। अदादिगण तथा जुहोत्यादिगणों में विकरण नहीं लगाए जाते।

वैदिक भाषा में व्याकरण का कड़ा नियंत्रण न था। कहीं-कहीं रूपों में स्वच्छंदता पाई जाती है।

वैदिक भाषा में, व्याकरण का कड़ा नियन्त्रण न था। कहीं-कहीं रूपों में स्वच्छन्दता पाई जाती है।

19.1.2 लौकिक संस्कृत

संस्कृत शब्द का अर्थ है-परिष्कृत, शुद्ध। भारत में, बहुत समय पहले भाषा का जो रूप प्रचलित था, उसमें प्रयोगों की भिन्नता थी, नियमों का उचित स्थान न था जिससे भाषा के व्यवहार और लिखित कार्य में अर्थबोध की सुगमता का अभाव प्रतीत होने लगा, अतः भाषाविदों ने, प्रचलित भाषा के शब्द समूह का समुचित अवलोकन करके, व्याकरण की व्यवस्था कर दी। ऐसा करने पर तत्कालीन भाषा का परिष्कार हुआ और उसमें एकरूपता आई। इसी परिष्कार या संस्कार के कारण उस भाषा का नाम संस्कृत कहा जाने लगा। यह अभी तक ज्ञात नहीं हो पाया कि संस्कृत नाम प्राप्त करने से पहले, उस भाषा का कोई अभिधान था या नहीं। अत्यन्त प्राचीन साहित्य की अनुपलब्धि के कारण, संस्कृत भाषा के प्रारभिक रूप की स्थिति रहस्यमय ही बनी हुई है। इतना ही ज्ञात है कि पाणिनि से पूर्व लगभग 23 वैयाकरण हुए थे जिन्होंने किसी भाषा को निमयबद्ध करके व्याकरणों की रचना की और संस्कृत भाषा को संस्कृत नाम दिया। इनमें से 10 वैयाकरणों को पाणिनि ने अष्टाध्यायी में, उनके विशिष्ट नियमों के सम्बन्ध में याद किया है। वैदिक साहित्य का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि इसमें भाषा के प्रयोगों में प्रर्याप्त विसंगतियाँ हैं, अतः भाषाविदों ने वैदिक साहित्य में प्रयुक्त भाषा को एकरूप देने के लिए, व्याकरण के माध्यम से उसका संस्कार किया, परन्तु यह बता पाना सम्भव नहीं कि उस भाषा का कोई नाम था या नहीं और उसकी व्यापकता भारत के किन-किन क्षेत्रों में थी या भारत से बाहर भी उसका कोई अस्तित्व था या वह केवल भारतीय परिवेश की उपज थी। पाणिनि तो उसक छन्दस् तथा संस्कृत को भाषा कहते हैं। सम्भव है, वेदों में प्रयुक्त भाषा को छन्दस् कहा जाता हो। पतंजलि महाभाष्य के प्रथम आह्निक में शब्दों को वैदिक और लौकिक, दो रूप में संकेतित करते हैं, परन्तु भाषा के नाम का उल्लेख नहीं है।

संस्कृत भाषा का शुद्ध रूप पाणिनि से बहुत पहले प्राप्त हो चुका था, पाणिनि तो उसकी अन्तिम कड़ी थे जिसके अष्टाध्यायी ग्रन्थ को आधार मानकर परवर्ती वैयाकरणों ने उसकी व्याख्या और टीका-टिप्पणी मात्र ही की। अतः अष्टाध्यायी संस्कृत भाषा की रूप-रचना का प्रामाण्कि आधार है। इसके अनुसार संस्कृत भाषा की रूपरेखा निम्न प्रकार है।

(1) संस्कृत भाषा में 13 स्वर और 3 व्यंजन हैं। अ, इ, उ, ऋ, लृ, ह्रस्व स्वर हैं, आ, ई, ऊ, ॠ, ए, ऐ, ओ, औ दीर्घस्वर हैं जबकि क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, त्, थ्, द्, ध्, न्, प्, फ्, ब्, भ्, म् स्पर्श व्यंजन है, य्, र्, ल, व् अन्तस्थ व्यंजन है और श्, ष्, स्, ह् ऊष्म व्यंजन है। इनके अतिरिक्त संस्कृत में अनुस्वार (·), अनुनासिक (ँ), तथा विसर्ग (:) ध्वनियाँ भी है। क और ख के पूर्व कभी-कभी एक अर्ध विसर्ग उच्चारण प्रयोग मे आता है और उसे (ᳵ) चिह्न द्वारा व्यक्त करते हैं, इसे जिह्वामूलीय हा जाता ह। इसी प्रकार प और फ के पूर्व वाले विसर्ग नाद को उपध्मानीय कहते हैं और इसे भी (ᳵ) चिह्न से व्यक्त किया गया है। संस्कृत में लृ का प्रयोग नाममात्र शेष रहा। व्यंजनों में क्, ख्, च्, छ्, ट्, ठ्, त्, थ्, प्, फ्, श्, ष्, स्, परुष या अघोष वर्ण हैं, शेष

नोट

व्यंजन ओर स्वर मृदु या घोष वर्ण कहलाते है एक दूसरे ढंग से ख्, घ्, छ्, झ्, ठ्, ढ्, थ्, ध्, श्, ष्, स् महाप्राण व्यंजन हैं और शेष व्यंजन अल्पप्राण कहते जाते हैं। ये सभी ध्वनि प्रतीक कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त और ओष्ठ उच्चारण स्थानों से प्रकट होते हैं। जिन वर्णों का उच्चारण स्थान और प्रयत्न एक हो, वे सवर्ण कहलाते हैं। स्वरों का उचरण, व्यंजनों की सहायता के बिना हो सकता है, परन्तु व्यंजनों के उच्चारण में स्वरों की सहायता ली जाती है। स्वरों को अच् तथा व्यंजनों को हल् भी कहते हैं। स्वरों की मात्राएँ होती हैं, यथा–आ–ा, इ–ि, ई–ी, उ–ु, ऋ–ृ, ए–े, ऐ–ै, ओ–ो, औ–ौ। व्यंजन इन मात्राओं के साथ भी लिखे जाते हैं और संयुक्त रूप में भी, यथा–सरिता, माहात्म्य। वैदिक भाषा के स्वरों का उदात्त, अनुदात्त और स्वरित उच्चारण लुप्त हो गया।

(2) संस्कृत ध्वनि प्रतीकों में सन्धि के नियम हैं। स्वरों में होने वाली सन्धि स्वरसन्धि कहलाती है, यथा–राम + अवतार: – रामावतार:, देव + आलय: – दवालय:, सदा + अस्ति – सदास्ति, विद्या + आतुर: – विद्यातुर:, रवि + इन्द्र: – रवीन्द्र:, कपि + ईश: – कपीश:, श्री + ईश: – श्रीश:, भानु + उदय: – भानदय:, चमू + ऊर्ज: – चमूर्ज:, कर्मृ + ऋजु: – कर्तृजु:। उप + इन्द्र: – उपेनद्र:, रमा + ईश: – रमेश:, परम + ईश्वर: – परमेश्वर:, गंगा + उदकम् – गंगोदकम्, महा + ऋषि: – महर्षि:, तव + एव – तवैव, भव + ओषधम् इत्यादि।

व्यंजनों में जो सन्धि की जाती है, उसे व्यंजन सन्धि कहते हैं, यथा–सतृ + चित् – सच्चित्, तत् + लय् – तल्ल्य, उत् + स्थानम् – उत्थानम्, तत् + शिव: – तच्छिव:, सत् + जन: – सज्जन: इत्यादि।

विगर्सों के साथ होने वाली सन्धि विसर्ग सन्धि है, यथा – शिव: + अर्च्य: – शिवोऽर्च्य:, नरा: + आगच्छन्ति – नरा आगच्दन्ति, राम: + गच्छति = रामोगच्छति, हरि: + जयति = हरिर्जयति इत्यादि।

(3) संस्कृत में शब्द पुल्लिंग, स्त्रीलिंग तथा नपुसंकलिंग में विभाजित किए गए हैं। इन शब्दों के सात विभक्तियों व सम्बोधन में, एकवचन, द्विवचन और बहुवचन रूप बनाए जाते हैं। शब्दों के पदरूप हेतु निम्न विभक्ति चिह्नों का, सन्धि नियमानुसार समायोजन होता है–

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा सं.	सु(:)	ौ	अ:
द्वितीया	अम्	ौ	अ:
तृतीया	आ	भ्याम्	भि:
चतुर्थी	ए	भ्याम्	भ्य:
पंचमी	अ:	भ्याम्	भ्य:
षष्ठी	अ:	ओ:	आम्
सप्तमी	इ	ओ:	सु

ये विभक्ति चिह्न सभी शब्दों मे ज्यों के त्यों नहीं जोड़े जाते, अपितु वर्गीकरण के अनुसार इनमें थोड़ा परिवर्तन कर लिया जाता है। जैसे–

आकारान्त पुल्लिंग शब्दों में द्वितीया बहुवचन–आन्, तृतीया एकवचन–इन, तृतीया बहुवचन–ऐ:, चतुर्थी एकवचन–आय, पंचमी एकवचन–आत् षष्ठी एकवचन–आत्, षष्ठी द्विवचन–यो:, षष्ठी बहुवचन–नाम् सप्तमी द्विवचन–यो: में बदल जाते हैं, शेष ऊपर की तरह रहते हैं। यथा–देव: देवौ देवा:, देवम् देवौ देवान् देवेन देवाभ्याम् देवै:, देवाय देवाभ्याम् देवेभ्य:;देवात् देवाभ्याम् देवेभ्य:, देवस्य देवयो:, देवानाम्, देवे देवयो: देवसु, देवा देवौ देवा।

इसी प्रकार इकारान्त, उकारान्त, ऋकारान्त, आदि शब्दों में मामूली परिवर्तनों के साथ विभक्ति चिह्नों का समायोजन होता है। हलन्त शब्दों के पदरूपों में ये विभक्ति चिह्न लगभग ज्यों के त्यों जोड़े जाते हैं। कहीं–कहीं थोड़ा परिवर्तन होता भी है। प्रथमा एकवचन में वाच्–वाच् वाचौ वाय:। वाचम् वाचौ वाच:। वाचा वाग्भ्याम् वाग्भि:। वाचे वाग्भ्याम् वाग्भ्य:। वाच: वाग्भ्याम् वाग्भ्य:। वाच: वाचो: वाचाम्। वाचि वाचो: वाक्षु।

(4) संस्कृत भाषा में समास पद्धति का भी महत्त्व है। इसमें द्वन्द्व, तत्पुरुष कर्मधारय, बहुब्रीहि, द्विगु, अव्ययीभाव, नञ्, आदि समासों में समस्त पदों का प्रयोग होता है। जहाँ दो या अधिक पदों को समान मानकर विभक्ति का प्रयोग

नोट

हो, द्वन्द्व समास होता है। रामश्च लक्ष्मणश्च–रामलक्ष्मणौ। यहाँ राम और लक्ष्मण दोनों की समान अभिव्यक्ति के लिए द्विवचन समस्त पद बन गया। तत्पुरुष समास में समस्त पद के दूसरे पद के अनुसार विभक्ति का प्रयोग ग्राह्य है। भ्याद् मुक्तः – भ्यमुक्तः। यहाँ 'भय' पद की विभक्ति का लोप है तथा 'मुक्त' पद के अनुसार विभक्ति का आगमन है। कर्मधारय समास के पद विशेषण विशेष्य अथवा उपमान–अपमेय होते हैं। मुखं चन्द्रं इव–मुखचन्द्रः। यहाँ मुख उपमेय और चन्द्र उपमान है। कृष्णश्चासौ सर्पः–कृष्णसर्पः। यहाँ कृष्ण विशेषण पद है और सर्प विशेष्य पद जहाँ कई पद किसी अन्य पद का बोध कराएँ, बहुव्रीहि समास होता है। पीतम् अम्बर यस्य सः – पीताम्बरः। यहाँ पीत और अम्बर पदों से पूरे कृष्ण पद का बोध होता है। द्विगु समास समूह/संख्या का बोध कराता है। षण्णां मातृणाम् अपत्यम्–षाण्मातुरः। इस पद में षट् पद संख्याबोधक है। नञ् समास नकारात्मक अर्थ व्यक्त करता है। न उपस्थितः – अनुपस्थितः। न कुलं यस्य–नकुलः। जब समस्त पद के प्रारम्भ में उपसर्ग हो, वहाँ प्रादि समास होता है। प्रागतः आचार्यः – प्राचार्यः। अव्ययीभाव समास में समस्त पद का प्रथम शब्द प्रायः अव्यय होता है। और दूसरा शब्द संज्ञा। दोनों शब्द मिलकर नपुसकलिंग शब्द के कर्ता कारक एकवचन के समान आते हैं। अधिहरि, यथाशक्ति, इसी प्रकार के समस्त पद हैं।

(5) संस्कृत भाषा में शब्दों के स्त्रीलिंग रूप बनाने के लिए प्रायः आ, ई, ऊ, आनी प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है। ये प्रत्यय पुल्लिंग शब्द के अन्त में जोड़ दिए जाते हैं– अज–अजा, तरुण–तरुणी, श्वसुरः–श्वश्रूः, आचार्य–आचार्यानी।

(6) नामपदों के प्रयोग में कारक सम्बन्धों का ध्यान रखना होता है और उन्हें विभक्तियों के माध्यम से व्यक्त किया जाता है। कर्ताकारक, कार्य करने वाले का बोध कराता है। इसमें प्रथमा विभक्ति होती है। रामः गच्छति में गमन कार्य राम करता है, अतः इस पद में कर्त्ता कारक है। दूसरा कर्म कारक है। क्रिया का प्रभाव या फल जिस पर समाप्त होता है, वह कर्म है और इसमें द्वितीया विभक्ति आती है। हरिं सेवते वाक्य में सेवा का फल हरि पर पड़ता है, अतः हरि पद में कर्म कारक है। तीसरा कारक करण है। यह कर्मवाच्य, भाववाच्य और साधन को व्यक्त करता है– तेन पुस्तकं पठ्यते (कर्मवाच्य), तेन हरयते (भाववाच्यः)रामः रावणं बाणेन हन्ति (बाणेन–साधन)। चौथा कारक सम्प्रदान है। इसमें चतुर्थी विभक्ति आती है। अप्रत्यक्ष कर्म को सम्प्रदान कहते हैं। जिसके लिए दानार्थक क्रिया की जाती है, वहाँ सम्प्रदान कारक होता है। सः मह्यं फलं ददाति (मह्यं–सम्प्रदान)। पाँचवाँ अपादान कारक है। यह पृथकता का बोध कराता है। इसमें पंचमी विभक्ति आती है। वृक्षात् पत्राणि पतन्ति (वृक्षात्–अपादान)। छठा कारक अधिकरण है। यह आधार व्यक्त करता है। इसमें सप्तमी विभक्ति आती है। चर्मणि द्वीपिनं हन्ति– चमड़े के लिए बाघ को मारता है। बाघ के मारने का आधार चमड़ा है, अतः चर्मणि पद में अधिकरण कारक और सप्तमी विभक्ति है।

इनके अतिरिक्त कुछ उपपद होते हैं जिनके साथ विशिष्ट विभक्तियाँ आती हैं। अभितः, परितः, सर्वतः, उप, अधि, आनु, आ आदि के सन्दर्भ में द्वितीय विभक्ति का प्रयोग होता है। माम् अनुगच्छति। इसी प्रकार साकं, सार्धं, विना, समं आदि के योग में तृतीया विभक्ति होती है। संस्कृत व्याकरण में उपपद विभक्तियों का विस्तार से वर्णन किया गया है। वस्तुतः उपपद विभक्तियों शब्दों के विषिष्ट प्रयोग हैं।

(7) संस्कृत श्लिष्ट योगात्मक भाषा है। इसमें प्रायः शब्द धातुज हैं। धातु के आगे प्रत्यय जोड़ने से क्रियापद बनते हैं। धातुओं से वर्तमान काल में एक (लट् लकार), भूतकाल में तीन (लिट् लकार, लङ् लकार, लुङ् लकार) और भविष्य काल में दो (अनद्यन भविष्य–लुट्, सामान्य भविष्य–लृट्) प्रकार से क्रियापदों का निर्माण होता है। अर्थ विशेष के विचार से आज्ञा–लोट्, विधि–विधिलिङ् आशी–आशीर्लिङ् तथा हेतु–लृङ् लकारों में धातुरूप बनाए जाते हैं। वैदिकभाषा का लेट् लकार संस्कृत में प्रयुक्त नहीं होता। कुछ धातु रूप परस्मैपद और कुछ आत्मनेपद में बनते हैं। कर्मवाच्य और भाववाच्य क्रियापद केवल आत्मनेपद में होते हैं जबकि कर्तृवाच्य के क्रियापदों का रूप दोनों पदों में प्राप्य है, परन्तु जिस धातु का कर्तृरूप परस्मैपद में बनता है उसका आत्मनेपद में रूप नहीं होता और जो धातु आत्मनेपदी है उसके रूप केवल आत्मनेपद में ही होते हैं। उभयपदी धातुओं के रूप दोनों पद में बनते हैं। धातुओं के रूप उत्तमपुरुष, मध्यम पुरुष में बनाए जाते हैं। प्रत्येक पुरुष, एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन में विभाजित है। इस प्रकार संस्कृत मं धातुरूप दस लकारों, दो पदों, तीन पुरुषों और तीन वचनों में होते हैं। जिन धातुओं में अनेक प्रकार के विकरण होते हैं वे सार्वधातुक हैं और जिनमें लारों के प्रत्यय सीधे जुड़ जाते हैं व आर्धधातुक क्रिया हैं। परस्मैपद का प्रयोग तब होता है। जब कार्य का फल कर्ता को न मिलकर किसी अन्य को मिले। आत्मनेपद में कार्य का फल कर्ता को न मिलकर

नोट

किसी अन्य को मिले। आत्मनेपद में कार्य का फल कर्ता को प्राप्त होता है। यथा–देवदत्त: यजति। इसका अर्थ है–देवदत्त अपने लिए यज्ञ करता है परन्तु इस नियम का पालन कठोरता से नहीं किया जाता। सार्वधातुक क्रियाओं में अनेक परिवर्तन (विकरण) होते हैं, इस विचार से वैयाकरणों ने इन्हें विकरणों के अनुसार दस गणों में विभाजित कर दिया– भ्वादिगण, अदादिगण, जुहोत्यादिगण, दिवादिगण, स्वादिगण, तुदादिगण, रुधादिगण, तुदादिगण, क्र्यादिगण, और चुरादिगण। संस्कृत में पाणिनि ने इन्हें भी नियमबद्ध करने में महत्वपूर्ण प्रयास किया।

(8) संस्कृत भाषा की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है कृत् प्रत्यय धातुओं या धातुओं के परिवर्तित रूपों में जोड़े जाते हैं। कृत् प्रत्ययों के समायोजन से क्रियापद, क्रिया के काल के सूक्ष्म खण्डों का बोध कराते हैं। मुख्य कृत् निम्न प्रकार हैं–

वर्तमान काल के कृत् प्रत्यय– अत् (शतृ) और आन/मान (शानच्) वर्तमानकालिक प्रत्यय है। ये मुख्य क्रिया की सहगामी क्रिया का बोध कराते हैं– पठत्–पढता हुआ, गच्छत्–जाता हुआ, हसत्–हँसता हुआ, एधमान–बढता हुआ, वन्दमान–प्रणम करता हुआ, दधान–धारण करता हुआ, कर्वाण–करता हुआ इत्यादि। ध्यातव्य है कि अत् प्रत्यय परस्मैपदी धातु के साथ तथा आन/मान प्रत्यय आत्मनेपदी धातुओं के साथ जोड़े जाते हैं।

परोक्ष भूतकालिक प्रत्यय– परस्मैपदी में धातुओं के साथ वस् तथा आत्मनेपद में आन प्रत्यय जोड़ने से लिट्लकार के समान परोक्षभूतकालिक पदों का निर्माण होता है। लिट लकार में प्रथम पुरुष बहुवचन के प्रत्यय जोड़ने से पूर्व, धातु का जो रूप होता है, उसमें ये प्रत्यय जोड़े जाते हैं–

परस्मैपद–ई–ईयवस् (गया हुआ), नी–निनीवस् (ले जाया गया), अस्–आसिवस् (फेंका हुआ), दा–दविस् (दिया गया)। आत्मनेपद–दा–ददान, पच–पचान, जन्–जज्ञान, कृ–चक्राण।

भूतकालिक कर्मवाच्य प्रत्यय– धातु के साथ त जोड़कर भूतकालिक कर्मवाच्य कृदन्तों की रचना की जाती हैं जैसे - स्ना–स्नात (नहाया हुआ), जि–जित (जीता हुआ), श्रु–श्रुत (सुना गया), भू–भूत (हुआ)। कुछ धातुओं में त के स्थान पर न होता है - धू–धून, लू–लून, पृ–पूर्ण, कृ–कीर्ण, भञ्ज्–भग्न।

भूतकालिक कर्तृवाच्य प्रत्यय– भूतकालिक कर्मवाच्य त या न प्रत्ययान्त कृदन्तां के साथ वत् जोड़ने से भूतकालिक कर्तृवाच्य कृदन्त बनते हैं - यथा–कृ–कृत–कृतवत्, कॄ–कीर्ण–कीर्णवत्।

भविष्यकालिक कृत् प्रत्यय– किसी भी धातु के लृट् लार प्रथम पुरुष एकवचन, परस्मैपद में धातुरूप की इ हटा देने से भविष्यकालिक कृदन्त बनते हैं - दा–दास्यति–दास्यत्, भू–भविष्यति–भविष्यत्, जि–जेष्यति - जेष्यत्।

आत्मनपद में वर्तमान, प्रथम पुरुष, एकवचन धातुरूप का ते के स्थान पर मान प्रत्यय जोड़ने से भविष्यकालिक तथा कर्मवाच्य कृदन्तों की रचना की जाती है - दा–दास्यमान/दास्यमाण, भू–भविष्यमाण, चुर्–चोरयिष्यमाण, कृ–करिष्यमाण।

विध्यर्थक कृदन्त तथा क्रियात्मक विशेषण

'चाहिए' अथवा 'योग्य है' अर्थों में प्रत्ययान्त और अप्रत्यान्त धातुओं से तव्य एवं अनीय प्रत्यय होते हैं - दा–दातव्य/दानीय, चि–चेतव्य/चयनीय, श्रु–श्रोतव्य, कृ–कर्तव्य/करणीय।

'चाहिए' अथवा 'अनुकूल होने' के सन्दर्भ में धातुओं में य प्रत्यय जोड़ते हैं - दा–देय (वह जिसे दिया जाना चाहिए), गै–गेय (वह जिसे गाना चाहिए)।

भूतकालिक अव्यय कृदन्त

त्वा प्रत्यय गौण क्रिया की समाप्ति का सूचक होता है। वह पढ़कर घर गया। यहाँ पढ़ने की क्रिया समाप्त होने पर मुख्य क्रिया आरम्भ होती है। उदाहरणत:– ज्ञा–ज्ञात्वा (जानकर), दा–दात्वा (देकर), स्था–स्थित्वा (रूककर), हा–हित्वा (छोड़कर), धा–हित्वा (रखकर)। जब धातु से पूर्व उपसर्ग हो तो धातु में त्वा प्रत्यय के स्थान पर य प्रत्यय जोड़ा जाता है - आ + दा - आदाय, वि + जि - विजित्य, वि + नी - विनीय, आ + पृ - आपूर्व। एक और अव्यय कृत् प्रत्यय होता है जिसे त्वा प्रत्यय के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। यह अम् (णमुल्) प्रत्यय है। यथा–दा–दायम् (देकर), भिद्–भेदम्, ग्रह्–गोहम्, गम–गमम्। तुम् (तुमन्) प्रत्यय 'के लिए' अर्थ का बोधक है– इ–पतुम्, दा–दातुम्, नी–नेतुम्।

नोट

स्व-मूल्यांकन

सही विकल्प चुनकर रिक्त स्थान की पूर्ति करें–

1. ऋषि परिवारों में सुरक्षित रखे सूक्तों का बाद में .... के रूप में संकलन हुआ।
   (क) आदि संहिता (ख) ऋक् संहिता (ग) ऋषि संहिता
2. उपनिषद् ब्राह्मण ग्रंथों के परिशिष्ट भाग हैं। इन्हीं में आर्यों के .... का विकास हुआ।
   (क) ज्ञानकाण्ड (ख) बालकाण्ड (ग) सुंदर काण्ड
3. संस्कृत भाषा में शब्दों के स्त्रीलिंग रूप बनाने के लिए .... प्रत्ययों को पुल्लिंग शब्द के अंत में जोड़ा जाता है।
   (क) अन्ति, आति, अति (ख) आ, ई, ऊ, आनी (ग) ई, इया, इति
4. वैदिक भाषा का .... लकार संस्कृत में प्रयुक्त नहीं होता।
   (क) लृट् लकार (ख) लोट् लकार (ग) लेट् लकार

19.2 पालि

ईसा पूर्व पाँचवी शती में, गौतम बुद्ध ने सरल जनभाषा में उपदेश किया। उनके संघ में मगध, वैशाली, मिथिला, काशी, कोसल आदि राज्यों के राजकुल, श्रेष्ठी कुल, शूद्रकुल समान रूप से रहते थे। भिन्न-भिन्न राज्य और समाज के अनुसार उनकी अपनी-अपनी बोली भी भिन्न-भिन्न थी, किन्तु वे सभी एक साथ रहने पर एक साधारण भाषा मागधी का प्रयोग करते थे, फिर भी उनी अपनी बोलियों का पुट सर्वथा लुप्त नहीं हुआ। यही कारण है कि पालि के नामरूपों और धातुरूपों में भिन्नता मिलती है। मागधी का पूरा विकास भिक्षु संघ में ही हो पाया और यह भाषा, सारे मध्यदेश की जीवित भाषा बन गई। मगध राज्य के विस्तार के बाद, राजभाषा, होने से इसका सम्मान बढ़ गया। मगध राज्य की भाषा होने के कारण यह भाषा, मागधी कहलाई।

मगधी भाषा का नाम पालि क्यों पड़ा? आश्चर्य है किसी भी ग्रन्थ में मागधी भाषा के लिए पालि नाम का व्यवहार नहीं है। मोग्गलान व्याकरण का आदि श्लोक है–

सिद्धमिद्धगुण साधु नमस्सित्वा तथागतं।
सधम्मसङ्घं भासिस्सं मागधं सद्दलक्खणं।।

यहाँ पुस्तक का नाम 'मागधशब्दलक्षण' कहा गया है, पालि शब्द लक्षण नहीं। पालि शब्द का प्रयोग तो केवल मूल त्रिपिटक के लिए आता है – दीघ निकाय पालि, उदान पालि इत्यादि। पालिमतं इध आनीतं, नत्थि अट्ठकथा इध (यहाँ पालिमात्र लाई गई है, यहाँ अर्थकथा नहीं है), नेवपालिय न अट्ठकथायं दिस्सति (न तो पालि में और न अर्थकथा में यह देखा जाता है), इमिस्सापन पालिया एवमत्थो वेदित्ब्बो (इस पालि का यह अर्थ समझना चाहिए), इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि पालि शब्द का प्रयोग मूलत्रिपिटक के लिए होता था। परन्तु जिस मागधी भाषा बुद्धवचन सुरक्षित था, धीरे-धीरे उस भाषा का नाम पालि पड़ गया। जब मागधी भाषा, पालि शब्द से सम्बोधित की जाने लगी तो हास्यापद कथाएँ बननी आरम्भ हो गई कि पालि भाषा पाटलिपुत्र की भाषा थी, इसलिए इसा नाम पाटलि और फिर पालि पड़ गया। कुछ लोग इसे पल्ली अर्थात् गाँव की भाषा के आधार पर पालि बताने लगे। यहाँ ध्यातव्य है कि पालि शब्द कभी भी भाषा के लिए नहीं आया, भाषा तो मागधी ही थी।

मोग्गलान तथा अन्य वैयाकरण पालि शब्द की व्युत्पत्ति पा धातु और लि प्रत्यय से सिद्ध करते हैं तथा इसा अर्थ पंक्ति या श्रेणि बताते हैं। इसलिए कुछ विद्वानों का मत है कि पालि का अर्थ – मूलग्रन्थ की पंक्ति है। अत: बौद्ध मूलग्रन्थों की भाषा पालि है, परन्तु यह उचित नहीं, बौद्धों के मूल ग्रन्थों के अंश माणक कहे जाते थे ओर मौखिक रूप में उनका कथन होता था, अत: उनके लिए पालि (पंक्ति) का प्रयोग तर्कसंगत नहीं। इसके अतिरिक्त पालि भाषा के साहित्य में पालि शब्द का प्रयोग, ग्रन्थ की पंक्ति के अर्थ में कहीं भी नहीं हुआ। ग्रन्थ के नाम के साथ पालि शब्द

लगा दिया जाता था - उदान पालि, पाचित्तिय पालि इत्यादि। त्रिपिटक के मूल ग्रन्थों में जगह-जगह बुद्ध उपदेश के अर्थ में 'धम्मपरियाय' शब्द का पाठ भी मिलता है। लोकसल्लहरणो नाम अयं महाराज धम्मपरियायो इति, अर्थात् महाराज। इस धम्मपरियाय का नाम लोशल्यहरण है। अशेक के भब्रू शिलालेख में यही धम्मपरियाय, धंमपलियाय रूप में अंकित है - एतान भंते धंमपलियायानि इच्छामि। इससे स्पष्ट होता है कि परियाय से पलियाय, पालियाय शब्द बना और उसी का लघु रूप है पालि।

पालि का अर्थ बुद्धवचन होने से, यह शब्द मूलत्रिपिटक ग्रन्थों के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार मागधी भाषा के आधार पर बुद्ध की अपनी छाप लगने से पालि भाषा का विकास हुआ।

पालि भाषा की प्रमुख विशेषताएँ

(1) पालि में ऋ को कहीं अ, कहीं इ तथा कहीं उ कर दिया गया–

कृतम्-कतं, घृतम्-घतं, ऋक्षः-अच्छों, नृत्यं-नच्चं, हृदय-हृदय, मृगः– मग।

ऋणम्-इणं, कृत्यम्-किच्चं, दृष्टम्-दिट्ठं, कृष्ण-किण्ह/कण्ह।

ऋतु-उदु, ऋजु-उजु, वृष्टि-वुटिठ, प्रथिवी-पुथवी/पथवी, वृक्षः-रुक्खो।

(2) ऐ का इ, इ या ई रूप बन गया - वैमानिकः - वेमानिको, ऐश्वर्यम् - उस्सीरयं, ग्रैवेय्यम्-गेवेय्यं, मैत्री-मेत्तीं ऐरावण-एरावण, चैत्यंगिरि-चेतियागिरि।

(3) औ को ओ या उ हो गया - पौरः-पोरो, मौद्गल्लयानः-मोग्गलायनो, औद्धत्यम्-उद्धच्चं, औद्देशिकः-उद्देसिको, गौतमः-गोतम, औष्धं-ओषध।

(4) श तथा ष के स्थान पर स का व्यवहार होने लगा-

शिष्यः-सिस्सो, श्रमणः-समणो। श्रावकः-सावको।

(5) शब्द के अन्त में स्थित व्यंजनों का लोप हुआ-

गुणवान्-गुणवा, कश्चित्-कोचि, यावत्-याव, तावत्-ताव।

(6) अकारान्त शब्दों से परे विसर्ग को ओ तथा इकारान्त या उारान्त शब्दों से परे विसर्ग का लोप हुआ– देवः-देवो, कः-को, अग्निः-अग्गि, धेनुः-धेनु।

(7) विसर्ग से परे स, श, ष हुआ तो विसर्ग को स बन गया-

दुःसह-दुस्सहो, निःशोकः-निस्सोको।

(8) संयुक्त वर्ण से पूर्व दीर्घ स्वर का ह्रस्व हो गया - मार्दवम्-मद्दवं, तीर्थम्-तित्थं, धार्मिकः-धम्मिको, शून्यम्-सुञ्ञं, मार्गः-मग्गो, पूर्णः-पुन्नो।

(9) रेफ का लोप हो गया तथा ाेफ वाले वर्ण का द्वित्व हुआ-

कर्म-कम्म, निर्जलः-निज्जल, सर्वःसव्वो, वर्गः-वग्गो।

(10) ह के साथ रेफ या तो र आदेश हुआ, पद के आदिवर्ण में संयुक्त र का लोप हो गया तथा पद के मध्य में संयुक्त र का लोप हो गया या उस व्यंजन का द्वित्व हो गया। तर्हि-तरहि, एतर्हि-एतरहि। क्रीतः-कीतो, क्रुध्यति-कुज्झति, ग्रामः-गामो, त्रिपिटकम्-विपिटकं, श्रावकः-सावको, प्रकर्मः-पक्कमो, सूत्रम्-सुत्तं, समुद्रः-समुद्दो, इन्द्रः-इन्दो। र्य को कहीं-कहीं रि बन गया - कार्यम्-करियं, कदर्यम्-कदरियं।

(11) पद के आदि स्थित क्ष का ख तथा मध्य स्थित क्ष को क्ख या च्छ हो गया–

नोट

क्षीरम्–खीरं, क्षेमः–खेमो; दक्षिणः–दक्खिणो, मोक्षः–मोक्खो, पक्षः–पच्छो, अक्षि–अच्छि/अक्खि।

(12) पद के आदि स्थित द्य को ज तथा मध्य स्थित द्य को ज्ज हो गया–

द्युतिः–जुति, अद्य–अज्ज, विद्यते–विज्जते।

(13) पद के आदि स्थित ध्य को झ तथा मध्य स्थित ध्य को जझ हो गया–

ध्यानम्–झानं, बुध्यते–बुज्झते।

(14) पद के आदि स्थित त्य को च तथा मध्यस्थित त्य को च्च हो गया–

त्यजति–चजति, प्रत्ययः–पच्चयो, नृत्यम्–नच्चं, सत्यं–सच्चं, अत्ययः–अच्चयो।

(15) न्य तथा ण्य को ञ्ञ हो जाता है–

धान्यम्–धञ्ञं, शून्यम्–सुञ्ञं, हिरण्यम्–हिरञ्ञं।

(16) पद के आदि स्थित ज्ञ को ञ तथा तध्य स्थित ज्ञ को ञ्ञ हो जाता है–

ज्ञातिः–ञाति, ज्ञानम्–ञाणं, संज्ञा–संञ्ञ, प्रज्ञा–प्रञ्ञा।

(17) ष्ट और ष्ठ के स्थान पर ट्ठ, स्त के स्थान पर त/थ/त्थ होता है–

ओष्ठ–ओट्ठ, तुष्टः–तुट्ठो, षष्ठः–छट्ठो, स्तम्भः–थम्भो, हस्ती–हत्थी, दुस्तरं–दुत्तरं।

(18) कुछ अन्य परिवर्तन जो उच्चारण पर अधारित हैं–

स्थूलः–थूलो, स्थानं–ठानं, अस्थि–अट्ठि, मत्स्यः–मच्छो, उल्का–उव्का, जल्पः–जप्पो, फल्गु–फग्गु, ग्लानः–गिलानों, क्लशः–किलेसो, ज्वलि–जलति, पक्वं–पक्क, अध्वा–अद्धा, ह्रस्वः–रस्सों, जिह्वा–जिव्हा, स्कन्धः–खन्धो, निष्क्रमः–निक्खमों, शुष्कं–सुक्खं, पश्चात्–पच्छा, अप्सरा–उच्छरा, स्पृशति–फुसति, पुष्पम्–पुप्फं, देयम्–देय्यं, श्रेयः–सेय्यो, भुक्तम्–लोणं, स्नेहः–सिनेहो, शक्नोति–सक्कोति, चन्द्रमा–चन्दिमा, असूया–उसूया, मातृका–मेत्तिका, गुरु–गुरु, परुषः–पुरिसो, कोलः–खीलो, मूकः मूगो, प्रसेनजित्–पसेनदि, प्रति–पटि, पृथिवी–पठवी, दहति–डहति।

(20) पालि में धातुओं को नौ गणों में विभाजित किया गया–

भ्वादिगण, रुधादिगण, दिवादिगण, तुदादिगण, ज्यादिगण, क्यादिगण, स्वादिगण, तनादिगण, और चुरादिगण। इनमें कोई धातु हलन्त नहीं होती।

(21) धातु के रूप, सथी कालों में परस्सपद और अत्तनोपद दो तरह के हैं किन्तु व्यवहार में अत्तनोपद के रूप बहुत कम हैं। धातु रूपों के प्रत्यय लग्भग संस्कृत के समान है, विधिलिङ् आदि लकारों में कुछ अन्तर है।

(22) पालि में नामरूप सात विभक्तियों और सम्बोधन में प्रयुक्त होते हैं। कोई नाम हलन्त नहीं होता।

(23) पालि भाषा का शब्द भण्डार तद्भव शब्दों से युक्त है, परन्तु तत्सम शब्द भी प्रयुक्त होते हैं और धातुओं के संस्कृत रूप भी प्रयोग में लाए गए हैं।

(24) पालि मागधी भाषा है जो बुद्धकाल में पालि और कालान्तर में कुछ और परिवर्तनों के साथ मागधी प्राकृत रूप में काव्यभाषा बनी।

19.3 प्राकृत

भारतीय वैयाकरणों ने कई साहित्यिक भाषाओं के समूह का नाम प्राकृत रखा। उनका कथन था कि प्रकृति अथवा एक आधारभूत भाषा से प्राकृत भाषाएँ निकलीं और यह आधारभूत भाषा है– संस्कृत। हेमचन्द्र लिखते हैं–

प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्।

अर्थात आधारभूत भाषा संस्कृत है और उससे जो भाषा निकली है, वह प्राकृत है। इसी प्रकार–

प्रकृतेर् आगतं प्राकृतम्। प्रकृतिः संस्कृतम्। मार्कण्डेय, प्राकृतसर्वस्व,

प्रकृतेः संस्कृताद् आगतं प्राकृतम्। सिंहदेवगणिन्, वाग्भटालंकार टीका 2.2

प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्रभवत्वात् प्राकृतं स्मृतम्।

पीटर्सन की तीसरी रिपार्ट में प्राकृत-चन्दिका,

प्रकृतेः संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता। नरसिंह, प्राकृतशब्ददीपिका।

संस्कृतात् प्राकृतम् इष्टम् ततोऽपभ्रंशभाषणम्। नारायण,

–गीतागोविन्द की टीका रससर्वस्व, 5.2

अर्थात् संस्कृत से प्राकृत निकली और प्राकृत से अपभ्रंश भाषा का जन्म हुआ।

संस्कृतात् प्राकृतम् श्रेष्ठम् ततोऽपभ्रंशीाषणम्

–शंकर, शकुन्तला की टीका, 9.10

अर्थात् संस्कृत से श्रेष्ठ प्राकृत है और प्राकृत से भी अधिक अपभ्रंश है। उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि प्राकृत भाषा का उद्गम संस्कृत से हुआ। ये प्राकृत भाषाएँ कौन-सी हैं, इस विषय में वररुचि का मत है कि महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची प्राकृत भाषाएँ हैं। हेमचन्द्र इनके अतिरिक्त आर्ष, चूलिका, पैशाचिका और अपभ्रंश को भी प्राकृत भाषाओं में गिनाते हैं और कुछ लेखक आर्ष को प्राकृत भाषा नहीं मानते। मार्कण्डेय ने प्राकृत भाषा को चार भागों में विभाजित किया है-भाषा, विभाषा, अपभ्रंश और पैशाच।

वे भाषा के अन्तर्गत महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती और मागधी की स्थिति मानते हैं। उनके विचार में अर्धमागधी भाषा, शौरसेनी की निकटता रखने वाली, मागधी भाषा ही है। निष्कर्षतः सभी वैयाकरण महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागध ी और पैशाची को प्राकृत भाषाएँ मानते हैं। इनमें भी महाराष्ट्री प्राकृत श्रेष्ठ है–

महाराष्टाश्रयाम् भाषाम् प्रकृष्टं विदुः।

–दण्डी, काव्यादर्श, 1.34

भारतीय विद्वान् समझते थे कि संस्कृत भाषा, महाराष्ट्री प्राकृत के बहुत निकट है। अतः जब कभी साधारणतः प्राकृत की चर्चा की जाती है तो उसका प्रयोजन महाराष्ट्री प्राकृत होता था। यह महाराष्ट्री वह भाषा है जो दूसरी प्राकृत भाषाओं का आधार है और वैयाकरणों द्वारा लिखित प्राकृत भाषाओं सम्बन्धी व्याकरणों में सर्वप्रथम स्थान पाती है। दूसरे शब्दों में प्राकृत भाषा मूलतः एक ही है, परन्तु क्षेत्र विशेष के प्रभाव से कुछ प्रयोगों में भिन्नता के कारण चार मुख्य भेद मान लिए गए। वैयाकरणों में, वररुचि ने जिस व्याकरण की रचना की, उसमें नौ अध्ययों में 424 सूत्र, महाराष्ट्री प्राकृत से सम्बन्धित है और एक-एक अध्याय पैशाची, मागधी और शौरसेनी भाषा से, जिनमें क्रमशः 14, 17 और 32 नियम हैं। वररुचि द्वारा लिखित इस प्राकृतप्रकाश व्याकरण के अन्त में लिखा है कि जिन-जिन प्राकृत भाषाओं के विषय में जो बात विशेष रूप में न कही गई हो, वह महाराष्ट्री के समान ही मानी जानी चाहिए - शेषं महाराष्ट्रीवत्।

प्राकृत भाषा सम्बन्धी अन्य वैयाकरण भी ऐसा ही कथन लिखते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि महाराष्ट्री प्राकृत तथा अन्य तीन प्राकृतों में बहुत ही कम अन्तर है। सभी संस्कृत नाटकों में प्राकृत भाषाओं का प्रयोग मिलता है नाटकों में श्रेष्ठ, शिक्षित और कुलीन पात्र संस्कृत भाषा का व्यवहार करते हैं कुलीन और शिक्षित स्त्री-पात्र शौरसेनी में गद्य तथा महाराष्ट्री में पद्य बोलते हैं। नाटकों में निम्न लोगों तथा निम्न वर्णों की बोली मागधी में पाई जाती है। इनके अतिरिक्त कुछ नाटकों में आवन्ती, टक्क, शाबरी, प्राच्या और चाण्डाली भाषा देखने में आई है। कुछ आचार्यों का मत है कि आवन्ती और प्राच्या भाषाएँ शौरसेनी के अन्तर्गत हैं तथा ढक्क, शाबरी और चाण्डाली भाषाएँ मागधी का ही रूप है। इस प्रकार, जब संस्कृत नाटकों के पात्र एक ही मंच पर संस्कृत, शौरसेनी, महाराष्ट्री और मागधी भाषाओं का प्रयोग करते हैं तो स्पष्ट है कि दर्शक इन सभी भाषाओं को समझते होंगे और सभी प्राकृत भाषाओं में विशेष दूरी न थी, केवल क्षेत्र विशेष के प्रभाव से कतिपय प्रयोगों में ही भिन्नता रही होगी। इसी प्रकार वैयाकरणों ने प्राकृत भाषाओं से सम्बन्धित व्याकरणों में महाराष्ट्री का प्राकृत नाम से महत्त्व दिया और शौरसेनी, मागधी एवं पैशाची में इससे मामूली भिन्नता प्रदर्शित की। प्राकृतप्रकाश (वररुचि) और प्राकृतसर्वस्व (मार्कण्डेय) से ज्ञात होता है कि चार प्राकृत भाषाओं के अतिरिक्त आवन्ती,

नोट

शाबरी, प्राच्या चाण्डाली, शाकारी, आभीरिका, टक्की, औड्री, अर्धमागधी, वाह्लीकी आदि अनेक भाषाएँ और भी थीं, परन्तु उनका पृथक महत्त्व न था जैसे आज हिन्दी की अनेक उपभाषाएँ, हिन्दी से पृथक महत्त्व न था जैसे आज हिन्दी की अनेक उपभाषाएँ, हिन्दी से पृथक महत्त्व नहीं रखतीं, इसी प्रकार अन्य अनेक विभाषाएँ चार प्राकृतों में ही अन्तभूर्त थी।

महाराष्ट्री भाषा का नाम महाराष्ट्री के नाम पर पड़ा। इसमें अक्षरों का लोप बहुत होता है, इसलिए इसका व्यवहार पद्य के लिए उत्तम माना गया, परन्तु गद्य की भाषा में जटिलता बढ जाने से, इसे समझना कठिन हो जाता है। नाटकों में शौरसेनी भाषा गद्यरूप में अधिक प्रयुक्त होती है। शूरसेनों की भाषा का नाम शौरसेनी पड़ा। शूरसेनों की राजधानी मथुरा थी और मथुरा के आस-पास बोली जाने वाली प्राकृत शौरसेनी कहलाती थी। मागधी, मगध देश की भाषा थी। पटना के निकटवर्ती क्षेत्र मगध कहे जाते थे। आज भी भोजपुरी आदि भाषाएँ, मागधी के निकट हैं। मार्कण्डेय का कथन है कि नाटक में राक्षस, भिक्षुक, क्षपणक और चेटी आदि मागधी बोलते हैं- **राक्षसभिक्षुकक्षपणक चैटाद्याः मागधी, प्राहुः।** भरत के अनुसार अन्तःपुर के नपुंसक, स्नातक और कञ्चुकी पात्रों की भाषा मागधी है। दशरूपक के अनुसार पिशाच और अत्यन्त नीच लोग पैशाची और मागधी बोलते हैं- **पिशाचात्यन्तनीचादौ पैशाचं मागधं तथा**। अवन्ति देश की भाषा आवन्ती कहलाती है। उज्जयिनी मालव, चेटि आदि अर्थात् आज के मध्यप्रदेश का क्षेत्र इस भाषा का आधार था। यह भाषा महाराष्ट्री और शौरसेनी का मिश्रण ही थी। नाटकों के मध्यम पात्र इसका प्रयोग करते थे। मार्कण्डेय के अनुसार विदूषक, विट आदि पात्रों की भाषा प्राच्या और मृच्छकटिका में माथुर व द्यूतकर की बोली ढक्क है। ढक्क भाषा ढाका के आस-पास की भाषा रही होगी। चाण्डालों की भाषा चाण्डाली और शबरों की भाषा शाबरी कहलाती थी।

19.3.1 महाराष्ट्री प्राकृत

(1) प्राकृत के वर्णसमाम्नाय में ऋ, ॠ, लृ, ऐ, औ, उ, ञ, श, ष, य विसर्ग और प्लुत नहीं होते। परन्तु कहीं-कहीं ऐ व औ के प्रयोग देखे भी जाते हैं-कैअवं (कैतवम्), सौअरिअं (सौनदर्यम्), कौरवा (कौरवाः)। ङ्, ञ का प्रयोग भी मिलता है।

(2) भिन्न वर्ग वाले व्यंजनों का परस्पर संयोग नहीं होता। त् + क, प् + क, ष् + क, क् + त, क् + य, क् + र, क् + ल, ल् + क तथा क् + व के स्थान पर क्क हो जाता है-उत्कण्ठा-उक्कंठा, अष्टकमलम्-अक्कँवलु, नक्तञ्चरः-णक्कंचरो, याज्ञवल्क्येन-जण्णवक्केण, शक्रः-शक्कः, विक्लतः-विकवो, उल्का-उक्का, पक्वम्-पिक्कं। इसी प्रकार ड् + ग, ग् + न, ग् + य, ग् + र, र् + ग और ल् + ग के स्थान पर 'ग्ग' रूप रहता है-खड्गः-खग्ग, अग्नीन्-अग्गिणी, योग्यः-जोग्गो, कचग्रहः-कअग्गहों, मार्गः-मग्गो, वल्गा। इसी प्रकार अन्य वर्गों के वर्णों में स्थिति होती है अर्थात् दो भिन्नवर्गीय व्यंजन एकवर्गीय बन जाते हैं, कर्णपुरम्-कण्णउरं।

(3) पंचम अक्षरों का प्रयोग सवर्णों के साथ देखा जा सकता है, किन्तु सर्वत्र नहीं– तालवृन्तम्-तालवेण्टं, स्पन्दनम्-फन्दनं, उदुम्बरम्-उम्बरं इत्यादि।

(4) प्राकृत में प्रकृति, प्रत्यय, लिंग, कारक, समाससंज्ञा आदि संस्कृत के समान होते हैं।

(5) प्राकृत में द्विवचन नहीं होता, इसके स्थान पर बहुवचन आता है। इसी प्रकार सम्प्रदान कारक विभक्ति का काम षष्ठी विभक्ति से पूरा किया जाता है। जैसे - वत्सौ चलतः-वच्छा चलन्ति, विप्राय देहि-विप्पस्सदेहि।

(6) समास में कभी-कभी दीर्घ स्वर ह्रस्व स्वर के रूप में तथा ह्रस्व-दीर्घ स्वर विकल्प रूप में मिलते हैं– यथास्थितम्-जहटिअं, अन्तर्वेदी-अंतावेइ, सपतविंशति-सत्तावींसा, वधूमुखम्-बहुमुहं या बहूमुहं, प्रियाप्रियम्-पिआपिअं या पीआपीअं। कभी-कभी यह परिवर्तन नहीं होता- युवतिजन-जुवइअणो।

(7) स्त्रीलिंग व्यञ्जनान्त शब्दों में अन्तिम व्यंजन को आ आदेश होता है, विद्युत् शब्द को छोड़कर। सरित्-सरिआ, संपद्-संपआ, वाक्-वाआ, अप्सरः-अच्छरा। परन्तु विद्युत्-विज्जू। स्त्रीलिंग में अन्तिम द् को रा आदेश होता है।

(8) अन्तिम म् को अनुस्वार होता है - जलम्, फलम्, वत्सम्, गिरिम्-जलं, फलं, वच्छं, गिरिं। व्यंजन परे रहने पर

ङ्, ण्, न् के स्थान में अनुस्वाद होता है - पङ्क्ति-पंत्ती, पराङ्मुख-परंमुहो, कञ्चुक:-कंचुओ, वञ्चनम्-वंचणं, षण्मुख:-संमुहो, उत्कण्ठा-उक्कंठा, कंस:-कंसो, अंश:-अंसो। वर्गों के अक्षर परे हों तो पंचम अक्षर को अनुस्वार अदेश आवश्यकश नहीं-पङ्को-पंको, सङ्खो/संमुहो, अङ्गणं/अंगणं, लङ्घणं/लंघणं, कञ्चुओ/कंचुओ, सञ्झा/संझा, कण्डं/कंडं, चन्दो/चंदो, कम्पइ/कंपई इत्यादि।

(9) शब्द की आदि ऋ को उ होता है- घृतम्-घअं, तृणम्-तणं, कृतम्-कअं, वृषभ:-वसहो, मृग:-मओ, वृद्धि:-बड्ढी। परन्तु कृपाउिदगण के शब्दों में आदि ऋ को इ हो जाता है। कृपा-किवा, दृष्टम्-दिट्ठं, सृष्टि:-सिट्ठी, शृगांर:-सिंगारों, नृप:-निवो इत्यादि। ऋतु आदि शब्दों में आदि ऋ को उ आदेश होता है– ऋतु:-उदु, वृत्ति-उत्ती, प्रावृट-पाउसो, परभृत-परहुओ, ऋजु:-उजू इत्यादि। कहीं-कहीं ऋ को रि भी बनता है– ऋद्धि:-रिद्धी, ऋणं-रिणं, ऋजु-रिज्जु, ऋषभ:-रिसहो, ऋतु-रिऊ, ऋषि:-रिसी।

(10) प्राकृत में शब्द का आदि ऐ को ए या अइ आदेश हो जाता है– शैल:-सेल, ऐरावत:-एरावणो, कैलाश, त्रैलोक्यम्-तेल्लूकं, दैत्यम्-दइच्चं, भैरव:-भइरवो, वैशाख:-वइसाहो इत्यादि।

(11) प्राकृत में शब्द के आदि औ को ओ और अउ आदेश होते हैं-कौमुदी-कोमुई, यौवनम्-जोव्वणं, गौतम:-गोदमो, कौशक:-कोसिओ इत्यादि। कौरव:-कउरवो, पौर:-पउरो, गौड:-गउडो, मौनम्-गउणं इत्यादि। परन्तु सौन्दर्यादि गण में आदि और को उ आदेश होता है - सौनदर्यम्-सुन्देरं/सुनदरिअं, शौण्ड:-सुंडो, दौवारिक:-दुवारिओ इत्यादि।

(12) स्वर से परे, अनादि एवं असंयुक्त क्, ग्, च्, ज्, त्, द्, प्, य्, और व् का प्राय: लोप होता है - लोक:-लाओं, शकटम्-सअढं, मुकुलम्-मउलो, नकुल:-णउलो, नौका-णेआ। नग:-णओ, नगरम्-णअरं, मृगांक-मअङ्को, सागर:-साअरो, भागीरथी-भाइरही। शची-सई, कचग्रह:-कअग्गहो, सूची-सूई, रोचते-रोअदि, उचितम्-उइदं, सूचकम्-सूअअं, रजक:-रअओ, प्रजापति:-पआवई, गज:-गओ, रजतम्-रअदं, वितानम्-विआणं, कृतम्-किअं, रसातलम्-रसाअलं, रत्नम्-रअणं, यदि-जइ, नदी-दई, गदा-गआ, गदनम्-वअणं, मद:-मओ, रिपु:-रिऊ, सुपुरुष:-सुउरिसो, कपि:-कई, विपुलम्-विउलम्, दयालु:-दआलू, नयनम्-णअणं, वियोग:-विओओ, वायुना-वायुणा, जीव:-जीओ, दिवस:-दिअहो, लावण्यम्-लाअण्णं, विबोध:-विओहा, वडवानल:-वडआणलो। यहाँ प्राय: का अभिप्राय है कि यह निमय सर्वत्र लागू नहीं होता। ऐसे बहुत सारे शब्द हैं जिनमें लोप की स्थिति नहीं है- एक:-एगो, अमुक:-अमुगो, आकार:-आगारो इत्यादि।

(13) स्वर से परे अनादि तथा असंयुक्त ख, घ, थ ध, और भ के स्थान में प्राय: ह आदेश होता है- मख:-महो, मुखम्-मुहं, मेखला-मेहला, लघु-लहु, लाघवम्-लाहअं, नाथ:-नाहो,, गाथा-गाहा, मिथुनम्-मिहुणं, शपथ:-सवहो, कथय-कहेहि, कथम्-कहं, साधु:-साहु, राधा-राहा, बधिर:-बहिरो, मधु कर:-महुअरो, अधिकम्-अहिअं, सभा-सहा, स्वीााव:-सहावो, नभ:-णहो, शोभते-सोहइ, दुर्लभ:-दुल्लहो।

(14) स्वर से परे अनादि एवं असंयुक्त ट, ठ, ड के स्थान में ड, ढ, ल आदेश होता है- नट:-णडो, भट:भडो, विटप:-विडवो, घट:-घडो, घटते-घडइ। मठ:-मढो, शठ:-सढो, कमठ:-कमढो, कुठार:-कुढारो, गरुड:-गरुलो, क्रीडति-कीलइ, तडाग:-तलावो, गुड:-गुडो/गुलो, नाडी-नाली, नाडी, दाडिम-दाडिम/दालिम।

(15) स्वर से परे असंयुक्त एवं अनादि न को ण आदेश होता है- कनकम्-कणअं, शयनम्-सअण् वचनम्-वअणं, मानुष:- माणुसो। आदि असंयुक्त को ण विकल्प से हाता है- नर:-नरो/णरो, नदी-नई/णई।

(16) स्वर से परे असंयुक्त, अनादि प को व आदेश होता है- शपथ:-सवहो, शाप:-सावो, उपसर्ग:-उवसग्गो, प्रदीप:-पईवो, पापम्-पावं, काश्यप:- कासवो, उपमा-उवमा, महीपाल:-महिवालो, कलाप:-कलावो, गोपयति-गोवेइ, तपति-तवइ, कपोल:-कवोल:।

(17) पद के आदि य को ज आदेश होता है- यश:-जसो, यम:-जमो, याति-जाइ।

(18) क, ग, ट, ड, त, द, प, श, ष, स यदि संयुक्त अक्षर मे प्रथम वर्ण हों तो इनका लोप होता है और अनादि संयुक्त अक्षर में बचे शेष वर्गों को द्वित्व होता है- भुक्त-भुत्तं, मुदगर:-मुग्गरो, मुक्तम्-मुत्तं, सुपतम्-सुत्तं, दुग्धम् -

नोट

दुद्धं, गुप्तः-गुत्तो, मुग्धम्-मुद्धं, निश्चलः-निच्चलो, स्निग्धम्-सिणिद्धो, गोष्ठी-गोट्ठ, षट्पदः-सप्पओ, निष्ठुरः-निट्ठुरो, खड्ग-खग्गो, स्नेहः- णेहो, षड्जः-सज्जो, उत्पलं-उप्पलं, उत्पातः-उप्पावो।

(19) ल, व र संयुक्त अक्षर के अन्तिम वर्ण हों तो इना लोप होता है और अनादि में वर्तमान शेष वर्णों का द्वित्व हो जाता है-युग्गम्-जुग्गं, रश्मिः-रस्सी, स्मरः-सरो, नग्नः-नग्गो, भग्नः-भग्गो, लग्नम्-लग्गो, सौम्यः- सोम्यो।

(20) ल, व र संयुक्त अक्षर के आद्य अक्षर हों अथवा अन्त्य अक्षर, इनका लोप होता है और अनादि में स्थित शेष वर्णों का द्वित्व होता है- उल्का-उक्का, एल्कलम्-वक्कलं, विक्लवः-विक्कवो, शब्दः-सद्दो, अब्दः-अद्दो, पक्वम्-पिक्कं, ध्वस्तम्-धत्थं, अर्कः-अक्को, वर्गः-वग्गो, चक्रः-चक्कं, ग्रहः-गहो, रात्रिः-रत्ती। चन्द्र शब्द पर यह नियम लागू नहीं होता-चन्द्रः-चन्दो।

(21) कुछ अन्य परिवर्तन इस प्रकार हैं- द्र के रेफ का लोप विकल्प से -द्रोहः-दोहा/द्रोहो, रुद्रः-रुद्रो, भद्रम्-भद्दं/भद्रं, समुद्रः-समुद्रो, हदः-द्रहो/दहो। ज्ञा धातु में ञ् का लोप विकल्प से - सर्वज्ञः-सवज्जो/सवण्णू, ज्ञानम्-जाणं/णाणं, देवज्ञः-दइवज्जो/इदवण्णू, प्रज्ञा-पज्जा/पण्णा, आज्ञा-अज्जा आणा, संज्ञा-संजा/सण्णा। घ्य, श्च, त्स और प्स के स्थान में छ आदेश होता है- पच्चम्-पच्छं, पथ्या-पच्छा, रथ्या-रच्छा, पश्चिमम्-पच्छिमं, आश्चर्यम्-अच्छेरं, उत्साहः-उच्छाहो, मत्सरः-मच्छरो, वत्सः-वच्छो, लिप्सति-लिच्छइ, अपसरा-अच्छरा। द्य, य्य, और र्य्य के स्थान में ज आदेश होता है-मद्यम्-मज्जं, वेद्यम्-वेज्जं, विद्या-विज्जा, शय्या-सेज्जा, भार्य्या-भज्जा, कार्य्यम्-कज्जं, वर्यम्-वज्जं, पर्यन्तम्-प ज्जन्तं। ध्य के स्थान मं झ एवं म्न और ज्ञ के स्थान में ण आदेश होते हैं-ध्यान्-झाणं, उपाध्यायः-उवज्झाओ, स्वाध्यायः-सज्झाओ, मध्यम्-मज्झं, विन्ध्यः-विंझो, अध्यायः-अज्झाओ, निम्तम्-निण्णं, प्रद्यु म्नः-पज्जुण्णो, ज्ञानम्-णाणं, संज्ञा-संणा, प्रज्ञा-पण्णा, विज्ञानम्-विण्णाणं। ष्प और स्प के स्थान पर फ आदेश होता है-पुष्पम्-पुफ्फं, शष्यमः-सफ्फं, निष्पेषः-निफ्पेसो, स्पन्दनम्-फंदणं, प्रतिस्पर्द्धी-पडिफ्फद्दी, स्पर्श-पंसो। श्न, ष्ण, स्न, ह्न, ह्ण और सूक्ष्म के क्ष्म के स्थान पर ण्ह आदेश होता है-प्रश्नः-पण्हो, विष्णुः-विण्हू, कृष्णः-कण्हो, ज्योत्स्ना-जोण्हा, स्नायुः-ण्हाऊ,स्नानम्-ण्हाणं वह्नि-वण्हि, पूर्वाह्णः-पुव्वहणों, तीक्ष्णम्-तिण्हं, सूक्ष्मम्-सण्हं। क्त्वा के स्थान पर आलु, इल्ल, वन्त आदेश होते हैं। वति प्रत्यय के स्थान में व्व आदेश होता है- मधुवत्-महुव्व।

(22) प्राकृत में धातुओं के गणभेद नहीं होते। अदन्त धातुओं को छोड़कर शष धातुओं में आत्मनेपद और परस्मैद में भेद नहीं होता।

वर्तमान के प्रत्यय

एकवचन		**बहुवचन**
प्रथम पुरुष	इ, ए	अन्ति, अन्ते, इरे
मध्यम पुरुष	सि, से	ह, इत्था
उत्तम पुरुष	आमि, मि	आमो, इमो, एमो

पठ्-पठइ, पठए। पठन्ति, पठन्ते, पठिरे। पठसि, पठसे। पठहि, पठित्था। पठामि, पठमि। पठोमो, पठियो, पठेमो। अस्-अच्छई, अत्थि। अच्छंति- अत्थि। सि, अच्छसि, अत्थि। अत्थि, अच्छिर्तथा, अच्छइ। म्हि अत्थि, अच्छामि- म्हो; म्हा।

स्वरान्त धातु से भूतकाल में सभी पुरुषों और वचनों में ही/सी, हीअ प्रत्यय होते हैं– कृ-का=काही/कासी/काहीअ। स्था=ठा, ठाही, ठासी, ठाहीअ। परन्तु हलन्त धातु के अन्त में इअ आदेश होता है– गण्हीअ। केवल अस् धातु के भूतार्थ में आसि और अहेसि आदेश होते हैं– आसि, अहेसि।

भविष्य काल के प्रत्यय **नोट**

एकवचन		**बहुवचन**
प्रथम पुरुष	हिइ	हिन्ति, हिन्ते, हिरे
मध्यम पुरुष	हिसि	हित्थ, हिरु
उत्तम पुरुष	हिमि, हामि, स्सामि, स्सम्	हिस्सामो, हिहामो

कृ=का धातु - काहिइ, काहिंति। काहिसी, काहित्था। काहं/काहिमी, काइमो। हस् धातु - हसिहि, हसिहिन्ति। हसिहिसि, हसिहित्था। हसिस्सं, हस्सिसामो/हसिहामो। भू=हो धातु - होहिइ, होहिन्ति/होहिन्ते/होहिरे। होहिसि, होहित्थ/होहिह। होस्सामि/होहामि/होस्सामो/होहायो/होहामु/होस्साम/होहाम/होहिमु/होहिम, होहामो/होस्सामो। धातु रूपों में भविष्य काल एकवचन में अनेक रूप बन जाते हैं। नियम पूरी तरह लागू नहीं होता।

विधि अर्थ में प्रत्यय

एकवचन	**बहुवचन**
प्रथम पुरुष	उ न्तु
मध्यम पुरुष	सु,हि ह
उत्तम पुरुष	मु मो

हस् धातु - हसउ, हसन्तु। हससु/हसहि, हसह। हसमु, हसामो।

(23) शतृ और शानच् के स्थान में क्रमशः न्त और माण प्रत्यय होते हैं- पढन्तो, पढमाणो, हसन्तो, हसमाणो।

(24) भाव और कर्म में इअ और इज्ज आदेश होते हैं- हसिअइ, हसिज्जइ (हस्यते)। हश् और वच् धातु को दीस और वुच्च आदेश होता है- दीसई, वुच्चई (दृश्यते, उच्यते)।

प्राकृत में पाँच प्रकार के शब्द हैं- अ, आ अन्त वाले। इ, ई अन्त वाले। उ, ऊ अन्त वाले। ऋ अन्त वाले। हलन्त।

प्राकृत के नाम रूप, ध्यान से देखा जाए तो संस्कृत के नाम रूपों के तद्भव रूप ही दिखाई देते हैं। विभक्ति चिह्न उच्चारण की दृष्टि से विकृत हो जाते हैं। यथा–

देवः–देवो, देवाः–देवा, देवम्–देवं, देवान्–देवा/देवे, देवेन–देवेण, देवाभिः–देवेहिं, देवात्–देवत्तो/देवाओ, देवेभ्यः–देवेहिन्तो/देवाहिंतो, –देवस्य–देवस्स, देवानाम्–देवाणं, देवे–देवे/देवेम्मि, देवेसु–देवेसु।

इसी प्रकार गिरि शब्द रूप देखिए–

गिरिः–गिरि, गिरयः–गिरिओ/गिरिणो, गिरिम्–गिरिं, गिरीन्–गिरिणो, गिरिणा–गिरिणा, गिरिभिः–गिरीहिं, गिरेः–गिरित्ते। गिरिभ्यः–गिरिहिंतो, गिरेः–गिरिणो/गिरिस्स, गिरीणाम्–गिरिणं, गिरौ–गिरिम्मि गिरीषु–गिरीसु।

लता शब्दरूपों की तुलना कीजिए–

लता–लदा, लताः–लदा/लदाओ, लताम्–लदं, लताः–लदा/लदाओ, लतया–लदाए/लदाइ, लताभिः–लताहि/लताहिं, लतायाः–लदादो, लताभ्यः–लदाहिंतो, लतायाः–लदाए। लदाआ, लतानाम्–लदाणं, लतायाम/लदाए/लदाअ, लतासु–लदासु, लते–लदे।

इसी प्रकार अन्य शब्द रूपों में भी संस्कृत रूपों के उच्चारण की भिन्नता दिखाई पड़ती है। उदाहरणतः - सः–सो, ते–ते/दे, तम्–तं/णं, तेन–तेण/तिणा/णेण, तैः–तेहिं/णेहिं, तस्मात्–तत्तो/तदो/ता/ताओ, तेम्यः–ताहिंतो, तस्य–तस्स/तास/से, तेषाम्–ताणं/तेसि/सिं/दाणं, तस्मिन्–तस्सिं/ताम्मि/ताहिं/तर्थ, तेषु–तेसु। युष्मद् और अस्मद् के शब्द रूपों में तो कहीं स्थिरता ही दिखाई नहीं देती। एक–एक विभक्ति में लगभग दस–दस शब्द रूप हैं जो शौरसेनी ओर अपभ्रंश में स्थिर हो जाते हैं। सामान्यतः प्राकृत में नामरूपों में अनेकात्मकता है। इनमें शौरसेनी का रूप बहुत कुछ स्थिर और स्पष्ट है और यही नागर अपभ्रंश का आधार बनती है।

नोट

प्राकृत में संस्कृत के समान पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग शब्द होते हैं– इनमें द्विवचन नहीं होता। चतुर्थी विभक्ति का स्थान षष्ठी से पूरा किया जाता है।

19.3.2 शौरसेनी प्राकृत

सभी प्राकृतों में महाराष्ट्री प्रमुख है। शौरसेनी और महाराष्ट्री में थोड़ा ही भेद है, इसलिए वररुचि ने प्राकृत में इसके लिए केवल 17 सूत्र बनाए जहाँ इसमें और महाराष्ट्री में अन्तर है, अन्यथा दोनों प्राकृत समान हैं। यह भिन्नता निम्न रूपों में देखी जा सकती है।

(1) शूरसेन क्षेत्र की शौरसेनी में प्रयुक्त होने वाले शब्दों का आधार संस्कृत है।

(2) शौरसेनी के पद में अनादि और असंयुक्त त को द आदेश होता है। मारुतेन मन्त्रितः-मारुदिण मन्तिदो, एतस्मात्-एदाओ। तथा-तधा एवं तस्य-तस्स में त का द नहीं हुआ क्योंकि त आदि में है। शकुन्तला-सउन्तले में 'त' संयुक्ताक्षर है, अतः द नहीं बना। परन्तु महान्तः, निश्चिन्तः, अन्तःपुरम्/महन्दो, निच्चिन्दो, अन्देउरं आदि कुछ शब्दों में यह नियम लागू नहीं, तावत् में ताव और दाव दोनों रूप बनते हैं।

(3) संबोधन की प्रथमा विभक्ति में इनन्त शब्द के इन को आ विकल्प होता है - भो कञ्चुकिन्-भो कञ्चुइया, सुखिन्-सुहिआ। विकल्प न होने की स्थिति में भो तपस्विन्-भो तवस्सि, भो मनस्विन्-भो मणस्सि। सम्बोधन की प्रथमा विभक्ति में नकारान्त शब्द के न के स्थान पर म विकल्प से होता है– भो राजन्-भो रायं, भो विजयवर्मन्-भो विअयवम्मं।

(4) भवत् और भगवत् शब्दों में सु विभक्ति पर रहते 'न्' को 'म्' होता है-भवं, भगवं, भयवं/भवान्, भगवान्, भगवान्।

(5) र्य के स्थान पर य्य विकल्प से होता है- आर्यपुत्र-अय्यउत्त, पर्याकुलः-पय्याकुलो, सूर्यः-सुय्यो, क्किल्प न होने की स्थिति में-आर्यः-अज्जो, कार्यपरवशः-कज्जपरवसो।

(6) थ के स्थान में ध विकल्प से होता है– नाथः-णाधो/णाहो, कथम्-कधं/कहं, राजपथः-राजपधो/राजपहो।

(7) 'इह' और 'हच्') आदेश के ह के स्थान पर ध विकल्प से होता है– इह, इध, होध, होह भवथ) परित्तायध , परित्तायह (परित्रायध्वे)।

(8) भू धातु के ह को भ आदेश विकल्प से होता है- भोदि, होदि (भवति।

(9) पूर्व शब्द को पुरव विकल्प से होता है - अपुरवं, अपुव्वं (अपूर्वम्)।

(10) क्त्वा प्रत्यय के स्थान पर इय और दूण आदेश विकल्प से होते हैं-भविय, भोदूण। हविय, होदूण। पढिय, पढिदूण। रमिय, रन्दूण। विकल्प न होने की स्थिति में-भोत्ता, होत्ता, पढित्ता, रन्ता। वररुचि के अनुसार केवल इय प्रत्यय होता है।

कृ और गम् धातुओं के साथ क्त्वा प्रत्यय के स्थान पर अडुअ विकल्प से होता है। कडुअ, गडुअ। अन्यथा-करिय, करिदूण, गच्छिय, गच्छिदूण।

(11) धातु प्रत्यय तिप् के इ और ए के स्थान पर दि आदेश होता है-नेदि, देदि, भोदि, होदि (नयति, ददाति, भवति) यदि यह परिवर्तन अकार के बाद हो तो दि और दे दोनों रूप बनते हैं- अच्छेद/अच्छदि, गच्छदे/गच्छदि, रमदे/रमदि, किज्जदे/किज्जदि (भवति, गच्छति, रमति, करोति)।

(12) भविष्य अर्थ में विहित प्रत्यय से पूर्व स्सि होता है- भविस्सिदि, करिस्सिदि, गच्छिस्सिदि (भविष्यति, करिष्यति, गमिष्यति)।

(13) अत् से परे ङसि (पंचमी एकवचन) के स्थान पर आदो और आदु आदेश होता है- दूरात्-दूरादो, दूरादु।

(14) शौरसेनी में कुछ आदेश निम्न प्रकार हैं–

इदानीम्–दाणिं। तस्मात्–ता। किमेदं–किणेदं। एवमेदं–एवणेदं। एव–य्येव। चेटी को सम्बोधन अर्थ में – हञ्जे। विस्मय ओर निर्वेद अर्थ में–हीमाणहे। ननु–णं। हर्ष प्रकट करने के लिए–अम्मेह। विदूषक के हर्ष द्योतन में– ही–ही। पुत्र–पुत्तो/पुडो। व्यापृतः–वावडो। गृध्रः–गिद्धो। ब्रह्मण्य–ब्रह्मञ्ञो/बह्मण्णो। यज्ञ–जञ्ञो। विज्ञ–विञ्ञो/विण्णो। कन्या–कञ्ञा/कण्णा। सर्वज्ञ–सव्वण्णो। इंगितज्ञ–इङ्गिअण्णो।

(15) नपुंसकलिंग में प्रथमा तथा द्वितीया। बहुवचन (जस् तथा शस्) में णि आदेश होता है– वनानि–वणाणि, धनानि–धणाणि।

(16) तिङ् प्रत्यय परे रहने पर भू धातु के स्थान पर भो आदेश होता है– भोमि। परंतु लृट लकार में यह नियम लागू नहीं होता–भविस्सदि। इसी प्रकार तिङ् परे रहने पर दा धातु के स्थान पर दे आदेश होता है–देमि। परन्तु लृट लकार में 'दे' के स्थान पर 'इस्स' होगा। इसी तरह तिङ् के स्थान पर रहने पर स्था को चिट्ठ, स्मृ को सुमर, दृश को पेक्ख और अस् को अच्छ आदेश होता है–चिट्ठदि, सुमरदि, पेक्खदि, अच्छन्ति। अस् के साथ ति प्रत्यय जोड़ने पर अत्थि रूप बनता है।

(17) शौरसेनी में स्त्री के स्थान पर इत्थी, इव के स्थान पर विअ, जस् के स्थान पर वअं, अस्मद् के स्थान पर अम्हे, आश्चर्य के स्थान पर – अच्चरिअ आदेश होते हैं।

(18) प्राकृतसर्वस्व के अनुसार शौरसेनी में धातुओं में, भावकर्म और कर्ता अर्थों में परस्मैपद होते हैं और तीनों कालों में प्रायः लट् लकार होता है।

(19) शौरसेनी में शेष शब्दों के साधन प्राकृत (महाराष्ट्री) के अनुसार किए जाते हैं।

मार्कण्डेय रचित प्राकृतसर्वस्व के अनुसार शौरसेनी के शब्द

अउव्वं–अपूर्वम्, अहम्–अहं, अगिम्मि–अग्नौ, अम्हे–वयम्/अस्मान् अहिमण्णू–अभिमन्युः, अम्हे/अम्हाणं–अस्माकम्, अव्वह्मण्ण/अव्वह्मज्जं–अब्रह्मण्यम् इदो–इतः, अ अ रुक्खो–अयं वृक्षः, अइं बाला–इयं बाला, अमु जणो–असौ जनः, इणं धनं–इदं धनम्, अमु वहू–असौ वधूः, दं वणं–इदं वनम्, अमु वणं–अदो वनम्, इंगिअज्जो/इंगिअञ्ञो–इंगितज्ञः, अदो कारणादो–एतस्मात् कारणात्, इत्थी–स्त्री, ईदिसं–ईदृशम्, तए–त्वया/त्वयि, उलूहलो–उलूखलः, तधा–तथा, उवरि–उपरि, तादिसं–तादृशम्, उत्थिदो–उत्थितः, तुमं–त्वं, त्वाम्, एत्तिक–एतावत्, तुम्हे–यूयम्, युष्मान्, एषो जणो, एषः जनः, कध –कथम्, तुम्हेहिं–युष्माभिः, कत्थ/कस्सि/कहि–कस्मिन्, तुम्हेहिन्तो–युष्मभ्यम्, कण्णआ/कज्जआ/कञ्जआ–कन्यका, तुम्हाणं–युष्माकम्, किंसुओ–किशुकः, तुम्हे सुयुष्मासु, कीदिसं–कीदृशम्, तुमोदा–त्वत्, कुदो–कुतः, तुम्ह, ते–त्व, कुम्हण्डो–कूष्माण्डः, तेत्तिक–तावत्, केसुओ–किशुकः, थूलं–स्थूलम्, खणो–क्षणम्, दस/दह–दश, खीरं–क्षीरम्, दसरहो–दशरथः, गत्तहो–गर्दभः, दे–तव, चउट्ठी–चतुर्थी, देअरो–देवरः, चिण्हं–चिह्नम्, देव्वं–दैवम्, जण्णसेणो–यज्ञसेनः, धूदा/दूहिदिया–दुहिता, जामादा–जामाता, नइए–नद्याः, जामादुओ–जामातरः, पओट्ठो–प्रकोष्ठः, जेतिक–यावत्, पासाणो–पाषाणः, जुहुट्ठिरो–युधिष्ठिरः, पावो–पापः, दुज्झमाणो–दह्यमानः, पिदणा–पृतना, णूणं–नूनम्, पुरुसो–पुरुषः, तत्थ/तहि/तस्सि–तस्मिन्, पोक्खरं–पुष्करम्, पोक्खरणी–पुष्करिणी, वेअणा–वेअना, फोडओ–स्फोटकः, तेदसो–वेतसः, भट्टा–भर्ता वो–वः, भिन्दिवालो/भिण्डीवालो–भिन्दिपालः, सहलं–सफलम्, भाणुओ/भाणओ–मानवः सरिक्खं–सदृश्यम्, भादा–भ्राता, सम्मद्दो–सम्मर्दः, भदुओ–भ्रातरः, सत्तुग्धो–शत्रुघ्नः मए–मया, मिओ–मृतः, मंसं–मांसम्, मे–मम, मइ–मयि, मोत्ती–मुक्ता, मऊरो–मयूरः, रुक्खो–वृक्षः, मह–मम, वअरं–वदरम्, महूसो–मधूकः, वब्फो–वाष्पः, मत्तो/ममादो–मत्, वअं–वयम्, मादरं–मातरम्, वहुए–वध्वः, मालाओ–मालाः, वाउम्मि–वायौ, भिफ्फो–भीष्मः, विहप्फदी–बृहस्पतिः।

शौरसेनी में द्राक् अर्थ में दउति, निश्चय अर्थ में क्ख/खु, इव अर्थ में व्व, एव अर्थ में ज्जव/जेव तथा ननु अर्थ में णं प्रयुक्त होते हैं।

19.3.3 मागधी प्राकृत

मागधी प्राकृत का प्रसार मगध देश अर्थात् वर्तमान बिहार में था। प्राकृत–प्रकाश के रचयिता इसकी विशेषताओं के संबंध में लिखते हैं–

(1) मागधी की प्रकृति शौरसेनी है, साथ ही साधारण प्राकृत के शब्द भी मागधी के मूल माने जाते हैं।

(2) मागधी में अत् अन्त वाले पुल्लिंग शब्दों की प्रथमा के एकवचन में ए प्रत्यय लगता है- एशे, मेशे, ऐशे पुलिशे (एषः, मेष, ऐषः, पुरुषः)।

(3) र के स्थान में ल और स के स्थान में श होता है–

नरः–नले, करः–कले, सारसः–शालशे, पुरुषः–पुलिशे।

(4) मागधी में अन्य वर्ण के साथ संयुक्त स् को स् तथा ष् को स् आदेश होता है–हस्ती–हस्ती, बृहस्पति, बृहस्पदी, मस्करी–मस्कली, विस्मयः–विस्मये, शुष्क–शुष्क, कष्टम्–कस्टम्, विष्णुम्–विष्णुं, उष्मा–उस्मा, निष्फलम्–निस्फलं, धनुष्खण्डम्–धनुस्खण्डं। यह नियम वहीं लगता है जहाँ स् और ष् के पहले–पीछे वर्ण लोप नहीं होता। लोप होने पर– प्रस्खलति–पेक्खलदि, ग्रीष्म–गिम्ह।

(5) द्विरुक्त ट्ट ओर ष्ठ के स्थान पर स्ट होता है–

पट्टः–पस्टे, भट्टारिका–भस्टालिका, सुष्ठु–शुस्टु,

कोष्ठागारम्–कोष्टागालम्।

(6) स्थ और र्थ के स्थान पर स्त होता है–उपस्थितः–उवस्तिदे, सुस्थितः–शुस्तिदे, अर्थवती–अस्वदी, सार्थवाहः–शस्तवाहे।

(7) ज, द्य और य के स्थान में य आदेश होता है– जनपदः– यणवदे, अर्ज्जुनः–अय्युणे, दुर्ज्जनः–दुय्यणे, गर्ज्जति–गय्यदि, पद्यम्–मय्यं, अद्य–अय्य, विद्याहरः–विय्याहले। परंतु याति का यादि बनता है।

(8) न्य, ण्य और ज्ञ और ञ्ज के स्थान में ञ्ञ होता है।

अभिमन्युः–अहिमञ्ञु, कन्यकावरणम्–कञ्ञकावलणं, अब्रहमण्यम्–अबहञ्ञं, पुण्याहम्–पुञ्ञहं, प्रज्ञाविशालः–पञ्ञाविशाले, सर्वज्ञः–शञ्ञले। वज्र धातु के ज को ञ्ञ आदेश होता है– व्रजति–वञ्ञदि।

(9) आदि में न आने वाले छ को श्च आदेश होता है–

गच्छ–गश्च, उच्छलति–उश्चलदि, पिच्छिलः–पिश्चिले, तिरिच्छि–तिरिश्च।

(10) अनादि क्ष के स्थान में स्क होता है–

यक्षः–यस्के, रक्षसे–लस्कशे, प्रेक्षते–पेस्कदि, आचक्षते–आचस्कदि।

(11) स्था धातु को चिष्ठ होता है– तिष्ठति–चिष्ठदि। कहीं चिट्ठदि भी है।

(12) षष्ठी के एकवचन में आह आदेश विकल्प से होता है– ईदृशस्य–ईदिशाह, कर्मणः–कम्माह। अन्यथा भीमसेनस्य–भीमशेणस्स।

(13) षष्ठी बहुवचन में आहँ विकल्प से होता है– येषाम्–जाहँ, अन्यथा येषाम्–जाणं।

(!4) अहम् और वयम् को हगे आदेश होता है–हके और अहके का प्रयोग भी मिलता है।

शौरसेनी प्राकृत और मागधी प्राकृत में अंतर स्पष्ट करें।

प्राकृत प्रकाश के अनुसार मागधी के विशिष्ट शब्द

भाषः–माशे

विलाशः–विलाशे

जायते–यायदे

परिचयः–पलिचये

अहम्–हगे, हके, अहके

एष राजा–एशि लाआ

एषः पुरुषः–एशे पुलिशे

हसितः–हशिदु, हशिदि, हशिद

नोट

गृहीतच्छलः-गहिदच्छले
विजलः-वियले
निर्झरः-णिज्झिले
हृदये-हडक्के
आदरः-आलले
कार्यम्-कय्ये
दक्षः-दस्के
पुरुषस्थ-पुलिशाह, पुलिशश्श
कृतः-कडे
मृतः-मडे
गतः-गडे
सोढ्वा-सहिदाणि
कृत्वा-कारिदाणि
शृगालः-शियाले, शिआलके।

19.3.4 पैशाची भाषा

(1) पैशाची की प्रकृति शौरसेनी है।

(2) ज्ञ के स्थान पर ञ्ञ आदेश होता है- प्रज्ञा-पञ्ञा, संज्ञा-संञ्ञा, सर्वज्ञः- सव्वञ्ञो, ज्ञानम्-ञ्ञानं, विज्ञानम्-विञ्ञानं, राज्ञः-रञ्ञो परन्तु राजन् के ज्ञ को चिञ् विकल्प से होता है- राज्ञा-राचिञा, राज्ञः-रञो। न्य और ण्य के स्थान पर भी ञ्ञ आदेश होता है-

कन्यका-कञ्ञका, अभिमन्यु-अभिमञ्ञू, पुण्यकर्म-पुञ्ञकम्मो।

(3) ण को न बनता है-गुण-गुन, गण-गन।

(4) त और द के स्थान पर त होता है- पार्वती-पव्वती, मदनपरवशः-मतनपरवसो, सदनम्-सतनम्, दामोदरः-तामोतरो।

(5) ल के स्थान पर ळ आदेश होता है- सलिलम्-सळिळं, कमलम्-कमळं।

(6) श और ष क स्थान पर स होता है-

शोभते-सोभति, शशी-ससी, विषमः-विसमो, विषाणः-विसानो।

(7) टु के स्थान पर तु विकल्प से होता है-

कुटुम्बकम्-कुटुम्बकं/कुतुम्बकं।

(8) क्त्वा प्रत्यय के स्थान पर तून आदेश होता है-गत्वा-गन्तून, हसित्वा-हसितून, पठित्वा-पठितून। ष्ट्वा के स्थान पर द्धून तथा त्थून आते हैं।

नष्ट्वा-नद्धून/नत्थून, दृष्ट्वा-तद्धून/तत्थून।

(9) कहीं-कहीं र्य, स्न और ष्ट के स्थान पर क्रमशः रिय, सिन और सट आदेश होते हैं- भार्या-भारिया, स्नातम्-सिनातं, कष्टम्-कसटं। स्न के स्थान पर सन आदेश भी होता है- स्नानम्-सनानं, स्नेहः-सनेहः। कहीं-कहीं ये नियम नहीं लगते-सूर्यः-सुज्जो, दिष्टः-तिट्ठो, स्नुषा-सुनुसा।

(10) पैशाची में वर्तमान काल के 'इ' प्रत्यय के स्थान में ति होता है- वसुआति, भोति, नेति, तेति। परंतु अकार से पर ति और ते दोनों प्रत्यय होते हैं- लपते/रुलपति, अच्छते/अच्छति, गच्छते/गच्छति, रमते/रमति।

(11) भविष्यकाल में स्सि के स्थान पर य्य जोड़ा जाता है- हुवेय्य-भविष्यति।

(12) पंचमी विभक्ति एकवचन में, अकार से परे आतो/आतु प्रत्यय होता है-तुमातो/तुमातु, ममातो/ममातु।

(13) तृतीया एकवचन में तद् और इदम् पुल्लिंग शब्दों के साथ नेनं तथा स्त्रीलिंग में नाए आदेश होता है-अनेन-अनेन, अनया-नाए, स्नानेन-सिनानेन।

प्राकृत प्रकाश के अनुसार पैशाची के विशेष शब्द

मेघः-मेखः
गगनम्-गकनम्
शलभः-सलफो
संग्रामः-संगामो

नोट

राजा–राचा	इव–पिव
निर्झर:–णिच्छरो	तरुणी–तलुनी
वडिशम्–वटिशं	स्नानं–सनानं
दशवदन:–दसवत्तनो	कन्या–कञ्ञा
माधव:–माधवो	कार्यम्–कच्चं
गोविन्द:–गोविन्तो	गृहीत्वा–घेत्तूनं
केशव:केसवो	दत्त्वा–दातूनं
हृदयकम्–हितअकं	राज्ञ:–रञ्ञो, राचिनो

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट होता है कि संस्कृत को आधार मानकर पालि, महाराष्ट्री, शौरसेनी, पैशाची और मागधी भाषाओं से संबंधित व्याकरणों की रचना हुई। इसका अभिप्राय यही है कि संस्कृत शिष्ट जनों की भाषा थी, परंतु जनसामान्य संस्कृत से छाया रूप में उद्भूत भाषाओं का व्यवहार करता था। संस्कृत शब्द भण्डार के प्रयोग में उच्चारण ओर व्यवहार की सुविधा से आम आदमी थोड़ा परिवर्तन कर लेता था। इसीलिए ई. पू. पाँच सौ वर्ष से लेकर ई. पश्चात् पाँच सौ वर्षों तक प्राकृत भाषा का प्रचलन रहा और जनसाधारण से संबंधित साहित्य की रचना की गई। धार्मिक उपदेश, रामायण और महाभारत की प्राकृत में भी रचना हुई। जनसाधारण से संबंधित नियम शिलालेखों में खुदवाए गए। भारत विस्तृत देश है अत: प्राकृत भाषा में, क्षेत्र विशेष के प्रभाव से जनभाषा के व्यवहार में थोड़ा–थोड़ा भेद रहा। इसीलिए हम देखते हैं कि महाराष्ट्र, शौरसेनी, पैशाची और मागधी भाषाओं में कुछ ही भेद हैं, मूलत: ये प्राकृत भाषाएँ, एक ही भाषा हैं। यही कारण है कि वैयाकरणों ने इन भाषाओं से संबंधित व्याकरण नियम एक ही पुस्तक में लिख दिए। आज भी यही देखा जा रहा है कि हिन्दी में क्षेत्र विशेष के प्रभाव से, अनेक रूप हैं, परन्तु फिर भी हिन्दी को एक ही भाषा समझा जाता है, यही रूप प्राकृत भाषाओं का है। उपर्युक्त चार भाषाओं से अतिरिक्त भी प्राकृत के शबरी, चाण्डाली, आभीरिका, प्राच्या, अवन्ती आदि भेद थे, परन्तु भाषा विशेष की दृष्टि से उनका महत्त्व पृथक नहीं रहा, वे प्राकृत शब्द में ही समाहित थी।

यदि ध्यान से देखा जाए तो ज्ञात होगा कि भारत में अद्यतन भाषाओं का आधार संस्कृत ही है। अब भी हिंदी में संस्कृत शब्दों की संख्या तीन चौथाई से कम नहीं है, केवल व्यवहार के कारण नामरूप और धातु रूप बदल गए हैं। कुछ नए तद्भव, देशी, विदेशी, शब्द भी ग्रहण किए गए हैं। यही स्थिति प्राकृत भाषाओं के प्रसार के एक हजार वर्षों में रही होगी। प्राकृत व्याकरणों से ज्ञात होता है कि तद्भव और देशी शब्दों के प्रभाव, नामरूपों और धातुरूपों के कुछ रूपान्तरण की मूलभित्ति संस्कृत पर टिकी है।

19.4 अपभ्रंश

भारत में छठी शती के बाद अपभ्रंश भाषा का उदय हुआ। आठवीं शती में चतुर्मुख और स्वयम्भू ने रामायण एवं महाभारत महाकाव्यों की अपभ्रंश भाषा में रचना की। चतुर्मुख की रचनाएँ तो अनुपलब्ध हैं, परंतु स्वयंभू की रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। इससे ज्ञात होता है कि अपभ्रंश ने आठवीं शती में साहित्यिक भाषा का रूप धारण कर लिया था। स्वयम्भूच्छन्द पुस्तक में तो अपभ्रंश के छंदों का विस्तार दिया हुआ है और लेखक ने अपभ्रंश की अनेक काव्यपंक्तियाँ उद्धरण रूप में भी प्रस्तुत की हैं। इसका अभिप्राय यही हे कि आठवीं शती तक अपभ्रंश का व्यापक व्यवहार होने लगा था। तदनन्तर ग्यारहवीं–बारहवीं शती तक इस भाषा में काव्य रचना होती रही, परंतु इसके काव्यों का संबंध प्राय: धर्मप्रभावना एवं अध्यात्मसाधना के विषयों तक ही सीमित रहा।

अपभ्रंश भाषा के प्रादुर्भाव के विषय में नारायण का मत है कि संस्कृत से प्राकृत और प्राकृत से अपभ्रंश भाषा का जन्म हुआ।

संस्कृतात् प्राकृतम् इष्टम् ततोऽपभ्रंशभाषणम्।

गीतगोविन्द की टीका, रससर्वस्व, 5.2

शंकर ने भी अभिज्ञानशाकुन्तलम् की टीका में यही मत व्यक्त किया है–

संस्कृतात् प्राकृतं श्रेष्ठं ततो अपभ्रंशभाषणम्।

शकुन्तला की टीका, 9.10

मार्कण्डेय तो प्राकृतसर्वस्व (1.5) में, अपभ्रंश को प्राकृत का ही भेद मानते हैं। उनके विचार में प्राकृत के प्रधानतः चार भेद हैं– भाषा, विभाषा, अपभ्रंश और पैशाच। इनमें भी महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती और मागधी भाषाएँ हैं। शाकारी, चाण्डाली, शाबरी, आभीरिका और टक्की विभाषाएँ हैं। नागर, उपनागर और ब्राचड अपभ्रंश हैं। केकेय, शौरसेनी और पांचाली पैशाच भाषाएँ हैं। भाषाएँ तो और भी थी जिनमें औड्री का अन्तर्भाव शाबरी में तथा द्राविडी का ढक्की में मान लिया गया। काव्यादर्श में दण्डी ने भी चार प्रकार की भाषा बतलाई है–

तदेतद् वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा।

अपभ्रंशश्च मिश्रश्चेत्याहुरार्याश्चतुर्विधम्॥

इनके अनुसार संस्कृत से देवों की भाषा, प्राकृत से तद्भव, तत्सम और देशी भाषा, अपभ्रंश से आभीर आदि जाति विशेष की भाषा और मिश्र से मिली-जुली भाषाओं का बोध होता है।

जहाँ तक अपभ्रंश शब्द के प्रयोग का संबंध है, पतंजलि ने इसे अपशब्द के समानार्थक के रूप में प्रयुक्त किया– भूयांसो अपशब्दाः, अल्पीयांसः शब्दा इति। एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः तद् यथा– गौः इत्यस्य शब्दस्य गावी, गोणी, गोता, गोपातिलकेत्यादयो बहवो अपभ्रंशाः परन्तु छठी शती में 'प्राकृतलक्षणम्' के रचयिता चण्ड, अपभ्रंश शब्द का प्रयोग भाषा के अर्थ में करते हैं। (प्राकृतलक्षणम्, 3.37)। वलभी के राजा धरसेन द्वितीय को, एक ताम्रपत्र में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीन भाषाओं में काव्य रचना करने में निपुण बताया गया है– (संस्कृतप्राकृतापभ्रंशभाशात्रयप्रतिबद्धप्रबन्ध रचना निपुणान्तःकरणः)। काव्यालंकार में भामह संस्कृत एवं प्राकृत के साथ अपभ्रंश को भी रखते हैं (संस्कृतं, प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा-काव्यालंकारः, 1.26), जबकि दण्डी अपने काव्यादर्श में अपभ्रंश को आभीर आदि की भाषा बताते हैं। इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि छठी शती तक अपभ्रंश शब्द, किसी भष विशेष के लिए आरूढ़ हो चुका था फिर नौवीं शती में रुद्रट ने अपभ्रंश भाषा के कई भेदों का उल्लेख किया जबकि ग्यारहवीं शती में प्राकृत के वैयाकरण पुरुषोत्तम अपभ्रंश को शिष्ट लोगों की भाशा स्वीकार कर लेते हैं। तदनन्तर बारहवीं शती में हेमचन्द्र ने अपभ्रंश भाषा संबंधी नियम 'शब्दानुशासन' के अन्तिम अध्याय में सम्मिलित किए। इस प्रकार 600 ई. के लगभग अपभ्रंश भाषा अस्तित्व में आ चुकी थी और इसके बाद यह लगभग 1200 ई. तक जनभाषा के रूप में प्रचलित रही।

अपभ्रंश भाषा के विषय में काव्य-मीमांसा के लेखक राजशेखर कहते हैं कि इस भाषा का व्यवहार मरुभूमि, टक्क और भादानक में होता है। यहाँ मरुभूमि का अभिप्राय राजस्थान से है और टक्क व भादानक क्षेत्र पुराने पंजाब को माना जाता है अपभ्रंश का जो साहित्य उपलबध है उसका रचना स्थान राजस्थान, गुजरात, पश्चिमोत्तर भारत, बुन्देलखण्ड, बंगाल और दक्षिण में मान्यखेट तक विस्तृत था। इससे विदित होता है कि ग्यारहवीं शती तक अपभ्रंश का प्रसार समस्त उत्तर भारत और दक्षिण के कुछ क्षेत्रों तक हो गया था।

अपभ्रंश का जो साहित्य आज मिलता है, उसमें भाषागत भेद बहुत कम है। यह समस्त साहित्य एक ही परिनिष्ठित भाषा का है। परंतु ग्यारहवीं शती में नमिसाधु ने अपभ्रंश के तीन भेद गिनाए हैं– उपनागर, आभीर और ग्राम्य। इनके परवर्ती वैयाकरणों ने इन तीन भेदों का नागर, उपनागर ओर ब्राचड की संज्ञा दी। सत्रहवीं शती में तो मार्कण्डेय इस भाषा के 27 भेद गिना देते हैं। एक भाषा के थोड़े-थोड़े भिन्न रूप अनेक हो भी सकते हैं। अपभ्रंश के देशगत अनेक भेद रहे होंगे, फिर भी अपभ्रंश भाषा के साहित्य में एक रूपता मिलती है। यह भी संभव है कि अपभ्रंश के अनेक भेद इतने भिन्न और सशक्त न हों कि साहित्य सृजन में उनकी पृथक झलक दिखाई पड़े।

नोट

स्व-मूल्यांकन

सही विकल्प चुनिए–

1. वैयाकरण आचार्य .... प्राकृत को श्रेष्ठ मानते हैं।
   (क) अर्धमागधी (ख) मागधी (ग) महाराष्ट्री
2. ग्यारहवीं, बारहवीं शताब्दी में रचा गया अपभ्रंश साहित्य .... के विषय तक ही सीमित था।
   (क) धर्म साधना एवं आध्यात्म साधना (ख) संन्यास एवं वैराग
   (ग) रति एवं शृंगार
3. 'काव्यादर्श' के रचयिता .... हैं।
   (क) आचार्य भामह (ख) दण्डी (ग) रूद्रट
4. 'शब्दानुशासन' के रचयिता .... हैं।
   (क) मम्मट (ख) भट्टनायक (ग) हेमचंद्र

अपभ्रंश भाषा की विशेषताएँ

(1) अपभ्रंश में प्राकृत की प्रायः सभी ध्वनियाँ विद्यमान रहीं।

स्वर ध्वनियाँ-ह्रस्व-अ इ उ एँ ओं। दीर्घ - आ ई ऊ ए ओ।

व्यंजन - क, ख, ग, घ, च, छ, जा झ्र झ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, श, स, ह, अनुस्वार अनुनासिक। ऋ, लृ, ऐ, औ, विसर्ग, ङ, ञ, और ष ध्वनियों का प्रयोग नहीं रहा। कहीं-कहीं ञ का प्रयोग देखा गया है।

(2) अपभ्रंश में, तत्सम शब्द के तद्भव रूप में एक स्वर के स्थान पर दूसरा स्वर हो जाता है- कच्चत्-कच्चु/काच्च, वेणी-वेण/वीण, बाहु-बाह/बाहा, पृष्ठ-पट्ठि/पिट्ठि/पृट्ठि, तृण-तणु/तिणु/तिणं, सृकृत-सुकिदु/सुकिउ, क्लिन्न-किन्नउ/किलिन्नउ, लेखा-लिह/लेह/लीह, गौरी-गउरी/गोरी।

(3) अपभ्रंश में विभक्तियों के आने पर प्रातिपादिक का अन्तिम स्वर कभी दीर्घ और कभी ह्रस्व हो जाता है- विटः-ढोल्ला, श्यामलः-सामला, धन्या-धण, सुवर्णरेखा-सुवणरेह, पुत्रि-विट्टीए, प्रविष्टा-पइट्ठि, खड्गा-खग्ग।

ढोल्ला सामला धण चम्पावण्णी।

णाइ सुवण्णरेह कसबट्टइ दिण्णी॥

(वर साँवला है और धन्या (कन्या) चम्पकवर्ण की है। ऐसा प्रतीत होता है कि कसौटी पर सोने से रेखा खींच दी गई हो।) नामरूपों में चतुर्थी विभक्ति नहीं होती। इसे षष्ठी अर्थ में ही ग्रहण कर लिया गया है।

(4) नामरूप-अकारान्त पुल्लिंग

विभक्ति	एकवचन	बहुवचन	
प्रथमा-द्वितीया	उ,ओ,ए	×	पुत्तु/पुत्तो/पुत्ताए, मुत्त/पुत्तं
तृतीया	एं, ण, एण	हिं, एहिं,	देवें/देवेण, देवहिं/देवेहिं
पंचमी	हे, हु	हुं	देवहे/देवहु, देवहुं
चतुर्थी-षष्ठी	ह,हु,हो,स्सु,सु	हं,×	देवह/देवहु/देवहो, देवस्सु/देवहं
सप्तमी	इ,ए	हिं	देवे/देवै, देवहिं
सम्बोधन	ओ, ×	हो	देवो/देव, देवहो

इकारान्त और उकारान्त पुल्लिंग

प्रथमा-द्वितीया	×	×	**गिरि, गिरि**
तृतीया	ण, एण,		
	अनुस्वार, एं	हिं	गिरिएं/महुएं, गिरिहिं/ महुहिं
पंचमी	हे	हुं,	गिरिहे, गिरिहुं
चतुर्थी-षष्ठी	हे	हुं, हु, ×	गिरिहे, गिरिहुं
सप्तमी	हि	हिं	गिरिहि, गिरिहि
सम्बोधन	×	हो	गिरि, गिरिहो

नाम रूप - स्त्रीलिंग

विभक्ति	**एकवचन**	**बहुवचन**
प्रथमा	.(अनुस्वार)	उ
द्वितीया	.(अनुस्वार)	ओ
तृतया	ए	हि, एहिं
पंचमी	हे	हु
षष्ठी	हे	हु
सप्तमी	हि	हिं
सम्बोधन	ए	हो

नाम रूप - नपुंसकलिंग।

विभक्ति	**एकवचन**	**बहुवचन**
प्रथमा	उं.	इं कमलउं/कमलइं, कमलाइं
द्वितीया	उं	इं कमलउं/कमलइं,कमलाइं
पंचमी	हाँ	शेष पुल्लिंगवत्

(5) प्रथमा तथा द्वितीया एकवचन में यद् को ध्रुं, तद् को त्रं, इ्दम् को इयु, एतद् (पुं) को एहो, एतद् (स्त्रीं) को एह, एतद् (नपुं.) को एहु आदेश होते हैं। कुछ अन्य सर्वनाम रूप-एतद्-प्रथमा-द्वितीया बहुवचन-इए (एतान्), अदस् प्रथमा-द्वितीया बहुवचन ओइ। इदम् को आय देश होता है- आयइं (इमानि), आयेण (एतेन), आयहो (अस्य) इत्यादि। सर्व को साह आदेश होता है- सर्वः-साहु। किम् को काइं और कवण आदेश होते हैं।

युष्मद शब्द के रूप

प्रथमा	तुहुं	तुम्हें, तुम्हइं
द्वितीया	पइं, तइं	,,
तृतीया	,,	तुम्हेहि
पंचमी	तुहु, तउ, तुउ, तुध्र	तुम्हहं
षष्ठी	,,	,,
सप्तमी	पइं, तइं	तुम्हामु

नोट

अस्मद् शब्द के रूप

प्रथमा	हउं	अम्हे, अम्हइं
द्वितीया	मइं	,,
तृतीया	मइं	अम्हेहिं
पंचमी	महु, मज्झु	अम्हहं
षष्ठी	महु, मज्झु	,,
सप्तमी	मइं	अम्हासु

(6) धातु रूप

वर्तमानकाल

एकवचन	**बहुवचहन**
प्रथम पुरुष इ	हि, न्ति चलई, चलहिं/चलन्ति
मध्यम पुरुष हि, सि हु, ह	चलसि/चलहि, चलहु/चलह
उत्तम पुरुष उं, मि	हुं, मु चलिमि, चलउं, चलहुं/चलिमु

स्व के स्थान पर इ, उ, ए-चलि, चलु, चले।

विधि अर्थ में–

एकवचन, अन्य पुरुष-करिज्जिउ। अन्य पुरुष बहुवचन-करिज्जिन्तु। मध्यम पुरुष बहुवचन-करिज्जिहि। मध्यम पुरुष बहुवचन-करिज्जिहु। उत्तम पुरुष एकवचन-करिज्जिउँ। उत्तम पुरुष बहुवचन-किज्जिउँ।

(7) अपभ्रंश में पद के आदि में न आने वाले असंयुक्त वर्ण निम्न प्रकार बदल जाते हैं- क-ग, ख-घ, त-द, थ-ध , प-ब, फ-भ।

(8) इसी प्रकार म को अनुनासिक होता है-कँवलु।

(9) संयोग के बाद में आने वाले रेफ का विकल्प से लोप होता है-प्रिय-पिउ।

(10) अपभ्रंश में कुछ तद् भव रूप निम्न प्रकार होते हैं-

आपद्-आवई, विपद्-विपइ, संपद-संपइ/संपय।

कथम्-केम/केवं/किध/किह, यथा-जेम/जेवँ/जिह/जिध।

तथा-तेम/तेवँ/तिम/तिवँ/तिह/तिध।

यादृक्-जेहु, तादृक्-तेहु, कीदृक-केहु, ईदृक्-एहु।

यादृशः- जइसो, तादृशः-तइसो, कीदृशः-कइसो, ईदृशः-अइसो।

यत्र-जेत्थु/जत्तु, तत्र-तेत्थु/तत्तु, कुत्र-केत्थु, अत्र-एत्थु।

यावत्-जाम/जावँ/जाउ/जामहिं, तावत्-ताम्/तावँ/ताउ/तामहिं

यावत्-जेवड, तावत्-तेवड, इयत्-एवड, कियत्-केवड विकल्प से होता है। परस्पर-अवरोप्परु। ग्रीष्मः-गिम्मो।

प्रायः-प्राउ/प्राइव/प्राइम्व, अन्यथा-अनु/अन्नह, कुतः/कउ/कहन्तिहु, ततः/तदा/तो, एवम्-एम्वं, परम्-परं, समम्-समाणु, मा-मं, मनाक्-मणाउ, किल-किट, अथवा-अहवइ, सह-सहुं, नहि-नाहिं, पश्चात्-पच्छइं, एवमेव-एम्वइ, एव-जि, इदानीम्-एम्विहि, प्रतयुत-पच्चलिउ, इतः-एत्तहे, उक्तम्-वुत्तउं, शीघ्रम्-वहिल्लउ, हे सखि-हेल्लि, सम्बंधी-केर/तण, यदि-छुडु, पृथक्-जुअं, अद्‌भुत-ढक्करि, मूढ-नालिउ/वढ, नव-नक्ख, कौतुक-कोड्ड, आत्मीयम्--अप्पणं, पुनः-पुणु,

विना-विणु, अवश्यम्-अवसें/अवस, एकशः-एक्कसि।

(11) स्त्री प्रत्यय के लिए ई जोड़ा जाता है- गोरई/ई-गोरडी।

अप्रत्यययान्त शब्दों से परे स्त्रीलिंग में आ प्रत्यय भी होता है- धूल-धूलडिया।

(12) अपभ्रंश में कुछ अन्य प्रत्यय निम्न प्रकार हैं-ईय प्रत्यय को आर आदेश होता है- युष्मदीयेन-तुहारेण, अस्मदीयम्-अम्हारा, अस्मदीयः-महारा।

अतु प्रत्यय के स्थान पर एत्तुल होता है- एतद्-एत्तुलो, किम्-केत्तुलो, यद्-जेत्तुलो, तद्-तेत्तुलो। त्र के स्थान पर एत्तहे-अत्र-एत्तहे। त्व और तल् के स्थान पर प्रायः प्पण-महत्त्वम्-बड्डप्पण, अन्यथा महत्त्वस्य-बड्डतणहो। तव्य के स्थान पर इएव्वउं/एव्वउं/एवा। कर्तव्यम्-करिएव्वउं, मर्तव्यम्-मरिएव्वउं, सोढव्यम्-सहेव्वउं, स्वपितव्यम्-सोएवा, जागरितव्यम्-जग्गेवा। क्त्वा के स्थान पर इ/इउ/इवि/अवि/एप्पि/एप्पिणु/एवि/एविणु। मारयित्वा-मारि, भङ्क्त्वा-भञ्जिउ, चुम्बित्वा, चुम्बिवि, विच्छोट्य-विछोडवि, जित्वा-जेप्पि, त्यक्त्वा-चयप्पिणु, पालायित्वा-पालेवि, लात्वा-लेविण। तुमुन् के स्थान पर - एवं/अण/अणहं/अणहिं, एप्पि/एवि/एविणु। दात्तुम्-देवं, कर्तुम्-करण, भोक्तुम्-भुञ्जणहं/भुञ्जणहिं, जेतुम्-जेप्पि, त्यक्तुम्-चएप्पिणु, पालायितुम्-पालेवि, लातुम्-लेविणु, गन्तुम्-गम्पिणु/गमेप्पिणु/गम्पि/गमेप्पि। तृन् प्रत्यय वे स्थान पर– अणअ। मारयिता-माराणउ, कथयिता-बोल्लणउ। इव के अर्थ में नं/नउ/नाई/नाइव/जणि/जणु/शब्द प्रयुक्त होते हैं–

भूतकालिक कृदन्त रूपों में क्त को इअ, इउ, इय इयो, इऔ, इअअ, आदेश होते हैं- किअ, मणिय, हुअ, गय, किउ, कियौ इत्यादि।

(13) अपभ्रंश में लिंग प्रायः बदलते रहते हैं। गजकुम्भानि-गायकुम्भइं/कुम्भ शब्द पुल्लिंग हैं, परंतु नपुंसकलिंग में प्रयुक्त है।

(14) अपभ्रंश के शेष कार्य शौरसेनी के अनुसार किए जाते हैं।

19.5 सारांश

'ऋग्वेद' विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ है। इससे ज्ञात होता है, भारत में बहुत पहले भाषा का चरम विकास हो चुका था। आर्यों में इन्द्र, मित्र, वरुण, सविता आदि देवताओं की उपासना प्रचलित थी। वे देवताओं की प्रशंसा में सूक्तों (सुन्दर कथनों) की रचना करते थे। सूक्त परम्परागत रूप से ऋषि परिवारों में सुरक्षित रखे जाने लगे। बाद में ऋक्संहिता के रूप में इनका संकलन हुआ। संहिताओं के बाद ब्राह्मण ग्रन्थ लिखे गए। इनमें कर्मकाण्ड की व्याख्या है और इसी प्रसंग में अनेक उपाख्यान हैं। इन ग्रन्थों की रचना गद्य में हुई। इनमें ऐतरेय ब्राह्मण सबसे प्राचीन है।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ तरह स्वर ध्वनियाँ थीं। इनमें प्रथम नौ ध्वनियों का समानाक्षर तथा अन्तिम चार ध्वनियों को, प्रातिशाख्यों में सन्ध्यक्षर बताया गया। सन्ध्यक्षरों में अ + इ तथा अ + उ को गुणसन्धि के अनुसार ए और ओ तथा आ + इ एवं आ + उ को वृद्धिसन्धि के परिणामस्वरूप ऐ व औ के रूप में ग्रहण किया। वैदिक भाषा की मुख्य विशेषता है-स्वराघात। प्रधान स्वर से युक्त स्वरध्वनि उदात्त है, स्वरहीन अक्षर की स्वरध्वनि अनुदात्त है और उदात्त स्वर में उठकर अनुदात्त में ढलने वाली ध्वनि स्वरित है। इन्हें व्यक्त करने के लिए अनुदात्त स्वर के नीचे रेखा तथा स्वरित स्वर के ऊपर खड़ी रेखा का चिह्न लगाते हैं।

संस्कृत शब्द का अर्थ है-परिष्कृत, शुद्ध। भारत में, बहुत समय पहले भाषा का जो रूप प्रचलित था, उसमें प्रयोगों की भिन्नता थी, नियमों का उचित स्थान न था जिससे भाषा के व्यवहार और लिखित कार्य में अर्थबोध की सुगमता का अथाव प्रतीत होने लगा, अतः भाषाविदों ने, प्रचलित भाषा के शब्द समूह का समुचिम अवलोकन करके, व्याकरण की व्यवस्था कर दी। ऐसा करने पर तत्कालीन भाषा का परिष्कार हुआ और उसमें एकरूपता आई। इसी परिष्कार या संस्कार के कारण उस भाषा का नाम संस्कृत कहा जाने लगा।

ईसा पूर्व पाँचवी शती में, गौतम बुद्ध ने सरल जनभाषा में उपदेश किया। उनके संघ में मगध, वैशाली, मिथिला, काशी, कोसल आदि राज्यों के राजकुल, श्रेष्ठी कुल, शूद्रकुल समान रूप से रहते थे। भिन्न-भिन्न राज्य और समाज के अनुसार उनकी

नोट

अपनी-अपनी बोली भी भिन्न-भिन्न थी, किन्तु वे सभी एक साथ रहने पर एक साधारण भाषा मागधी का प्रयोग करते थे।

पालि शब्द का प्रयोग मूलत्रिपिटक के लिए होता था। परन्तु जिस मागधी भाषा बुद्धवचन सुरक्षित था, धीरे-धीरे उस भाषा का नाम पालि पड़ गया। जब मागधी भाषा, पालि शब्द से सम्बोधित की जाने लगी तो हास्यापद कथाएँ बननी आरम्भ हो गई कि पालि भाषा पाटलिपुत्र की भाषा थी, इसलिए इसा नाम पाटलि और फिर पालि पड़ गया। कुछ लोग इसे पल्ली अर्थात् गाँव की भाषा के आधार पर पालि बताने लगे। यहाँ ध्यातव्य है कि पालि शब्द कभी भी भाषा के लिए नहीं आया, भाषा तो मागधी ही थी।

भारतीय वैयाकरणों ने कई साहित्यिक भाषाओं के समूह का नाम प्राकृत रखा। उनका कथन था कि प्रकृति अथवा एक आधारभूत भाषा से प्राकृत भाषाएँ निकलीं और यह आधारभूत भाषा है।

मार्कण्डेय ने प्राकृत भाषा को चार भागों में विभाजित किया है-भाषा, विभाषा, अपभ्रंश और पैशाच। सभी वैयाकरण महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची को प्राकृत भाषाएँ मानते हैं। इनमें भी महाराष्ट्री प्राकृत श्रेष्ठ है।

महाराष्ट्री प्राकृत तथा अन्य तीन प्राकृतों में बहुत ही कम अन्तर है। सभी संस्कृत नाटकों में प्राकृत भाषाओं का प्रयोग मिलता है नाटकों में श्रेष्ठ, शिक्षित और कुलीन पात्र संस्कृत भाषा का व्यवहार करते हैं कुलीन और शिक्षित स्त्री-पात्र शौरसेनी में गद्य तथा महाराष्ट्री में पद्य बोलते हैं। नाटकों में निम्न लोगों तथा निम्न वर्णों की बोली मागधी में पाई जाती है। इस प्रकार, जब संस्कृत नाटकों के पात्र एक ही मंच पर संस्कृत, शौरसेनी, महाराष्ट्री और मागधी भाषाओं का प्रयोग करते हैं तो स्पष्ट है कि दर्शक इन सभी भाषाओं को समझते होंगे और सभी प्राकृत भाषाओं में विशेष दूरी न थी, केवल क्षेत्र विशेष के प्रभाव से कतिपय प्रयोगों में ही भिन्नता रही होगी।

19.6 शब्दकोश

1. **विदूषक–** मस्खरा, भाँड, कामुक व्यक्ति
2. **विट–** लम्पट, धूर्त आदमी, नायक का सखा
3. **ह्रस्वीभूत–** छोटा किया हुआ

19.7 अभ्यास प्रश्न

1. संस्कृत भाषा की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
2. पालि भाषा के वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालिए।
3. प्राकृत भाषा के उद्भव एवं विकास का विस्तार से उल्लेख कीजिए।
4. अपभ्रंश की विशेषताएँ बताइए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन

1. (ख) **2.** (क) **3.** (ख) **4.** (ग)।

19.8 संदर्भ पुस्तकें

1. *भाषा विज्ञान–* डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, किताब महल, इलाहाबाद
2. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा–* नरेश मिश्र, संजय प्रकाशन, दिल्ली
3. *भाषा विज्ञान: हिंदी भाषा और लिपि–* डॉ॰ रामकिशोर शर्मा, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद
4. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा का स्वरूप–* विकास– देवेन्द्र प्रसाद सिंह, हिंदी बुक सेंटर, दिल्ली

इकाई 20: आधुनिक आर्य भाषाएँ एवं उनका वर्गीकरण

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- आर्य भाषाओं एवं उनकी विशेषताओं को समझने में,
- विभिन्न भाषा वैज्ञानिकों द्वारा प्रस्तुत आर्यभाषाओं के वर्गीकरण का विश्लेषण करने में समर्थ होंगे।

प्रस्तावना

भारत में आर्यों के आने के बाद से उनकी भारतीय आर्य भाषा का इतिहास शुरू होता है। उल्लेखनीय है कि यहाँ भारतीय में भारत के अतिरिक्त पाकिस्तान, बांग्लादेश तथा श्रीलंका भी हैं। अपभ्रंश के विभिन्न स्थानीय रूप 1000 ई. के आस-पास अवहट्ठ रूपों से होते हुए आधुनिक भाषाओं के रूप में विकसित हो गए।

20.1 आधुनिक आर्य भाषाएँ

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित हैं–

1. आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में प्रमुखत: वही ध्वनियाँ हैं जो प्राकृत, अपभ्रंश आदि में थीं। किन्तु कुछ विशेषताएँ भी हैं-(क) पंजाबी आदि में उदासीन स्वर 'अ' भी प्रयुक्त होने लगा है। अवधी आदि में जपित या अघोष स्वरों का प्रयोग होता है। गुजराती में मंर्मर स्वर का विकास हो गया है। प्राकृत-अपभ्रंश में केवल मूल स्वर थे, किन्तु अवहट्ठ में ऐ, औ विकसित हो गए थे। कई आधुनिक भाषाओं में इनका प्रयोग होता है, यद्यपि कुछ बोलियों में केवल मूल स्वरों का प्रयोग हो रहा है, संयुक्त स्वरों का नहीं। (ख) 'ऋ' का प्रयोग तत्सम शब्दों में लिखने में चल रहा है, किन्तु बोलने में यह स्वर न रहकर 'र' के साथ इ या उ स्वर का योग रह गया है। उत्तरी भारत में इसका उच्चारण 'रि' है और गुजराती आदि में 'रु'। (ग) व्यंजनों में जहाँ तक ऊष्मों का प्रश्न है, लिखने में तो प्रयोग स, ष, श तीनों का हो रहा है, किन्तु उच्चारण में स, श दो ही हैं। 'ष' भी 'श' रूप में उच्चरित होता है। चवर्ग के उच्चारण में आधुनिक

नोट

काल में एकरूपता नहीं है। हिन्दी में वे ध्वनियाँ स्पर्श-संघर्षी हैं, किन्तु मराठी में इनका एक उच्चारण त्स (च) द्ज (ज) जैसा भी है। सच पूछा जाय तो मराठी में दो चवर्ग हो गये हैं। संयुक्त व्यंजन 'ज्ञ' के शुद्ध उच्चारण (ज्ञ) का लोप हो चुका है, उसके स्थान पर ज्यँ, ग्यँ और द्यँ, द्नँ आदि कई उच्चारण चल रहे हैं। (घ) विदेशी भाषाओं के प्रभाव-स्परूप आधुनिक भाषाओं में कई नवीन ध्वनियाँ आ गई हैं, जैसे क़, ख़, ग़, ज़, फ़, ऑ, आदि। इन ध्वनियों का लोकभाषाओं में तो क, ख, ग, ज, फ, आ के रूप में उच्चारण हो रहा है। किन्तु पढ़े-लिखे लोग इन्हें प्राय: मूल रूप में बोलने का प्रयास करते हैं। संगम (Juncture) तथा अनुनासिकता प्राय: सभी में स्वनिमिक है।

2. जिन शब्दों के उपधा (Penultimate) स्वर या अन्तिम को छोड़कर किसी और पर बलात्मक स्वराघात था, (क) उनके अन्तिम दीर्घ स्वर प्राय: ह्रस्व हो गए है। तथा (ख) अंतिक 'अ' स्वर कुछ अपवादों (संयुक्त व्यंजनादि) को छोड़कर प्राय: लुप्त हो गया है (राम्, अब् आदि)।

3. प्राकृत आदि में जहाँ समीकरण के कारण व्यंजनद्वित्त या दीर्घ व्यंजन (कर्म-कम्म) हो गए थे, आधुनिक काल में 'द्वित्व' में केवल एक रह गया और पूर्ववर्ती स्वर में क्षतिपूरक दीर्घता आ गई (कम्म-काम, अट्ठ-आठ)। पंजाबी, सिन्धी अपवाद है, उनमें प्राय: प्राकृत से मिलते-जुलते रूप ही चलते हैं (अट्ठ, कम्म)।

4. बलात्मक स्वराघात ह। वाक्य के स्तर पर संगीतात्मक भी है।

5. अपभ्रंश के प्रसंग में कहा जा चुका है कि संस्कृत, पालि आदि की तुलना में रूप कम हो गए थे। आधुनिक भाषाओं में अपभ्रंश की तुलना में भी रूप कम हो गए है, इस प्रकार भाषा सरल हो गई है। संस्कृत आदि में कारक के तीनों वचनों में लगभग 24 रूप बनते थे। प्राकृत में लगभग 12 हो गए थे, अपभ्रंश में 6 और आधुनिक भाषाओं में केवल दोन, तीन या चार रूप हैं। क्रिया के रूपों में भी पर्याप्त कमी हो गई है। क्रियार्थ या काल आदि तो सभी, बल्कि संस्कृत आदि से व्यक्त कर किए जाते हैं किन्तु सबके रूप अलग नहीं हैं। सहायक शब्दों से काम चल जाता है। मूल रूप थोड़े हैं।

6. रचना की दृष्टि से संस्कृत, पालि, प्राकृत आदि की भाषा योगात्मक थी। अयोगात्मकता अपभ्रंशों से आरम्भ हुई और अब, आधुनिक भाषाएँ (नाम और धातु दोनों दृष्टियों से) पूर्णत: अयोगात्मक या वियोगात्मक हो गई हैं। कुछ रूप योगात्मक हैं भी तो उअवाद-स्वरूप। नाम रूपों के लिए परसर्गों का प्रयोग होता है और धातु-रूपों के लिए कृदंत और सहायक क्रिया के आधार पर संयुक्त क्रिया का।

नोट्स पूर्वी हिंदी प्रदेश 'मैं' एक वचन के लिए 'हम' शब्द का प्रचलन है यथा- हम जा रहे हैं। यहाँ 'हम का प्रयोग एकवचन के रूप में है जो व्याकरणिक दृष्टि से गलत है, किंतु जन प्रयोग के कारण यह रूप मान्य है।

7. संस्कृत में वचन 3 थे। मध्यकालीन आर्यभाषाओं में ही द्विवचन समाप्त हो गया था और आधुनिक काल में भी केवल दो वचन हैं। अब प्रवृति एकवचन की है। लगता है कि आगे चलकर रूप केवल एकवचन के रह जायँगे और दो, तीन या अधिक का भाव सहायक शब्दों से प्रकट किया जाएगा। उदाहरणार्थ, हिन्दी में 'मैं' के प्रयोग की प्रवृत्ति कम हो रही है। उसके स्थान पर 'हम' चल रहा है, जिसके बहुवचन का कोई अलग रूप नहीं होता, केवल 'लोग' या 'सब' जोड़कर काम चला लेते हैं।

8. संस्कृत में लिंग 3 थे। मध्ययुगीन भाषाओं में भी स्थित यही थी। आधुनिककाल में सिन्धी, पंजाबी, राजस्थानी तथा हिन्दी में 2 लिंग हैं (पुल्लिंग, स्त्रीलिंग) सम्भवत: तिब्बत-बर्मी मुंडा आदि भाषाओं के प्रभाव के कारण बंगाली, उड़िया, असमी में लिंगभेद कम-सा है। बिहारी, नेपाली में भी समाप्त होता-सा दिखाई दे रहा है। तीन लिंग केवल गुंजराती, मराठी और (कुछ) सिंहली में हैं।

9. आधुनिक भाषाओं में प्राचीन तथा मध्ययुगीन से शब्द-भण्डार की दृष्टि से सबसे बड़ी विशेषता यह है कि पश्तो, तुर्की, अरबी, फ़ारसी, पुर्तगाली तथा अंग्रेजी आदि से लगभग 8-9 हज़ार नये विदेशी शब्द आ गए हैं। इनके पूर्व भाषाओं

नोट

का प्रमुख शब्द-भण्डार तत्सम, तद्भव और देशज का ही था। मध्ययुगीन भाषाओं की तुलना में आज तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक हो रहा है और तद्भव का अपेक्षाकृत कम। इधर पारिभाषिक शब्दावली की कमी दूर करने के लिए नए शब्द बनाए और अपनाए जा रहे हैं। अनुकरणात्मक एवं प्रतिध्वन्यात्मक शब्द बहुत प्रयुक्त होने लगे हैं।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में **सिन्धी, गुजराती, लहँदा, पंजाबी, मराठी, उड़िया, बंगाली, असमिया, हिन्दी** (पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी) प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त **कश्मीरी** भी भारत की एक महत्त्वपूर्ण भाषा है, किन्तु मूलतः वह भारत-ईरानी की दरद शाखा में आती है। उर्दू, वस्तुतः भाषावैज्ञानिक स्तर पर हिन्दी की ही अरबी-फ़ारसी से प्रभावित एक शैली है। **राजस्थानी, पहाड़ी** तथा **बिहारी** को लोगों ने अलग रखा है, किन्तु ये हिन्दी प्रदेश में आती हैं, वस्तुतः अब भाषा के आकृतिमूलक या पारिवारिक वर्गीकरण से सांस्कृतिक वर्गीकरण को कम महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाता और इस दृष्टि से ये सभी-राजस्थानी, पहाड़ी, बिहारी-हिन्दी के सांस्कृतिक वर्ग में आती हैं।

भारत के बाहर बोली जाने वाली आधुनिक आर्यभाषाओं में **नेपाली, सिंहली** तथा **जिप्सी** भी उल्लेख्य हैं।

नेपाली-यह 'पहाड़ी' का पूर्वी रूप है। पहाड़ी बोलियों के प्रदेश के पूर्वी भाग की भाषा होने के कारण इसे '**पूर्वी पहाड़ी**' भी कहते हैं। 'नेपाली' को नैपाल में नैपाली कहते हैं। नेपाल में बोले जाने के कारण ही इसका नाम 'नेपाली' है। 'नेपाल' शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई मत हैं। कुछ लोग नेपाल का सम्बन्ध 'ने' नामक ऋषि से जोड़ते हैं। बौद्ध मत के अनुसार 'नेपाल', 'ने' + 'पाल' दो शब्दों से बना है। 'ने' का अर्थ है 'स्वयंभू' और 'पाल' का अर्थ है 'पालन करने वाला'। अर्थात् 'नेपाल' का अर्थ है 'जिसका पालक स्वयंभू हो।' अधिक प्रामाणिक मत यह है कि 'नेपाल' का सम्बन्ध 'नेपाल' से है। नेपाल के कुछ भागों में 'नेपाल' (अब इसे 'नेवार' कहते हैं) जाति के लोग रहते हैं, कदाचित् उन्हीं के आधार पर देश को पहले 'नेपार' कहा गया। मागधी प्राकृत की सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार 'र' का 'ल' हो जाने से 'नेपार' शब्द बाद में 'नेपाल' हो गया। हिन्दी प्रदेश की सामान्य जनता 'नेपाल' को 'नैपाल' कहती है। 'नेपाली' का एक अन्य नाम '**गोरखाली**' भी है। यहाँ के शासक, नेपाल के शासक बनने के पूर्व, 'गोरखा' नामक नगर, (काठमांडू से 70 मील दूर) में रहते थे, अतः उन्हें 'गोरखे' तथा उसी कारण नैपाल के लोगों को भी 'गोरखे' कहते हैं। इसी आधार पर 'नेपाली' भाषा का एक नाम '**गोरखाली**' या '**गुरखाली**' है। भाषा के अर्थ में 'गोरखाली' का प्रयोग 'नेपाली' से पुराना है। शासकीय स्तर पर 'गोरखाली' भाषा के लिए 'नेपाली' नाम का प्रयोग 1932 के बाद हुआ है। पर्वतीय प्रदेश की भाषा होने के कारण इसे **पर्वतिया** या **पर्बतिया** भी कहते हैं। इसका एक अन्य नाम '**खसकुरा**' भी है। '**खसकुरा**' का अर्थ है 'खसों की भाषा' यहाँ 'खस' लोग भी काफी हैं।

'नेपाल' शब्द का प्राचीन प्रयोग कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है, किन्तु भाषा के अर्थ में 'नेपाली' का प्रयोग अत्याधुनिक है। 'नेपाली' नाम से लगता है कि यह पूरे नेपाल की भाषा है, किन्तु वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। यहाँ के आर्य शासक तथा अन्य आर्य लोग ही इसका प्रयोग करते हैं। नेपाल के आदिवासियों की भाषा 'नेवारी' है जो चीनी परिवार की तिब्बती-बर्मी शाखा की एक बोली है। नेपाल के शासकों की भाषा होने के कारण ही नेपाली पूरे नेपाल की राष्ट्रभाषा है। 'नेपाली' अन्य पर्वतीय भाषाओं की तरह ग्रियर्सन के अनुसार 'आवन्त्य' अपभ्रंश से निकली है तथा डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार यह 'खस अपभ्रंश' से निकली है। ऐतिहासिक और भौगोलिक कारणों से इस पर राजस्थानी, मैथिली, दरद, खस तथा तिब्बती-बर्मी की 'नेवारी' आदि भाषाओं का प्रभाव पड़ा है। प्रमुखतः रूप की दृष्टि से यह 'राजस्थानी' तथा शब्द-समूह एवं मुहावरों आदि की दृष्टि से 'नेवारी' से बहुत अधिक प्रभावित है। इधर काफ़ी दिनों से हिन्दी का भी नेपाल में पर्याप्त प्रचार रहा है और यहाँ हिन्दी के समाचार-पत्र आदि भी निकलते रहे हैं। 19वीं सदीं तक यहाँ, हिन्दी की बोली अवधी तथा भोजपुरी आदि में कविताएँ भी होती रही हैं। इस प्रकार हिन्दी से नेपाली का पर्याप्त सम्बन्ध रहा है। जिसका परिणाम यह हुआ है कि नेपाली भाषा में बहुत से हिंदी शब्द चले गए हैं। प्रमुखतः वर्तमान नेपाली में तो हिन्दी शब्दों की संख्या बहुत ही अधिक है। नेपाली भाषा का प्राचीनतम नमूना 1543 ई. के एक ताम्रपात्र में मिलता है। इसके प्राचीनतम प्रसिद्ध साहित्यकार प्रमनिधि पंत कहे जाते हैं, किन्तु उनकी कोई भी रचना उपलब्ध नहीं है। नेपाली के पुराने कवियों में भानुदत्त (रचना-काल 19वीं सदी का मध्य) सर्वश्रेष्ठ हैं। इनकी रामायण बहुत सुन्दर रचना है। वर्तमान काल में नेपाली गद्य-पद्य की सभी विधाओं में प्रगति कर रही है। पहाड़ी प्रदेश की भाषाओं में बोलियों-उपबोलियों का प्रायः बाहुल्य हो जाता है। यह बात नेपाली में भी है। पूरे नेपाल में इसके अनेक

तिब्बती-बर्मी तथा कुमायूँनी आदि से प्रभावित स्थानीय रूप प्रचलित हैं। इनमें उल्लेख्य केवल चार हैं; **पाल्पा, दही, कुसवार** तथा **देनवार**। पाल्पा नेपाल का कुमायूँनी से प्रभावित वह रूप हैं जो काठमांडू के पश्चिम 'पाल्पा' नगर के आसपास बोला जाता है। दही नेपाली का एक विकृत रूप है जो नेपाल की तराई में '**दही**' नामक जाति के लोगों में व्यवहृत होता है। इसे **दढी** या **दढ़ी** भी कहते हैं। नेपाल की तराई में देनवार नामक जाति के लोगों में भी नेपाली का एक विकृत रूप प्रयुक्त होता है जिसे **देनदार** या **दोनवार** कहते हैं। इसी प्रकार नेपाल की तराई में ही नेपाली का 'कुसवार' जाति में प्रयुक्त एक विकृत रूप **कुसवार** या **कसवार** कहलाता है। 'कुसवार' का व्याकरण चीनी परिवार की स्थानीय तिब्बती-बर्मी बोलियों से प्रभावित है। नेपाली लिखने के लिए नागरी लिपि का प्रयोग होता है। नेपाली बोलने वाले पर्याप्त लोग भारत में भी रहते हैं। 1921 की जनगणना के अनुसार नेपाली बोलने वालों की संख्या भारत में डेढ़ लाख से कुछ ही कम थी।

सिंहली-इसका क्षेत्र लंका के दक्षिणी भाग में है। लगभग 5वीं सदी ई. पू. में विजय नामक राजा के साथ कुछ भारतीय लंका में जाकर बस गए। इन्हीं लोगों के साथ यहाँ से यह भाषा भी अपने मूल रूप में गई। विजय राजा तथा उसके साथी कहाँ के थे, इस सम्बन्ध में विवाद है। ये लोग जहाँ के रहने वाले होंगे, वहीं की भाषा से सिंहली का सम्बन्ध होगा। कुछ लोगों ने इन्हें पश्चिमी बंगाल का माना है जिनके अनुसार सिंहली का सम्बन्ध उस समय बंगाल में प्रयुक्त भाषा से होगा, किन्तु कुछ लोगों ने सौराष्ट्र, लाट या गुजरात में उनका स्थान माना है। अधिक सम्भावना सौराष्ट्र की ही है। इस प्रकार सिंहली का सम्बन्ध सौराष्ट्र की पालि या पूर्व भाषा से है। बाद में बौद्ध धर्म के कारण मगध से भी लंका का सम्बन्ध हो गया और इस पर पालि तथा संस्कृत का भी कुछ प्रभाव पड़ा। **सिंहली प्राकृत** भारतीय प्राकृतों की तरह लंका की प्राकृत है। इसका अधिकांश साहित्य नष्ट हो चुका है, केवल कुछ अभिलेख ही शेष हैं। सिंहली में प्राप्त साहित्य 10वीं सदी के आसपास का है। सिंहली भाषा का प्राचीन रूप 'एळु' शब्द सिंहल का ही एक विकसित रूप एळु (सिंहल > सीहळु > हिअळु > हेळु > एळु) है। एळु एक प्रकार से अपभ्रंश है, अर्थात् सिंहली प्राकृत और वर्तमान सिंहली के बीच की भाषा है। एळू पर मराठी का कुछ प्रभाव भी पड़ा है। मालद्वीप तथा आसपास के द्वीपों की भाषा भी सिंहली का ही एक रूप है। इसे महल (Mahl) कहते हैं। यह 10वीं सदी को सिंहली से विकसित हुई है। अपने पूरे इतिहास में भारतीय आर्यभाषाएँ एक-दूसरे से पर्याप्त प्रभावित होती रही है, किंतु सिंहली का विकास प्रायः स्वतन्त्र रूप से हुआ है। हाँ, द्रविड़ परिवार का कुछ प्रभाव उस पर अवश्य है।

क्या आप जानते हैं श्रीलंका की मूलभाषा सिंहली है। सिंहली प्राकृत भारतीय प्राकृतों की तरह लंका की प्राकृत है।

जिप्सी-घुमंतू लोगों द्वारा प्रयुक्त एक भाषा, जिसे **हबूड़ी, रोमनी, बंजारा** तथा **बंजारी** आदि भी कहते हैं। जिप्सी भाषाएँ मूलतः भारोपीय परिवार की हैं। 5वीं सदी ई.पू. में बंजारा या जिप्सी भाषियों के पूर्वज जहाँ-तहाँ इधर-उधर फैल गए। इस प्रकार इनकी भाषा मूलतः 5वीं सदी ई. पू. की प्राकृत भाषा से संबद्ध है। इस पर कुछ प्रभाव दरद भाषाओं का भी है। जिप्सी की भारत में प्रमुख भाषाएँ **बेल्दारी, भाम्टी, डोम, गारोड़ी, गुलगुलिया, कंजरी** (इसकी एक बोली 'कुचबंधी' है), **कोल्हारी, लाड़ी, मचरिया, मलार, चूहरा या चूहड़ा, मनवाला या ल्हारी, नदी, ओड्की पेंढारी, कशाई, सांसी** तथा सिकलगारी आदि है। भारत में जिप्सी भाषाओं के बोलने वालों की संख्या 1924 की जनगणना के अनुसार 15,000 से अधिक थी। ग्रियर्सन ने अपने भाषा-सर्वेक्षण में इनकी संख्या 1 लाख से ऊपर दी है। ये लोग ईरान, तुर्की होते 12वीं सदी में मध्य यूरोप पहुँच चुके थे। अब पूरे यूरोप, मध्य एशिया, कुछ अफ्रीकी भाग तथा अमेरिका तक य पहुँच गए हैं। इस समय जिप्सी भाषाएँ आर्मेनिया, तुर्की सीरिया, ईरान, रूस, इटली, फ्रांस, बेल्ज आदि अनेक देशों में बोली जाती हैं। अकेले रूस में इनकी संख्या एक लाख से ऊपर है। अपने वर्तमान रूप में ये भाषाएँ स्थानीय भाषाओं से काफ़ी प्रभावित हो गई हैं। संस्कृत मूल के शब्दों में इनमें घ, ध, भ के स्थान पर प्रायः ख, थ, फ मिलता है। टवर्गीय ध्वनियाँ कई स्थानों पर पूर्णतः समाप्त हो गई हैं तथा ज़, ज़् ख़, मध्य स्वर इ आदि कई नई ध्वनियाँ विकसित हो गई हैं। प्रारंभ में इनको 'इजिप्ट' से आया समझा गया था। 'इजिप्शियन' शब्द ही विकसित होकर 'जिप्सी' बन गया है। प्रारंभ में

लोग समझते थे कि जिप्सी भाषाओं का संबंध मूलत: पश्मिोत्तरी प्राकृत से है। किंतु डॉ. टर्नर ने अंतिम रूप से ध्वनि एवं रूपों के आधार पर (The position of Romani in Indo-Aryan, Edunburg. 1927) यह सिद्ध कर दिया कि इनका संबध मध्यदेशीय भाषा से है। वहाँ से ये पश्चिमोत्तरी क्षेत्र में गए और वहाँ से प्रभावित होते भारत के बाहर गए। इनकी भाषाओं में विभिन्न भाषाओं के शब्दों आदि के आधार पर इनके जाने के पथ का भी न्यूनाधिक रूप से निर्धारण कर दिया गया है।

20.2 आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का वर्गीकरण

विश्व के समस्त भाषा-कुलों में भारतीय भाषकुल का और इसमें भारतीय आर्य भाषाओं का विशेष महत्त्व है। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा से मध्ययुगीन भारतीय आर्य भाषाओं का उद्भव हुआ है और उससे आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का विकास हुआ है। वर्तमान समय की आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का विकास रेखांकन योग्य है। इसकी विभिन्न शाखाओं में भरपूर साहित्य रचना हो रही है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर इस परिवार की विभिन्न भाषाओं का वर्गीकरण किया गया है। यहाँ कुछ प्रमुख भाषा वैज्ञानिकों का वर्गीकरण प्रस्तुत है–

20.2.1 हार्नले द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण

भारतीय आर्य भाषाओं के वर्गीकरण के संबंध में प्रथम नाम हार्नले का आता है। उन्होंने आर्य के विषय में एक सैद्धांतिक तथ्य सामने रखा है कि आर्य बाहर से भारत में दो बार आए हैं। इनके भारत में प्रथम आगमन का मार्ग सिंधु पार कर पंजाब से रहा है। दूसरी बार इनका आगमन कश्मीर की ओर से हुआ है। दूसरी बार आर्यों के आगमन पर पूर्वकाल में आए देश के कोने-कोने में फैल गए। दूसरी बार आए आर्य देश के मध्य भाग में बस गए। इस प्रकार हार्नले ने आर्यों के बहिरंग तथा अंतरंग वर्गो के आधार पर ही उनकी भाषाओं को भी वर्गीकृत किया है। इस आधार पर हार्नले ने अंतरंग और बहिरंग दो वर्ग बनाए।

हार्नले ने "Comparative Grammar of the Gaudian Languages" में एक भिन्न वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया है। इसमें उन्होंने विभिन्न दिशाओं के आधार पर भाषा-सीमा बनाने का प्रयत्न किया है। ये भाषा-वर्ग हैं–

1. **पूर्वी गौडियन :** पूर्वी हिंदी (बिहारी सहित), बंगला, उड़ीसा, असमी।
2. **पश्चिमी गौडियन :** पश्चिमी हिंदी (राजस्थानी सहित), गुजराती, सिंधी, पंजाबी।
3. **उत्तरी गौडियन :** पहाड़ी (गढ़वाली नेपाली आदि)
4. **दक्षिणी गौडियन :** मराठी।

इस प्रकार हार्नले द्वारा प्रस्तुत किया गया आधुनिक भारतीय भाषाओं का आदि वर्गीकरण भले ही विस्तृत और पूर्ण वैज्ञानिक नहीं सिद्ध हो सका है, किंतु इसका अपना विशेष महत्त्व है; इस वर्गीकरण की प्रमुख विशेषता यह है कि परवर्ती वर्गीकरण अल्पाधिक रूप से इस पर आधारित हैं।

टास्क भारत में हिंदी के अतिरिक्त बोली जाने वाली विभिन्न भाषाओं एवं उसके क्षेत्रों का उल्लेख कीजिए।

20.2.2 ग्रियर्सन द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण

जार्ज इब्राही ग्रियर्सन ने आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का समुचित सर्वेक्षण करके उनकी विशेषताओं के आधार पर वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया है। उनके द्वारा प्रस्तुत किए गए दो वर्गीकरण इस प्रकार हैं–

प्रथम वर्गीकरण : ग्रियर्सन ने हार्नले के बाह्य और आंतरिक सिद्धांत-वर्गीकरण को आंशिक आधार बनाकर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का वर्गीकरण किया है। उन्होंने इस वर्गीकरण में समस्त भाषाओं को मुख्यत: तीन वर्गों में विभक्त किया है। उनके वर्गीकरण को संक्षिप्त रूप में इस प्रकार रेखांकित कर सकते हैं–

नोट
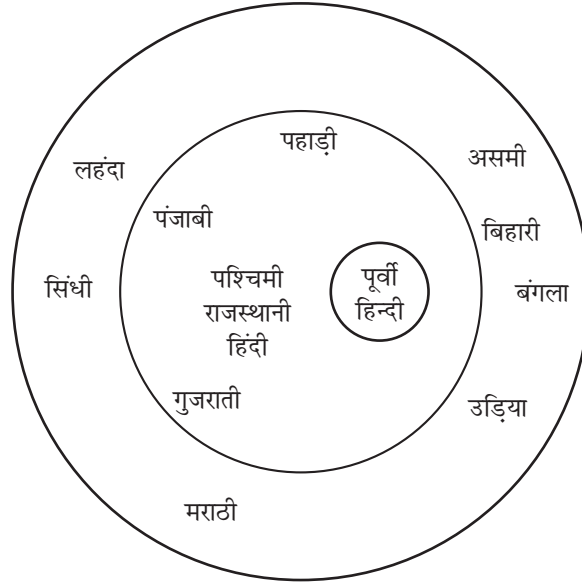
आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ : ग्रियर्सन द्वारा प्रस्तुत प्रथम वर्गीकरण

1. **बाहरी उपशाखा :**

   (क) पूर्वी वर्ग : उड़िया, बंगला, असमी, बिहारी।

   (ख) पश्चिमोत्तर वर्ग : लहंदा, सिंधी

   (ग) दक्षिणी वर्ग : मराठी।

2. **मध्यवर्ती उपशाखा : मध्यवर्ती वर्ग :** पूर्वी हिंदी।

3. **भीतरी उपशाखा :**

   (क) केंद्रीय वर्ग : पश्चिमी हिंदी, पंजाबी, गुजराती, राजस्थानी।

   (ख) पहाड़ी वर्ग : नेपाली (पूर्वी पहाड़ी), मध्य पहाड़ी, पश्चिमी पहाड़ी।

ग्रियर्सन के मतानुसार विभिन्न उपशाखाओं में विभक्त भाषाओं की ध्वनियों, शब्दों तथा उनके व्याकरणिक रूपों में पर्याप्त भिन्नता है। उन्हीं आधारों पर उन्होंने विभिन्न भाषाओं को उपशाखाओं में विभक्त किया है। डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी और डॉ. भोलानाथ तिवारी ने इस वर्गीकरण की विभिन्न दृष्टियों से समीक्षा की है। इस वर्गीकरण के आधार पर विशेषताओं पर आलोचनात्मक दृष्टिकोण से इस प्रकार विचार किया जा सकता है।

(क) ध्वन्यात्मक विशेषताएँ

ग्रियर्सन ने बाहरी उपशाखा की कुछ ऐसी ध्वन्यात्मक विशेषताएँ रेखांकित की हैं, जो भीतरी उपशाखा में नहीं हैं; यथा–

1. उनके अनुसार बाहरी उपशाखा की भाषाओं में इ, उ तथा ए स्वरांत शब्दों की उक्त ध्वनियों का लोप नहीं होता है, किंतु अंतः वर्ग की भाषाओं में इन ध्वनियों का लोप हो जाता है।

   यदि भीतरी उपशाखा की भाषाओं को ऐसी शब्दांत ध्वनियों के विषय में देखें, तो पाएँगे कि उनका लोप वहाँ भी नहीं होता; यथा–पति, पशु, मिले आदि।

2. इस शाखा में इ ध्वनि ए और उ ध्वनि में परिवर्तित हो जाती हैं। ऐसा ध्वनि–परिवर्तन बाहरी शाखा की भाषाओं में ही नहीं भीतरी शाखा की भाषाओं में भी मिलता हैं; यथा–इ > ए : मिलना > मेल, मेला, तिल > तिल।

   उ > ओ : सुखाना > सोखना, मुग्ध > मोह, तुही > तोही।

3. उक्त शाखा की भाषाओं की 'इ' तथा 'उ' ध्वनि आपस में एक–दूसरे के प्रयोग स्थान पर प्रयुक्त होती है। भीतरी शाखा की भाषाओं में भी यदा–कदा ऐसे प्रयोग मिल जाते हैं; यथा–इ–उ : बुंद > बिंदु।

नोट

4. ग्रियर्सन के अनुसार 'ड़' और 'ल' के स्थान पर 'र' का प्रयोग होता है। ऐसी ध्वन्यात्मक विशेषताएँ भीतरी शाखा की भाषाओं में भी यदाकदा मिल जाती हैं; यथा–ड > र : किवाड़ > किवार, पड़ गए > पर गए सड़क > सरक, चिड़िया > चिरिया।

   ल > र : बल > बर, बिजली > बिजुरी, तले > तरे।

   यह प्रवृत्ति अवधी तथा ब्रज में पर्याप्त रूप से मिलने के साथ खड़ी-बोली में भी अल्पााधिक रूप मे मिल जाती है।

5. उनकी मान्यता है कि बाहरी शाखा की भाषाओं में द तथा ड ध्वनियाँ आपस में एक-दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त होती हैं।

   ऐसी प्रवृत्ति तो भीतरी शाखा की भाषाओं में भी मिलती है; यथा–

   द > ड : दंशन > डसना, दंड > डंड या डंडा, ड्याढ़ी > देहली।

6. बाहरी शाखा की भाषाओं में 'म्ब' से 'म' ध्वनि का विकास माना गया है, साथ ही यह भी संकेत किया गया है कि भीतरी शाखा में 'म्ब' का 'ब' रूप होता है दोनों उपशाखाओं के शब्दों की ध्वनियों के अध्ययन से यह तथ्य सामने आता है कि इसके विपरीत प्रवृत्ति भी मिलती है। पश्चिमी तथा पूर्वी हिंदी में निम्ब से नीम, निबोली; जम्बुक से जामुन शब्द रूप हो जाते हैं; तो बंगला में निम्बुक से लेंबू रूप हो जाता है।

7. उनके अनुसार बाहरी शाखा की भाषाओं में 'स' ध्वनि श, ख या ह के रूप में मिलती है। यदि बाहरी शाखा की पूर्वी वर्ग की बंगला तथा दक्षिणी वर्ग की मराठी भाषाओं में देखें तो यह ध्वनि 'श' के रूप में प्रयुक्त होती है। बंगला की पूर्वी बोली तथा असमी में यह निर्बल ध्वनि 'ख' के रूप में प्रयुक्त होती है। पश्चिमोत्तर वर्ग की लहँदा तथा सिंधी भाषाओं में यही ध्वनि 'ह' के रूप में मिलती है।

   ग्रियर्सन द्वारा संकेत की गई उपशाखा की यह प्रवृत्ति भीतरी उपशाखा में भी मिलती है; यथा–द्वादश > बारह, केसरी > केहरी, पंच-सप्तति > पचहत्तर, कोस > कोह।

8. ग्रियर्सन के अनुसार बाहरी शाखा की भाषाओं की महाप्राण ध्वनियाँ अल्पप्राण हो जाती है। यदि भीतरी शाखाओं की भाषाओं के विषय में चिंतन करें, तो यह परिवर्तन इसमें भी मिलता है; यथा–भगिनी > बहन या बहिन, ईठा (प्राकृत) (इष्टक) > ईंट।

9. उनके अनुसार संयुक्त व्यंजन के मध्य स्थिति अर्ध-व्यंजन का लोप हो जाता है। क्षतिपूरक दीर्घीकरण नियमानुसार पूर्व वर्ग का रूप दीर्घ हो जाता है। भीतरी शाखा की भाषाओं में भी ऐसे ध्वनि-परिवर्तन मिल जाते हैं; यथा–कर्म > काम, सप्त > सात, हस्त > हाथ, चर्म > चाम आदि।

10. इसमें अंतस्थ 'र' का लोप हो जाता है। वह प्रवृत्ति भीतरी शाखा की भाषाओं में भी मिलती है; यथा–और > और > औ, पर > पै।

11. इसमें ही 'ए' का 'ऐ' और 'औ' होने की बात कही गई है, भीतरी शाखा की भाषाओं के उच्चारण में यदा-कदा ऐस परिवर्तन मिल जाते हैं; यदा-कदा ऐसे परिवर्तन मिल जाते हैं; यथा–सेमैस्टर > सैमेस्टर।

12. बाहरी शाखा की भाषाओं में द और ध के ज और झ होने की बात कही गई है। ये परिवर्तन भीतरी शाखा की भाषाओं में भी मिल जाते हैं।

(ख) व्याकरणिक विशेषताएँ

1. ग्रियर्सन ने 'ई' प्रत्यय के प्रयोग के आधार पर बाहरी शाखा की भाषाओं को अलग किया है, किंतु भीतरी शाखा की भाषाओं में ऐसी प्रवृत्ति संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि शब्दों के स्त्रीलिंग बनाने में मिलती है; यथा–

   संज्ञा : लड़का > लड़की, मामा > मामी, दादा > दादी।

   विशेषण : अच्छा > अच्छी, गंदा > गंदी, पीला > पीली

   क्रिया : जाता > जाती, रोता > रोती, गाता है > गाती है।

नोट

2. उन्होंने बाहरी शाखा की भाषाओं के विशेषण शब्दों में पुल्लिंग और स्त्रीलिंग संरचना में 'ला' तथा 'ली' प्रयोग की बात कही है, जो भीतरी भाषाओं में भी मिलती है; यथा–

   पुल्लिंग विशेषण : गठीला, रँगीला, खर्चीली, कँटीली।
3. ग्रियर्सन के अनुसार संस्कृत संयोगात्मक भाषा थी। उसके पश्चात की भाषाएँ क्रमश: वियोगात्मक होती गई हैं। बाहरी शाखा की भाषाओं में आगे के विकास की बात कही गई है, अर्थात् उसमें पुन: संयोगात्मक रूप विकसित हो गए हैं। 'राम की किताब' का बंगला रूपांतरण 'रामेर बोई' होता है। भीतरी शाखा की भाषाओं के कारक के संयोगात्मक प्रयोग में भी ये रूप देखे जा सकते हैं; यथा–अपने काम से मतलब है। तुमसे भी कहूँ। उनकी बात है।
4. क्रिया शब्दों तथा धातु रूपों में समानता की बात कही गई है। यह तथ्य न तो बाहरी शाखा की भाषाओं में पूर्णत: मिलता है और न ही भीतरी शाखा की भाषाओं में। दोनों ही शाखाओं की भाषाओं में मिलने वाली ऐसे प्रवृत्ति को भेदक आधार रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है।
5. भूतकालिक क्रिया का रूप कर्त्ता के अनुरूप प्रयुक्त होता है। यह बाहरी शाखा की भाषाओं के अतिरिक्त पूर्वी हिंदी में भी मिलती है, यथा–

   हम इमिली खायेन-(मैंने इमली खाई)

   हम आम खायेन-(मैंने आम खाया)

   बाहरी शाखा की भाषाओं में यह प्रवृत्ति केवल अकर्मक क्रिया के संदर्भ में ही मिलती है।
6. ग्रियर्सन के अनुसार भूतकालिक क्रिया के साथ आने वाला सर्वनाम क्रिया के साथ अंतर्भूत होता है। बाहरी शाखा की सभी भाषाओं में यह प्रक्रिया नहीं मिलती है। इस प्रकार यह भी स्पष्ट भेदक आधार नहीं है।
7. बाहरी शाखा की भाषाओं के सभी वर्गों के शब्दों को सप्रत्यय माना है। यदि भीतरी शाखा की भाषाओं के शब्दों पर विचार करें तो ऐसी ही प्रकृति इसमें भी मिलती है; यथा–मैं (मैंन), तै (तूने), बालहि (बालक को)।

(ग) शब्दगत विशेषताएँ

ग्रियर्सन के अनुसार बाहरी शाखा की सभी भाषाओं के शब्दों में पर्याप्त समानता है। यदि तुलनात्मक दृष्टिकोण से भीतरी तथा बाहरी शाखाओं की विभिन्न भाषाओं का अध्ययन करें, तो पाएँगे कि बंगला-लहँदा या बंगला-मराठी की अपेक्षा कहीं अधिक समता बंगला तथा हिंदी में मिलती है। तो वास्तव में हिंदी का एक रूप है। इस प्रकार बाहरी तथा भीतरी शाखाओं की भाषाओं के विभिन्न शब्द वर्गों और उनकी रचना में पर्याप्त समानता होने से वर्गीकरण का यह आध ार भी वैज्ञानिक नहीं सिद्ध होता है।

(घ) वंशानुगत विशेषताएँ

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के बाहरी तथा भीतरी उपशाखा आधारित वर्गीकरण को पुष्ट आधार देने के लिए आर्य परिवार को दो उपवर्गों में विभक्त किया गया है। मंतव्य के अनुसार बाहरी क्षेत्र के आर्य एक जाति के थे और भीतरी क्षेत्र के आर्य दूसरी जाति के थे। इस प्रकार भिन्न जाति के होने के कारण उनकी भाषा भी भिन्न बताई गई है। इस विचार के अनुसार बंगाल, सिंध तथा महाराष्ट्र क्षेत्र के आर्य एक जाति के और उत्तर-प्रदेश, गुजरात तथा राजस्थान आदि क्षेत्रों के आर्य दूसरी जाति के थे, किंतु ऐतिहाासिक दृष्टिकोण में यह मंतव्य गलत सिद्ध होता है। अधिकांश इतिहासवेत्ताओं के अनुसार आर्य एक ही परिवार के थे।

द्वितीय वर्गीकरण : ग्रियर्सन ने बाद में पश्चिमी-हिंदी को विशेष महत्त्व देते हुए एक नए ढंग का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। इसमें पश्चिमी हिंदी को केंद्र में रखा गया है। इस वर्गीकरण में विभिन्न भाषाओं की समान विशेषताओं पर विशेष ध्यान दिया जाता है। उनके इस वर्गीकरण को इस प्रकार रेखांकित कर सकते हैं:(देखें चित्र)

नोट
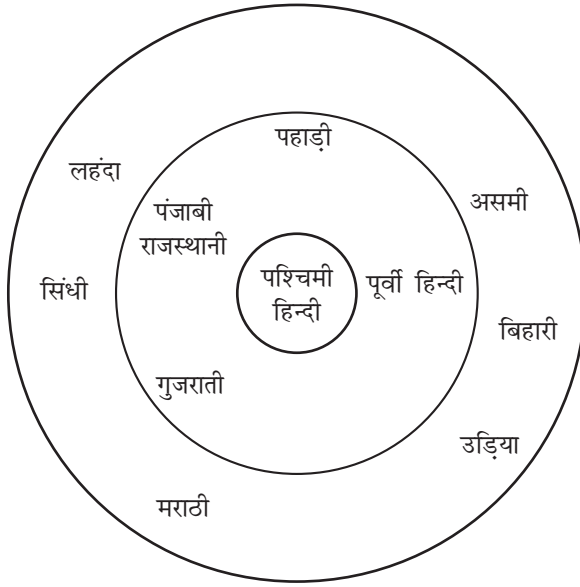
आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ : ग्रियर्सन द्वारा प्रस्तुत प्रथम वर्गीकरण

(क) मध्य देशीय भाषा–पश्चिमी हिंदी

(ख) अंतर्वर्ती भाषाएँ–पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, पहाड़ी (पश्चिमी हिंदी से अधिक समता रखने वाली भाषाएँ)

(ग) बाहरी भाषाएँ–1. पश्चिमोत्तरी भाषाएँ–लहँदा, सिंधी 2. दक्षिणी भाषा–मराठी 3. पूर्वी भाषाएँ–बिहारी, उड़िया, बंगला, असमी।

डॉ. ग्रियर्सन के द्वारा किए गए दोनों ही वर्गीकरण पूर्ण वैज्ञानिक कोटि में नहीं आते हैं, क्योंकि प्रथम वर्गीकरण की दोनों उपशाखाओं की ध्वन्यात्मक, व्याकरणिक तथा शब्दगत विशेषताओं में स्पष्ट भेदक रेखा खींचना संभव नहीं है। आर्यों को बाहरी तथा भीतरी दो जातियों में विभक्त करना इतिहास के तथ्यों के विपरीत है। इनके द्वारा प्रस्तुत द्वितीय वर्गीकरण अधिक उपयोगी तथा अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के अब तक हुए वर्गीकरणों में ग्रियर्सन का वर्गीकरण निश्चय ही महत्वपूर्ण है। इस वर्गीकरण के माध्यम से आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की विभिन्न भाषायी विशेषताओं के अध्ययन का अवसर मिल जाता है।

स्व-मूल्यांकन

सही विकल्प चुनिए–

1. आधुनिक आर्यभाषाओं में भारत के बाहर बोली जाने वाली भाषा है–
   (क) सिंधी, गुजराती, लँहदा (ख) पंजाबी, मराठी, उड़िया (ग) नेपाली, सिंहली, जिप्सी
2. नेपाली भाषा को एक अन्य नाम से भी जाना जाता है–
   (क) पहाड़ी (ख) गोरखाली (ग) सिंहली
3. सन 1924 की जनगणना में भारत में जिप्सी बोलने वालों की संख्या थी–
   (क) 50,000 से अधिक (ख) 20,000 से अधिक (ग) 15,000 से अधिक
4. डा. ग्रियर्सन डॉ. हार्नले के बाह्य एवं आंतरिक सिद्धांत वर्गीकरण को आधार बनाकर अधिक आर्यभाषाओं का वर्गीकृत किया है–
   (क) दो भागों में (ख) तीन भागों में (ग) पाँच भागों में

नोट

20.2.1 डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण

डॉ. चटर्जी ने ओरिजन एण्ड डेवलपमेंट ऑफ बेंगाली लैंग्वेज (ODBL) में डॉ. ग्रियर्सन द्वारा किए गए आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के बाहरी और भीतरी वर्गीकरण के ध्वन्यात्मक, व्याकरणिक तथा शब्दगत आधारों की आलोचना की है। इस प्रकार उदाहरण पुष्ट आलोचना करने से जहाँ ग्रियर्सन के वर्गीकरण की वैज्ञानिकता तथा उसकी सीमा स्पष्ट होती है, वहीं नए वर्गीकरण का आधार बनता है। इसी पुस्तक में उन्होंने आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की आपसी समीपता तथा पारस्परिक विशेषताओं को महत्त्व देते हुए उनको वर्गीकृत किया है। इस वर्गीकरण में उन्होंने वैदिक काल से वर्तमान समय तक मध्यक्षेत्र की भाषा की महत्ता-संकेत करते हुए उसी भाषा को वर्गीकरण का आधार बनाया है। वर्तमान समय में पश्चिमी हिंदी उसी महत्त्वपूर्ण भूमिका के रूप में सामने आती है। इस प्रकार सर्वप्रथम मध्यप्रदेश भाषा वर्ग बनाकर उसमें पश्चिमी हिंदी रखी गई। पश्चिमी हिंदी के पश्चिमी क्षेत्र की भाषाओं-गुजराती तथा राजस्थानी को आपसी समता के कारण ये एक साथ पश्चिमी भाषा-वर्ग में रखी गई हैं। समता की दृष्टि से सिंधी तथा लहँदा के साथ ही पंजाबी भाषा भी एक वर्ग में रखी गई हैं। इस वर्गीकरण में भी मराठी एक अलग दक्षिणी वर्ग में रखी गई है। पूर्वी वर्ग में आने वाली बिहारी, बंगला, असमी तथा उड़िया के साथ ही पूर्वी हिंदी भी रखी गई है; यथा-

(क) उत्तरी (उदीच्य) वर्ग-

1. सिंधी,
2. लहँदा।
3. पंजाबी।

(ख) पश्चिमी (प्रतीच्य) वर्ग-

4. गुजराती।
5. राजस्थानी।

(ग) मध्य (मध्यदेशीय) वर्ग-

6. पश्चिमी हिंदी।

(घ) पूर्वी (प्राच्य) वर्ग-

7. पूर्वी हिंदी।
8. बिहारी।
9. बंगला।
10. असमी।
11. उड़िया।

(ङ) दक्षिणी (दक्षिणात्य) वर्ग-

12. मराठी।

इस वर्गीकरण की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं:

(क) डॉ. ग्रियर्सन डॉ. धीरेंद्र वर्मा आदि ने भारतीय आर्य भाषाओं के वर्गीकरण में 'पहाड़ी' भाषा को महत्व देते हुए माध्य शाखा के उपवर्ग तथा उत्तरी भाषा के रूप में स्थान दिया है। डॉ. चटर्जी के वर्गीकरण में 'पहाड़ी' का नाम न आने से उनके द्वारा उस भाषा को महत्त्व न देने की बात स्पष्ट होती है। उन्होंने पहाड़ी को दरद तथा राजस्थानी भाषा को सम्मिलित रूप माना है।

(ख) आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के वर्गीकरण के संदर्भ में ग्रियर्सन तथा कुछ अन्य भाषा वैज्ञानिकों ने भीली तथा खानदेशी को स्वतंत्र भाषा के रूप में स्वीकार कर एक वर्ग में स्थान दिए हैं। डॉ. चटर्जी इन दोनों ही भाषाओं को स्वतंत्र रूप में स्वीकार नहीं किया है। इस कारण इन्हें वर्गीकरण में स्थान नहीं मिल सका है।

(ग) यह वर्गीकरण विभिन्न भाषाओं की विशेषताओं की समानता के आधार पर किया गया है, इसलिए सुविधाजनक है।

इस वर्गीकरण के विषय में डॉ. सरयूप्रसाद अग्रवाल ने भाषाविज्ञान और हिंदी (द्वितीय संस्करण) के पृष्ठ 138 पर अपना विचार इस प्रकार व्यक्त किया है–"यह अंधानुकरण नहीं वरन् विशेषताओं की दृष्टि से समीचीन वर्गीकरण हैं।" डॉ. अग्रवाल ने इस वर्गीकरण की सरलता को स्पष्ट करते हुए आगे कहा है–"सुविधा की दृष्टि से श्रेयस्कर है।"

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के वर्गीकरण में डॉ. चटर्जी के वर्गीकरण का अपना महत्त्व है।

20.3 सारांश

भारत में आर्यों के आने के बाद से उनकी भारतीय आर्य भाषा का इतिहास शुरू होता है। उल्लेखनीय है कि यहाँ भारतीय में भारत के अतिरिक्त पाकिस्तान, बांग्लादेश तथा श्रीलंका भी हैं। अपभ्रंश के विभिन्न स्थानीय रूप 1000 ई. के आस-पास अवहट्ठ रूपों से होते हुए आधुनिक भाषाओं के रूप में विकसित हो गए।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित हैं–

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में प्रमुखत: वही ध्वनियाँ हैं जो प्राकृत, अपभ्रंश आदि में थीं। किन्तु कुछ विशेषताएँ भी हैं-(क) पंजाबी आदि में उदासीन स्वर 'अ' भी प्रयुक्त होने लगा है। अवधी आदि में जपित या अघोष स्वरों का प्रयोग होता है। गुजराती में मंर्मर स्वर का विकास हो गया है। प्राकृत-अपभ्रंश में केवल मूल स्वर थे, किन्तु अवहट्ठ में ऐ, औ विकसित हो गए थे। कई आधुनिक भाषाओं में इनका प्रयोग होता है, यद्यपि कुछ बोलियों में केवल मूल स्वरों का प्रयोग हो रहा है, संयुक्त स्वरों का नहीं।

जिन शब्दों के उपधा (Penultimate) स्वर या अन्तिम को छोड़कर किसी और पर बलात्मक स्वराघात था, (क) उनके अन्तिम दीर्घ स्वर प्राय: ह्रस्व हो गए है। तथा (ख) अंतिक 'अ' स्वर कुछ अपवादों (संयुक्त व्यंजनादि) को छोड़कर प्राय: लुप्त हो गया है (राम्, अब् आदि)।

प्राकृत आदि में जहाँ समीकरण के कारण व्यंजनद्वित्त या दीर्घ व्यंजन (कर्म-कम्म) हो गए थे, आधुनिक काल में 'द्वित्व' में केवल एक रह गया और पूर्ववर्ती स्वर में क्षतिपूरक दीर्घता आ गई (कम्म-काम, अट्ठ-आठ)। आधुनिक भाषाओं में अपभ्रंश की तुलना में भी रूप कम हो गए है, इस प्रकार भाषा सरल हो गई है।

रचना की दृष्टि से संस्कृत, पालि, प्राकृत आदि की भाषा योगात्मक थी। अयोगात्मकता अपभ्रंशों से आरम्भ हुई और अब, आधुनिक भाषाएँ (नाम और धातु दोनों दृष्टियों से) पूर्णत: अयोगात्मक या वियोगात्मक हो गई हैं। कुछ रूप योगात्मक हैं भी तो उअवाद-स्वरूप।

आधुनिक भाषाओं में प्राचीन तथा मध्ययुगीन से शब्द-भण्डार की दृष्टि से सबसे बड़ी विशेषता यह है कि पश्तो, तुर्की, अरबी, फ़ारसी, पुर्तगाली तथा अंग्रेजी आदि से लगभग 8-9 हज़ार नये विदेशी शब्द आ गए हैं।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में **सिन्धी, गुजराती, लहँदा, पंजाबी, मराठी, उड़िया, बंगाली, असमिया, हिन्दी** (पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी) प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त **कश्मीरी** भी भारत की एक महत्त्वपूर्ण भाषा है। **राजस्थानी, पहाड़ी** तथा **बिहारी** को लोगों ने अलग रखा है, किन्तु ये हिन्दी प्रदेश में आती हैं। भारत के बाहर बोली जाने वाली आधुनिक आर्यभाषाओं में **नेपाली, सिंहली** तथा **जिप्सी** भी उल्लेख्य हैं।

नेपाली–यह 'पहाड़ी' का पूर्वी रूप है। पहाड़ी बोलियों के प्रदेश के पूर्वी भाग की भाषा होने के कारण इसे '**पूर्वी पहाड़ी**' भी कहते हैं।

सिंहली–इसका क्षेत्र लंका के दक्षिणी भाग में है। लगभग 5वीं सदी ई. पू. में विजय नामक राजा के साथ कुछ भारतीय लंका में जाकर बस गए। इन्हीं लोगों के साथ यहाँ से यह भाषा भी अपने मूल रूप में गई। विजय राजा तथा उसके साथी कहाँ के थे, इस सम्बन्ध में विवाद है। ये लोग जहाँ के रहने वाले होंगे, वहीं की भाषा से सिंहली का सम्बन्ध होगा। कुछ लोगों ने इन्हें पश्चिमी बंगाल का माना है जिनके अनुसार सिंहली का सम्बन्ध उस समय बंगाल में प्रयुक्त भाषा से होगा, किन्तु कुछ लोगों ने सौराष्ट्र, लाट या गुजरात में उनका स्थान माना है। अधिक सम्भावना सौराष्ट्र की ही है।

नोट

जिप्सी–घुमंतू लोगों द्वारा प्रयुक्त एक भाषा, जिसे **हबूड़ी, रोमनी, बंजारा** तथा **बंजारी** आदि भी कहते हैं। जिप्सी भाषाएँ मूलतः भारोपीय परिवार की हैं। 5वीं सदी ई.पू. में बंजारा या जिप्सी भाषियों के पूर्वज जहाँ–तहाँ इधर–उधर फैल गए।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा से मध्ययुगीन भारतीय आर्य भाषाओं का उद्‌भव हुआ है और उससे आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का विकास हुआ है। वर्तमान समय की आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का विकास रेखांकन योग्य है। इसकी विभिन्न शाखाओं में भरपूर साहित्य रचना हो रही है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर इस परिवार की विभिन्न भाषाओं का वर्गीकरण किया गया है। भारतीय आर्य भाषाओं के वर्गीकरण के संबंध में प्रथम नाम हार्नले का आता है। ग्रियर्सन ने हार्नले के बाह्य और आंतरिक सिद्धांत-वर्गीकरण को आंशिक आधार बनाकर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का वर्गीकरण किया है। जहाँ ग्रियर्सन के वर्गीकरण की वैज्ञानिकता तथा उसकी सीमा स्पष्ट होती है, वहीं नए वर्गीकरण का आधार बनता है। उन्होंने आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की आपसी समीपता तथा पारस्परिक विशेषताओं को महत्त्व देते हुए उनको वर्गीकृत किया है।

20.4 शब्दकोश

1. **मर्मर–** खड़खड़ाहट
2. **बहिरंग–** बाहरी, बाहर का

20.5 अभ्यास-प्रश्न

1. आधुनिक आर्य भाषाओं का परिचय दीजिए।
2. आधुनिक आर्य भाषाओं विभिन्न भाषा वैज्ञानियों द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण पर प्रकाश डालिए।

उत्तरः स्व-मूल्यांकन

1. (ग) 2. (ख) 3. (ग) 4. (क)

20.6 संदर्भ पुस्तकें

1. *भाषा विज्ञान–* डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, किताब महल, इलाहाबाद
2. *भाषा विज्ञानः हिंदी भाषा और लिपि–* डॉ॰ रामकिशोर शर्मा, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद
3. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा–* नरेश मिश्र, संजय प्रकाशन, दिल्ली
4. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा का स्वरूप–* विकास– देवेन्द्र प्रसाद सिंह, हिंदी बुक सेंटर, दिल्ली

इकाई 21: हिंदी का परिचय एवं भौगोलिक विस्तार

नोट

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- हिंदी के स्वरूप एवं उसके भौगोलिक विस्तार से परिचित होंगे।

प्रस्तावना

भारतवर्ष के सिंधु, सिंध और सिंधी के ही दूसरे रूप हिंदू, हिंद और हिंदी माने जा सकते हैं, पर हमारी भाषा में आज ये भिन्न-भिन्न शब्द माने जाते हैं। सिंधु एक नदी को, सिंध एक प्रांत को और सिंधी उस प्रांत के निवासी को कहते हैं, तथा फारसी से आये हुए हिंदु, हिंद और हिंदी सर्वथा भिन्न अर्थ में आते हैं। हिंदू से एक जाति, एक धर्म अथवा उस जाति या धर्म के मानने वाले व्यक्ति का बोध होता है। हिंद से पूरे देश भारतवर्ष का अर्थ लिया जाता है और हिंदी एक भाषा का वाचक होता है।

21.1 हिंदी भाषा– परिचय

प्रयोग तथा रूप की दृष्टि से हिंदी शब्द फारसी भाषा का है और इसका अर्थ 'हिंद का' होता है, अत: यह फारसी ग्रंथों में हिंद देश के वासी और हिंद देश की भाषा दोनों अर्थों में आता था और आज भी आ सकता है। पंजाब का रहने वाला देहाती आज भी अपने को भारतवासी न कहकर हिंदी ही कहता है, पर हमें आज हिंदी के भाषा-संबंध ी अर्थ से ही विशेष प्रयोजन है। शब्दार्थ की दृष्टि से इस अर्थ में भी हिंदी शब्द का प्रयोग हिंद या भारत में बोली जाने वाली किसी आर्य अथवा अनार्य भाषा के लिए हो सकता है, किंतु व्यवहार में हिंदी उस बड़े भूमिभाग की भाषा मानी जाती है जिसकी सीमा पश्चिम में जैसलमेर, उत्तर पश्चिम में अंबाला, उत्तर में शिमला से लेकर नेपाल के पूर्वी छोर तक के पहाड़ी प्रदेश, पूरब में भागलपुर, दक्षिण-पूरब में रायपुर तथा दक्षिण-पश्चिम में खंडवा तक पहुँचती है। इस भूमिभाग के निवासियों के साहित्य, पत्र-पत्रिकाएँ, शिक्षा-दीक्षा, बोलचाल आदि की भाषा हिंदी है। इस अर्थ में बिहारी (भोजपुरी, मगही और मैथिली), राजस्थानी (मारवाड़ी मेवाती आदि), पूर्वी हिंदी (अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी) पहाड़ी आदि सभी हिंदी की विभाषाएँ मानी जा सकती हैं। उसके बोलने वालों की संख्या लगभग 11 करोड़ है। यह

नोट

हिंदी का प्रचलित अर्थ है। भाषा-शास्त्रीय अर्थ इससे कुछ भिन्न और संकुचित होता है।

भाषाशास्त्र की दृष्टि से इस विशाल भूमिभाग अथवा हिंदी खंड में तीन-चार भाषाएँ मानी जाती है। राजस्थान की राजस्थानी, बिहार तथा बनारस-गोरखपुर कमिश्नरी की बिहारी, उत्तर में पहाड़ों की पहाड़ी और अवध तथा छत्तीसगढ़ की पूर्वी हिंदी आदि पृथक् भाषाएँ मानी जाती हैं। इस प्रकार हिंदी केवल उस खंड की भाषा को कह सकते हैं जिसे प्राचीन काल में मध्यदेश अथवा अंतर्वेद कहते थे। अतः यदि आगरा को हिंदी का केंद्र मानें तो उत्तर में हिमालय की तराई तक और दक्षिण में नर्मदा की घाटी तक, पूर्व में कानपुर तक और पश्चिमी में दिल्ली के भी आगे तक हिंदी का क्षेत्र माना जाता है। इसके पश्चिम में पंजाबी और राजस्थानी बोली जाती है और पूर्व में पूर्वी हिंदी। कुछ लोग हिंदी के दो भेद मानते हैं-पश्चिमी हिंदी और पूर्वी हिंदी। पर आधुनिक विद्वान् पश्चिमी हिंदी को ही हिंदी कहना शास्त्रीय समझते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से भी देखें तो हिंदी शौरसेनी की वंशज है और पूर्वी हिंदी अर्धमगधी की। इसी से ग्रियर्सन, चाटुर्ज्या आदि ने हिंदी शब्द का पश्चिमी हिंदी के ही अर्थ में व्यवहार किया है और ब्रज, कन्नौजी, बुंदेली, बाँगरू और खड़ी बोली (हिंदुस्तानी) को ही हिंदी की विभाषा माना है- अवधी, छत्तीसगढ़ी आदि को नहीं। अभी हिंदी लेखकों के अतिरिक्त अंग्रेजी लेखक भी 'हिंदी' शब्द का मनचाहा अर्थ किया करते हैं इसके भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी को हिंदी शब्द के (1) मूल शब्दार्थ (2) प्रचलित और साहित्यिक अर्थ, तथा (3) शास्त्रीय अर्थ को भली-भाँति समझ लेना चाहिए। तीनों अर्थ ठीक हैं पर भाषा-विज्ञान में वैज्ञानिक खोज से सिद्ध शास्त्र-प्रयुक्त अर्थ ही लेना चाहिए।

हिंदी (पश्चिमी हिंदी अथवा केंद्रीय हिंदी-आर्य भाषा) की प्रधान पाँच विभाषाएँ हैं– खड़ी बोली, ब्रजभाषा, कन्नौजी, बाँगरू और बुंदेली। आज खड़ी बोली राष्ट्र की भाषा है– साहित्य और व्यवहार सबमें उसी का बोलबाला है, इसी से वह अनेक नामों और रूपों में भी देख पड़ती है। प्रायः लोग ब्रजभाषा, अवधी आदि प्राचीन साहित्यिक भाषाओं से भेद दिखाने के लिए आधुनिक साहित्यिक हिंदी को 'खड़ी बोली' कहते हैं। यह इसका सामान्य अर्थ है, पर इसका मूल अर्थ लें तो खड़ी बोली उस बोली को कहते हैं जो रामपुर, रियासत, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून, अंबाला तथा कलसिया और पटियाला रियासत के पूर्वी भागों में बोली जाती है। इसमें यद्यपि फारसी-अरबी के शब्दों का व्यवहार अधिक होता है पर वे शब्द तद्भव अथवा अर्धतत्सम होते हैं। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग 53 लाख है। इसकी उत्पत्ति के विषय में अब यह माना जाने लगा है कि इसका विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। उस पर कुछ पंजाबी का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है।

फोर्टविलियम कॉलेज में विशेष रूप से अंग्रेजी साहित्य का हिंदी तथा ऊर्दू में अनुवाद हुआ।

21.2 खड़ीबोली का उद्भव और विकास

खड़ीबोली: नामकरण-हिंदी के सर्वमान्य स्वरूप को खड़ीबोली नाम दिया गया है। हिंदी भाषा के इस स्वरूप की अनुकूलता अर्थात् खरेपन के कारण 'खड़ीबोली' कहा गया और फिर 'खड़ीबोली' नाम दिया गया। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि शब्द-भंडार के प्रमुख वर्ग क्रिया की संरचना को नामकरण का आधार बनाया गया होगा अर्थात् हिंदी की समस्त क्रिया की रचना में अंतिम ध्वनि 'आ' की मात्र 'ा' खड़ी पाई होती है; यथा-जाना, आना, धोना, खोना, चलना, फिरना, हँसना आदि। सभी क्रिया-शब्दों के अंत में 'ा' खड़ी पाई का प्रयोग है। इसके आधार पर 'खड़ीबोली' नामकरण की संभावना व्यक्त की गई है।

खड़ीबोली: क्षेत्र-खड़ीबोली का क्षेत्र, मुजफ्फर नगर और दिल्ली के आस-पास माना गया है। सर्वेक्षण के द्वारा यह स्पष्ट होता है कि 'खड़ीबोली' के रूप में प्रयुक्त हिंदी भाषा का रूप उक्त क्षेत्र के किसी भी गाँव में प्रयुक्त नहीं होता है। गंभीर चिंतन करने से यह तथ्य सामने आता है कि हिंदी भाषा के विस्तृत क्षेत्र और उसकी विविधता दखकर जा एकरूपता देने का प्रयास किया गया, उसमें इस क्षेत्र की बोली को आधार बनाया गया है। 'खड़ीबोली' का उक्त क्षेत्र वास्तव में पश्चिमी हिंदी की कौरवी बोली का क्षेत्र है। इस प्रकार खड़ी बोली के विषय में कहा जा सकता है–

"कौरवी बोली के आधार पर विभिन्न क्षेत्रों के लागों की बोधगम्यता के लिए जो संकल्पनात्मक रूप विकसित हुआ, उसे खड़ीबोली नाम दिया गया है।"

नोट

खड़ीबोली का प्रभाव धीरे-धीरे विस्तृत होता जा रहा है। वर्तमान में मेरठ, मुजफ्फरनगर, बिजनौर, सहारनपुर, हरिद्वार, गाजियाबाद, मुरादाबाद ओर दिल्ली तक देख सकते हैं। हरियाणा के करनाल, यमुनानगर, पानीपत, सोनीपत के कुछ भागों में खड़ीबोली का स्पष्ट प्रभाव मिलता है।

खड़ीबोली: उद्भव - हिंदी में गद्य-रचना के विकास-काल से खड़ी बोली का प्रभावी रूप में विकास हुआ है। आदि काल में डिंगल-पिंगल में रचना होती थी, तो मध्यकाल में अवधी और ब्रजभाषा काव्य-रचना की आधार भाषा थी। आधुनिक युग में हिंदी का यही रूप साहित्य-सृजन का आधार बना है।

हिंदी भाषा में एकरूपता और बोधगम्यता बढ़ाने का प्रयास एक लंबे समय से चल रहा था। जैन, सिद्ध और नाथ साहित्य में खड़ी बोली का प्रारम्भिक रूप देख सकते हैं। संत कवियों की भाषा में खड़ीबोली की झलक सामने आती है।

पीछे लागा जाइ था, लोक वेद के साथ।
आगे ते सतगुरु मिला, दीपक दीया हाथ।

इस दोहे में क्रिया आदि शब्दों के तद्भव रूप और कारक-चिह्नों के प्रयोग खड़ीबोली के प्रभाव को प्रदर्शित करता है।

अमीर खुसरो के काव्य में खड़ीबोली का प्रभावी रूप सामने आता है। डॉ. भोलानाथ तिवारी अमीर खुसरो को खड़ीबोली का प्रारंभिक और श्रेष्ठ कवि मानते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अमीर खुसरो को खड़ीबोली में रचना करने वाले सहृदय शुरुआती साहित्यकार की मान्यता दी है।

अकबर के दरबार कवियों में भी खड़ीबोली की झलक स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। इन कवियों में 'रहीम' का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

एकै सधे सब साधे, सब साधे सब जाय।
रहिम सींचहि मूलहिं, फूलहिं फलहिं अधाय।।

सत्रहवीं शताब्दी में रचित **जटमल कृत** 'गोरा बादल की कथा' खड़ीबोली की पहली रचना मानी गई है। भक्तिकाल के गद्य में ब्रज, अवधी और राजस्थानी का प्रभाव दिखाई देता है। रीतिकाल के गद्य पर ब्रज और फारसी का प्रभाव अवश्यमेव पड़ा है।

राम प्रसाद निरंजनी कृत अट्ठारहवीं शताब्दी की 'भाषायोग वशिष्ठ' खड़ीबोली की प्रथम प्रामाणिक रचना मानी गई है। आचार्य शुक्ल ने 'रामप्रसाद निरंजनी' को खड़ीबोली का प्रौढ़ रचनाकार घोषित किया है। इनकी भाषा योग वशिष्ट ठ का एक गद्यांश अवलोकनीय है—

"जो पुरुष अभिमानी नहीं है, वह शरीर के इष्ट-अनिष्ट में राग-द्वेष नहीं करता। क्योंकि इसकी शुद्ध वासना है।"

इसी समय से खड़ीबोली के प्रयोग की एक परंपरा बनी और साहित्य-सृजन के लिए आधार बनी।

खड़ीबोली का विकास-उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से ही खड़ीबोली का प्रभावी रूप विकसित हुआ। **मुंशी सदासुख लाल** और **इंशा अल्लाह खाँ** ने खड़ीबोली को साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने की अनुप्रेरक भूमिका निभाई।

मुंशी सदासुख लाल की हिंदी सरल तथा वाक्य रचना छोटी-छोटी होने के कारण विशेष लोकप्रिय हुई। इनकी भाषा में सुंदर संप्रेषणीयता है।

इंशा अल्लाह खाँ की 'रानी तकी की कहानी' ने अपनी लोकप्रियता के आधार पर खड़ीबोली के स्वरूप को जन-सामान्य तक पहुँचाया। ये अपनी भाषा को सरल तथा शुद्ध रूप देना चाहते थे, किंतु उनका चमत्कारिक और

नोट

सौंदर्यप्रिय मन ऐसा न कर सका। इनकी भाषा मे यत्र-तत्र मुहावरों के साथ हास्य-व्यंग्य के पुट मिल जाते हैं।

सन् 1803 में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना कलकत्ते में हुई। इस कॉलेज में **जॉन गिलक्राइस्ट** हिंदी ओर उर्दू पढ़ाने के लिए नियुक्त किए गए। लल्लूलाल अंग्रेजी के साथ भारतीय भाषाओं के अध्यापन की भी व्यवस्था की गई। **लल्लूलाल** ने जॉन गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से वर्षों तक इस कॉलेज से जुड़कर शकुंतला, प्रेमसागर, बैताल पचीसी और सिंहासन बत्तीसी आदि कृतियों की रचना की है। इनकी रचनाएँ शुद्ध खड़ीबोली में न होकर ब्रज और उर्दू प्रभावित हैं। इनकी भाषा पर संस्कृत के साथ अरबी, फारसी, ब्रज का प्रभाव है। इनके गद्य में काव्यात्मकता भी दिखाई दिखाई देती है। लोकोक्ति और मुहावरों का यत्र-तत्र प्रयोग है। हिंदी के लगभग सभी कारक-चिह्नों-ने, से, को, का, के, की, में और आदि के प्रयोग मिलते हैं।

फोर्ट विलियम कॉलेज में कार्यरत लल्लू लाल के समकालीन पंडित सदल मिश्र का कार्य विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने 'नासिकेतोपाख्यान' और 'रामचरित्र' नाम से क्रमश: 'कठोपनिषद्' और 'अध्यात्म रामायण' का हिंदी में अनुवाद किया। इनकी भाषा पर पूर्वी हिंदी का प्रभाव है, किन्तु तत्सम बहुला भाषा होने से खड़ीबोली के विकास में एक सीमा तक सहयोगी सिद्ध होती है। इनकी भाषा में खड़ीबोली के अनुरूप कारक-चिह्नों का प्रयोग हैं ब्रजभाषा के वचन परिवर्तन के रूप यत्र-तत्र मिल जाते हैं यथा-बात (एक वचन) > बातन (बहुवचन)। भेजपुरी-अवधी शब्द भी कहीं-कहीं प्रयुक्त हुए हैं। इनकी रचना में छोटे-बड़े सभी प्रकार के वाक्य मिलते हैं। इनके वाक्य गद्यात्मक वाक्य-रचना सिद्धांत पर प्राय: शिथिल हैं, किंतु कर्त्ता, कर्म, क्रिया का क्रमश: प्रयोग मिलता है और गद्य में काव्यात्मक रूप नहीं है।

हिंदी गद्य के विास-आधार पर खड़ीबोली को दिशा देने में 19वीं शताब्दी के इन लेखकों की महत्त्वपूर्ण भूमिका के विषय में **आचार्य रामचंद्र शुक्ल** का कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है–

"गद्य की एक साथ परंपरा चलाने वाले उपयुक्त, चार लेखकों में से आधुनिक, हिंदी का पूरा-पूरा आभास मुंशी सदासुख लाल और सदल मिश्र की ही भाषा में मिलते हैं। व्यवहारोपयोगी इन्हीं की भाषा ठहरती है। इन दो में भी मुंशी सदासुख लाल की साधु भाषा अधिक महत्त्व की है। मुंशी सदासुख लाल ने चारों से पहले लेखनी उठाई। अत: गद्य का प्रवर्तन करने वालों में उनका विशेष स्थान समझना चाहिए।"

ईसाइयों का खड़ीबोली के प्रचार-प्रसार में विशेष योगदान रहा है। अंग्रेजी शासन में ईसाई धर्म-प्रचार जोरों पर था। उनके द्वारा जन-जनतक ईसाई धर्म-साहित्य को पहुँचाने के लिए उसे खड़ीबोली में अनुवाद किया गया।

राजा राममोहन राय ने ब्रह्म समाज की स्थापना कर वेदांत-सूत्रों का खड़ीबोली में हिंदी भाष्य प्रस्तुत किया। ये राष्ट्रीय आंदोलन और हिंदी के प्रबल प्रेमी थे। इन्होंने सन् 1829 में 'बंगदूत' समाचार-पत्र का प्रकाशन कर हिंदी प्रचार-प्रसार को दिशा प्रदान की है।

सामाजिक और राष्ट्रीय आंदोलनों से जुड़े सितारे हिंद राजा शिव प्रसाद और राजा लक्ष्मण सिंह का नाम खड़ीबोली प्रयोग-संदर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

खड़ी बोली के विकास में भारतेंदु हरिश्चंद्र की भूमिका का उल्लेख कीजिए।

राजा शिव प्रसाद सितारेहिंद उर्दू प्रभावित हिंदी अर्थात् हिंदुस्तानी के पक्षधर थे। उनकी चर्चित मुख्य रचनाएँ हैं-'राजा भोज का सपना', 'मानव धर्मसार।' 'राजा भोज का सपना' में खड़ीबोली का उपयोगी रूप है। राजा शिव प्रसाद सिंह ने शिक्षा में हिंदी को उचित स्थान दिलाने के लिए प्रयत्न किया। हिंदी शिक्षा की पुस्तकें लिखवाईं। **राजा लक्ष्मण सिंह** खड़ीबोली को श्रेष्ठ रूप देने के लिए प्रयत्नशील थे। उन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के सातवें दशक में आगरा से 'प्रजा-हितैषी' समाचार-पत्र का प्रकाशन शुरू किया। उन्होंने 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' और 'मेघदूत' का खड़ीबोली में अनुवाद किया। इनकी भाषा पर संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

समाज-सुधारक नवीन चंद्र राय ने उन्नीसवीं शताब्दी के सातवें और आठवें दशक में पंजाब में रहकर शिक्षा जगत के विभिन्न पाठ्यक्रमों की पुस्तकें खड़ीबोली में लिखीं और अपने साथियों से लिखवाई। पंजाब में ही श्रद्धाराम फुल्लौरी ने अपने मनमोहक स्वर में रामायण और महाभारत की कथा हिंदी में सुनाई। 'ओम जय जगदीश हरे......' की ध्वनि से हिंदी का प्रचार हुआ।

महर्षि दयानंद ने अपना व्याख्यान हिंदी में देकर खड़ीबोली के प्रचार-प्रसार को बल दिया है। उन्होंने 'सत्यार्थ-प्रकाश' की रचना हिंदी में करके एक ओर समाज-सुधार आंदोलन को जन-सामान्य से जोड़ा है, तो दूसरी ओर खड़ीबोली के प्रयोग को सुदृढ़ आधार प्रदान किया है। सन् 1875 में, बंबई में आर्य समाज की स्थापना महर्षि दयानंद के द्वारा हुई। आर्य समाज से खड़ीबोली प्रयोग को उत्तम आधारभूमि मिली है।

आधुनिक हिंदी के जन्मदाता भारतेंदु हरिश्चंद्र हिंदी के प्रवल समर्थक थे। उन्होंने मुक्त कंठ से कहा है–

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।

बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटे न हिय को सूल।

इनकी कविता में ब्रजभाषा का स्वरूप अवश्य दिखाई देता है, किंतु उनके द्वारा रचित गद्य खड़ीबोली के आधार पर सामने आता है। उनके समकालीन साहित्यकारों ने खड़ी-बोली को गंभीरता से अपनाया है। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने हिंदी-प्रयोग में गति लाते हुए हिंदी को दिशा प्रदान की है। उन्होंने 1868 ई. में 'कविवचन सुधा' नामक पत्रिका, 1873 ई. में 'हरिश्चंद्र मैगजीन' नामक मासिक पत्र निकाला। उसका नाम बाद में 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' हो गया। इसके बाद भारतेंदु हरिश्चंद्र ने खड़ीबोली में अनेक नाटकों की रचना की और निबंध लिखे।

खड़ीबोली में अनेक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होनी शुरू हुईं। पं. प्रताप नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, पं. राधाक1ष्ण गोस्वामी आदि ने साहित्य और पत्रकारिता में खड़ी-बोली को प्रतिष्ठित किया।

स्व-मूल्यांकन

दिए गए कथन के सामने सही (✓) अथवा गलत (×) का निशान लगाइए–

1. राजाराम मोहन राय ने हिंदी के प्रथम पत्र 'उदंत मार्तण्ड' का प्रकाशन किया। ☐
2. 'हरिश्चन्द्र मैग्जीन' पत्रिका का प्रकाशन भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने किया। ☐
3. 'रानी केतकी की कहानी' के लेखक इंशाअल्लाह खाँ हैं। ☐
4. लल्लूलाल जी फोर्टविलियम कॉलेज के प्रथम अध्यक्ष थे। ☐

सन् 1883 में नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की स्थापना से खड़ीबोली के प्रचारार्थ सुदृढ़ आधार मिला। बाबू श्याम सुंदर दास और मदनमोहन मालवीय आदि हिंदी-प्रेमियों से इस संस्था की भूमिका विशेष उल्लेखनीय रही है। इसके पश्चात खड़ीबोली प्रयोग मे हिंदी साहित्य सम्मेलन, दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, हैदराबाद, प्रार्थना सभा, बंबई आदि साहित्यिक संस्थाओं के साथ ब्रह्म समाज, आर्य समाज, सनातन धर्म सभा आदि सामाजिक संस्थाओं का हिंदी-प्रेम विशेष महत्त्वपूर्ण रहा है।

हिंदी प्रचार-प्रसार में समय-समय पर प्रकाशित होन वाले पत्र और पत्रिकाओं की विशेष भूमिका रही है। इनमें कुछ प्रमुख हैं-'उद्दन्त मार्तण्ड', 'बंगदूत', 'बनारस अखबार', 'प्रजा-हितैषी', 'कविवचन सुधा', प्रदीप, सुधाकर आदि।

खड़ी-बोली के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान मुद्रण-व्यवस्था का रहा है। जैसे-जैसे हिंदी-प्रेम बढ़ा मुद्रण का आधार मिला, वैसे-वैसे हिंदी-प्रसार की गति मिलती गई है। खड़ीबोली के माध्यम से संप्रेषणीयता का विकसित रूप सामने आया है।

नोट

द्विवेदी युग से हिंदी-साहित्य सृजन मुख्यत: खड़ीबोली में होने लगा। यथा–

मानस भवन में आर्य जन जिसकी उतारें आरती।

भगवान भारत वर्ष में गूँजे हमारी भारती॥

–गुप्त

छायावाद में प्रवेश कर खड़ीबोली को आकर्षक रूप मिला।

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है,

इच्छा क्यों पूरी हो मन की।

एक-दूसरे से न मिल सकें, यह

विडंबना है जीवन की॥

–प्रसाद

इसके पश्चात खड़ीबोली हिंदी साहित्य-सृजन का आधार बन गई। वर्तमान समय में 'खड़ीबोली को हिंदी के पर्याय रूप में ग्रहण किया जाने लगा है। संविधान में हिंदी को राजभाषा के रूप मं स्वीकार करने हेतु हिंदुस्तानी (उर्दू मिश्रित हिंदी) और हिंदी (संस्कृत विकसित-परिनिष्ठित हिंदी) का विवाद चला, किंतु इसका भी निश्चय अंत में-"संविधान में हिंदी राजभाषा और देवनागरी उसकी लिपि बनी।"

वर्तमान समय में खड़ीबोली की पर्याय बनी हिंदी (मानक हिंदी) न केवल भारत में प्रयुक्त हो रही है, वरन् गयाना, सूरीनाम, मॉरीशस, ट्रिनीडाड, टुबैगो, फिजी, कनाडा ओर अमेरिका आदि देशों में प्रयुक्त हा रही है।

21.3 सारांश

प्रयोग तथा रूप की दृष्टि से हिंदी शब्द फारसी भाषा का है और इसका अर्थ 'हिंद का' होता है, अत: यह फारसी ग्रंथों में हिंद देश के वासी और हिंद देश की भाषा दोनों अर्थों में आता था और आज भी आ सकता है। पंजाब का रहने वाला देहाती आज भी अपने को भारतवासी न कहकर हिंदी ही कहता है, पर हमें आज हिंदी के भाषा-संबंधी अर्थ से ही विशेष प्रयोजन है। शब्दार्थ की दृष्टि से इस अर्थ में भी हिंदी शब्द का प्रयोग हिंद या भारत में बोली जाने वाली किसी आर्य अथवा अनार्य भाषा के लिए हो सकता है, किंतु व्यवहार में हिंदी उस बड़े भूमिभाग की भाषा मानी जाती है जिसकी सीमा पश्चिम में जैसलमेर, उत्तर पश्चिम में अंबाला, उत्तर में शिमला से लेकर नेपाल के पूर्वी छोर तक के पहाड़ी प्रदेश, पूरब में भागलपुर, दक्षिण-पूरब में रायपुर तथा दक्षिण-पश्चिम में खंडवा तक पहुँचती है।

हंदी (पश्चिमी हिंदी अथवा केंद्रीय हिंदी-आर्य भाषा) की प्रधान पाँच विभाषाएँ हैं– खड़ी बोली, ब्रजभाषा, कन्नौजी, बाँगरू और बुंदेली। आज खड़ी बोली राष्ट्र की भाषा है– साहित्य और व्यवहार सबमें उसी का बोलबाला है, इसी से वह अनेक नामों और रूपों में भी देख पड़ती है।

खड़ीबोली: नामकरण-हिंदी के सर्वमान्य स्वरूप को खड़ीबोली नाम दिया गया है। हिंदी भाषा के इस स्वरूप की अनुकूलता अर्थात् खरेपन के कारण 'खड़ीबोली' कहा गया और फिर 'खड़ीबोली' नाम दिया गया।

"कौरवी बोली के आधार पर विभिन्न क्षेत्रों के लागों की बोधगम्यता के लिए जो संकल्पनात्मक रूप विकसित हुआ, उसे खड़ीबोली नाम दिया गया है।"

खड़ीबोली का प्रभाव धीरे-धीरे विस्तृत होता जा रहा है। वर्तमान में मेरठ, मुजफ्फरनगर, बिजनौर, सहारनपुर, हरिद्वार, गाजियाबाद, मुरादाबाद और दिल्ली तक देख सकते हैं। हरियाणा के करनाल, यमुनानगर, पानीपत, सोनीपत के कुछ भागों में खड़ीबोली का स्पष्ट प्रभाव मिलता है।

खड़ीबोली: उद्भव – हिंदी में गद्य-रचना के विकास-काल से खड़ी बोली का प्रभावी रूप में विकास हुआ है। आदि

नोट

काल में डिंगल-पिंगल में रचना होती थी, तो मध्यकाल में अवधी और ब्रजभाषा काव्य-रचना की आधार भाषा थी। आधुनिक युग में हिंदी का यही रूप साहित्य-सृजन का आधार बना है।

खड़ीबोली का विकास-उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से ही खड़ीबोली का प्रभावी रूप विकसित हुआ। **मुंशी सदासुख लाल** और **इंशा अल्लाह खाँ** ने खड़ीबोली को साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने की अनुप्रेरक भूमिका निभाई। हिंदी प्रचार-प्रसार में समय-समय पर प्रकाशित होन वाले पत्र और पत्रिकाओं की विशेष भूमिका रही है। इनमें कुछ प्रमुख हैं-'उद्दन्त मार्तण्ड', 'बंगदूत', 'बनारस अखबार', 'प्रजा-हितैषी', 'कविवचन सुधा', प्रदीप, सुधाकर आदि।

वर्तमान समय में खड़ीबोली की पर्याय बनी हिंदी (मानक हिंदी) न केवल भारत में प्रयुक्त हो रही है, वरन् गयाना, सूरीनाम, मॉरीशस, ट्रिनीडाड, टुबैगो, फिजी, कनाडा ओर अमेरिका आदि देशों में प्रयुक्त हा रही है।

21.4 शब्दकोश

1. **संप्रेषणीयता–** भेजना, पहुँचाना, संप्रेषण किया हुआ
2. **लोकोक्ति–** कहावत, मसला

21.5 अभ्यास-प्रश्न

1. हिंदी भाषा का परिचय एवं उससे भौगोलिक विस्तार पर प्रकाश डालिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन

1. (×) 2. (✓) 3. (✓) 4. (×)

21.6 संदर्भ पुस्तकें

1. *भाषा और भाषा विज्ञान–* गरिमा श्रीवास्तव, संजय प्रकाशन, दिल्ली
2. *भाषा विज्ञान: हिंदी भाषा और लिपि–* डॉ॰ रामकिशोर शर्मा, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद
3. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा–* नरेश मिश्र, संजय प्रकाशन, दिल्ली
4. *मानक हिंदी का स्वरूप–* डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली

नोट

इकाई 22: हिंदी की प्रमुख उपभाषाएँ– पूर्वी हिंदी, पश्चिमी हिंदी

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- हिंदी की उपभाषाएँ– पूर्वी हिंदी, पश्चिमी हिंदी की बोलियों से परिचित होंगे।

प्रस्तावना

भाषा के विकास का इतिहास देखा जाय तो पता चलेगा कि बोली से उपभाषा और उपभाषा से भाषा तक का स्वरूप ग्रहण करने में बोलियों को अनेक अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। अत: बिहारी, राजस्थानी और पहाड़ी जैसी उपभाषाओं को भाषा के स्वतन्त्र अस्तित्व तक पहुँचने में अभी विलम्ब है। ऐसी स्थिति में पूर्वी हिन्दी एवं पश्चिची हिन्दी के साथ-साथ राजस्थानी, बिहारी तथा पहाड़ी को स्वतन्त्र भाषा की संज्ञा न देकर इन्हें हिन्दी भाषा के अन्तर्गत समेटते हुए समग्र में 'हिन्दी भाषा-समूह' कहना उपयुक्त होगा।

22.1 हिन्दी की उपभाषाएँ: पूर्वी हिंदी, पश्चिमी हिंदी परिचय

हिन्दी-क्षेत्र अति विस्तीर्ण है। ढाई लाख वर्गमील से अधिक क्षेत्र में फैली जनसंख्या द्वारा हिन्दी का प्रयोग होता है। इतने बड़े भू-भाग में हिन्दी का प्रयोग स्वाभाविक रूप से अनेक बोलियों के माध्यम से होता है। बोलीपरक अनेकरूपता में कुछ ऐतिहासिक कारण हैं तो कुछ क्षेत्रीय। हिन्दी की चहुँमुखी व्याप्ति का सीमांकन डॉ. ग्रियर्सन आदि भाषाविदों ने किया है किन्तु अब वह अतिक्रमित हो चुका है। इसे पश्चिम में अम्बाला से लेकर पूर्व में वाराणसी तक और उत्तर में नैनीताल की तलहटी से लेकर दक्षिण में बालाघाट तक की परिधि में आबद्ध नहीं किया जा सकता। अब तो भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक हिन्दी प्रसरित है। यह जरूर है कि हिन्दी-प्रदेश में ही उसकी बोलियाँ विविध शैलियों का ताना-बाना धारण करती रही हैं। अत: क्षेत्रीय आधार पर हिन्दी की प्रमुख बोलियों का वर्गीकरण निम्नवत् किया जा सकता है–

(क) पूर्वी हिन्दी:

1. अवधी
2. बघेली
3. छत्तीसगढ़ी

(ख) पश्चिमी हिन्दी:

1. ब्रजभाषा
2. खड़ीबोली
3. कन्नौजी
4. बाँगरू (हरियानी)
5. बुन्देली

22.2 पूर्वी हिंदी

22.2.1 अवधी

यह अवध प्रान्त की बोली रही है। अवध का अर्थ अयोध्या नहीं करना चाहिए। अयोध्या नगरवाची शब्द है जबकि अवध या अवधी प्रान्तवाची। प्राचीन अवध प्रान्त का विस्तार 84 कोस में माना जाता है। अवधी के प्रयोग-क्षेत्र में आने वाले मुख्य वर्तमान जनपद हैं– फैजाबाद, गोंडा, बहराइच, बाराबंकी, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, लखीमपुर, लखनऊ, उन्नाव, सीतापुर, रायबरेली आदि।

हिन्दी के सूफी एवं रामकाव्य अवधी में मिलते हैं। अवधी को साहित्यिक भाषा का आस्तित्व दिलाने में तुलसी एवं जायसी के विशेष योग रहा है। 'रामचरितमानस' की रचना कर तुलसी ने तथा 'पद्मावत' की रचना कर जायसी ने अवधी के मानक निर्मित किए। अवधी-भाषी क्षेत्र का परिमाण दीर्घ है। अवधी के प्रयोक्ता 2 करोड़ से अधिक हैं। अवधी को 'कोसली' और 'बैसवाड़ी' नामों से भी जानते हैं।

(क) अवधी में संज्ञा के तीन रूप मिलते हैं, जैसे घोड़ा, घोड़ौना। अर्थात् इसमें लघु, दीर्घ एवं दीर्घतर-तीन रूप विद्यमान हैं।

(ख) हिन्दी का कर्त्ता-परसर्ग 'ने' अवधी में नहीं है।

(ग) अवधी में व्यंजनांत संज्ञा पदों के एकवचन वाले रूप उकार युक्त हो जाते हैं, जैसे- बनु, घरु, बरु, धनु, तनु आदि।

(घ) अवधी में दन्त्य 'स' प्रयुक्त होता है। तालव्य 'श' और मूर्धन्य 'ष' नहीं हैं।

नोट

(ङ) इस भाषा में क्रियापादों के शब्दान्त में प्राय: 'ब' का प्रयोग होता है, जैसे-देखब, जाइब, करब, खाइब, कहब, सोइब, पढ़ब आदि। अत: ऐसा भी कह सकते हैं कि अवधी अकारान्त बहुला है जबकि खड़ीबोली आकारान्त।

(च) अवधी में शब्दान्त और मध्यभाग में आने वाला 'ल' प्राय: 'र' में परिवर्तित हो जाता है, जैसे-झोली-झोरी, सोलह-सोरह, मूसल-मूसर आदि।

(छ) वर्तमानकालिक क्रिया 'हैं' एवं 'हूं' के स्थान पर अवधी में 'अहै' एवं 'बाटै' हो जाता है।

(ज) भविष्यकालिक क्रिया 'ना' एवं 'गा' के स्थान पर अवधी में 'हैं' एवं 'ब' का प्रयोग होता है, जैसे-'करिहैं' एवं 'करब' आदि।

क्या आप जानते हैं सूफी कवि जायसी ने पद्मावत महाकाव्य की रचना 'अवधी' में की है।

22.2.2 बघेली

बघेल-क्षेत्रियों एवं बघेल-खण्ड में प्रचलित होने के कारण इसे बघेली कहते हैं। इसका केन्द्रीय प्रयोग-क्षेत्र रीवाँ है। भाषिक स्तर पर इसे 'रीवाँई' भी कहा जाता है।

बघेली के प्रयोग अवधी के दक्षिणी भाग में लक्षित होते हैं। इस बोली का स्वरूप बहुत कुछ अवधी से मिलता जुलता है। नगमा, सितलह, दमोह, जबलपुर, माण्डला तथा बालाघाट जनपदों में बघेली बोली जाती है। बघेली का कोई साहित्य नहीं मिलता, परन्तु लोकसाहित्य की दृष्टि से इसकी सम्पन्नता असंदिग्ध है। बघेली के प्रयोक्ता लगभग 70 लाख हैं।

वैशिष्ट्र्य:

(क) बघेली में 'क्या' के स्थान पर 'काह' का प्रयोग मिलता है।

(ख) इस बोली की ध्वन्यात्मक संरचना में ध्यातव्य बात है कि अवधी के 'ओ' और 'ए' यहाँ 'वा' और 'या' हो जाते हैं।

(ग) बघेली का 'हा' विशेषण एक पृथक् और प्रचलित प्रयोग है, जैसे-'नीकहा'।

(घ) बघेली में 'कउनी' का प्रयोग धड़ल्ले से चलता है। यह खड़ीबोली के 'कोई' का प्रतिरूप है।

22.2.3 छत्तीसगढ़ी

छत्तीसगढ़ी इसका केन्द्रीय रूप है। आशय यह है कि छत्तीसगढ़ इस बोली का प्रायोगिक केन्द्र हैं छत्तीसगढ़ी के अन्य अनेक नाम भी हैं-लरिया, खल्टाही, खटोली आदि।

भाषा-सर्वेक्षण के अनुसार छत्तीसगढ़ी भाषा-भाषियों, की संख्या 33 लाख है किन्तु सम्प्रति यह संख्या 40 से 42 लाख तक पहुँच गई है साहित्य-रचना की दृष्टि से यह बोली प्रसिद्ध नहीं है। हाँ, लोकसाहित्य में इसके प्रयोग अवश्य हुए हैं। यह बोली विलासपुर, रायपुर, उदयपुर, चाँदा के उत्तरी भाग, सारंगगढ़ नंदगाँव, जयपुर एवं बस्तर में बोली जाती है।

वैशिष्ट्य:

(क) व्याकरणिक दृष्टि से छत्तीसगढ़ी की प्रधान विशेषता 'मन' के संयोग से संज्ञा के बहुवचन-रूप की है। जैसे-एकवचन मनुख (मनुष्य) का बहुवचन मनुखमन (मनुष्यों)।

(ख) कहीं-कहीं इसकी ध्वनियाँ महाप्राण-युक्त होती हैं। जैसे-दौड़-धौड़;, जन-झन आदि।

(ग) छत्तीसगढ़ी पर ब्रज-बुन्देली के प्रभाव अधिक हैं। जैसे-पुरानी ब्रजी 'मँह' छत्तीसगढ़ी में 'माँ' रूप में प्रयुक्त होता है।

(घ) निश्चयार्थक संज्ञापदों के साथ छत्तीसगढ़ी में 'हर' का प्रयोग होता हैं। जैसे 'गर' (गर्दन) का निश्चयार्थक प्रयोग 'गर-हर' होता है।

नोट

(ङ) छत्तीसगढ़ी में कर्त्ता 'ने' का प्रयोग नहीं मिलता है। इस बोली के अधिकरण में 'माँ', 'पै', 'पर', प्रयुक्त होते हैं।

टास्क खड़ी बोली हिंदी के उद्भव पर एक नोट लिखिए।

22.3 पश्चिमी हिन्दी की बोलियाँ

22.3.1 ब्रजभाषा

इसका एक नाम अन्तर्वेदी भी है। ब्रजी की अन्य उपबोलियों में 'भुस्सा' तथा 'सिकरवाड़ी' के नाम प्रसिद्ध हैं। राजस्थान में ब्रजी को 'पिंगल' नाम से भी पुकारते हैं।

साहित्यिक भाषा के रूप में ब्रजी की सीमाएँ बड़ी हैं। मथुरा इसका केन्द्र है। दक्षिण में यह आगरा, भरतपुर, धौलपुर तथा करौली तक व्याप्त है। ग्वालियर के पश्चिमी भाग तथा जयपुर के पूर्वी भाग इसी भाषा की सीमा में हैं। उत्तर में गुड़गाँव का पूर्वी हिस्सा ब्रजभाषा-युक्त है। साथ ही उत्तर-पूर्व में इसकी सीमाएँ दोआब तक, बुलन्दशहर, अलीगढ़, एटा तथा गंगा-पार तक बरेली एवं नैनीताल के तराई क्षेत्रों तक पहुँचती है।

डॉ. धीरेन्द्र वर्मा के अन्वेषण से ज्ञात होता है कि ब्रजभाषा लगभग 28 हजार वर्गमील भूमि में व्यवहृत होती है।

साहित्य-सृजन की दृष्टि से ब्रजभाषा सबसे समृद्ध है। मध्ययुगीन सम्पूर्ण भक्ति साहित्य या तो अवधी की छाप लिए है या ब्रजी की। लहर इन्हीं दोनों की रही है तथापि ब्रजी की साहित्यिक कृतियाँ अवधी से सघन हैं। अवधी की पहचान तुलसी और जायसी कराते हैं तो ब्रजी का परिचय देने के लिए सूर, नन्ददास, केशव, सेनापति, देव, मतिराम, बिहारी, घनानन्द, ठाकुर, पद्माकर आदि अनेक कवि उपस्थित होते हैं। यही नहीं, आधुनिक युग का आरम्भ भी ब्रजी की स्वीकृति के साथ होता है। इस युग के ब्रज-भाषा-सर्जकों में भारतेन्दु, रत्नाकर, सत्यनारायण 'कविरत्न', रामशंकर शुक्ल 'रसाल' एवं द्विजेश आदि उल्लेख्य हैं।

वैशिष्ट्य:

(क) ब्रजी में, प्रमुख सर्वनाम 'मैं' के स्थान पर 'हौं' का प्रयोग मिलता है।

(ख) अवधी की तरह ब्रजी में भी तालव्य 'श' और मूर्धन्य 'ष' नहीं मिलते हैं। इनकी जगह केवल दन्त्य 'स' उल्लिखित हुआ है।

(ग) खड़ीबोली की सहायक क्रियाएँ-था, थे, थी ब्रजी में हो, हे, ही के रूप में मिलती हैं।

(घ) ब्रजी में ऐ, औ जैसे ध्वन्यात्क माधुर्य हैं जो खड़ीबोली में ए, ओ के रूप में विकसित हैं।

(ङ) ब्रजी में बहुवचन बनाने की एक कलात्मक रीति है। 'न' प्रत्यय जोड़कर ऐसे कई प्रयोग हुए हैं, जैसे-घोड़ो से घोड़न्।

(च) अतीतकालिक 'था' के लिए ब्रजी में हौ तथा हुतौ के प्रयोग मिलते हैं।

(छ) आकारान्त खड़ीबोली के शब्द ब्रजी में ओकारान्त और औकारान्त के रूप में लक्षित होते हैं, जैसे-खाया-खायो, सिखाया-सिखायौ आदि।

(ज) ब्रजी की कतिपय महत्त्वपूर्ण मधुर ध्वनियों में 'छ' अधिक ग्राह्य और व्यंजक है। जैसे-'छछिया भर छाछ', 'छाती चोहन छबै लागी' 'छोह लगत मोको' आदि।

(झ) भविष्यकालिक प्रयोगों में ब्रजी के 'गौ' अथवा 'इह' प्रसिद्ध हैं।

(ञ) ब्रजी के अधिकरण-प्रयोग अनेकविध मिलते हैं। जैसे-पै, तलक, तक लगि। कहीं-कहीं खड़ी-बोली 'में' का प्रयोग भी ब्रजी-अधिकरण में लक्षित किया जा सकता है।

22.3.2 खड़ीबोली

नोट

हिन्दी की बोलियों में खड़ीबोली की सीमा सबसे दीर्घ है। इसके दर्शन अपभ्रंश-साहित्य तक में होते हैं। साथ ही आदिकालीन काव्य एवं मध्ययुगीन काव्य भी इसके संस्पर्श से वंचित नहीं हैं। यह जरूर है कि इन कालखण्डों की खड़ीबोली पुराने जमाने की रही है। जो परिनिष्ठित नहीं थी। आधुनिक काल तो इसका विशाल क्षितिज है जहाँ इसके विविध कलात्मक नमूने विकसित हो रहे हैं।

खड़ीबोली के समानधर्मा अन्य नाम हैं-सरहिन्दी, हिन्दुस्तानी, कौरवी, नागरी-हिन्दी आदि। आज तक इसके उपलब्ध अन्य नामों में प्रसिद्ध हैं साधु-हिन्दी, नई हिन्दी, हिन्दोस्तानी, हिन्दवी, रेख्ता, मानक हिन्दी, परिनिष्ठित हिन्दी, सर्जनात्मक हिन्दी, राज्यभाषा हिन्दी आदि।

नामकरण के औचित्य पर प्रकाश डालते हुए डॉ. सत्यनारायण त्रिपाठी मानते हैं कि ध्वनियों की कर्कशता एवं खड़खड़ाहट के कारण इसका नाम खड़ीबोली है। खड़ीबोली को खड़ीपाई से विकसित मानते हुए आचार्य किशोरीदास बाजपेयी का कहना है कि इसकी एक मुख्य विशेषता संस्कृत-विसर्गों से विकसित शब्दान्त की खड़ीपाई (जैसे-संस्कृत उष: से हिन्दी उषा) है।

आज खड़ीबोली हिन्दी भारत के प्रत्येक प्रान्त और जनपद का प्रतिनिधित्त्व करने में क्रियाशील, है। परन्तु शुरू में बोलचाल की भाषा के रूप में यह जिन क्षेत्रों या जनपदों में प्रचलित रही है उनमें प्रमुख हैं- रामपुर, बिजनौर, मेरठ, मुरादाबाद, मुज्फ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून आदि। खड़ीबोली का आद्य-रूप खरी या परिनिष्ठित हिन्दी है जिनमें विशाल साहित्य-सृजन हो रहा है।

वैशिष्ट्य:

(क) खड़ीबोली का प्रधान वैशिष्ट्य आकारान्तता है। जैसे-खाना, जाना, पढ़ना, लिखना आदि।

(ख) खड़ी बोली का दूसरा प्रमुख वैशिष्ट्य कारकीय विभक्तियों का पार्थक्य है, जैसे ने, को, से, के लिए आदि।

(ग) 'अन' प्रत्यय का प्रयोग खड़ीबोली की एक अन्य विशेषता है। जैसे-अनदेखा, अनपढ़ आदि।

(घ) शब्द-प्रयोग की दृष्टि से खड़ीबोली में तत्समपरकता एवं अरबी, फारसी, बहुलता है।

(ङ) खड़ी बोली में 'न' की जगह प्राय: 'ण' का प्रयोग होता है। जैसे-गनेश-गणेश, गनपति-गणपति इत्यादि।

(च) खड़ीबोली की आज्ञासूचक भाषिकता कुछ कर्कश और अप्रिय लगती है, जैसे-खाओ, पढ़ो, जाओ, हटो आदि।

(छ) इस बोली में बलाघात युक्त दीर्घस्वर के बाद का व्यंजन कभी-कभी द्वित्व हो जाता है और कभी-कभी दीर्घस्वर ह्रस्व भी हो जाता हैं जैसे-गड्डी, गाड्डी (गाडी), जात्ता (जाता) एवं बेटठा (बेटा) आदि।

नोट्स वर्तमान साहित्य खड़ी-बोली हिदी में रचा जा रहा है। पूर्वी हिंदी की बोली भोजपुरी में भी साहित्य सृजन हो रहा है। बिहार तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश का एक बड़ा वर्ग भोजपुरी लेखन से भी जुड़ने का प्रयास कर रहा है।

22.3.3 कन्नौजी

कन्नौज प्रदेश की भाषा होने के कारण इसे कन्नौजी कहते हैं। यह अवधी और ब्रजभाषा के मध्य की उपभाषा कही जाती है। इसके अन्य नाम हैं-कनउजी, कनौजी इत्यादि।

हरदोई, शाहजहांपुर, पीलीभीत, फर्रुखाबाद, इटावा एवं कानपुर आदि जिलों में इसके प्रयोग देखे जा सकते हैं। कन्नौजी-क्षेत्र साहित्यिक दृष्टि से ब्रजी के आधीन रहा है इसलिए इसमें साहित्य सृजन न्यून है।

वैशिष्ट्यः

(क) कन्नौजी में संज्ञा एवं सर्वनाम रूपों के बहुवचन में 'ह्वार' का प्रयोग उसका निजी वैशिष्ट्य है। जैसे–हिन्दी का 'हम लोग' कन्नौजी में 'हमह्वार'–रूप में प्रयुक्त होता है।

(ख) खड़ीबोजी एकवचन घोड़ा, जोड़ा आदि कनौजी में घोड़ौ, जोड़ौ के रूप में प्रयुक्त होते हैं। अतः यह बोली औकारान्त के नमूने भी रखती है।

(ग) व्यंजनांत पुल्लिंग शब्दों का अवधी की तरह कन्नौजी में भी उकारान्त हो जाता है, जैसे–मन–मनु, घर–घरु, तन–तनु, धन–धनु आदि।

(घ) अकारण अनुनासिकता की प्रवृत्ति कन्नौजी की निजी किन्तु विचित्र विशेषता है जैसे नैं, हैं, गैं, ऐं आदि।

(ङ) कनौजी की उल्लेखनीय विशेषता कर्त्ताकारक 'ने' की है। यह खड़ीबोली की तरह यथावत् प्रयुक्त होता है। जबकि अन्य विभक्तियाँ अनेकविध प्रयुक्त होती हैं, जैसे–करण में–से, सेती, अपादान में–करि, करिक, अधि करण में लौं मों पर, में आदि।

स्व-मूल्यांकन

सही विकल्प चुनिए–

1. हिंदी का कर्त्ता परसर्ग ने .... में नहीं है।
2. हिंदी का प्रश्नवाचक 'क्या' बुन्देली में .... जाता है।
3. अवधी में केवल दन्त्य 'स' का प्रयोग होता है .... और मूर्धन्य 'ष' का प्रयोग नहीं है।
4. तुलसीदास ने रामचरित मानस की रचना .... भाषा में की है।

22.3.4 बाँगरू (हरियानवी)

बाँगर देशीय बोली होने के कारण यह बाँगरू कहलाती है। इसे 'जाटू' या 'हरियानी' भी कहते हैं। हिन्दी–भाषा की पश्चिमी सीमा पर बोली जाने के कारण इसे 'सरहदी' भी कहते हैं। भाषाविद् इसे 'अहीर' से सम्बद्ध करते हैं। इसके अन्य नाम हैं–देसड़ी, देसवाली, चमरवा आदि।

लोकसाहित्य की दृष्टि से समृद्ध यह बोली कुछ अधिक महत्त्व रखती है। इसके प्रायोगिक रूप खड़ीबोली के आसपास मिलते हैं। गरीबदास (कबीर के शिष्य) की बानियों में बाँगरू के प्रभाव लक्षित होते है अतः साहित्यिक दृष्टि से भी यह निर्धन नहीं है। भाषा–क्षेत्र की दृष्टि से करनाल, रोहतक, पटियाला, नाभा, हिसार तथा दिल्ली आदि जिले इससे सम्बद्ध है।

वैशिष्ट्यः

(क) बाँगरू में दीर्घ व्यंजन की प्रवृत्ति प्रमुखता से लक्षित होती है। जैसे माँगे–माँग्गै, जाते–जात्तै आदि।

(ख) वर्तमान कालिक सहायक क्रिया हूँ, है की जगह बाँगरू में सूँ, सै हो जाते हैं।

(ग) प्रश्नावाचक 'कौन' बाँगरू में 'कौण' हो जाता है और अनिश्चयवाचक 'कोई' बाँगरू में 'को', 'कोऊ' होता है।

(घ) बाँगरू में भी खड़ीबोली की तरह भविष्यकलिक क्रियारूपों के निर्माण 'गा' लगकर होते हैं। जैसे–मांरूगा–मारांगा।

(ङ) बाँगरू में खड़ीबोली की तरह 'न' के स्थान पर 'ण' की प्रयोग विधि मिलती है। जैसे–जौन–जौण–कौन, कौण, तौन–तौण आदि।

22.3.5 बुन्देली

नोट

बुन्देलखण्ड की उपभाषा के नाम से पहचानी जाने वाली बोली बुन्देली है इसकी उपबोलियों में पँवारी, खटोला एवं बनाफरी आदि प्रसिद्ध हैं। शौरसेनी अपभ्रन्श से विकसिक बुन्देली या बुन्देलखण्डी में नागरी लिपि का पर्याप्त प्रसार मिलता है। डॉ. ग्रियर्सन मानते हैं कि बुन्देली के प्रयोक्ता लगभग 69 लाख हैं यह सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड एवं पूर्वी ग्वालियर की मुख्य बोली है। अन्य स्थानों पर तो इसके मिश्रित रूप मिलते हैं किन्तु शुद्ध-बुन्देली क्षेत्र हैं- झांसी, जालौन, हमीरपुर, भोपाल, ओड़छा एवं सागर।

साहित्यिक महत्त्व की दृष्टि से बुन्देली कम प्रसिद्ध नहीं है। लाल कवि ने बुन्देली में ही साहित्य रचना की है। बुन्देलखण्ड ने अपनी बोली के अनेक कवियों को जना है जिन्होंने हिन्दी के श्री संवर्द्धन में ख्याति अर्जित की है। जैसे-केशव, ठाकुर मतिराम और पद्माकर आदि। इस बोली की ठेठ प्रकृति को कवि गंगाधर ने अपने प्रेम-काव्य में मन से अपनाया है।

बुन्देली का लोकसाहित्य कुछ और ही चटक है। इसकी ही एक उपबोली का नाम 'बनाफरी' है। हिन्दी क्षेत्र का प्रसिद्ध लोकगाथा काव्य 'आल्हखण्ड' मूलतः बनाफरी की रचना मानी जाती है।

वैशिष्ट्य:

(क) बुन्देली का प्रमुख वैशिष्ट्य उसके निजी शब्द प्रयोग हैं। जैसे-दाई (पितामही), भोभी (भाभी), कनिही (चाची) इत्यादि।

(ख) संबन्धवाचक 'जी' और 'जिस' बुन्देली में 'जौन' और 'जेहि' हो जाते हैं।

(ग) प्रश्नवाचक 'क्या' बुन्देली में 'कहा' हो जाता है।

(घ) 'ने' अपने विशिष्ट रूप में जस का तस विद्यमान है।

(ङ) प्रायः 'ङ' ध्वनि 'र' के रूप में प्रयुक्त होती है। जैसे पड़ा-परा, झगड़ा-झगरा, आदि।

(च) बुन्देली में 'ङ' ध्वनि का लोप मिलता है।

(छ) बुन्देली की स्वर-संख्या 10 है।

(ज) उच्च हिन्दी के-था, थे, थी, थीं, बुन्देली में हतो, हते, हती, हतीं के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

(झ) व्यंजनान्त या अकारांत पुल्लिंग संज्ञा पद कर्त्ता एकवचन में खड़ीबोली में अविकृत रहते हैं। जबकि बुन्देली-संवर्ग में उकारांत हो जाते हैं। जैसे-घर-घरु, किंतु बहुवचन में 'अन्' प्रत्यय जुड़कर इसमें 'घरों' से 'घरन्' बन जाता है। इसी प्रकार 'घोड़ों' से 'घोड़न्' और 'तालों' से 'तालन्' बनते है।

22.4 सारांश

हिन्दी-क्षेत्र अति विस्तीर्ण है। ढाई लाख वर्गमील से अधिक क्षेत्र में फैली जनसंख्या द्वारा हिन्दी का प्रयोग होता है। इतने बड़े भू-भाग में हिन्दी का प्रयोग स्वाभाविक रूप से अनेक बोलियों के माध्यम से होता है। बोलीपरक अनेकरूपता में कुछ ऐतिहासिक कारण हैं तो कुछ क्षेत्रीय।

(क) पूर्वी हिन्दी: 1. अवधी, 2. बघेली, 3. छत्तीसगढ़ी

(ख) पश्चिमी हिन्दी: 1. ब्रजभाषा, 2. खड़ीबोली, 3. कन्नौजी, 4. बाँगरू (हरियानी), 5. बुन्देली

(ग) बिहारी हिन्दी: 1. भोजपुरी, 2. मगही, 3. मैथिली

नोट

(घ) राजस्थानी हिन्दी: 1. मारवाड़ी, 2. जयपुरी, 3. मेवाती, 4. मालवी

(ङ) पहाड़ी हिन्दी: 1. कुमाऊनी, 2. गढ़वाली

पूर्वी हिन्दी की बोलियाँ

अवधी–यह अवध प्रान्त की बोली रही है। अवध का अर्थ अयोध्या नहीं करना चाहिए। नगरवाची शब्द है जबकि अबध या अवधी प्रान्तवाची। मुख्य वर्तमान जनपद हैं- फैजाबाद, गोंडा, बहराइच, बाराबंकी, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, लखीमपुर, लखनऊ, उन्नाव, सीतापुर, रायबरेली आदि। अवधी को साहित्यिक भाषा का आस्तित्व दिलाने में तुलसी एवं जायसी के विशेष योग रहा है।

बघेली–बघेल-क्षेत्रियों एवं बघेल-खण्ड में प्रचलित होने के कारण इसे बघेली कहते हैं। इसका केन्द्रीय प्रयोग-क्षेत्र रीवाँ है। भाषिक स्तर पर इसे 'रीवाँई' भी कहा जाता है।

छत्तीसगढ़ी–छत्तीसगढ़ी इसका केन्द्रीय रूप है। आशय यह है कि छत्तीसगढ़ इस बोली का प्रायोगिक केन्द्र हैं छत्तीसगढ़ी के अन्य अनेक नाम भी हैं-लरिया, खल्टाही, खटोली आदि। यह बोली विलासपुर, रायपुर, उदयपुर, चाँदा के उत्तरी भाग, सारंगगढ़ नंदगाँव, जयपुर एवं बस्तर में बोली जाती है।

पश्चिमी हिन्दी की बोलियाँ

ब्रजभाषा–इसका एक नाम अन्तर्वेदी भी है। ब्रजी की अन्य उपबोलियों में 'भुस्सा' तथा 'सिकरवाड़ी' के नाम प्रसिद्ध हैं। राजस्थान में ब्रजी को 'पिंगल' नाम से भी पुकारते हैं। साहित्यिक भाषा के रूप में ब्रजी की सीमाएँ बड़ी हैं। मथुरा इसका केन्द्र है। अवधी की पहचान तुलसी और जायसी कराते हैं तो ब्रजी का परिचय देने के लिए सूर, नन्ददास, केशव, सेनापति, देव, मतिराम, बिहारी, घनानन्द, ठाकुर, पद्माकर आदि अनेक कवि उपस्थित होते हैं। यही नहीं, आधुनिक युग का आरम्भ भी ब्रजी की स्वीकृति के साथ होता है। इस युग के ब्रज-भाषा-सर्जकों में भारतेन्दु, रत्नाकर, सत्यनारायण 'कविरत्न', रामशंकर शुक्ल 'रसाल' एवं द्विजेश आदि उल्लेख्य हैं।

खड़ीबोली–हिन्दी की बोलियों में खड़ीबोली की सीमा सबसे दीर्घ है। इसके दर्शन अपभ्रंश-साहित्य तक में होते हैं। साथ ही आदिकालीन काव्य एवं मध्ययुगीन काव्य भी इसके संस्पर्श से वंचित नहीं हैं। बोलचाल की भाषा के रूप में यह जिन क्षेत्रों या जनपदों में प्रचलित रही है उनमें प्रमुख हैं- रामपुर, बिजनौर, मेरठ, मुरादाबाद, मुज्फ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून आदि। खड़ीबोली का आद्य-रूप खरी या परिनिष्ठित हिन्दी है जिनमें विशाल साहित्य-सृजन हो रहा है।

कन्नौजी–कन्नौज प्रदेश की भाषा होने के कारण इसे कन्नौजी कहते हैं। यह अवधी और ब्रजभाषा के मध्य की उपभाषा कही जाती है। इसके अन्य नाम हैं-कनउजी, कनौजी इत्यादि। न्नौजी-क्षेत्र साहित्यिक दृष्टि से ब्रजी के आधीन रहा है इसलिए इसमें साहित्य सृजन न्यून है।

बाँगरू (हरियानवी)–बाँगर देशीय बोली होने के कारण यह बाँगरू कहलाती है। लोकसाहित्य की दृष्टि से समृद्ध यह बोली कुछ अधिक महत्त्व रखती है। इसके प्रायोगिक रूप खड़ीबोली के आसपास मिलते हैं। गरीबदास (कबीर के शिष्य) की बानियों में बाँगरू के प्रभाव लक्षित होते है अत: साहित्यिक दृष्टि से भी यह निर्धन नहीं है। भाषा-क्षेत्र की दृष्टि से करनाल, रोहतक, पटियाला, नाभा, हिसार तथा दिल्ली आदि जिले इससे सम्बद्ध है।

बुन्देली–बुन्देलखण्ड की उपभाषा के नाम से पहचानी जाने वाली बोली बुन्देली है इसकी उपबोलियों में पँवारी, खटोला एवं बनाफरी आदि प्रसिद्ध हैं। शौरसेनी अपभ्रन्श से विकसिक बुन्देली या बुन्देलखण्डी में नागरी लिपि का पर्याप्त प्रसार मिलता है। साहित्यिक महत्त्व की दृष्टि से बुन्देली कम प्रसिद्ध नहीं है। लाल कवि ने बुन्देली में ही साहित्य रचना की है। हिन्दी क्षेत्र का प्रसिद्ध लोकगाथा काव्य 'आल्हखण्ड' मूलत: बनाफरी की रचना मानी जाती है।

22.5 शब्दकोश

1. **तलहटी–** तराई
2. **विस्तीर्ण–** विस्तृत

नोट

22.6 अभ्यास-प्रश्न

1. पूर्वी हिंदी की बोलियाँ एवं उनके विस्तार क्षेत्र पर प्रकाश डालिए।
2. पश्चिमी हिंदी की बोलियाँ एवं उनमें रचित साहित्य का उल्लेख कीजिए।

उत्तरः स्व-मूल्यांकन

1. अवधी, छत्तीसगढ़ी 2. कहा 3. तालव्य 'श' 4. 'अवधी'

22.7 संदर्भ पुस्तकें

1. *भाषा और भाषा विज्ञान–* गरिमा श्रीवास्तव, संजय प्रकाशन, दिल्ली
2. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा–* नरेश मिश्र, संजय प्रकाशन, दिल्ली
3. *मानक हिंदी का स्वरूप–* डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली

इकाई 23: हिंदी की प्रमुख बोलियाँ

नोट

अनुक्रमणिका

नोट

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- हिंदी की बोलियों से परिचित होंगे,

प्रस्तावना

भाषा के विकास का इतिहास देखा जाय तो मिलेगा कि बोली से उपभाषा और उपभाषा से भाषा तक का स्वरूप ग्रहण करने में बोलियों को अनेक अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। अतः बिहारी, राजस्थानी और पहाड़ी जैसी उपभाषाओं को भाषा के स्वतन्त्र अस्तित्व तक पहुँचने में अभी विलम्ब है। ऐसी स्थिति में पूर्वी हिन्दी एवं पश्चिची हिन्दी के साथ-साथ राजस्थानी, बिहारी तथा पहाड़ी को स्वतन्त्र भाषा की संज्ञा न देकर इन्हें हिन्दी भाषा के अन्तर्गत समेटते हुए समग्र में 'हिन्दी भाषा-समूह' कहना उपयुक्त होगा।

23.1 हिन्दी की प्रमुख बोलियों का परिचय

हिन्दी-क्षेत्र अति विस्तीर्ण है। ढाई लाख वर्गमील से अधिक क्षेत्र में फैली जनसंख्या द्वारा हिन्दी का प्रयोग होता है। इतने बड़े भू-भाग में हिन्दी का प्रयोग स्वाभाविक रूप से अनेक बोलियों के माध्यम से होता है। बोलीपरक अनेकरूपता में कुछ ऐतिहासिक कारण हैं तो कुछ क्षेत्रीय। हिन्दी की चहुँमुखी व्याप्ति का सीमांकन डॉ. ग्रियर्सन आदि भाषाविदों ने किया है किन्तु अब वह अतिक्रमित हो चुका है। इसे पश्चिम में अम्बाला से लेकर पूर्व में वाराणसी तक और उत्तर में नैनीताल की तलहटी से लेकर दक्षिण में बालाघाट तक की परिधि में आबद्ध नहीं किया जा सकता। अब तो भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक हिन्दी प्रसरित है। यह जरूर है कि हिन्दी-प्रदेश में ही उसकी बोलियाँ विविध शैलियों का ताना-बाना धारण करती रही हैं। अतः क्षेत्रीय आधार पर हिन्दी की प्रमुख बोलियों का वर्गीकरण निम्नवत् किया जा सकता है-

(क) पूर्वी हिन्दी:

1. अवधी
2. बघेली
3. छत्तीसगढ़ी

(ख) पश्चिमी हिन्दी:

1. ब्रजभाषा
2. खड़ीबोली
3. कन्नौजी
4. बाँगरू (हरियानी)
5. बुन्देली

(ग) बिहारी हिन्दी:

1. भोजपुरी
2. मगही
3. मैथिली

(घ) राजस्थानी हिन्दी:

1. मारवाड़ी

नोट

2. जयपुरी
3. मेवाती
4. मालवी

(ङ) पहाड़ी हिन्दी:

1. कुमाऊनी
2. गढ़वाली

23.2 पूर्वी हिन्दी की बोलियाँ

23.2.1 अवधी

यह अवध प्रान्त की बोली रही है। अवध का अर्थ अयोध्या नहीं करना चाहिए। अयोध्या नगरवाची शब्द है जबकि अबध या अवधी प्रान्तवाची। प्राचीन अवध प्रान्त का विस्तार 84 कोस में माना जाता है। अवधी के प्रयोग-क्षेत्र में आने वाले मुख्य वर्तमान जनपद हैं- फैजाबाद, गोंडा, बहराइच, बाराबंकी, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, लखीमपुर, लखनऊ, उन्नाव, सीतापुर, रायबरेली आदि।

हिन्दी के सूफी एवं रामकाव्य अवधी में मिलते हैं। अवधी को साहित्यिक भाषा का आस्तित्व दिलाने में तुलसी एवं जायसी के विशेष योग रहा है। 'रामचरितमानस' की रचना कर तुलसी ने तथा 'पद्मावत' की रचना कर जायसी ने अवधी के मानक निर्मित किए। अवधी-भाषी क्षेत्र का परिमाण दीर्घ है। अवधी के प्रयोक्ता 2 करोड़ से अधिक हैं। अवधी को 'कोसली' और 'बैसवाड़ी' नामों से भी जानते है।

(क) अवधी में संज्ञा के तीन रूप मिलते हैं, जैसे घोड़ा, घोड़ौना। अर्थात् इसमें लघु, दीर्घ एवं दीर्घतर-तीन रूप विद्यमान हैं।

(ख) हिन्दी का कर्त्ता-परसर्ग 'ने' अवधी में नहीं है।

(ग) अवधी में व्यंजनांत संज्ञा पदों के एकवचन वाले रूप उकार युक्त हो जाते हैं, जैसे- बनु, घरु, बरु, धनु, तनु आदि।

(घ) अवधी में दन्त्य 'स' प्रयुक्त होता है। तालव्य 'श' और मूर्धन्य 'ष' नहीं हैं।

(ङ) इस भाषा में क्रियापादों के शब्दान्त में प्राय: 'ब' का प्रयोग होता है, जैसे-देखब, जाइब, करब, खाइब, कहब, सोइब, पढ़ब आदि। अत: ऐसा भी कह सकते हैं कि अवधी अकारान्त बहुला है जबकि खड़ीबोली आकारान्त।

(च) अवधी में शब्दान्त और मध्यभाग में आने वाला 'ल' प्राय: 'र' में परिवर्तित हो जाता है, जैसे-झोली-झोरी, सोलह-सोरह, मूसल-मूसर आदि।

(छ) वर्तमानकालिक क्रिया 'हैं' एवं 'हूं' के स्थान पर अवधी में 'अहै' एवं 'बाटै' हो जाता है।

(ज) भविष्यकालिक क्रिया 'ना' एवं 'गा' के स्थान पर अवधी में 'हैं' एवं 'ब' का प्रयोग होता है, जैसे-'करिहैं' एवं 'करब' आदि।

23.2.2 बघेली

बघेल-क्षेत्रियों एवं बघेल-खण्ड में प्रचलित होने के कारण इसे बघेली कहते हैं। इसका केन्द्रीय प्रयोग-क्षेत्र रीवाँ है। भाषिक स्तर पर इसे 'रीवाँई' भी कहा जाता है।

बघेली के प्रयोग अवधी के दक्षिणी भाग में लक्षित होते हैं। इस बोली का स्वरूप बहुत कुछ अवधी से मिलता जुलता है। नगमा, सितलह, दमोह, जबलपुर, माण्डला तथा बालाघाट जनपदों में बघेली बोली जाती है। बघेली का कोई साहित्य नहीं मिलता, परन्तु लोकसाहित्य की दृष्टि से इसकी सम्पन्नता असंदिग्ध है। बघेली के प्रयोक्ता लगभग 70 लाख हैं।

नोट

वैशिष्ट्र्यः

(क) बघेली में 'क्या' के स्थान पर 'काह' का प्रयोग मिलता है।

(ख) इस बोली की ध्वन्यात्मक संरचना में ध्यातव्य बात है कि अवधी के 'ओ' और 'ए' यहाँ 'वा' और 'या' हो जाते हैं।

(ग) बघेली का 'हा' विशेषण एक पृथक् और प्रचलित प्रयोग है, जैसे-'नीकहा'।

(घ) बघेली में 'कउनी' का प्रयोग धड़ल्ले से चलता है। यह खड़ीबोली के 'कोई' का प्रतिरूप है।

23.2.3 छत्तीसगढ़ी

छत्तीसगढ़ी इसका केन्द्रीय रूप है। आशय यह है कि छत्तीसगढ़ इस बोली का प्रायोगिक केन्द्र हैं छत्तीसगढ़ी के अन्य अनेक नाम भी हैं-लरिया, खल्टाही, खटोली आदि।

भाषा-सर्वेक्षण के अनुसार छत्तीसगढ़ी भाषा-भाषियों, की संख्या 33 लाख है किन्तु सम्प्रति यह संख्या 40 से 42 लाख तक पहुँच गई है साहित्य-रचना की दृष्टि से यह बोली प्रसिद्ध नहीं है। हाँ, लोकसाहित्य में इसके प्रयोग अवश्य हुए हैं। यह बोली विलासपुर, रायपुर, उदयपुर, चाँदा के उत्तरी भाग, सारंगगढ़ नंदगाँव, जयपुर एवं बस्तर में बोली जाती है।

वैशिष्ट्यः

(क) व्याकरणिक दृष्टि से छत्तीसगढ़ी की प्रधान विशेषता 'मन' के संयोग से संज्ञा के बहुवचन-रूप की है। जैसे-एकवचन मनुख (मनुष्य) का बहुवचन मनुखमन (मनुष्यों)।

(ख) कहीं-कहीं इसकी ध्वनियाँ महाप्राण-युक्त होती हैं। जैसे-दौड़-धौड़;, जन-झन आदि।

(ग) छत्तीसगढ़ी पर ब्रज-बुन्देली के प्रभाव अधिक हैं। जैसे-पुरानी ब्रजी 'मँह' छत्तीसगढ़ी में 'माँ' रूप में प्रयुक्त होता है।

(घ) निश्चयार्थक संज्ञापदों के साथ छत्तीसगढ़ी में 'हर' का प्रयोग होता हैं। जैसे 'गर' (गर्दन) का निश्चयार्थक प्रयोग 'गर-हर' होता है।

(ङ) छत्तीसगढ़ी में कर्त्ता 'ने' का प्रयोग नहीं मिलता है। इस बोली के अधिकरण में 'माँ', 'पै', 'पर', प्रयुक्त होते हैं।

23.3 पश्चिमी हिन्दी की बोलियाँ

23.3.1 ब्रजभाषा

इसका एक नाम अन्तर्वेदी भी है। ब्रजी की अन्य उपबोलियों में 'भुस्सा' तथा 'सिकरवाड़ी' के नाम प्रसिद्ध हैं। राजस्थान में ब्रजी को 'पिंगल' नाम से भी पुकारते हैं।

साहित्यिक भाषा के रूप में ब्रजी की सीमाएँ बड़ी हैं। मथुरा इसका केन्द्र है। दक्षिण में यह आगरा, भरतपुर, धौलपुर तथा करौली तक व्याप्त है। ग्वालियर के पश्चिमी भाग तथा जयपुर के पूर्वी भाग इसी भाषा की सीमा में हैं। उत्तर में गुड़गाँव का पूर्वी हिस्सा ब्रजभाषा-युक्त है। साथ ही उत्तर-पूर्व में इसकी सीमाएँ दोआब तक, बुलन्दशहर, अलीगढ़, एटा तथा गंगा-पार तक बरेली एवं नैनीताल के तराई क्षेत्रों तक पहुँचती है।

डॉ. धीरेन्द्र वर्मा के अन्वेषण से ज्ञात होता है कि ब्रजभाषा लगभग 28 हजार वर्गमील भूमि में व्यवहृत होती है।

साहित्य-सृजन की दृष्टि से ब्रजभाषा सबसे समृद्ध है। मध्ययुगीन सम्पूर्ण भक्ति साहित्य या तो अवधी की छाप लिए है या ब्रजी की। लहर इन्हीं दोनों की रही है तथापि ब्रजी की साहित्यिक कृतियाँ अवधी से सघन हैं। अवधी की पहचान तुलसी और जायसी कराते हैं तो ब्रजी का परिचय देने के लिए सूर, नन्ददास, केशव, सेनापति, देव, मतिराम, बिहारी, घनानन्द, ठाकुर, पद्माकर आदि अनेक कवि उपस्थित होते हैं। यही नहीं, आधुनिक युग का आरम्भ भी ब्रजी की

स्वीकृति के साथ होता है। इस युग के ब्रज-भाषा-सर्जकों में भारतेन्दु, रत्नाकर, सत्यनारायण 'कविरत्न', रामशंकर शुक्ल 'रसाल' एवं द्विजेश आदि उल्लेख्य हैं।

क्या आप जानते हैं राजस्थान में ब्रज को ही 'पिंगल' नाम से पुकारा जाता है।

वैशिष्ट्यः

(क) ब्रजी में, प्रमुख सर्वनाम 'मैं' के स्थान पर 'हौं' का प्रयोग मिलता है।

(ख) अवधी की तरह ब्रजी में भी तालव्य 'श' और मूर्धन्य 'ष' नहीं मिलते हैं। इनकी जगह केवल दन्त्य 'स' उल्लिखित हुआ है।

(ग) खड़ीबोली की सहायक क्रियाएँ-था, थे, थी ब्रजी में हो, हे, ही के रूप में मिलती हैं।

(घ) ब्रजी में ऐ, औ जैसे ध्वन्यात्क माधुर्य हैं जो खड़ीबोली में ए, ओ के रूप में विकसित हैं।

(ङ) ब्रजी में बहुवचन बनाने की एक कलात्मक रीति है। 'न' प्रत्यय जोड़कर ऐसे कई प्रयोग हुए हैं, जैसे-घोड़ो से घोड़न्।

(च) अतीतकालिक 'था' के लिए ब्रजी में हौ तथा हुतौ के प्रयोग मिलते हैं।

(छ) आकारान्त खड़ीबोली के शब्द ब्रजी में ओकारान्त और औकारान्त के रूप में लक्षित होते हैं, जैसे-खाया-खायो, सिखाया-सिखायौ आदि।

(ज) ब्रजी की कतिपय महत्त्वपूर्ण मधुर ध्वनियों में 'छ' अधिक ग्राह्य और व्यंजक है। जैसे-'छछिया भर छाछ', 'छाती चोहन छबै लागी' 'छोह लगत मोको' आदि।

(झ) भविष्यकालिक प्रयोगों में ब्रजी के 'गौ' अथवा 'इह' प्रसिद्ध हैं।

(ञ) ब्रजी के अधिकरण-प्रयोग अनेकविध मिलते हैं। जैसे-पै, तलक, तक लगि। कहीं-कहीं खड़ी-बोली 'में' का प्रयोग भी ब्रजी-अधिकरण में लक्षित किया जा सकता है।

23.3.2 खड़ीबोली

हिन्दी की बोलियों में खड़ीबोली की सीमा सबसे दीर्घ है। इसके दर्शन अपभ्रंश-साहित्य तक में होते हैं। साथ ही आदिकालीन काव्य एवं मध्ययुगीन काव्य भी इसके संस्पर्श से वंचित नहीं हैं। यह जरूर है कि इन कालखण्डों की खड़ीबोली पुराने जमाने की रही है। जो परिनिष्ठित नहीं थी। आधुनिक काल तो इसका विशाल क्षितिज है जहाँ इसके विविध कलात्मक नमूने विकसित हो रहे हैं।

खड़ीबोली के समानधर्मा अन्य नाम हैं-सरहिन्दी, हिन्दुस्तानी, कौरवी, नागरी-हिन्दी आदि। आज तक इसके उपलब्ध अन्य नामों में प्रसिद्ध हैं साधु-हिन्दी, नई हिन्दी, हिन्दोस्तानी, हिन्दवी, रेख्ता, मानक हिन्दी, परिनिष्ठित हिन्दी, सर्जनात्मक हिन्दी, राज्यभाषा हिन्दी आदि।

नामकरण के औचित्य पर प्रकाश डालते हुए डॉ. सत्यनारायण त्रिपाठी मानते हैं कि ध्वनियों की कर्कशता एवं खड़खड़ाहट के कारण इसका नाम खड़ीबोली है। खड़ीबोली को खड़ीपाई से विकसित मानते हुए आचार्य किशोरीदास बाजपेयी का कहना है कि इसकी एक मुख्य विशेषता संस्कृत-विसर्गों से विकसित शब्दान्त की खड़ीपाई (जैसे-संस्कृत उषः से हिन्दी उषा) है।

आज खड़ीबोली हिन्दी भारत के प्रत्येक प्रान्त और जनपद का प्रतिनिधित्त्व करने में क्रियाशील, है। परन्तु शुरू में बोलचाल की भाषा के रूप में यह जिन क्षेत्रों या जनपदों में प्रचलित रही है उनमें प्रमुख हैं- रामपुर, बिजनौर, मेरठ, मुरादाबाद, मुज्फ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून आदि। खड़ीबोली का आद्य-रूप खरी या परिनिष्ठित हिन्दी है जिनमें

नोट

विशाल साहित्य-सृजन हो रहा है।

वैशिष्ट्यः

(क) खड़ीबोली का प्रधान वैशिष्ट्य आकारान्तता है। जैसे-खाना, जाना, पढ़ना, लिखना आदि।

(ख) खड़ी बोली का दूसरा प्रमुख वैशिष्ट्य कारकीय विभक्तियों का पार्थक्य है, जैसे ने, को, से, के लिए आदि।

(ग) 'अन' प्रत्यय का प्रयोग खड़ीबोली की एक अन्य विशेषता है। जैसे-अनदेखा, अनपढ़ आदि।

(घ) शब्द-प्रयोग की दृष्टि से खड़ीबोली में तत्समपरकता एवं अरबी, फारसी, बहुलता है।

(ङ) खड़ी बोली में 'न' की जगह प्रायः 'ण' का प्रयोग होता है। जैसे-गनेश-गणेश, गनपति-गणपति इत्यादि।

(च) खड़ीबोली की आज्ञासूचक भाषिकता कुछ कर्कश और अप्रिय लगती है, जैसे-खाओ, पढ़ो, जाओ, हटो आदि।

(छ) इस बोली में बलाघात युक्त दीर्घस्वर के बाद का व्यंजन कभी-कभी द्वित्व हो जाता है और कभी-कभी दीर्घस्वर ह्रस्व भी हो जाता हैं जैसे-गड्डी, गाड्डी (गाडी), जात्ता (जाता) एवं बेटठा (बेटा) आदि।

नोट्स

वर्तमान साहित्य खड़ी-बोली हिंदी में रचा जा रहा है। पूर्वी हिंदी की बोली भोजपुरी में भी साहित्य सृजन हो रहा है। बिहार तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश का एक बड़ा वर्ग भोजपुरी लेखन से भी जुड़ने का प्रयास कर रहा है।

23.3.3 कन्नौजी

कन्नौज प्रदेश की भाषा होने के कारण इसे कन्नौजी कहते हैं। यह अवधी और ब्रजभाषा के मध्य की उपभाषा कही जाती है। इसके अन्य नाम हैं-कनउजी, कनौजी इत्यादि।

हरदोई, शाहजहांपुर, पीलीभीत, फर्रुखाबाद, इटावा एवं कानपुर आदि जिलों में इसके प्रयोग देखे जा सकते हैं। कन्नौजी-क्षेत्र साहित्यिक दृष्टि से ब्रजी के आधीन रहा है इसलिए इसमें साहित्य सृजन न्यून है।

वैशिष्ट्यः

(क) कन्नौजी में संज्ञा एवं सर्वनाम रूपों के बहुवचन में 'ह्यर' का प्रयोग उसका निजी वैशिष्ट्य है। जैसे-हिन्दी का 'हम लोग' कन्नौजी में 'हमह्यर'-रूप में प्रयुक्त होता है।

(ख) खड़ीबोजी एकवचन घोड़ा, जोड़ा आदि कनौजी में घोड़ौ, जोड़ौ के रूप में प्रयुक्त होते हैं। अतः यह बोली औकारान्त के नमूने भी रखती है।

(ग) व्यंजनांत पुल्लिग शब्दों का अवधी की तरह कन्नौजी में भी उकारान्त हो जाता है, जैसे-मन-मनु, घर-घरु, तन-तनु, धन-धनु आदि।

(घ) अकारण अनुनानिसकता की प्रवृत्ति कन्नौजी की निजी किन्तु विचित्र विशेषता है जैसे नैं, हैं, गैं, ऐं आदि।

(ङ) कनौजी की उल्लेखनीय विशेषता कर्त्ताकारक 'ने' की है। यह खड़ीबोली की तरह यथावत् प्रयुक्त होता है। जबकि अन्य विभक्तियाँ अनेकविध प्रयुक्त होती हैं, जैसे-करण में-से, सेती, अपादान में-करि, करिक, अधि करण में लौं मों पर, में आदि।

23.3.4 बाँगरू (हरियानवी)

बाँगर देशीय बोली होने के कारण यह बाँगरू कहलाती है। इसे 'जाटू' या 'हरियानी' भी कहते हैं। हिन्दी-भाषा की पश्चिमी सीमा पर बोली जाने के कारण इसे 'सरहदी' भी कहते हैं। भाषाविद् इसे 'अहीर' से सम्बद्ध करते हैं। इसके अन्य नाम हैं-देसड़ी, देसवाली, चमरवा आदि।

लोकसाहित्य की दृष्टि से समृद्ध यह बोली कुछ अधिक महत्त्व रखती है। इसके प्रायोगिक रूप खड़ीबोली के आसपास मिलते हैं। गरीबदास (कबीर के शिष्य) की बानियों में बाँगरू के प्रभाव लक्षित होते है अतः साहित्यिक दृष्टि से भी यह निर्धन नहीं है। भाषा-क्षेत्र की दृष्टि से करनाल, रोहतक, पटियाला, नाभा, हिसार तथा दिल्ली आदि जिले इससे सम्बद्ध है।

वैशिष्ट्यः

(क) बाँगरू में दीर्घ व्यंजन की प्रवृत्ति प्रमुखता से लक्षित होती है। जैसे माँगे-माँग्गै, जाते-जात्तै आदि।

(ख) वर्तमान कालिक सहायक क्रिया हूँ, है की जगह बाँगरू में सूँ, सै हो जाते हैं।

(ग) प्रश्नावाचक 'कौन' बाँगरू में 'कौण' हो जाता है और अनिश्चयवाचक 'कोई' बाँगरू में 'को', 'कोऊ' होता है।

(घ) बाँगरू में भी खड़ीबोली की तरह भविष्यकलिक क्रियारूपों के निर्माण 'गा' लगकर होते हैं। जैसे-मांरूगा-मारांगा।

(ङ) बाँगरू में खड़ीबोली की तरह 'न' के स्थान पर 'ण' की प्रयोग विधि मिलती है। जैसे-जौन-जौण-कौन, कौण, तौन-तौण आदि।

23.3.5 बुन्देली

बुन्देलखण्ड की उपभाषा के नाम से पहचानी जाने वाली बोली बुन्देली है इसकी उपबोलियों में पँवारी, खटोला एवं बनाफरी आदि प्रसिद्ध हैं। शौरसेनी अपभ्रन्श से विकसिक बुन्देली या बुन्देलखण्डी में नागरी लिपि का पर्याप्त प्रसार मिलता है। डॉ. ग्रियर्सन मानते हैं कि बुन्देली के प्रयोक्ता लगभग 69 लाख हैं यह सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड एवं पूर्वी ग्वालियर की मुख्य बोली है। अन्य स्थानों पर तो इसके मिश्रित रूप मिलते हैं किन्तु शुद्ध-बुन्देली क्षेत्र हैं- झांसी, जालौन, हमीरपुर, भोपाल, ओड़छा एवं सागर।

साहित्यिक महत्त्व की दृष्टि से बुन्देली कम प्रसिद्ध नहीं है। लाल कवि ने बुन्देली में ही साहित्य रचना की है। बुन्देलखण्ड ने अपनी बोली के अनेक कवियों को जना है जिन्होंने हिन्दी के श्री संवर्द्धन में ख्याति अर्जित की है। जैसे-केशव, ठाकुर मतिराम और पद्माकर आदि। इस बोली की ठेठ प्रकृति को कवि गंगाधर ने अपने प्रेम-काव्य में मन से अपनाया है। बुन्देली का लोकसाहित्य कुछ और ही चटक है। इसकी ही एक उपबोली का नाम 'बनाफरी' है। हिन्दी क्षेत्र का प्रसिद्ध लोकगाथा काव्य 'आल्हखण्ड' मूलतः बनाफरी की रचना मानी जाती है।

वैशिष्ट्यः

(क) बुन्देली का प्रमुख वैशिष्ट्य उसके निजी शब्द प्रयोग हैं। जैसे-दाई (पितामही), भोभी (भाभी), कनिही (चाची) इत्यादि।

(ख) संबन्धवाचक 'जी' और 'जिस' बुन्देली में 'जौन' और 'जेहि' हो जाते हैं।

(ग) प्रश्नवाचक 'क्या' बुन्देली में 'कहा' हो जाता है।

(घ) 'ने' अपने विशिष्ट रूप में जस का तस विद्यमान है।

(ङ) प्रायः 'ङ' ध्वनि 'र' के रूप में प्रयुक्त होती है। जैसे पड़ा-परा, झगड़ा-झगरा, आदि।

(च) बुन्देली में 'ङ' ध्वनि का लोप मिलता है।

(छ) बुन्देली की स्वर-संख्या 10 है।

(ज) उच्च हिन्दी के-था, थे, थी, थीं, बुन्देली में हतो, हते, हती, हतीं के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

(झ) व्यंजनान्त या अकारांत पुल्लिग संज्ञा पद कर्त्ता एकवचन में खड़ीबोली में अविकृत रहते हैं। जबकि बुन्देली-संवर्ग में उकारांत हो जाते हैं। जैसे-घर-घरु, किंतु बहुवचन में 'अन्' प्रत्यय जुड़कर इसमें 'घरों' से 'घरन्' बन जाता है। इसी प्रकार 'घोड़ों' से 'घोड़न्' और 'तालों' से 'तालन्' बनते है।

नोट

स्व-मूल्यांकन

सही विकल्प चुनिए–

1. खड़ी बोली किस हिंदी क्षेत्र के अंतर्गत आती है–
   (क) बिहारी हिंदी (ख) पूर्वी हिंदी (ग) पश्चिमी हिंदी
2. आदिकालीन कवि विद्यापति ने बिहारी हिंदी की किस बोली में साहित्य रचना की–
   (क) मैथिली (ख) भोजपुरी (ग) मगही
3. राजस्थानी हिंदी की उपबोली मारवाड़ी का साहित्यिक नाम है–
   (क) डिंगल (ख) पिंगल (ग) ब्रज
4. खड़ी बोली को खड़ी पाई से विकसित किस भाषा वैज्ञानिक ने कहा है–
   (क) राम बाबू सक्सेना (ख) किशोरीदास वाजपेयी (ग) श्यामसुंदर दास

23.4 बिहारी हिन्दी की बोलियाँ

23.4.1 भोजपुरी

शाहाबाद जिले (बिहार प्रान्त) के भोजपुर कस्बे में (प्रमुख रूप से) व्यवहृत होने के कारण इसका नाम भोजपुरी पड़ा। इस सन्दर्भ में एक ऐतिहासिक प्रमाण भी मिलता है। कहा जाता है। कि राजा भोज के वंशज मल्ल जनपद में आकर बस गये तथा उन्होंने वहीं नया राज्य कायम किया। इस राज्य की राजधानी का नाम भोजपुर था। अत: भोजपुर में बोली जाने वाली भाषा भोजपुरी कहलाई।

भोजपुरी का क्षेत्र बिहार का पश्चिमी तथा उत्तर प्रदेश का पूर्वी भाग हैं यह बिहार के चम्पारन, सारन और शाहाबाद जिलों तथा उत्तर प्रदेश के गोरखपुर, बस्ती, देवरिया, आजमगढ़, जौनपुर, बलिया गाजीपुर, तथा बनारस आदि जिलों में खूब प्रचलित हैं

भोजपुरी की लिपि देवनागरी है। पुराने पढ़े-लिखे जन कैथीलिपि का भी प्रयोग करते हैं। भोजपुरी में पुराना साहित्य तो कम है किन्तु इधर दो दशक से अच्छे साहित्य का यह प्रतिमान रही है। आकाशवाणी और दूरदर्शन ने इसे अधिक प्रश्रय दिया है। लोकसाहित्य की दृष्टि से भोजपुरी को निजी भाषिक शक्ति अर्जित है। पूर्वांचल के लोकगीत, जैसे-कजरी, बिरहा, फगुआ, सोहर आदि इस भाषा की समृद्धि के धरोहर है। इस क्षेत्र की रामलीलाओं एवं नौटंकियों में भोजपुरी के अच्छे और अर्थवान शब्द-प्रयोग मिलते हैं। भोजपुरी की लोकोक्तियाँ एवं कहावतें कम चटक नहीं हैं।

23.4.2 मगही

'मगही' का परिष्कृत शब्द है मागधी। अर्थात् मगध-प्रान्तीय बोलियाँ मगही के नाम से ख्यात हैं। इस बोली का क्षेत्र विस्तार पटना और गया जनपदों से संबंद्ध है। भाषाशास्त्रीय दृष्टि से भोजपुरी और मगही में कम अन्तर है। साहित्य-सृजन की दृष्टि से यह भाषा निर्धन है। इसमें लोकसाहित्य के नमूने अवश्य मल जाएंगें।

23.4.3 मैथिली

इसका केन्द्र दरभंगा है। बिहार प्रान्त के चम्पारन और सारन जिलों को छोड़कर अन्य जिलों में मैथिली के प्रयोग मिलते हैं। वैसे, विशुद्ध मैथिली का प्रचलन दरभंगा, मुजफ्फरपुर, पूर्णिया, उत्तरी मुंगेर तथा उत्तरी भागलपुर जिलों में है।

मैथिली का एक नाम 'तिरहुतिया' भी है। मैथिली की अन्य बोलियाँ हैं- उत्तरी मैथिली, दक्षिणी मैथली, पूर्वी मैथिली एवं छिकाछिकी आदि। मैथिली के प्रमुख कवि हैं-विद्यापति।

नोट

टास्क महुआ टी.वी. चैनल हिंदी की किस बोली में प्रसारित हो रहा है।

23.5 राजस्थानी हिन्दी की बोलियाँ

23.5.1 मारवाड़ी

इसे 'पश्चिमी राजस्थानी' भी कहते हैं। मारवाड़ की भाषा होने के कारण इसे मारवाड़ी कहते हैं। मारवाड़ी का साहित्यिक रूप 'डिंगल' के नाम से जाना जाता है। मारवाड़ी को 'अगरवाला' भी कहते हैं। यह अरावली के पश्चिमी तथा दक्षिण भागों में और इसके अतिरिक्त जोधपुर, जैसलमेर, उदयपुर एवं बीकानेर आदि जनपदों में बोली जाती है।

साहित्यिक दृष्टि से मारवाड़ी समृद्ध है। सम्पूर्ण राजस्थानी साहित्य प्रायः इस बोली के साहित्यिक रूप डिंगल में उपलब्ध है।

23.5.2 जयपुरी

यह जयपुर तथा कोटा-बूँदी क्षेत्रों में बोली जाती है। इसे 'ढुँढाड़ी' नाम से भी जानते हैं। इसके अन्य नाम हैं-'झाड़साही बोली' तथा 'कांई कुंई की बोली' जयपुरी की दो प्रधान शाखाएँ हैं- (क) पूर्वी राजस्थान की जयपुरी (ख) हड़ौती। साहित्यिक दृष्टि से यह समृद्ध नहीं है। दादूपंथी साहित्य के कुछ नमूने जयपुरी में मिलते हैं।

23.5.3 मेवाती

यह उत्तरी राजस्थान के अलवर राज्य एवं पूर्वी पंजाब के दक्षिणी भाग में गुड़गाँव जिले के निकटवर्ती स्थानों में प्रयुक्त होती है। इसकी एक उपबोली है 'अहीरबाटी'। मेवाती पर ब्रजी और खड़ीबोली के अधिक प्रभाव हैं। साहित्य-सृजन की दृष्टि से यह शून्य है।

23.5.4 मालवी

मालवा के आसपास प्रयुक्त होने के कारण यह बोली 'मालवी' कहलाती है। परिनिष्ठित मालवी का दूसरा नाम 'अहौरी' भी है। मध्यप्रदेश का इन्दौर जनपद इसका केन्द्रीय क्षेत्र है। साहित्यिक महत्त्व की दृष्टि से इसका नाम अनुल्लेख्य है। चन्द्रसखी की कुछ कविताएं इस बोली का कुछ नमूना अवश्य पेश करती हैं।

23.6 पहाड़ी हिन्दी की बोलियाँ

पहाड़ी हिन्दी की बोलियाँ का भौगोलिक विभाजन तीन संवर्गों में किया जा सकता है-

पश्चिमी, पूर्वी एवं मध्यवर्ती। किन्तु हिन्दी-भाषा क्षेत्र की दृष्टि से मात्र दो बोलियाँ पहाड़ी हिन्दी का प्रतिनिधित्व करती है।

23.6.1 कुमाऊनी

इसका प्रयोग अल्मोड़ा और नैनीताल में होता है। इसका साहित्यिक महत्त्व नगण्य है।

23.6.2 गढ़वाली

गढ़वाल तथा मंसूरी के आसपास बोली जाने वाली बोलियाँ गढ़वाली कही जाती हैं। इसका भी साहित्यिक महत्त्व नहीं है।

इन बोलियों की लिपियाँ नागरी से अधिक साम्य रखती हैं। एक नाम प्रसिद्ध है कवि गुमानी का, जिनकी कविताएँ उक्त बोलियों का अनुभव कराती है।

नोट

23.7 सारांश

हिन्दी-क्षेत्र अति विस्तीर्ण है। ढाई लाख वर्गमील से अधिक क्षेत्र में फैली जनसंख्या द्वारा हिन्दी का प्रयोग होता है। इतने बड़े भू-भाग में हिन्दी का प्रयोग स्वाभाविक रूप से अनेक बोलियों के माध्यम से होता है। बोलीपरक अनेकरूपता में कुछ ऐतिहासिक कारण हैं तो कुछ क्षेत्रीय।

(क) पूर्वी हिन्दी: 1. अवधी,2. बघेली,3. छत्तीसगढ़ी

(ख) पश्चिमी हिन्दी: 1. ब्रजभाषा, 2. खड़ीबोली, 3. कन्नौजी, 4. बाँगरू (हरियानी), 5. बुन्देली

(ग) बिहारी हिन्दी: 1. भोजपुरी, 2. मगही, 3. मैथिली

(घ) राजस्थानी हिन्दी: 1. मारवाड़ी, 2. जयपुरी, 3. मेवाती, 4. मालवी

(ङ) पहाड़ी हिन्दी: 1. कुमाऊनी, 2. गढ़वाली

पूर्वी हिन्दी की बोलियाँ

अवधी—यह अवध प्रान्त की बोली रही है। अवध का अर्थ अयोध्या नहीं करना चाहिए। नगरवाची शब्द है जबकि अबध या अवधी प्रान्तवाची। मुख्य वर्तमान जनपद हैं- फैजाबाद, गोंडा, बहराइच, बाराबंकी, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, लखीमपुर, लखनऊ, उन्नाव, सीतापुर, रायबरेली आदि। अवधी को साहित्यिक भाषा का आस्तित्व दिलाने में तुलसी एवं जायसी के विशेष योग रहा है।

बघेली—बघेल-क्षेत्रियों एवं बघेल-खण्ड में प्रचलित होने के कारण इसे बघेली कहते हैं। इसका केन्द्रीय प्रयोग-क्षेत्र रीवाँ है। भाषिक स्तर पर इसे 'रीवाँई' भी कहा जाता है।

छत्तीसगढ़ी—छत्तीसगढ़ी इसका केन्द्रीय रूप है। आशय यह है कि छत्तीसगढ़ इस बोली का प्रायोगिक केन्द्र हैं छत्तीसगढ़ी के अन्य अनेक नाम भी हैं-लरिया, खल्टाही, खटोली आदि। यह बोली विलासपुर, रायपुर, उदयपुर, चाँदा के उत्तरी भाग, सारंगगढ़ नंदगाँव, जयपुर एवं बस्तर में बोली जाती है।

पश्चिमी हिन्दी की बोलियाँ

ब्रजभाषा—इसका एक नाम अन्तर्वेदी भी है। ब्रजी की अन्य उपबोलियों में 'भुस्सा' तथा 'सिकरवाड़ी' के नाम प्रसिद्ध हैं। राजस्थान में ब्रजी को 'पिंगल' नाम से भी पुकारते हैं। साहित्यिक भाषा के रूप में ब्रजी की सीमाएँ बड़ी हैं। मथुरा इसका केन्द्र है। अवधी की पहचान तुलसी और जायसी कराते हैं तो ब्रजी का परिचय देने के लिए सूर, नन्ददास, केशव, सेनापति, देव, मतिराम, बिहारी, घनानन्द, ठाकुर, पद्माकर आदि अनेक कवि उपस्थित होते हैं। यही नहीं, आधुनिक युग का आरम्भ भी ब्रजी की स्वीकृति के साथ होता है। इस युग के ब्रज-भाषा-सर्जकों में भारतेन्दु, रत्नाकर, सत्यनारायण 'कविरत्न', रामशंकर शुक्ल 'रसाल' एवं द्विजेश आदि उल्लेख्य हैं।

खड़ीबोली—हिन्दी की बोलियों में खड़ीबोली की सीमा सबसे दीर्घ है। इसके दर्शन अपभ्रंश-साहित्य तक में होते हैं। साथ ही आदिकालीन काव्य एवं मध्ययुगीन काव्य भी इसके संस्पर्श से वंचित नहीं हैं। बोलचाल की भाषा के रूप में यह जिन क्षेत्रों या जनपदों में प्रचलित रही है उनमें प्रमुख हैं- रामपुर, बिजनौर, मेरठ, मुरादाबाद, मुज्फ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून आदि। खड़ीबोली का आद्य-रूप खरी या परिनिष्ठित हिन्दी है जिनमें विशाल साहित्य-सृजन हो रहा है।

कन्नौजी—कन्नौज प्रदेश की भाषा होने के कारण इसे कन्नौजी कहते हैं। यह अवधी और ब्रजभाषा के मध्य की उपभाषा कही जाती है। इसके अन्य नाम हैं-कनउजी, कनौजी इत्यादि। न्नौजी-क्षेत्र साहित्यिक दृष्टि से ब्रजी के आधीन रहा है इसलिए इसमें साहित्य सृजन न्यून है।

बाँगरू (हरियानवी)—बाँगर देशीय बोली होने के कारण यह बाँगरू कहलाती है। लोकसाहित्य की दृष्टि से समृद्ध यह बोली कुछ अधिक महत्त्व रखती है। इसके प्रायोगिक रूप खड़ीबोली के आसपास मिलते हैं। गरीबदास (कबीर के शिष्य) की बानियों में बाँगरू के प्रभाव लक्षित होते है अत: साहित्यिक दृष्टि से भी यह निर्धन नहीं है। भाषा-क्षेत्र की दृष्टि से करनाल, रोहतक, पटियाला, नाभा, हिसार तथा दिल्ली आदि जिले इससे सम्बद्ध है।

नोट

बुन्देली

बुन्देलखण्ड की उपभाषा के नाम से पहचानी जाने वाली बोली बुन्देली है इसकी उपबोलियों में पँवारी, खटोला एवं बनाफरी आदि प्रसिद्ध हैं। शौरसेनी अपभ्रन्श से विकसिक बुन्देली या बुन्देलखण्डी में नागरी लिपि का पर्याप्त प्रसार मिलता है। साहित्यिक महत्त्व की दृष्टि से बुन्देली कम प्रसिद्ध नहीं है। लाल कवि ने बुन्देली में ही साहित्य रचना की है। हिन्दी क्षेत्र का प्रसिद्ध लोकगाथा काव्य 'आल्हखण्ड' मूलत: बनाफरी की रचना मानी जाती है।

बिहारी हिन्दी की बोलियाँ

भोजपुरी

शाहाबाद जिले (बिहार प्रान्त) के भोजपुर कस्बे में (प्रमुख रूप से) व्यवहृत होने के कारण इसका नाम भोजपुरी पड़ा। इस सन्दर्भ में एक ऐतिहासिक प्रमाण भी मिलता है। कहा जाता है। कि राजा भोज के वंशज मल्ल जनपद में आकर बस गये तथा उन्होंने वहीं नया राज्य कायम किया। इस राज्य की राजधानी का नाम भोजपुर था। अत: भोजपुर में बोली जाने वाली भाषा भोजपुरी कहलाई।

मगही

'मगही' का परिष्कृत शब्द है मागधी। अर्थात् मगध-प्रान्तीय बोलियाँ मगही के नाम से ख्यात हैं। इस बोली का क्षेत्र विस्तार पटना और गया जनपदों से संबंद्ध है।

मैथिली

इसका केन्द्र दरभंगा है। बिहार प्रान्त के चम्पारन और सारन जिलों को छोड़कर अन्य जिलों में मैथिली के प्रयोग मिलते हैं। वैसे, विशुद्ध मैथिली का प्रचलन दरभंगा, मुजफ्फरपुर, पूर्णिया, उत्तरी मुंगेर तथा उत्तरी भागलपुर जिलों में है।

राजस्थानी हिन्दी की बोलियाँ

मारवाड़ी

इसे 'पश्चिमी राजस्थानी' भी कहते हैं। मारवाड़ की भाषा होने के कारण इसे मारवाड़ी कहते हैं। मारवाड़ी का साहित्यिक रूप 'डिंगल' के नाम से जाना जाता है।

जयपुरी

यह जयपुर तथा कोटा-बूँदी क्षेत्रों में बोली जाती है। जयपुरी की दो प्रधान शाखाएँ हैं- (क) पूर्वी राजस्थान की जयपुरी (ख) हड़ौती।

मेवाती

यह उत्तरी राजस्थान के अलवर राज्य एवं पूर्वी पंजाब के दक्षिणी भाग में गुड़गाँव जिले के निकटवर्ती स्थानों में प्रयुक्त होती है। इसकी एक उपबोली है 'अहीरबाटी'। मेवाती पर ब्रजी और खड़ीबोली के अधिक प्रभाव हैं। साहित्य-सृजन की दृष्टि से यह शून्य है।

मालवी

मालवा के आसपास प्रयुक्त होने के कारण यह बोली 'मालवी' कहलाती है। साहित्यिक महत्त्व की दृष्टि से इसका नाम अनुल्लेख्य है।

पहाड़ी हिन्दी की बोलियाँ

पहाड़ी हिन्दी की बोलियाँ का भौगोलिक विभाजन तीन संवर्गों में किया जा सकता है-

कुमाऊनी

इसका प्रयोग अल्मोड़ा और नैनीताल में होता है। इसका साहित्यिक महत्त्व नगण्य है।

गढ़वाली–गढ़वाल तथा मंसूरी के आसपास बोली जाने वाली बोलियाँ गढ़वाली कही जाती हैं। इसका भी साहित्यिक महत्त्व नहीं है।

23.8 शब्दकोश

2. **कर्कश**– कठोर, निर्दय
3. **असंदिग्ध**– संदेहरहित, निश्चित, पक्का
4. **दोआब**– दो नदियों के बीच की जमीन

23.9 अभ्यास-प्रश्न

1. पूर्वी हिंदी की बोलियों का परिचय दीजिए।
2. पश्चिमी हिंदी की बोलियों का परिचय दीजिए।
3. बिहारी हिंदी को बोलियाँ एवं उनके प्रयोग क्षेत्र पर प्रकाश डालिए।
4. राजस्थानी हिंदी पर एक संक्षिप्त नोट लिखिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन

1. (ग) **2.** (क) **3.** (क) **4.** (ख)

23.10 संदर्भ पुस्तकें

1. *भाषा और भाषा विज्ञान*– गरिमा श्रीवास्तव, संजय प्रकाशन, दिल्ली
2. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा*– नरेश मिश्र, संजय प्रकाशन, दिल्ली
3. *मानक हिंदी का स्वरूप*– डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली

इकाई 24: संपर्क भाषा, राष्ट्रभाषा

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- संपर्क भाषा को समझने में।
- राष्ट्रभाषा के स्वरूप से परिचित होंगे।

प्रस्तावना

मनुष्य भाषिक प्राणी है, यद्यपि हर जीव अपने अंतर की अभिव्यक्ति प्रकाशन के लिए किसी-न-किसी संकेत प्रणाली को अपनाता है, परन्तु भाषिक प्रणाली ईश्वर की ओर से मनुष्य को दी गई अमूल्य संपदा और धरोहर है। मनुष्य जाति के सांस्कृतिक विकास में इस भाषा का आधारभूत योगदान रहा है, परन्तु सांस्कृतिक विकास के अनुरूप भाषिक विकास के भी विभिन्न चरण देखे गए है। प्रस्थानिक स्वरूप मौखिक ही होता है, यही भाषा का मौलिक स्वरूप भी होता है। यहाँ संपर्क भाषा एवं राष्ट्र भाषा के स्वरूप का विस्तार से उल्लेख किया जा रहा है।

24.1 संपर्क भाषा

संपर्क भाषा शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के लिंग्वा फ्रेंका (Lingua Franca) के प्रतिशब्द के रूप में किया जाता है। 'लिंग्वा फ्रेंका' से तात्पर्य है, लोक बोली अथवा सामान्य बोली। जिस भाषा के माध्यम से एक क्षेत्र के लोग देश के अन्य क्षेत्रों के निवासियों से अथवा एक भाषा के बोलने वाले लोग अन्य भाषा-भाषियों से अपने विचारों का आदान-प्रदान करते हैं, उसे लिंग्वा फ्रेंका अथवा संपर्क भाषा कहा जाता है।

भारत विभिन्नताओं का देश है। यहाँ भाषाओं की संख्या सैकड़ों में है। बाइस भाषाएँ तो संविधान की अष्टम सूची में ही उल्लिखित हैं। इस दृष्टि में यहाँ संपर्क भाषा का विशेष महत्त्व है। भारत के इतिहास का अवलोकन करें तो हम पाते हैं कि यहाँ युगों से 'मध्य देश' की भाषा सारे देश की माध्यम भाषा अथवा संपर्क भाषा रही है। संस्कृत, पालि अथवा प्राकृत किसी क्षेत्र-विशेष तक सीमित नहीं थीं। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार यास्क के समय में संस्कृत

नोट

उत्तर में कम्बोज (मध्य एशिया के पामेर पर्वत के निकट) से लेकर पूर्व में कलिंग के सूरमस (असम की सूरमस नदी) प्रदेश तक बोली जाती थी (पाणिनी और उसका शास्त्र)। पाणिनी के समय तक भी संस्कृत के प्रसार का यह क्षेत्र लगभग इतना ही था। पाणिनी ने प्राच्य-शरावती के दक्षिण पूर्व कलिंग-बंग तक-उदीच्च-शरावती के पश्चिमोत्तर से गान्धार तक के विस्तृत भूभाग की भाषा को शिष्ट एवं व्याकरण सम्म्त भाषा कहा है।

पतंजलि के समय तक यद्यपि शकों, यवनों आदि की विजयों के कारण उत्तर में आर्यों का क्षेत्र सीमित हो चला था पर संस्कृत का क्षेत्र दक्षिण तक जा पहुँचा था।

तमिलभाषी प्रदेशों में 200 ई. से ही संस्कृत राजभाषा के रूप में स्वीकार कर ली गई थी। शिक्षा, दीक्षा, प्रशासकीय और सांस्कृतिक कार्यों में ही नहीं वरन शिष्ट काव्य और शास्त्रों के प्रणयन में भी संस्कृत भाषा का प्रयोग होने लगा था। स्पष्ट है कि तमिल प्रदेशों ने संस्कृत को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार कर लिया था।

हिंदी को संस्कृत की यह परंपरा विरासत के रूप में मिली है। डॉ. सूर्य प्रसाद दीक्षित के अनुसार, "गौतमबुद्ध से लेकर मध्काल तक के सभी शासकों, संतों व समाज-सुधारकों ने जनसंपर्क के लिए जनभाषा का उपयोग किया। हिंदी साहित्य का आरंभ करने वाले सिद्धों, जैनियों और नाथपंथी योगियों ने आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक समस्त भारत में घूम-घूमकर एक ऐसी संपर्क भाषा का विकास किया जिसमें भारत की सभी भाषाओं के बहुप्रचलित शब्दों के लिए प्रवेश द्वार खुला हुआ था। यह समन्वित भाषा थी 'हिंदी'। "

हिंदी अपने उद्‌भव के समय से ही हिंदू-मुस्लिम, पूर्व-पश्चिम तथा उत्तर-दक्षिण को जोड़ने वाली कड़ी रही है। शंकराचार्य और रामानंद ने संपूर्ण भारत में भ्रमण कर हिंदी के विकास-विस्तार में अपना पूर्ण सहयोग दिया। आदिकाल में हिंदी का अधिकांश साहित्य हिंदी क्षेत्र के बाहर ही लिखा गया है। स्वयंभू के 'पउम चरिउ' की रचना महाराष्ट्र और कर्नाटक में हुई, तो अब्दुर्रहमान ने 'संदेश रासक' पंजाब में लिखा। सिद्ध साहित्य पूर्व, नाथ साहित्य पश्चिम में और पर्याप्त भक्ति साहित्य, उड़ीसा, असम, महाराष्ट्र तथा गुजरात में लिखा गया है।

मध्यकाल हिंदी के विकास और अन्य क्षेत्रों से संपर्क का काल रहा है। इस काल में "दक्षिण के आचार्यों-वल्लभाचार्य, रामानुज, निंबार्क, रामानंद आदि ने संपर्क-भाषा के महत्त्व को समझा और भरसक इसे संप्रेषण का माध्यम बनाया। दक्षिण में राष्ट्रकूटों और यादवों के राज्य में हिंदी का प्रचार हुआ। विजयनगर दरबार में हिंदी को विशिष्ट स्थान प्राप्त था। मछलीपट्टम के नादेल्ल पुरुषोत्तम कवि ने बत्तीस हिंदी नाटकों की रचना की। अलाउद्दीन की दक्षिण-विजय तथा मुहम्मद तुगलक के राजधानी परिवर्तन से वहाँ दक्कनी हिंदी का उदय हुआ। अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुंडा, बीदर आदि इसके केन्द्र बने। ख्वाजा बंदानवाज गेसूदराज मुल्ला वजही (कुतुबमुश्तरी), शाह मीराबी, कुली कुतुबशाह आदि वहाँ अनेक कवि-लेखक हुए।" (सूर्यप्रसाद दीक्षित)

क्षेत्रवार दृष्टि डालें तो मध्यकाल में ब्रजभाषा के सार्वदेशिक प्रसार को देखा जा सकता है। बंगाल, असम, उड़ीसा, केरल, आंध्र सर्वत्र हिंदी साहित्य की रचना हुई है। बंगाल के वैष्णव कवि बलदेव दास लिखते हैं–

जय जय मंगल आरति दुहुंकि,

श्याम गोरी छवि उठत झलकि।

असम के कवि शंकर देव की एक रचना का अंश देखिए–

अमिट घन जन जीवन यौवन अथिर एहू संसार।

पुत्र परिवार सबहिं असार करबे के हरिसार।

आंध्र प्रदेश में हिंदी में काव्य-रचना का सर्वप्रथम रूप हमें तंजौर के भोंसल वंशीय मराठा शासक शाहजी महाराजा के यक्ष गानों में मिलता है। एक उदाहरण देखिए–

सुन सखी पिउ मेरो कहाँ, नैना दोऊ देखें चाहें।

धीर धरूं सखि कैसे के, मन में सहे बिना रहा न जाय।

चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी में दक्षिण भारत में जिस दक्खिनी भाषा का अस्तित्व पाया जाता है, वह भी खड़ी बोली हिंदी

का ही एक रूप है। दक्खिनी के प्रारंभिक साहित्यकार ख्वाजा बंदानवाज गेसूदराज (1318-1430 ई.) की 'मिराजुल आशिकीन' को दक्खिनी गद्य ही नहीं, खड़ी बोली गद्य की भी पहली रचना स्वीकार किया जाता है। खड़ी बोली, अरबी-फारसी और दक्षिणी भाषाओं के मिश्रण से इस भाषा ने भी उत्तर और दक्षिण के बीच एक कड़ी का काम किया है।

केरल की भाषा मलयालम शब्दावली की दृष्टि से अन्य द्रविड़ भाषाओं की तुलना में हिंदी के अधिक निकट स्वीकार की जाती है। केरल में तिरुविनांकुर के राजा तिरुनाल श्रीराम वर्मा ने ब्रज भाषा में अनेक पदों की रचना की है–

रामचन्द्र प्रभु! तुम बिन और कौन खबर ले मोरी।
बाज रही जिनकी नगरी मों सदा धरम की भेरी।
जाके चरण कमल की रज से तिरिया तन कूं फेरो।
और न के कछु और भरोसा हमें भरोसा तेरो।

महाराष्ट्र में नाथयोगियों, महानुभाव संप्रदाय, विट्ठल संप्रदाय आदि ने हिंदी के प्रचार में पर्याप्त रुचि ली है। शिवाजी तथा उनके पुत्र शम्भा जी हिंदी के प्रबल समर्थक थे। संत ज्ञानेश्वर, संत तुकाराम और संत नामदेव की रचनाओं में हिंदी के भी अनेक पद्य लिखते हैं–

जागो हो गोपाल लाल जसुदा बलि आई,
उठो तात प्रात भयो, रजनि को तिमिर गयो,
हेरत सब ग्वाल बाल मोहना कन्हाई।

गुजरात इस दृष्टि से किसी से कम नहीं है। नरसी मेहता और दयाराम गुजरात के ही कवि हैं जिनकी हिंदी रचनाएँ आज भी प्रसिद्ध हैं। मीरा की जन्म स्थली गुजरात है। अष्टछाप के कवि कृष्णदास जी की भूमि भी गुजरात थी। महेरावण सह ने डिंगल मिश्रित ब्रज में 'प्रणीण सागर' महाकाव्य की रचना की। यहाँ अनेक विद्यालयों में हिंदी का अध्यापन होता था तथा अन्य अनेक मौलिक हिंदी ग्रथों की भी रचना हुई।

पंजाब तो हिंदी क्षेत्र का पड़ोसी ही है। हिंदी और पंजाबी क्षेत्र के लोगों का एक-दूसरे के क्षेत्र में जाना सहज रहा है। दोनों भाषाओं ने एक-दूसरे को दूर तक प्रभावित किया है। पंजाब के गुरु गोविन्द सिंह की गिनती हिंदी के मूर्धन्य कवियों होती है। मिर्जा खाँ ने भी 'तोहफतुल हिन्द' में ब्रजभाषा के काव्यशास्त्र का प्रतिपादन किया है।

इसी प्रकार भारत के पूर्वी क्षेत्रों बंगाल, उड़ीसा आदि में हिंदी का पर्याप्त प्रचार-प्रसार रहा है। सुनीति कुमार चटर्जी के अनुसार 1575 ई. में बंगाल से पठान राज्य की समाप्ति के बाद व मुगल राज्य के प्रसार के साथ बंगाल में हिंदी को बढ़ावा मिला। उड़ीसा में हिंदी का प्रवेश भक्ति कविता के माध्यम से हुआ। राय रामानंद (15वीं सदी), जगन्नाथदास, वंशी लाल मिश्र, ब्रजनाथ बड़जेना, रामदास, कविचंद्र नरसिंह राय गुरु आदि इस क्षेत्र के प्रमुख हिंदी कवि रहे हैं।

हिंदी के अन्य भाषा भाषी क्षेत्रों से संपर्क की यह कड़ी आधुनिक काल में और मजबूत हुई है। अंग्रेजों के विरुद्ध स्वाधीनता संग्राम में हिंदी ने ही सभी क्षेत्रों में जाकर राष्ट्रीय एकता को मजबूत करने का कार्य किया है। हिंदीतर क्षेत्रों के स्वाधीनता सेनानियों, नेताओं, भाषाविदों, साहित्यकारों सभी ने एकमत से हिंदी को राष्ट्रभाषा स्वीकार करते हुए कभी क्षेत्रों के निवासियों को हिंदी में काम और बात करने को प्रोत्साहित किया। सन् 1826 ई. में हिंदी का पहला समाचार पत्र 'उदंत मार्तण्ड' बंगाल के कोलकाता से प्रकाशित हुआ। एम.ए. हिंदी का पाठ्यक्रम सबसे पहले कोलकाता विश्वविद्यालय में प्रारंभ हुआ। हिंदी के अनेक प्रमुख रचनाकार गैर हिंदी भाषी क्षेत्रों के रहे हैं। हिंदुओं के अनेक प्रमुख तीर्थ अहिंदी भाषी क्षेत्रों में ही हैं। द्वारका पुरी, रामेश्वरम और जगन्नाथपुरी में प्रतिदिन हजारों लोग प्रतिदिन हिंदी भाषी क्षेत्रों के तीर्थों में आते हैं और उनके लिए भी हिंदी संपर्क भाषा का काम रकती है। यही स्थिति व्यापार के क्षेत्र की भी है। हिंदी और अहिंदी क्षेत्रों के निवासी एक-दूसरे क्षेत्रों में जाकर हिंदी के माध्यम से ही संपर्क करते हैं। कुछ लोगों को लगता है कि व्यापार आदि में अंग्रेजी संपर्क का काम करती है अथवा कर सकती है। परंतु यह धारणा सही नहीं है। आज भी देश में अंग्रेजी बोलने वाले लोग काफी मिल जाते हैं, किंतु उनकी संख्या बहुत ही थोड़ी है और हमेशा थोड़ी ही रहेगी। इसका मुख्य कारण यह है कि यह भाषा कठिन और विदेशी है। साधारण मनुष्य इसे ग्रहण नहीं कर

नोट

सकता। इसलिए यह संभव नहीं कि अंग्रेजी के जरिए भारत एक राष्ट्र बन जाए। अतः भारतीयों को भारत की ही कोई भाषा पसंद करनी होगी।"

हिंदी को संपर्क भाषा बनाने में बॉलीवुड का बहुत बड़ा हाथ रहा है। हिंदी फिल्मों का सबसे अधिक निर्माण महाराष्ट्र की मुम्बई नगरी में होता है। मुम्बई व्यापार का भी गढ़ है। रेडियो और टी.वी. के माध्यम से भी हिंदी का प्रसार हुआ है और सारे भारत के लोग हिंदी को थोड़ा बहुत जानते-समझते हैं। दिल्ली में ही लगभग पूरे भारत के लोग एक साथ रहते हैं और हिंदी के माध्यम से अपने सारे कार्य निपटाते हैं। गुजरात का तो हिन्दी प्रचार में विशेष योगदान रहा है। गाँधी जी, स्वामी दयानंद सरस्वती आदि के बाद आजकल अनेक गुजराती संत मोरारी बापू, आसाराम बापू आदि हिंदी में अपनी कथाओं और प्रवचनों के माध्यम से संपूर्ण भारत के लिए संपर्क सूत्र बने हैं।

यदि आँकड़ों पर दृष्टि डालें तो भी यही स्पष्ट होता है कि हिंदी ही भारत की एकमात्र संपर्क भाषा है। लगभग संपूण ि भारतवर्ष में हिंदी को जानने और बोलने वाले बड़ी संख्या में हैं। 1991 की जनगणना के अनुसार अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में हिंदी जानने वालों की संख्या इस प्रकार है—जम्मू एवं कश्मीर 90%, गुजरात, महाराष्ट्र पंजाब, चंडीगढ़ 80%, गोवा 70%, दीव व दमण 65%, दादरा एवं नगर हवेली, प. बंगाल, सिक्किम, उड़ीसा 60%, असम 50%, कर्नाटक 45%, आंध्र प्रदेश 40%, केरल, मिजोरम 35%, अरुणाचल, मणिपुर, मेघालय 30%, नगालैंड, त्रिपुरा, लक्षद्वीप 20%, पांडिचेरी, तमिलनाडु 20%। हिंदी भाषी क्षेत्रों में बिहार, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, दिल्ली तथा अंडमान-निकोबार आदि में तो 100%, लोग हिंदी जानते हैं। इस प्रकार संपूर्ण भारत में हिंदी जानने वालों की संख्या 73.31% प्रतिशत है। हिंदी के संपर्क भाषा होने का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है।

संपर्क भाषा राष्ट्रभाषा से एक अर्थ में भिन्न होती है। राष्ट्रभाषा में भाषा के मानक रूप को महत्त्व दिया जाता है, परंतु संपर्क भाषा दो भिन्न भाषा-भाषियों के मध्य सेतु का काम करती है। इसका एकमात्र उद्देश्य अपनी बात को दूसरे तक संप्रेषित करना होता है। अतः असमें अनगढ़ता, व्याकरण-दोष और अन्य भाषाओं का मिश्रण स्वाभाविक है। संपर्क भाषा हिंदी भी इससे अछूती नहीं है। इसमें भारत की अनेक भाषाओं के शब्दों का समावेश हुआ हैं हिंदी ने बंगाली, पंजाबी, गुजराती, मराठी, तमिल, मलयालम आदि भाषाओं के अनेकानेक शब्दों को ग्रहण किया है। यह हिंदी की सर्वदेशिकता और संपर्क भाषा के रूप में उसकी क्षमता का परिचायक हैं

डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी ने कलकत्ता सम्मेलन में स्वगताध्यक्ष के रूप में अपने भाषण में कहा था, "चूँकि हिंदी को सबसे अधिक संख्यक भारतीय लोग समझ लेते हैं, चाहे इसके टूटे-फूटे बाजारू रूप में या पछाहीं मुहावरों के मुताबिक इसके शुद्ध हिंदी रूप में। क्योंकि सबसे अधिक संख्या के लोग इसे बोल सकते हैं और चूँकि उत्तर भारत वे विभिन्न प्रांतों की भाषा और साहित्य की धाराएँ नदियों की तरह कई सदियों से हिंदी के सागर में समाती हैं, इसलिए हिंदी को आधुनिक भारत की भाषाओं में Primus into pares अर्थात 'समानों में प्रथम' और representative speech of moder India अर्थात आधुानिक भारत की प्रमुख बोली मानना पड़ेगा।"

हिंदी के संदर्भ में डॉ. चटर्जी का उपुर्यक्त मत आज भी शत प्रतिशत सही है। हिंदी आधुनिक भारत की सर्वप्रमुख भाषा है, राजभाषा है, राष्ट्रभाषा है, भारत की एकमात्र संपर्क भाषा तो यह है ही और इसे यहाँ से कोई पदच्युत नहीं कर सकता।

24.2 राष्ट्रभाषा

1. राष्ट्रभाषा की अवधारणा

किसी भी भाषा का प्रारंभिक रूप बोली होती हैं सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि कारणों से कोई बोली विकसित होकर भाषा का रूप धारण कर लेती है। उसका प्रयोग क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। भिन्न-भिन्न बोलियों के प्रयोक्ता समाज-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उस भाषा का प्रयोग करने लगते हैं। विद्वानों के प्रयासों से भाषा के रूप को स्थायित्व मिलता है और इसका एक आदर्श तथा मानक रूप बन जाता है। शिष्ट जन उस मानक रूप का प्रयोग करने लगते हैं तथा सामान्य जन यत्किंचित क्षेत्रीय प्रभाव के साथ उस भाषा का प्रयोग करने लगते हैं। विद्वानों के प्रयासों से भाषा

नोट

के रूप को स्थायित्व मिलता है और इसका एक आदर्श तथा मानक रूप बन जाता है। शिष्ट जन उस मानक रूप का प्रयोग करने लगते हैं तथा सामान्य जन यत्किंचित क्षेत्रीय प्रभाव के साथ उस भाज़ा का प्रयोग करते रहते हैं। धीरे-धीरे उन्नत होकर यह मानक भाषा संपूर्ण राष्ट्र की सामाजिक-सांस्कृतिक विरासत का प्रतिनिधित्व करने लगती है। उस क्षेत्र के निवासियों का उस भाषा के प्रति भावात्मक लगाव हो जाता है। वे अन्य राष्ट्रीय प्रतीकों के समान ही उसके प्रति गौरव की भावना रखते हैं। तब उस भाषा को राष्ट्रभाषा कहा जाता है। डॉ. भोलानाथ तिवारी के शब्दों में 'जब कोई आदर्श भाषा बनने के बाद भी उन्नत होकर और भी महत्त्वपूर्ण बन जाती है तथा पूरे राष्ट्र या देश में अन्य भाषा क्षेत्र तथा अन्य भाषा परिवार क्षेत्र में भी उसका प्रयोग सार्वजनिक कामों आदि में होने लगता है तो वह राष्ट्रभाषा का पद पा जाती है। राष्ट्रभाषा के संबंध में उपर्युक्त मत से यह स्पष्ट है कि जिन देशों में किसी एक भाषा का प्रयोग होता है वहाँ की भाषा 'राष्ट्रभाषा' का पद आसानी से प्राप्त कर सकती है। परंतु भारत जैसे बहुभाषाभाषी देशों में राष्ट्रभाषा का स्वरूप उतना स्पष्ट नहीं हो पाता। ऐसे देशों के निवासी अपनी क्षेत्रीय भाषा के प्रति भी भावनात्मक लगाव रखते हैं, उसकी प्रगति के लिए प्रयासरत रहते हैं। कभी-कभी ऐसी स्थिति में भाषायी प्रतिस्पर्द्धा भी दिखाई देती है। हिंदी भारत के अधिकांश भू-भाग के निवासियों की भाषा है। हिमाचल प्रदेश, हरियाणा, दिल्ली, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, उत्तरांचल, बिहार, झारखण्ड, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ प्रदेशों की भाषा तो यह है ही; जम्मू क्षेत्र, पंजाब, महाराष्ट्र, गुजरात, अरुणाचल प्रदेश आदि प्रदेशों की भी प्रमुख भाषा है। यों, हिंदी बोलने-समझने वालों की संख्या भारत के सभी प्रदेशों में पर्याप्त है। हिंदी को भारत के सभी प्रदेशों में अपेक्षित महत्त्व मिला है। हिंदी को यह महत्त्व दिलाने में गौर हिंदीभाषी-महात्मा गाँधी, सुभाषचंद्र बोस, दयानंनद सरस्वती, बालगंगाधर तिलक आदि बुद्धिजीवी नेताओं का विशेष योगदान रहा है।

2. राष्ट्रभाषा हिंदी का स्वरूप

राष्ट्रभाषा हिंदी के स्वरूप से तात्पर्य है, सर्वसाधारण से लेकर शिक्षित वर्ग तक सबके द्वारा प्रयुक्त की जानेवाली भाषा का सर्वमान्य रूप। इसका प्रयोग भारत के अधिकांश भू-भाग में किया जताा है। पश्चिम में राजस्थान, हरियाणा से लेकर उत्तर में हिमाचल प्रदेश और पूर्व में बिहार, झारखण्ड तथा छत्तीसगढ़ तक प्राय: सभी इसका प्रयोग करते हैं। हिंदी लगभग ग्यारहवीं शताब्दी से ही भारत के अधिकांश भू-भाग में बोली जाती रही हैं। चन्दबरदाई, विद्यापति, सूर, तुलसी, जायसी, कबीर, बोधा, बिहारी, घनानद, भारतेन्दु आदि कवियों ने हिंदी की विभिन्न बोलियों में साहित्य रचना कर इसे समृद्ध किया है, परन्तु सर्वसामान्य की एकमात्र भाषा के रूप में आदर्श हिंदी का यह स्वरूप इसे द्विवेदी युग से मिलना प्रारम्भ हुआ। अपने विस्तृततम अर्थ में 17-18 बोलियों को स्वयं में समेटे, हिंदी का आज का आदर्श रूप वस्तुत: दिल्ली-मेरठ में बोली जानेवाली खड़ी बोली का परिष्कृत रूप है। खड़ी बोली की संरचनागत विशिष्टताओं को अपने में समेटते हुए भी यह उससे पर्याप्त भिन्न है। इसका अपना निश्चित व्याकरण है। महावीरप्रसाद द्विवेदी, किशोरी दास वाजपेयी, कामताप्रसाद गुरु आदि वैयाकरणों ने इसे स्थिर रूप प्रदान किया है। ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य-रचना आदि के स्तर पर इसे मानक रूप देने का प्रयास किया गया है। हिंदी में विभिन्न प्रयुक्तियों का विकास भी हुआ है और इसके कारण भी इसे राष्ट्रव्यापी रूप प्राप्त करने में आसानी हुई है।

सन् 1915 ई. में भरुच में होने वाले गुजरात शिक्षा परिषद के अधिवेशन के सभापति-पद से गाँधीजी ने जो भाषण दिया, उसमें उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि कौन-सी भाषा भारत की राष्ट्रभाषा बन सकती है। गाँधीजी के विचार में राष्ट्रभाषा के लिए निमनलिखित लक्षण होने चाहिए :

1. यह जरूरी है कि भारतवर्ष के बहुत-से लोग उस भाषा को बोलते हों।
2. उस भाषा के द्वारा भारतवर्ष का आपसी धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक व्यवहार संभव हो।
3. राष्ट्र के लिए वह भाषा आसान होनी चाहिए।
4. अमलदारों के लिए वह भाषा सरल होनी चाहिए।
5. उस भाषा का विचार करते समय किसी क्षणिक या अल्पस्थायी स्थिति पर जोर नहीं देना चाहिए।

गाँधीजी के अनुसार अंग्रेजी भाषा में इनमे से एक भी लक्षण नहीं है। ढंग से विचार करने पर हम देखेंगे कि आज भी अमलदारों के लिए यह भाषा सरल नहीं है।

नोट

''दूसरे लक्षण पर विचार करने पर हमें पता चलता है कि जब तक अंग्रेजी भाषा को हमारा जनसमाज बोलने न लग जाए, जब तक यह मुमकिन न हो, तब तक हमारा धार्मिक व्यवहार अंग्रेजी में चल ही नहीं सकता। समाज में अंग्रेजी का इस हद तक फैल जाना नामुमकिन मालूम होता है।''

तीसरा लक्षण अंग्रेजी में हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह भारतवर्ष के बहुजन-समाज की भाषा नहीं है। चौथा लक्षण भी अंग्रेजी में नहीं है, क्योंकि सारे राष्ट्र के लिए वह उतनी आसान नहीं। पाँचवां यह कि अंग्रेजी को राष्ट्रभाषा बनाना स्वयं को एवं अपनी भाषा को अक्षम सिद्ध करना है।

आज सम्पूर्ण हिंदी भाषी क्षेत्र तथा कतिपय अहिंदी भाषी क्षेत्रों में भी हिंदी का व्यापक प्रयोग हो रहा है। इन क्षेत्रों में यह बोलचाल की भाषा तो है ही; साहित्य राजनीति, शिक्षा, व्यवसाय, संचार माध्यम, धर्म के साथ ही विभिन्न शास्त्रों एवं विज्ञान की भाषा भी यह बन चुकी है। भारत में हिंदी जानने वालों की संख्या लगभग 75 करोड़ है। हिंदी भारतीयों की आस्था, रीति-रिवाज की भाषा है। उत्तर से लेकर दक्षिण और पूर्व से लेकर पश्चिम तक सभी तीर्थों और धार्मिक स्थलों पर पर हिंदी का प्रयोग देखा जा सकता है। होली, दीवाली, दशहरा, रक्षाबंधन सभी त्योहारों के भजन, गीत और मस्ती की भाषा है हिंदी। हिंदी में लोकगीत, लोकनाटक आदि लोक साहित्य भरा पड़ा है। अलग-अलग प्रदेशों के लोगों की आशा-आकांक्षाओं, स्वप्न तथा निराशा को व्यक्त करने में राष्ट्रभाषा हिंदी पूरी तरह सफल है। इन प्रदेशों की कुछ स्थानीय मान्यताएँ और समस्याएँ हो सकती हैं, परन्तु मूल स्वर पूरे भारत का एक है। पूरी भारतीय संस्कृति इस लोक साहित्य में प्रतिबिम्बित हुई है। भारत के विभिन्न प्रदेशों के संतों ने भी अलग-अलग क्षेत्रों की बोलियों से शब्द ग्रहण कर जैसे पूरे हिंदी प्रदेश को एक किया, उसी प्रकार पूरे भारत की आत्मा को स्वर प्रदान किया। कबीर जैसे संतों की वाणी इसका प्रमाण है। राष्ट्रभाषा हिंदी सिर्फ हिन्दुओं की भाषा नहीं है। भक्तिकाल के सूफी कवियों का प्रमाण है। भिन्न-भिन्न प्रदेशों में बम्बइया हिंदी, कलकतिया हिंदी आदि के नाम से हिंदी अहिंदी प्रदेशों में अपनी जड़ें जमा चुकी हैं। इन प्रदेशों में हिंदी को राष्ट्रभाषा का स्वरूप प्रदान करने में जहाँ 'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा' जैसी संस्थाओं ने योग दिया है, वहीं हिंदी फिल्मों और दूरदर्शन ने भी इसमें प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से अपना योगदान दिया है। समवेतत: हिंदी आज राष्ट्रभाषा है जो अपनी सहोदर भाषाओं—मराठी, गुजराती, असमी, बंगला, आदि के साथ-साथ दक्षिण भारतीय भाषाओं तथा पूर्वांचलीय भाषाओं को साथ लेकर चल रही है। हिंदी इन प्रदेशों में तो अपनी पैठ बना ही रही है, इन प्रदेशों की भाषाओं से शब्द ग्रहण कर स्वयं को समृद्ध भी कर रही है।

राष्ट्रभाषा हिंदी सिर्फ हिन्दुओं की भाषा नहीं है। भक्तिकाल के सूफी कवियों—जायसी, कुतुबन, मंझन से लेकर भक्त कवि रसखान, नीति काव्य के रचयिता रहीम और आधुनिककाल के अनेक मुस्लिम कवि जहाँ हिंदी में काव्य रचना करते रहे हैं, वहीं उत्तर भारत के मुसलमान और दक्षिण में दक्खिनी के प्रयोक्ता मुस्लिमों ने हिंदी को राष्ट्रभाषा का स्वरूप प्रदान करने में मदद की है।

3. राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी का विकास

भारत 15 अगस्त 1947 को स्वतन्त्र हुआ था। 14 सितम्बर 1949 को हिंदी को भारतीय संविधान में राजभाषा के रूप में स्थान दिया गया। सरकार का दायित्व निश्चित किया गया कि वह हिंदी के प्रचार-प्रसार का कार्य करेगी। आम आदमी की बोलचाल, अस्मिता, साहित्य की भाषा के रूप में हिंदी भारत की प्रमुख भाषा रही है। राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी के विकास को तीन कालखण्डों में विभाजित कर देखा जा सकता है।

1. आदिकाल 1000 ई.-1300 ई.
2. मध्यकाल 1300 ई.-1800 ई.
3. आधुनिककाल 1800 ई.-अद्यतन

हिंदी के आदिकाल का प्रारम्भ लगभग सन् 1000 ईसवी से माना जाता है। यद्यपि हिंदी का प्रारम्भिक दर्शन सातवीं शताब्दी में हिंदी के प्रथम कवि माने जाने वाले सरहपाद की रचनाओं में किया जा सकता है—

जह मन पन न संचरइ, रवि शशि नाह पवेश।
तह वट चित्त विसाम करु, सरहे कहिउ उवेश॥

तथापि लगभग 200 वर्षों के अन्तराल के बाद तो हिंदी साहित्य की अविच्छिन्न धारा दिखाई देती है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि कोई भी भाषा अपनी उत्पत्ति से ही काव्य की भाषा नहीं बनती, इसके लिए कम-से-कम सौ-दो सौ वर्षों का समय अपेक्षित है। इसका तात्पर्य है कि हिंदी सातवीं-आठवीं शताब्दी से ही बोलचाल की भाषा के रूप में भारत में प्रचलित रही होगी। यह अवश्य है कि साहित्य की दृष्टि से वह अपभ्रंश का काल था। यों, अपभ्रंश लगभग 15वीं शताब्दी तक साहित्य की भाषा रही है, उत्तर अपभ्रंश को कुछ विद्वान पुरानी हिंदी और कुछ अवहट्ठ का नाम देते रहे हैं, परन्तु वास्तव में वह हिंदी थी। डॉ. रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' के शब्दों में, ''यद्यपि अपभ्रंश अपने मूल रूप में पन्द्रहवीं शताब्दी तक साहित्य की भाषा बनी रही, तथापि आठवीं शताब्दी से ही बोलचाल की भाषा पृथक् होकर उसके समानान्तर साहत्य-रचना का माध्यम बन गई थी। इसी भाषा को 'अवहट्ठ' नाम देना भ्रम उत्पन्न करना है। जिन विद्वानों ने ये नाम दिए हैं, वे भी अपने मत के अन्तर्गत प्राय: उक्त तथ्य का समर्थन करे रहे हैं। चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' पहले विद्वान है जिन्होंने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की थी कि 'उत्तर अपभ्रंश' ही पुरानी हिंदी है। यहाँ 'उत्तर' श्ब्द काल का बोधक न होकर साहित्यिक अपभ्रंश से इतर बोलचाल की उस भाषा का बोधक है जो साहित्यिक अपभ्रंश के एक रूप की स्वीकृति के पश्चात उसके बाद के रूप में स्थापित होती जा रही थी।''

14 सितंबर 1949 में हिंदी को राजभाषा का दर्जा दिया गया।

रामचन्द्र शुक्ल, राहुल सांकृत्यायन, हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दर दास आदि आलोचकों ने मुक्तभाव अथवा कुछ संकोच के साथ 'उत्तर अपभ्रंश' की रचनाओं को हिंदी साहित्य में स्थान दिया है। इस काल में नाथों, सिद्धों, जैन साधुओं, योगियों, महात्माओं ने सम्पूर्ण उत्तर, उत्तर-पूर्व तथा पश्चिम भारत में हिंदी की विभिन्न बोलियों और लोकभाषाओं में अपने सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार किया। भारत की जनता की आत्मा में समान रूप से अनुस्यूत धार्मिक-आध्यात्मिक-सांस्कृतिक चेतना को उसकी भाषा में ही प्रचारित-प्रसारित किया जा सकता था। इतना ही नहीं चन्दबरदाई और उनके समान अन्य चारण-भाट कवियों ने वीर काव्य की जिस भाषा में रचना की है उसे नाम भले ही 'डिंगल' दिया जाए, किंतु वह हिंदी का रूप है। इसी प्रकार इस काल में मधुर भावों के लिए प्रचलित 'पिंगल' भी हिंदी है। मिथिला प्रदेश में अपनी जिस ललित-सुमधुर भाषा में विद्यापति ने रचना की, और जिसे उन्होंने 'देसिल बयना' कहा, वह भी हिंदी का ही एक रूप है। आदिकाल में हिंदी के लिए हिन्दवी, हिन्दुई या हिन्दुवी का प्रयोग भी होता रहा है। तेरहवीं शताब्दी में अमीर खुसरो ने इसका प्रयोग किया है। अमीर खुसरो सूफी थे, यद्यपि दिल्ली के शाही दरबार की ओर से उन्होंने युद्धों में भी सक्रिय भाग लिया। उन्होंने फारसी के अतिरिक्त हिंदी की भी बोलियों में रचनाएँ लिखीं। इनमें प्रमुख हैं—ब्रज, बुंदेलखंडी, कनौजी, बाँगरू और कौरवी।

तेरहवीं शताब्दी के अन्तिम दशक तक दिल्ली की खिलजी सल्तनत का दक्षिण तक विस्तार हो गया था। परिणामस्वरूप उत्तर भारत की भाषा और बोलियों का भी प्रसार वहाँ प्रारम्भ हो गया। बीजापुर, गोलकुंडा, अहमद नगर, विजयवाड़ा, देवगिरी, बरार आदि दक्षिण भारतीय प्रदेशों में सूफियों, संतों तथा अन्य साहित्यकारों ने बोलचाल और साहित्य के माध्यम से जिस भाषा का प्रचार-प्रसार किया, वह फारसी और हिंदी का मिला-जुला रूप था। इसी को सत्रहवीं शताब्दी में दक्खिनी या दक्कनी कहा गया।

इस प्रकार अपने उद्भव को दो-तीन सौ वर्षों में ही हिंदी सम्पूर्ण भारतवर्ष के भाषिक व्यवहार और साहित्य की भाषा बन गई और दक्षिण भारत के भी कुछ क्षेत्रों में इसका प्रचार-प्रसार प्रारम्भ हो गया। यह सही है कि इस समय तक खड़ी बोली का महत्त्व अन्य भाषा रूपों से अधिक नहीं था। साहित्य के क्षेत्र में तो कम-से-कम हिंदी की अन्य बोलियों और शैलियों को पर्याप्त महत्त्व मिला।

नोट

मध्यकाल

मध्यकाल भारत के लिए सांस्कृतिक पुनरुत्थान का काल कहा जा सकता है। सांस्कृतिक दृष्टि से सारा भारत एक ही रहा है। 'विविधता में एकता' ही भारत की सबसे बड़ी विशेषता है। भारत के विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न धर्मों के जो तीर्थस्थान हैं, उन्होंने हिंदी को देश के कोने-कोने में पहुँचाने में बहुत मदद की है। हिंदीतर प्रदेशों के लोग हिंदी प्रदेशों में अपने तीर्थ स्थानों पर आते थे और हिंदी प्रदेश के निवासी भी आंध्रप्रदेश, तमिलनाडु आदि प्रदेशों में अपने तीर्थ स्थानों पर आते थे और हिंदी प्रदेश के निवासी भी आंध्रप्रदेश, तमिलनाडु आदि प्रदेशों में अपने तीर्थों पर जाते थे। ऐसे में एक ऐसी भाषा की आवश्यकता थी जो उन भिन्न भाषा-भाषियों के बीच सेतु का कार्य कर सके। हिंदी ने उस काल में इस दायित्व का निर्वाह किया। डॉ. मालिक मोहम्मद लिखते हैं, ''देश के एक छोर से दूसरे छोर तक यात्रा करनेवालों को एक सामान्य भाषा का सहारा लेना पड़ता था। उन दिनों एक सामान्य व्यापक भाषा केवल हिंदी थी जो उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम के तीर्थ यात्रियों के बीच में बातचीत की सामान्य भाषा थी। विशेषकर दक्षिण और उत्तर के सांस्कृतिक सम्बन्ध की दृढ़ शृंखला के रूप में हिंदी भाषा सशक्त माध्यम बनी थी। सच्चाई तो यह है कि जनभाषा किसी के बनाए नहीं बनती, परन्तु उसको सांस्कृतिक और धार्मिक परिस्थितियाँ सदियों से स्वरूप देती है। हमारे देश की सांस्कृतिक परम्पराओं को अक्षुण्ण रखने में पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के बद हिंदी को व्यापक रूप धारण करने का अवसर मिला है।''

दक्षिण की ओर से जो भक्तिधारा प्रवाहित हुई उसने उत्तर भारत को पूर्णतः आप्लावित कर दिया। रामानन्द दक्षिण से भक्ति का बिरवा लेकर आए और उत्तर की उपजाऊ भूमि में वह विशाल वट बन गया। नाथों और संतों की काव्यधारा से विकसित ज्ञान और मुस्लिम एकेश्वरवाद से विकसित प्रेम के माध्यम से (निर्गुण) ईश्वर को प्राप्त करने का सपना कबीर, जायसी आदि ने देखा, तो तुलसी और सूर ने सगुण राम और कृष्ण की आराधना की। लेकिन इन सभी धाराओं के भक्त कवियों में एक बात सामान्य थी और वह थी लोकभाषा। राम और कृष्ण की जन्मभूमि की भाषा के रूप में अवधी और ब्रज का प्रचार हुआ तो संत भी हिंदी में पद और सखियाँ गाते हुए देशभर में घूमे।

निर्गुण संत जाति, धर्म, समाज और भाषा के बंधनों में विश्वास नहीं रखते थे। वे एक स्थान पर रुकते भी नहीं थे। अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए इन्होंने खड़ी बोली का सहारा लिया परन्तु भ्रमणकारी प्रवृत्ति के कारण इनकी भाषा में अनेक अन्य बोलियों और भाषाओं के शब्द सहज रूप से आ गए। अपनी इस सधुक्कड़ी भाषा के माध्यम से उन्होंने देश भर में सखियों और पदों का गायन किया और हिंदी को सार्वदेशिक रूप दिया। इस सम्बन्ध में सत्यकेतु विविद्यालंकर का कहना है कि ''सन्तों की भाषा प्रारम्भ से ही एक व्यापक भाषा थी, इसलिए विचारों के आदान-प्रदान के लिए अहिंदी भाषी प्रदेशों में भ्रमण करते समय सन्त लोग इसी भाषा का अधिक प्रयोग करते थे। संतों की वाणी के प्रति जन-साधारण का स्वाभाविक आकर्षण रहता था, इसलिए वे उसे सुनने और समझने के लिए सदा लालायित रहते थे। इस प्रकार सन्त-समागम से हिंदी का प्रचार बढ़ता गया और यह भाषा अहिंदी भाषी प्रदेशों में अधिक-से-अधिक व्यापक बनती गई।''

मध्यकालीन सूफी संतों ने भी जनभाषा में ही रचनाएँ की हैं। वे जानते थे कि अपनी रचनाओं को जनसामान्य तक पहुँचाने क लिए जनभाषा के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है। फलतः उन्होंने 'अवधी' को अपने काव्य का माध्यम बनाया। सूफी संतों ने अपनी प्रेमाधारित भक्ति रचनाओं के माध्यम से सांस्कृतिक और सामाजिक समन्वय के विशेष प्रयास किए। दक्षिण भारत में भी अनेक सूफी संतों ने ने दक्खिनी में विपुल साहित्य की रचना की। दक्खिनी के सूफी कवियों में शाह मीराजी, शाह बुरहानुद्दीन, सैयद मुहम्मद हुसैनी आदि को विशेष ख्याति मिली है। दक्खिनी वस्तुतः हिंदी की एक शैली है। रामविलास शर्मा, भोलानाथ तिवारी आदि विद्वान इसे खड़ी बोली का ही एक रूप मानते हैं। इस प्रकार सुफियों ने हिंदी को देशव्यापी बनाने में विशिष्ट भूमिका का निर्वाह किया है।

हिंदी को देशव्यापी बनाने में वैष्णव धर्म ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। दक्षिण में भक्ति आन्दोलन तीसरी शताब्दी से नौवीं शताब्दी तक चला। बाद में दक्षिण के वैष्णव आचार्यों ने इस भक्ति आन्दोलन का प्रचार पूरे देश में किया। सम्भवतः इन आचार्यों ने अपने मत का प्रचार उत्तर भारत की लोकभाषा हिंदी में किया होगा। दक्षिण से आए इन आचार्यों

में रामानन्द तथा वल्लभाचार्य ने भी हिंदी के माध्यम से ही भक्ति आन्दोलन को सशक्त बनाया। इसका एक कारण यह भी है कि इनके आराध्य राम और कृष्ण की जन्मभूमि अयोध्या और मथुरा हिंदी क्षेत्र में ही हैं। भक्तों ने अवधी और ब्रज के माध्यम से अपनी भक्ति भावना को अभिव्यक्ति दी। डॉ. अम्बाशंकर नागर लिखते हैं, ''इस प्रकार हिंदी को व्यापक बनाने में वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायियों का प्रमुख हाथ रहा है। जहाँ-जहाँ यह धर्म पहुँचा, ब्रजभाषा के प्रचार में अभूतपूर्व योग दिया है। रामभक्तों में तुलसी की तथा उनके 'मानस' की लोकप्रियता ने भी अहिंदीभाषी लोगों को अवधी भाषा की ओर आकर्षित किया है।''

डॉ. मलिक मोहम्मद का भी यही मानना है कि ''राम और कृष्ण की भक्ति अवधी और ब्रज के माध्यम से हिंदी प्रदेश की सीमाओं को लांघकर की गई। यहाँ तक कि मुसलमान कवियों ने भी कृष्ण और राम की आराधना ब्रज और अवधी के माध्यम से ही की है। मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन इतना व्यापक रहा कि वैष्णव धर्म की विचारधारा की सुन्दर अभिव्यक्ति का माध्यम ब्रज और अवधी को समझकर इसके द्वारा देश के विभिन्न प्रदेशों के कवि रस-विभोर होने लगे। हिंदी के कृष्णभक्त और रामभक्त कवियों की रचनाओं से प्रभावित होकर हिंदीतर प्रदेशों के बहुत से कवियों ने ब्रज या अवधी को माध्यम बनाकर भक्तिपरक काव्य रचे हैं।''

हिंदीतर भाषाओं के भक्त कवियों में गुरु नानक देव तथा अन्य सिख गुरु (पंजाब), वल्लभ देव, कविदत्त (कश्मीर), गोपालदास, कृष्णदास, नरहरिदास चक्रवर्ती, नशीर मासूद (बंगाल), दामोदर चम्पतिराय, दीनकृष्ण दास, अनन्त दास (उड़ीसा), मुक्तानन्द, ब्रह्मानन्द, प्रेमानन्द, दादू, प्राणनाथ (गुजरात), संत एकनाथ, संत ज्ञानेश्वर (महाराष्ट्र) स्वाति तिरुनाल (केरल), अली आदिलशाह द्वितीय, कुली कुतुबशाह (कर्नाटक), वल्लभाचार्य, नादल्ल पुरुषोत्तम (आंध्र प्रदेश) आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार निगुर्ण संतों, कवियों तथा वैष्णवभक्तों ने हिन्दी को राष्ट्रव्यापी बनाने में पूरा योगदान दिया। भारत के बाहर काबुल आदि में भी अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए संतों ने हिन्दी को ही अपनाया। इस काल में रचित विपुल भक्ति-काव्य ने हिन्दीतर क्षेत्र के कवियों को भी हिन्दी में काव्य-रचना के लिए प्रेरित कर इसे पूरे राष्ट्र की भाषा बनाने में योगदान दिया।

साहित्य एवं संगीत की दृष्टि से हिन्दी समृद्ध भाषा है। इस कारण भी हिन्दीतर प्रदेशों के अनेक कवियों ने हिन्दी में रचनाएँ प्रस्तुत कीं। समान उद्‌गम स्रोतवाली भाषाओं-मराठी, गुजराती, बंगाली, उड़िया आदि से समानता के कारण भी हिन्दी को प्रोत्साहन मिला। मुगल शासन काल में व्यापार के केन्द्र उत्तर भारत में थे। इन व्यापारिक केन्द्रों में हिन्दीतर प्रदेशों के लोग भी व्यापार के लिए आते थे और लेन-देन के मामलों में उस समय की उत्तर भारत की भाषा हिन्दी का ही प्रयोग किया जाता था। राजनीतिक कारणों ने भी हिन्दी को पूरे देश में पहुँचाने में योग दिया। मुस्लिम शासन के अधिकारियों को युद्ध एवं शान्ति के समय में देश के विभिन्न भागों में जाना पड़ता था और उनके साथ हिन्दी का भी प्रचार इन क्षेत्रों में होता था। इन सब सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक कारणों से मध्यकाल में हिन्दी पूरे देश की भाषा का स्वरूप प्राप्त कर रही थी।

आधुनिक काल

आधुनिक काल में हिन्दी राष्ट्रीय अस्मिता और अभिमान की प्रतीक बन गई। हिन्दी भाषा के सन्दर्भ में आधुनिक काल का प्रारम्भ सन् 1800 ई. में कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना से स्वीकार किया जा सकता है। इस कॉलेज में अन्य विषयों के साथ अरबी, फारसी, संस्कृत हिन्दुस्तानी, बंगला, ग्रीक आदि भाषाओं को पढ़ाने की भी व्यवस्था थी। हिन्दुस्तानी विभाग के प्रथम अध्यक्ष डॉ. जान गिलक्रिस्ट ने हिन्दुस्तानी का गम्भीर अध्ययन किया था। गिलक्रिस्ट की भाषा-नीति हिन्दी के विरोध में पड़ती थी। इसके कारण आगे चलकर हिन्दी-उर्दू का भयंकर विवाद खड़ा हुआ। सन् 1823 में विलियम प्राइस के विभागाध्यक्ष बनने तक हिन्दुस्तानी के स्थान पर हिन्दी का अध्ययन प्रारम्भ हो गया था। प्राइस हिन्दी और हिन्दुस्तानी में लिपि और शब्दों का ही अन्तर मानते थे। गिलक्रिस्ट की भाषा-नीति के कारण

नोट

हिन्दी का विशेष लाभ तो नहीं हुआ परन्तु फिर भी खड़ी बोली को विकसित होने का कुछ अवसर अवश्य मिला। कॉलेज ने खड़ी बोली में 'गद्य रचना' को प्रोत्साहित किया। कॉलेज द्वारा प्रकाशित अनेक पुस्तकों द्वारा भी हिन्दी के प्रचार-प्रसार में सहायता मिली। यहाँ यह ध्यातव्य है कि यह सब कार्य हिन्दी क्षेत्र में नहीं बल्कि बंगला भाषी कलकत्ता को केन्द्र बनाकर हो रहा था।

स्व-मूल्यांकन

सही विकल्प चुनिए–

1. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने उत्तरी अपभ्रंश को नाम दिया–

   (क) पुरानी हिंदी (ख) अवहट्ट (ग) खड़ी बोली

2. फोर्ट विलियम कॉलेज के प्रथम अध्यक्ष थे–

   (क) लल्लू लाल (ख) सदल मिश्र (ग) जॉन गिलक्राइस्ट

3. 'सत्यार्थ प्रकाश की रचना ने की थी–

   (क) विवेकानंद (ख) महर्षि दयानंद सरस्वती (ग) शरच्चन्द्र चटर्जी

4. फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना में हुई।

   (क) 1650 ई. (ख) 1757 ई. (ग) 1800 ई.

सन् 1857 में भारत का प्रथम स्वाधीनता संग्राम लड़ा गया। इस संग्राम में हिन्दी ही भाषायी दायित्व निभा रही थी। सभी क्रान्ति-समाचार, संवाद और संदेश हिन्दी मे ंही प्रसारित किए जाते थे। परन्तु फिर भी यह माना गया कि उपयुक्त सार्वदेशिक भाषा के अभाव में क्रान्ति का संदेश करोड़ो लोगों तक नहीं पहुँचा तथा देशी भाषाओं में उचित शिक्षा के अभाव में जनमानस को अंग्रेजी के विरुद्ध तैयार नहीं किया जा सका। फलत: आगे चलकर राष्ट्रीय आन्दोलन के उन्नायकों ने यह अनुभव किया कि हिन्दी के प्रचार-प्रसार से ही देश की स्वाधीनता में मदद मिल सकती है। इस सम्बन्ध में हिन्दीतर प्रदेशों के लोगों ने नेतृत्व की बागडोर संभाली। इस समय जिन चिन्तकों, नेताओं ने हिन्दी की राष्ट्रभाषा के रूप में कल्पना की, उनमें केशवचन्द्र सेन मूर्धन्य हैं। सन् 1873 में अपने बंगाली पत्र 'सुलभ समाचार' में उन्होंने लिखा, "यदि भाषा एक न होने पर भारतवर्ष में एकता न हो तो उसका उपाय क्या है? समस्त भारतवर्ष में एक भाषा का प्रयोग करना इसका उपाय है। इस समय भारत में जितनी भी भाषाएँ प्रचलित हैं, उनमें हिन्दी भाषा प्राय: सर्वप्रचलित है। इस हिन्दी भाषा को यदि भारतवर्ष की एकमात्र भाषा बनाया जाये तो अनायास ही यह (एकता) शीघ्र ही सम्पन्न हो सकती है।"

प्रसिद्ध बंगला साहित्यकार और 'वन्देमातरम्' के रचियता बंकिमचन्द्र चटर्जी ने भी हिन्दी की सहायता से पूरे भारत को एकसूत्र में बाँधने की कल्पना की थी।

सन् 1916 के लगभग महात्मा गाँधी राष्ट्रीय परिदृश्य पर आए। गुजराती भाषी महात्मा गाँधी ने स्वाध्याय से हिन्दी का ज्ञान प्राप्त किया था। वे जानते थे कि हिन्दी के बिना देश को एक कर अंग्रेजों के विरुद्ध सफल आन्दोलन नहीं चलाया जा सकता। सन् 1925 में कांग्रेस ने यह प्रस्ताव पास किया कि कांग्रेस का, कांग्रेस की महासमिति का और कार्यकारिणी समिति का काम-काज आमतौर पर हिन्दुस्तानी में चलाया जाएगा। इस घोषणा से हिन्दुस्तानी आंदोलन को पर्याप्त बल मिला। राजगोपालाचारी भी हिन्दी के प्रबल समर्थक थे। सन् 1939 में जब भारत के कई प्रदेशों में कांग्रेस की निर्वाचित सरकारों का गठन हुआ तो मद्रास के तत्कालीन मुख्यमंत्री के रूप में उन्होंने मद्रास (वर्तमान तमिलनाडु) के सभी विद्यालयों में हिन्दी शिक्षण अनिवार्य कर दिया। उनके इस प्रयासों को गाँधी जी का पूर्ण समर्थन प्राप्त था। जब गाँधी जी और राजा जी के प्रयात्नों पर कुछ लोगों ने शंका उठाई तो गाँधी जी ने कहा, "कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि हम प्रान्तीय भाषाओं को नष्ट करके हिन्दी को सारे भारत की एकमात्र भाषा बनाना चाहते हैं। इस गलतफहमी से प्रेरित होकर वे हमारे प्रचार का विरोध करते हैं। मैं हमेशा से यह मानता रहा हूँ कि हम किसी भी हालत में प्रान्तीय भाषाओं को मिटाना नहीं चाहते। हमारा मतलब तो सिर्फ यह है कि विभिन्न प्रान्तों के पारस्परिक सम्बन्ध के लिए हम हिन्दी भाषा सीखें।"

हिन्दी को राष्ट्रभाषा की ओर अग्रसर करने में उस समय अन्य अनेक लोगों ने अपनी भूमिका निभाई। ब्रह्मसमाज के केशवचन्द्र सेन के विचारों का उल्लेख पहले हो चुका है। इन्हीं की प्रेरणा से महर्षि दयानन्द ने हिन्दी में भाषण देना प्रारम्भ किया और हिन्दी में 'सत्यार्थ प्रकाश' की रचना की। ब्रह्मसमाज के संस्थापक राजा राममोहन राय मानते थे कि केवल हिन्दी ही अखिल भारतीय भाषा बन सकती है। आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती मूलत: गुजराती थे परन्तु अपने भाषणों, ग्रंथों, लेखों में उन्होंने हिन्दी को वरीयता दी। आर्यसमाज के दस नियमों के पाँचवाँ नियम कहता है कि प्रत्येक आर्यसमाजी के लिए हिन्दी पढ़ना अनिवार्य है। आर्यसमाज की हिन्दी सेवा के सम्बन्ध में श्री रामगोपाल लिखते हैं, "आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द ने अपने निजी उदाहरण से अपने अहिंदी भाषी अनुयायियों को भी हिन्दी का प्रयोग करने की प्रेरणा दी। वह स्वयं गुजराती थे। उन्होंने हिन्दी सीखी और केवल उसे ही अपने व्याख्यानों तथा लेखनी का माध्यम बनाया। उनका उद्देश्य आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रसार करना था, परन्तु उनके अनुयायियों के धर्म से जो अधिक उत्तम चीज जीवन को प्राप्त हुई, वह था राष्ट्रभाषा का प्रचार।"

आर्यसमाज के ही समान सनातनधर्म सभा ने भी भारत के विभिन्न प्रदेशों में हिन्दी को प्रोत्साहन दिया। पं. मदनमोहन मालवीय, गोस्वामी गणेश्दत्त तथा श्रद्धाराम फिल्लौरी आदि ने पंजाब में हिन्दी की लगभग दो सौ सायंकालीन पाठशालाओं की स्थापना, लाहौर से 'विश्वबन्धु' हिन्दी दैनिक का प्रकाशन तथा रोचक उपदेशों एवं व्याख्यानों द्वारा हिन्दी-सेवा का कार्य किया। महाराष्ट्र में 'प्रार्थना समाज' के महादेव गोविन्द रानाडे के अतिरिक्त 'थियोसोफिकल सोसाइटी', (अन्तर्राष्ट्रीय कार्यालय मद्रास) की श्रीमती एनी बेसेंट ने भी हिन्दी का समर्थन किया। श्रीमती बेसेंट ने हिन्दी को सर्वाधिक प्रचलित भारतीय भाषा स्वीकार करते हुए उसे राष्ट्र की एकता का मुख्य साधन माना। रामकृष्ण मिशन; राधास्वामी सम्प्रदाय; काशी नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग; दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास; राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा; गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद; बम्बई हिन्दी विद्यापीठ बम्बई; महराष्ट्र राष्ट्रसभा, पुणे; हिन्दी विद्यापीठ, देवधर; असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, गोहाटी; हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद; मैसूर रिसायत हिन्दी प्रचार समिति, बंगलौर; मैसूर हिन्दी प्रचार परिषद्, बंगलौर; केरल हिन्दी प्रचार सभा, त्रिवेन्द्रम; कर्नाटक महिला हिन्दी सेवा समिति, बंगलौर; उड़ीसा राष्ट्रभाषा परिषद्, पुरी; सौराष्ट्र हिन्दी प्रचार समिति, राजकोट; मणिपुर हिन्दी परिषद् इम्फाल आदि अनेक संस्थाएँ इस दिशा में सक्रिय रही हैं। उपर्युक्त सूची से स्पष्ट है कि आधुनिक युग में हिन्दी के प्रचार-प्रसार का कार्य हिन्दी क्षेत्रों के अलावा अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में भी पर्याप्त गति से हुआ है।

वास्तव में आज भी ये सभी संस्थाएँ हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की उसी दिशा में सक्रिय है, जिसका स्वप्न गाँधी जी ने देखा था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद उन्होंने कहा था, "हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित करने में एक दिन भी खोना देश को भारी सांस्कृतिक नुकसान पहुँचाना है।... इस तरह हमारी आजादी को जबरदस्ती छीननेवाले अंग्रेजों की सियासी हुकूमत को हमने सफलतापूर्वक इस देश से निकाल दिया, उसी तरह हमारी संस्कृति को दबानेवाली अंग्रेजी भाषा को भी यहाँ से निकाल बाहर करना चाहिए।"

इन संस्थाओं की ओर से हिन्दी शिक्षण की दृष्टि से विभिन्न परीक्षाओं का आयोजन होता है। पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं। उदाहरणार्थ, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास की ओर से सभा में 'स्नातकोत्तर अध्ययन और अनुसंधान विभाग' की स्थापना की गई है तथा 'हिन्दी प्रचार समाचार' और 'दक्षिण भारत' नामक मासिक पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा भी 'राष्ट्रभाषा' और 'राष्ट्रभारती' नामक पत्रिकाएँ प्रकाशित करती है। गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद और बम्बई हिन्दी विद्यापीठ, बम्बई की ओर से आयोजित हिन्दी परीक्षाओं में हजारों परीक्षार्थी सम्मिलित होते हैं।'

फोर्ट विलियम कॉलेज पर एक संक्षिप्त नोट लिखिए।

स्वातंत्र्योत्तर काल

स्वतंत्रता के पश्चात् भी राष्ट्रभाषा हिन्दी के विकास का कार्य रुका रहा है। सत्य तो यह है कि आज इसकी गति तीव्र हुई है। आवागमन की अधिक सुविधा के कारण पर्यटन को बढ़ावा मिला है। आज पहले से अधिक पर्यटक और तीर्थयात्री

नोट

दूसरे प्रदेशों में जा रहे हैं। स्वाभाविक रूप से ऐसी स्थितियों में हिन्दी ही सम्पर्क भाषा का काम करती है, जिससे उसके प्रयोग क्षेत्र में वृद्धि हो रही है।

ऊपर जिन संस्थाओं का नामोल्लेख किया गया है, वे भारत के हिन्दीतर क्षेत्रों, विशेषत: दक्षिण भारत में हिन्दी की प्रगति के लिए प्रयासरत हैं। यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि आजादी के कुछ समय बाद दक्षिण, विशेष रूप से तमिलनाडु में हिन्दी विरोधी आंदोलन हुए थे। लेकिन ये आंदोलन राजनीतिक आधार पर टिके हुए थे। इनका नेतृत्व करुणानिधि सदृश नेता कर रहे थे। राजनीतिक रोटियाँ सेंक लेने के बाद उनका यह आंदोलन शांत हो गया। यहाँ यह भी उल्लेख्य है कि उन्हीं करुणानिधि के अपनी एक पुस्तक के हिन्दी संस्करण का विमोचन प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह से कराने की खबर समाचार पत्रों में छपी है। इससे यह स्पष्ट होता है कि दक्षिण भारतीयों के मन में भी हिन्दी के लिए अपार स्नेह है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी को आगे बढ़ाने में अनुवाद कार्य का विशेष योगदान रहा है। हिन्दी में अनुवाद लम्बे समय से होते रहे हैं, परन्तु इन्हें विशेष गति स्वतंत्रता के पश्चात् ही मिली। भारतीय संविधान का हिन्दी अनुवाद भी उपलब्ध है। तमाम वैज्ञानिक, तकनीकी और विधि साहित्य का हिन्दी में अनुवाद हुआ है। लेकिन राष्ट्रभाषा की दृष्टि से सर्वोपरि अहिन्दी भाषियों की रचनाओं का हिन्दी में और हिन्दी की रचनाओं का अन्य भाषाओं पर्याप्त मात्रा में अनुवाद हो रहा है। साहित्य अकादमी की 'समकालीन भारतीय साहित्य' और भारतीय अनुवाद परिषद् की 'अनुवाद' पत्रिका इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर रही है।

शिक्षा के क्षेत्र में भी इस दृष्टि से अनेक प्रयास किए गए हैं। भारतीय संविधान में सरकार ने शिक्षा के लिए 'त्रिभाषा फार्मूला' प्रस्तुत किया है जिसके अंतर्गत प्रत्येक अहिन्दी भाषी को हिन्दी तथा हिन्दी भाषी को एक क्षेत्रीय भाषा पढ़ाने की बात की गई है। संविधान के इस प्रावधान का अपेक्षित लाभ तो नहीं हुआ है तथापि एक सीमा तक सभी भाषाएँ एक-दूसरे के निकट आई हैं। विश्वविद्यालयों में भी अहिन्दी भाषियों के लिए हिन्दी के पठन-पाठन का प्रबंध किया गया है। विद्यालय के स्तर पर देखें तो इसका पर्याप्त प्रचार बढ़ा है। यहाँ तक कि उत्तर पूर्व के प्रदेशों में से अरुणाचल प्रदेश ने प्राथमिक कक्षाओं में हिन्दी का अध्ययन अनिवार्य कर दिया है।

हिन्दी की प्रगति और सम्पूर्ण भारत में उसके प्रचार-प्रसार की दृष्टि से कुछ संस्थाओं की भी स्थापना हुई है। इनमें केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा तथा केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, दिल्ली विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। निदेशालय ने हिन्दी को राष्ट्रव्यापी बनाने के लिए हिन्दी भाषा और लिपि के मानकीकरण का सफल प्रयास किया है। इसके प्रयासों से ही हिन्दी में संयुक्त वर्ण को अलग-अलग लिखा जाने लगा है, जिससे हिन्दी सरल हो रही है। हिन्दी की सरलता इसके राष्ट्रव्यापी होने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम है। केन्द्रीय हिन्दी संस्थान अपनी कक्षाओं, शोधपरक कार्यों और 'गवेषणा' पत्रिका के माध्यम से सभी भारतीय भाषाओं को एक-दूसरे के निकट लाकर हिन्दी को आगे बढ़ाने का काम कर रही है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी की प्रगति में सर्वाधिक योगदान फिल्मों, रेडियो और दूरदर्शन का है। बॉलीवुड फिल्मों का बहुत बड़ा निर्माण केन्द्र है। हिन्दी फिल्में विदेशों तक में पसन्द की जाती हैं, तब भारत की तो बात ही क्या? पूरे दक्षिण, पश्चिम और पूर्वी भारत में हिन्दी फिल्में देखी और पसंद की जाती हैं। स्वाभाविक रूप से इससे हिन्दी को भी प्रचार-प्रसार मिलता है। हिन्दी क्षेत्र के कलाकार हिन्दीतर भाषाओं की फिल्मों में और अहिन्दी भाषी कलाकार हिन्दी फिल्मों मे ंकाम करने को आतुर रहते हैं। रेडियो ने भी हिन्दी के मानचित्र को विस्तृत किया है। रेडियो पर आने वाले फिल्मी गानों, नाटकों तथा अन्य मनोरंजक कार्यक्रमों की हिन्दीतर क्षेत्रों में भी खूब माँग है। दूरदर्शन ने तो इस क्षेत्र में क्रांति ही कर दी है। यह आज का सर्वाधिक लोकप्रिय संचार माध्यम है। इस माध्यम पर हिन्दी की लोकप्रियता इतनी अधिक है कि अनेक विदेशी चैनलों ने अपने कार्यक्रम हिन्दी में 'डब' ही नहीं किए हैं, अंग्रेजी चैनलों की भाषा ही हिंदी कर दी है। कार्टून नेटवर्क से लेकर विदेशी फिल्में तक हिंदी में दिखाई जाती हैं, जिससे हिंदी का अहिंदी भाषी क्षेत्रों में पर्याप्त विस्तार हुआ है।

आर्थिक उदारीकरण से भी हिंदी के राष्ट्रभाषा स्वरूप में प्रगति हुई है। अनेक विदेशी कंपनियाँ भारत में आई हैं। उन्होंने भारत की सभी दिशाओं में अपने कार्यालय और फैक्ट्रियाँ भारत में आई हैं। उन्होंने भारत की सभी दिशाओं में अपने कार्यालय और फैक्ट्रियाँ शुरू की हैं। देश की कंपनियाँ भी सर्वत्र अपना व्यापार बढ़ा रही हैं। अच्छे रोजगार की तलाश

में नवयुवक-युवतियाँ अन्य प्रदेशों में जाने में तनिक भी संकोच नहीं करते, कुछ उत्तर भारत में आकर हिंदी सीखते हैं तो कुछ दक्षिण भारत में जाकर परोक्ष रूप से हिंदी का प्रचार करते हैं। इस प्रकार अनेकानेक कारणों से हिंदी भारत भर में फैलती जा रही है। आज अनेक स्थानों पर हिंदी की स्थिति एक नई शैली जैसी हो गई है। बंबइया हिंदी और कलकतिया हिंदी इसका प्रमाण हैं। भारत सरकार ने भी इस दिशा में काफी सहयोग दिया है।

यद्यपि आज नागर परिवेश को देखने पर लगता है कि देश में अंग्रेजी का वर्चस्व बढ़ रहा है। राजभाषा के रूप में अंग्रेजी की समय सीमा को अनिश्चित काल के लिए बढ़ा चुकी है। पूँजीपति, अधिकारी वर्ग और नेताओं के बच्चे अंग्रेजी विद्यालयों में पढ़ रहे हैं। पूरे देश में आज भी अधिकांश जनता हिंदी बोलती अथवा समझती है। सरकार का ऐसा कोई कार्य आज भी सफल नहीं हो पाता जिसका प्रचार हिंदी के माध्यम से न किया जाए। वास्तव में हिंदी जन-जन की भाषा है पूरे, राष्ट्र की भाषा है, राष्ट्र की आत्मा इसमें बसती है। पूरे भारत में इसका निरंतर प्रचार-प्रसार हो रहा है।

24.3 सारांश

संपर्क भाषा शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के लिंग्वा फ्रेंका (Lingua Franca) के प्रतिशब्द के रूप में किया जाता है। 'लिंग्वा फ्रेंका' से तात्पर्य है, लोक बोली अथवा सामान्य बोली। जिस भाषा के माध्यम से एक क्षेत्र के लोग देश के अन्य क्षेत्रों के निवासियों से अथवा एक भाषा के बोलने वाले लोग अन्य भाषा-भाषियों से अपने विचारों का आदान-प्रदान करते हैं, उसे लिंग्वा फ्रेंका अथवा संपर्क भाषा कहा जाता है। भारत विभिन्नताओं का देश है। यहाँ भाषाओं की संख्या सैकड़ों में है। बाइस भाषाएँ तो संविधान की अष्टम सूची में ही उल्लिखित हैं। इस दृष्टि में यहाँ संपर्क भाषा का विशेष महत्त्व है। भारत के इतिहास का अवलोकन करें तो हम पाते हैं कि यहाँ युगों से 'मध्य देश' की भाषा सारे देश की माध्यम भाषा अथवा संपर्क भाषा रही है। संस्कृत, पालि अथवा प्राकृत किसी क्षेत्र-विशेष तक सीमित नहीं थीं। तमिलभाषी प्रदेशों में 200 ई. से ही संस्कृत राजभाषा के रूप में स्वीकार कर ली गई थी। शिक्षा, दीक्षा, प्रशासकीय और सांस्कृतिक कार्यों में ही नहीं वरन शिष्ट काव्य और शास्त्रों के प्रणयन में भी संस्कृत भाषा का प्रयोग होने लगा था। स्पष्ट है कि तमिल प्रदेशों ने संस्कृत को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार कर लिया था। मध्यकाल हिंदी के विकास और अन्य क्षेत्रों से संपर्क का काल रहा है। इस काल में "दक्षिण के आचार्यो-वल्लभाचार्य, रामानुज, निंबार्क, रामानंद आदि ने संपर्क-भाषा के महत्त्व को समझा और भरसक इसे संप्रेषण का माध्यम बनाया। हिंदी को संपर्क भाषा बनाने में बॉलीवुड का बहुत बड़ा हाथ रहा है। हिंदी फिल्मों का सबसे अधिक निर्माण महाराष्ट्र की मुम्बई नगरी में होता है। मुम्बई व्यापार का भी गढ़ है। रेडियो और टी.वी. के माध्यम से भी हिंदी का प्रसार हुआ है और सारे भारत के लोग हिंदी को थोड़ा बहुत जानते-समझते हैं। दिल्ली में ही लगभग पूरे भारत के लोग एक साथ रहते हैं और हिंदी के माध्यम से अपने सारे कार्य निपटाते हैं।

कसी भी भाषा का प्रारंभिक रूप बोली होती हैं सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि कारणों से कोई बोली विकसित होकर भाषा का रूप धारण कर लेती है। उसका प्रयोग क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। भिन्न-भिन्न बोलियों के प्रयोक्ता समाज-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उस भाषा का प्रयोग करने लगते हैं। विद्वानों के प्रयासों से भाषा के रूप को स्थायित्व मिलता है और इसका एक आदर्श तथा मानक रूप बन जाता है। शिष्ट जन उस मानक रूप का प्रयोग करने लगते हैं तथा सामान्य जन यत्किंचित क्षेत्रीय प्रभाव के साथ उस भाषा का प्रयोग करने लगते हैं। राष्ट्रभाषा हिंदी के स्वरूप से तात्पर्य है, सर्वसाधारण से लेकर शिक्षित वर्ग तक सबके द्वारा प्रयुक्त की जानेवाली भाषा का सर्वमान्य रूप। इसका प्रयोग भारत के अधिकांश भू-भाग में किया जताा है। पश्चिम में राजस्थान, हरियाणा से लेकर उत्तर में हिमाचल प्रदेश और पूर्व में बिहार, झारखण्ड तथा छत्तीसगढ़ तक प्राय: सभी इसका प्रयोग करते हैं। हिन्दी को राष्ट्रभाषा की ओर अग्रसर करने में उस समय अन्य अनेक लोगों ने अपनी भूमिका निभाई। ब्रह्मसमाज के केशवचन्द्र सेन के विचारों का उल्लेख पहले हो चुका है। इन्हीं की प्रेरणा से महर्षि दयानन्द ने हिन्दी में भाषण देना प्रारम्भ किया और हिन्दी में 'सत्यार्थ प्रकाश' की रचना की। ब्रह्मसमाज के संस्थापक राजा राममोहन राय मानते थे कि केवल हिन्दी ही अखिल भारतीय भाषा बन सकती है। आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती मूलत: गुजराती थे परन्तु अपने भाषणों, ग्रंथों, लेखों में उन्होंने हिन्दी को वरीयता दी। आर्यसमाज के दस नियमों के पाँचवाँ नियम कहता है कि प्रत्येक आर्यसमाजी के लिए

नोट

हिन्दी पढ़ना अनिवार्य है। आर्यसमाज की हिन्दी सेवा के सम्बन्ध में श्री रामगोपाल लिखते हैं, "आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द ने अपने निजी उदाहरण से अपने अहिंदी भाषी अनुयायियों को भी हिन्दी का प्रयोग करने की प्रेरणा दी। वह स्वयं गुजराती थे। उन्होंने हिन्दी सीखी और केवल उसे ही अपने व्याख्यानों तथा लेखनी का माध्यम बनाया। उनका उद्देश्य आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रसार करना था, परन्तु उनके अनुयायियों के धर्म से जो अधिक उत्तम चीज जीवन को प्राप्त हुई, वह था राष्ट्रभाषा का प्रचार।"

24.4 शब्दकोश

1. **अनगढ़ता–** बिना गढ़ा हुआ, बेडौल,
2. **पछाहीं–** पछाँह, सुदूर परिचम का देश
3. **विपुल–** अत्यधिक विशाल, बहुत अधिक
4. **वट–** बरगद का पेड़

24.5 अभ्यास-प्रश्न

1. संपर्क भाषा से आप क्या समझते हैं? विस्तार से समझाइए।
2. राष्ट्रभाषा के स्वरूप पर प्रकाश डालिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन

1. (क) **2.** (ग) **3.** (ख) **4.** (ग)।

24.6 संदर्भ पुस्तकें

1. *भाषा विज्ञान–* डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, किताब महल, इलाहाबाद
2. *भाषा और भाषा विज्ञान–* गरिमा श्रीवास्तव, संजय प्रकाशन, दिल्ली
3. *प्रयोजनमूलक हिंदी की नयी भूमिका–* कैलाशनाथ पाण्डेय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
4. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा–* नरेश मिश्र, संजय प्रकाशन, दिल्ली

नोट

इकाई 25: हिंदी की संवैधानिक स्थिति

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- हिंदी की संवैधानिक स्थिति से परिचित होंगे।

प्रस्तावना

'राजभाषा' का शाब्दिक अर्थ है– राजा की भाषा अर्थात् शासक की भाषा। इस शब्द से राजा और भाषा के महत्त्व का ज्ञान होता है, किंतु जनतांत्रिक शासन में 'राजा' शब्द का महत्त्व नहीं है। इस प्रकार राजभाषा का अर्थ है– राजकीय भाषा या राजकाज की भाषा। इसी आधार पर भारत सरकार ने 'राजभाषा आयोग' (Official Language Commission) का निर्माण किया है।

14 सितम्बर, 1949 को हिंदी भारत संघ की राजभाषा बनी। राजभाषा के प्रयोग के चार मुख्य क्षेत्र हैं– शासन, विधान, न्यायपालिका और कार्यपालिका स्वतंत्रता पूर्व इन चारों क्षेत्रों में अंग्रेजी का वर्चस्व था। इन्हीं चारों क्षेत्रों में हिंदी को प्रतिष्ठित करना ही राजभाषा हिंदी को महत्त्व देना है।

भारतवर्ष के संविधान की धारा 343 से 351 के विभिन्न अनुच्छेदों में राजभाषा का प्रावधान किया गया है। इनमें मुख्यत: चार अध्यायों में चर्चा की गई है– संघ की भाषा, प्रादेशिक भाषा; उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय की भाषा; राजभाषा संबंधी नियम धारा 343 में हिंदी को भारत संघ की राजभाषा और देवनागरी को उसकी लिपि के रूप में मान्यता दी गई है। हिंदी को राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने में राष्ट्रीय आंदोलन में प्रयुक्त हिंदी की विशेष भूमिका रही है। देश के महापुरुषों, हिंदी-प्रेमियों, राष्ट्रीय नेताओं के साथ सामाजिक और साहित्यिक संस्थाओं की भूमिका विशेष रूप में उल्लेखनीय रही है।

25.1 हिंदी की संवैधानिक स्थिति

अनुच्छेद 343 : संविधान के अनुसार हिंदी राजभाषा और लिपि देवनागरी होगी। यहाँ यह भी स्पष्ट किया गया है कि राजकीय कार्यों में नागरी का अन्तर्राष्ट्रीय रूप ही होगा। अर्थात् नागरी के मूल चिह्नों के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय चिह्न प्रयुक्त होंगे।

नोट

इसी धारा के भाग दो में स्पष्ट किया गया है कि 15 वर्षों तक संघ के राजकाज में अंग्रेजी का प्रयोग किया जाता रहेगा, जहाँ पहले अंग्रेजी का प्रयोग होता था, परंतु राष्ट्रपति चाहेंगे तो इसी कालावधि में अपने आदेश द्वारा संघ के राजकीय प्रयोजनों में अंग्रेजी के साथ हिंदी प्रयोग प्राधिकृत कर सकेंगे।

इसी अनुच्छेद में पंद्रह वर्ष बाद अंग्रेजी भाषा और देवनागरी के प्रयोग की स्थिति पर विचार कर अनुबंधित करने का प्रावधान रखा गया।

अनुच्छेद 344 में मुख्यत: छ: संदर्भों को रेखांकित किया गया है–

1. राष्ट्रपति द्वारा पाँच वर्ष की समाप्ति पर भारत की विभिन्न भाषाओं के सदस्यों के आधार पर एक आयोग गठित किया जाएगा और आयोग राजभाषा के संबंध में कार्य-दिशा निर्धारित करेगा।
2. हिंदी के उत्तरोत्तर प्रयोग पर बल दिया जाएगा। देवनागरी के अंकों के प्रयोग होंगे। संघ से राज्यों के बीच पत्राचार की भाषा और एक राज्य से दूसरे राज्य से पत्राचार की भाषा पर सिफारिश होगी।
3. आयोग के द्वारा औद्योगिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक उन्नति के साथ लोक-सेवाओं में हिंदीतर भाषी क्षेत्रों के न्यायपूर्ण औचित्य पर ध्यान रखेगा।
4. राजभाषा पर विचारार्थ तीस सदस्यों की एक समिति का गठन किया जाएगा जिसमें 20 लोक सभा और 10 राज्य सभा के आनुपातिक सदस्य एकल संक्रमणित मत द्वारा निर्वाचित होंगे।
5. समिति राजभाषा हिंदी और नागरी अंक के प्रयोग का परीक्षण कर राष्ट्रपति को प्रतिवेदन करेगी।
6. राष्ट्रपति के द्वारा आयोग के प्रतिवेदन पर विचार कर निर्देश जारी किया जाएगा।

क्या आप जानते हैं 14 सितंबर सन् 1849 को हिंदी भारत की राजभाषा बनी।

अनुच्छेद 345, 346 और 347 : इसमें विभिन्न राज्यों की प्रादेशिक भाषाओं के विषय में भी साथ-साथ विचार किया गया है।

अनुच्छेद 345 : राज्य के विधान मण्डल द्वारा विधि के अनुसार राजकीय प्रयोजन के लिए उस राज्य में प्रयुक्त होने वाली भाषा या हिंदी भाषा के प्रयोग पर विचार किया जा सकता है। इस संदर्भ में यह भी स्पष्ट किया गया है कि जब तक किसी राज्य का विधान मंडल ऐसा प्रावधान नहीं करेगा, तब तक कार्य पूर्ववत अंग्रेजी में चलता रहेगा।

अनुच्छेद 346 : संघ में राजकीय प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त भाषा यदि दो राज्यों की सहमति पर आपस में पत्राचार के लिए उपयोगी समझते हैं, तो उचित ही होगा। यदि दो या दो से अधिक राज्य आपस में निर्णय लेकर राजभाषा हिंदी को संचार भाषा के रूप में अपनाते हैं, तो उचित होगा।

अनुच्छेद 347 : यदि किसी राज्य में जनसमुदाय द्वारा किसी भाषा को विस्तृत स्वीकृति प्राप्त हो और राज्य उसे राजकीय कार्यों में प्रयोग के लिए मान्यता दे, और राष्ट्रपति की स्वीकृति मिल जाए, तो उक्त भाषा का प्रयोग मान्य होगा।

अनुच्छेद 348 : इसमें उच्चतम न्यायालय, उच्च न्यायालयों की भाषा पर विचार किया गया है। यहाँ यह प्रावधान है कि जब तक संसद विधि द्वारा उपबंध न करे, तब तक कार्य अंग्रेजी में ही होगा।

इसके अंतर्गत निम्नलिखित कार्यक्षेत्र रखे गए–

उच्चतम न्यायालय, प्रत्येक उच्च न्यायालय।

इसके लिए संसद के दोनों सदनों से प्रस्ताव पारित होना चाहिए। अधिनियम संसद या राज्य विधान मंडल से पारित किए जाएं और राष्ट्रपति या राज्यपाल द्वारा स्वीकृति मिले। यह प्रस्ताव विधि के अधीन और अंग्रेजी में होंगे।

नियमानुसार स्वीकृति के बाद हिंदी का प्रयोग संभव होगा, किंतु उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय या आदेश पर लागू नहीं होगा।

अनुच्छेद 349 : संविधान के प्रारंभिक 15 वर्षों की कालावधि तक संसद के किसी सदन से पारित राजभाषा संबंधित विधेयक या संशोधन बिना राष्ट्रपति की मंजूरी के स्वीकृत नहीं होगा। यह विधेयक राजभाषा संबंधित तीस सदस्यीय आयोग की स्वीकृति के पश्चात् ही राष्ट्रपति विचार कर स्वीकृति प्रदान करेंगे।

अनुच्छेद 350 : इस अनुच्छेद में विशेष निर्देशों को व्यवस्थित किया गया है। इसके अनुसार कोई भी व्यक्ति अपनी समस्या को संघ और राज्य के पदाधिकारियों को संबंधित मान्य भाषा में अभिवेदन कर सकेगा। इससे प्रत्येक व्यक्ति को अधिकृत भाषा में संघ या राज्य के अधिकारियों से पत्र-व्यवहार का अवसर दिया गया है।

अनुच्छेद 351 : भारतीय संविधान की अष्टम सूची में स्थान प्राप्त भाषाओं को महत्त्व दिया गया है। हिंदी भाषा के प्रचार-प्रसार से भारत की सामाजिक संस्कृति को अभिव्यक्ति मिलने का संकेत है। हिंदी भाषा में मुख्यत: संस्कृत शब्दावली के साथ अन्य भाषाओं के शब्दों से समृद्ध करने का संकेत है।

नोट्स भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 की आठवीं सूची में भाषाओं को महत्त्व दिया गया है।

राष्ट्रपति के आदेश

भारत संघ में राजभाषा हिंदी के कार्यान्वयन के लिए राष्ट्रपति के द्वारा समय-समय पर आदेश जारी किए गए हैं। इनमें कुछ आदेश विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

1952 का आदेश : राष्ट्रपति ने संविधान के अनुच्छेद 343(2) के अधीन 27 मई, 1952 को एक आदेश जारी किया जिसमें संकेत था—"राज्य के राज्यपाल, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश और उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति-अधिपत्रों में अंग्रेजी के साथ हिंदी और अंक नागरी लिपि के हों।"

राजभाषा आयोग की स्थापना सन् 1955 में हुई। आयोग के तीस सदस्यों द्वारा राजभाषा संदर्भ में निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किए गए—

1. त्वरित गति से पारिभाषिक शब्द-निर्माण हों।
2. 14 वर्ष तक प्रत्येक विद्यार्थी को हिंदी भाषा की शिक्षा दी जाए।
3. माध्यमिक स्तर तक भारतीय विद्यार्थियों को हिंदी शिक्षण अनिवार्य हो।

इसमें से प्रथम सिफारिश मान ली गई। अखिल भारतीय और उच्चस्तरीय सेवाओं में अंग्रेजी जारी रखी गई। सन् 1965 तक अंग्रेजी को प्रमुख और हिंदी को गौण रूप में स्वीकृति मिली। 45 वर्ष से अधिक उम्र के कर्मचारियों को हिंदी-प्रशिक्षण की छूट दी गई।

स्व-मूल्यांकन

रिक्त स्थान की पूर्ति करें—

1. भारतीय संविधान के अनुच्छेद .... के तहत हिंदी भारत की राजभाषा तथा लिपि देवनागरी होगी।
2. भारतीय संविधान के अनुच्छेद .... में उच्चतम न्यायालय एवं न्यायालयों की भाषा पर विचार किया गया है।
3. राजभाषा आयोग की स्थापना सन .... में हुई।

1955 का आदेश : इस आदेश के अनुसार संघ के सरकारी कार्यों में अंग्रेजी के साथ हिंदी प्रयोग करने का निर्देश किया गया। जनता से पत्र-व्यवहार, सरकारी रिपोर्ट का पत्रिकाओं और संसद में प्रस्तुत, जिन राज्यों ने हिंदी को अपनाया है, उनसे पत्र-व्यवहार, संधि और करार, अन्य देशों उनके दूतों अंतर्राष्ट्रीय संगठनों से पत्र-व्यवहार, राजनयिक अधिकारियों और अंतर्राष्ट्रीय संगठनों में भारत के प्रतिनिधियों द्वारा जारी औपचारिक विवरण।

1960 का आदेश : राष्ट्रपति द्वारा राजभाषा आयोग के प्रतिवेदन पर विचार कर सन् 1960 में निम्न निर्देश जारी किए गए थे—

नोट

1. वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली के निर्माणार्थ शिक्षा मंत्रालय के अधीन एक आयोग स्थापित किया जाए।
2. शिक्षा मंत्रालय, सांविधिक नियमों आदि के मैनुअलों की एकरूपता निर्धारित कर अनुवाद कराया जाए।
3. मानक विधि शब्दकोश, हिंदी में विधि के अधिनियम और विधि-शब्दावली निर्माण, हेतु कानून विशेषज्ञों का एक आयोग बनाएँ।
4. तृतीय श्रेणी के कर्मचारियों को छोड़, 45 वर्ष तक की उम्र वाले कर्मचारियों को हिंदी प्रशिक्षण अनिवार्य। गृह मंत्रालय हिंदी आशुलिपिक, हिंदी टंकण प्रशिक्षण योजना बनाए।

1963 का राजभाषा अधिनियम : 26 जनवरी, 1965 को पुन: आगामी 15 वर्षों तक अंग्रेजी को पूर्ववत् रखने का प्रावधान बना। हिंदी-अनुवाद की व्यवस्था पर जोर दिया गया। उच्च न्यायालयों के निर्णयों आदि में अंग्रेजी के साथ हिंदी या अन्य राजभाषा के वैकल्पिक प्रयोग की छूट दी गई।

इससे अंग्रेजी का वर्चस्व बना रह गया। देश को एकता के सूत्र में बाँधने वाली हिंदी को वह स्थान नहीं मिल सका जो अपेक्षा थी।

टास्क हिंदी के प्रचार प्रसार में जनसंचार माध्यमों की भूमिका स्पष्ट करें।

1968 का संकल्प : सन् 1968 में संविधान के राजभाषा अधिनियम को ध्यान में रखकर संसद के दोनों सदनों द्वारा विशेष संकल्प पारित किया। इसमें निम्नलिखित विचार रखे गए–

1. हिंदी प्रचार-प्रसार का प्रयत्न किया जाएगा और प्रतिवर्ष लेखा-जोखा संसद के पटल पर रखा जाएगा।
2. आठवीं सूची की भाषाओं के सामूहिक विकास पर राज्य सरकारों से परामर्श और योजना-निर्धारण।
3. त्रिभाषा-सूत्र पालन करना।
4. सघ लोक-सेवा आयोग की परीक्षाओं में अंग्रेजी के साथ हिंदी और आठवीं सूची की भाषाओं को अपनाना।
5. कार्यालयों से जारी होने वाले सभी दस्तावेज हिंदी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में हों। संसद के दोनों सदनों में प्रस्तुत किए जाने वाले सरकारी पत्र आदि अनिवार्य रूप से हिंदी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में हों।

राजभाषा हिंदी कार्यान्वयन के लिए देश को भाषिक धरातल पर तीन भागों में बाँटा गया–

'क' क्षेत्र–बिहार, हरियाणा, हिमाचल, मध्य प्रदेश, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और दिल्ली।

'ख' क्षेत्र–गुजरात, महाराष्ट्र, पंजाब, अंडमान निकोबार द्वीप-समूह और केंद्रशासित क्षेत्र।

'ग' क्षेत्र–भारत के अन्य क्षेत्र-बंगाल, उड़ीसा, आसाम, आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु, कर्नाटक, केरल आदि।

इस अधिनियम के अनुसार केंद्र सरकार द्वारा **'क' क्षेत्र** से पत्र-व्यवहार हिंदी से ही होगा। यदि अंग्रेजी में पत्र भेजा गया, तो उसके साथ हिंदी अनुवाद अवश्य होगा। **'ख' क्षेत्र** से पत्र-व्यवहार हिंदी के साथ अंग्रेजी में भी होगा। **'ग' क्षेत्र** से पत्र-व्यवहार अंग्रेजी में हो सकता है।

भारत सरकार द्वारा राजभाषा हिंदी प्रचार-प्रसार के लिए सतत प्रयास किए जा रहे हैं। सभी मंत्रालयों के साथ हिंदी सलाहकार समितियाँ बनाई गई हैं। इन समितियों की बैठक भी त्रैमासिक होने का प्रावधान है। इन बैठकों में राजभाषा प्रयोग के लेखा-जोखा पर विचार किया जाता है।

वर्तमान समय में राजभाषा हिंदी के आकर्षक रूप से प्रयोग में देश की एकता और अखंडता निहित है। राजकाज में राजभाषा हिंदी का निराशाजनक प्रयोग अत्यंत चिंता का विषय है। देश के उच्च अधिकारी और दूसरे देश में जाने वाले राजनयिक ही नहीं, अधिकारी भी हिंदी के प्रयोग को राष्ट्रीय कार्य समझें, तो हिंदी को अनुकूल दिशा मिलेगी। विभिन्न कार्यालयों में द्विभाषी-अंग्रेजी-हिंदी, कंप्यूटरों की अनुकूल संख्या होने की संभावना प्रसन्नता का विषय है, किंतु उनका हिंदी भाषा के संदर्भ में उपयोग हो, यह अपेक्षित है। निश्चय ही राजभाषा के सम्मानजनक प्रयोग होने पर देश की एकता और उन्नति निश्चित होगी।

नोट

25.2 सारांश

'राजभाषा' का शाब्दिक अर्थ है–राजा की भाषा अर्थात् शासक की भाषा। इस शब्द से राजा और भाषा के महत्त्व का ज्ञान होता है, किंतु जनतांत्रिक शासन में 'राजा' शब्द का महत्त्व नहीं है। इस प्रकार राजभाषा का अर्थ है– राजकीय भाषा या राजकाज की भाषा। इसी आधार पर भारत सरकार ने 'राजभाषा आयोग' (Official Language Commission) का निर्माण किया है।

14 सितम्बर, 1949 को हिंदी भारत संघ की राजभाषा बनी। राजभाषा के प्रयोग के चार मुख्य क्षेत्र हैं–शासन, विधान, न्यायपालिका और कार्यपालिका स्वतंत्रता पूर्व इन चारों क्षेत्रों में अंग्रेजी का वर्चस्व था। इन्हीं चारों क्षेत्रों में हिंदी को प्रतिष्ठित करना ही राजभाषा हिंदी को महत्त्व देना है।

अनुच्छेद 343 : संविधान के अनुसार हिंदी राजभाषा और लिपि देवनागरी होगी। यहाँ यह भी स्पष्ट किया गया है कि राजकीय कार्यों में नागरी का अन्तर्राष्ट्रीय रूप ही होगा। अर्थात् नागरी के मूल चिह्नों के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय चिह्न प्रयुक्त होंगे।

अनुच्छेद 351 : भारतीय संविधान की अष्टम सूची में स्थान प्राप्त भाषाओं को महत्त्व दिया गया है। हिंदी भाषा के प्रचार-प्रसार से भारत की सामाजिक संस्कृति को अभिव्यक्ति मिलने का संकेत है। हिंदी भाषा में मुख्यत: संस्कृत शब्दावली के साथ अन्य भाषाओं के शब्दों से समृद्ध करने का संकेत है।

वर्तमान समय में राजभाषा हिंदी के आकर्षक रूप से प्रयोग में देश की एकता और अखंडता निहित है। राजकाज में राजभाषा हिंदी का निराशाजनक प्रयोग अत्यंत चिंता का विषय है। देश के उच्च अधिकारी और दूसरे देश में जाने वाले राजनयिक ही नहीं, अधिकारी भी हिंदी के प्रयोग को राष्ट्रीय कार्य समझें, तो हिंदी को अनुकूल दिशा मिलेगी। विभिन्न कार्यालयों में द्विभाषी-अंग्रेजी-हिंदी, कंप्यूटरों की अनुकूल संख्या होने की संभावना प्रसन्नता का विषय है, किंतु उनका हिंदी भाषा के संदर्भ में उपयोग हो, यह अपेक्षित है। निश्चय ही राजभाषा के सम्मानजनक प्रयोग होने पर देश की एकता और उन्नति निश्चित होगी।

25.3 शब्दकोश

1. **अनुच्छेद–** पैराग्राफ
2. **राजनयिक–** राजनीतिक

25.4 अभ्यास प्रश्न

1. हिंदी की संवैधानिक स्थिति पर एक लेख लिखिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन

1. 343 **2.** 348 **3.** 1955

25.5 संदर्भ पुस्तकें

1. *भाषा विज्ञान: हिंदी भाषा और लिपि–* डॉ॰ रामकिशोर शर्मा लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद
2. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा–* नरेश मिश्र, संजय प्रकाशन, दिल्ली
3. *मानक हिंदी का स्वरूप–* डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
4. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा का स्वरूप–* विकास–देवेन्द्र प्रसाद सिंह, हिंदी बुक सेंटर, दिल्ली

नोट

इकाई 26: भाषा और लिपि का संबंध

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- लिपि के उद्‌भव और विकास को समझने में।
- भाषा एवं लिपि के संबंध को समझने में।

प्रस्तावना

लिपि का सामान्य अर्थ होता है 'लिखावट'। किन्तु लिखावट या लेखन को वैज्ञानिक विश्लेषण में 'लिपि' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। अपने भावों, विचारों या कि अभिव्यक्ति की विभिन्न दशाओं को मिट्‌टी, पत्थर, छाल और कागज आदि पर जब किसी विशेष चिह्न द्वारा अंकित करते हैं तो वह पद्धति वैज्ञानिक धरातल पर लिपि कहलाती है। लिपि का जब वैज्ञानिक परीक्षण किया जाने लगता है जब वह प्रकरण 'लिपिविज्ञान' का विषय बन जाता है।

यह तो सच है कि भाषा के विकसित हो जाने के बाद लिपि का जन्म हुआ। यह भी सब है कि जिस तरह अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए मनुष्य ने भाषा को जन्म दिया उसी तरह अपनी भाषा को सुरक्षित तथा स्थायित्व प्रदान करने के लिए मनुष्य ने ही लिपि का भी सृजन किया। लिपि को मनुष्य का एक महत्त्वपूर्ण आविष्कार मानना चाहिए। लिपि के ही कारण मनुष्य जाति ने सदियों की भाषिक विरासत को जीवित रखा है। मानवीय-संस्कृति के संवर्द्धन में लिपि ने उपयोगी सहयोग किया है।

कहा जा सकता है कि जिस तरह व्यक्त ध्वनियाँ भाषा कहलाती हैं उसी तरह प्रतीकों, चिह्नों और चित्रों आदि क्षरा अंकित किये गये विचार लिपि की संज्ञा प्राप्त करते हैं। परिभाषा के स्तर पर लिपि के लिए किसी शब्दावली की रचना की जाय तो कह सकते हैं कि लिपि लेखन-कला का वह स्वरूप है जिसके द्वारा भाषा को स्थायित्व प्रदान किया जाता है।

26.1 लिपि का उद्‌भव और विकास

नोट

26.1.1 लिपि का उद्‌भव

लिपि के उद्‌भव को लेकर दो तरह के मत मिलते हैं। एक तरह के मत में यह प्रचलित है कि लिपि का उद्‌भव भाषा से पूर्व हुआ। दूसरे तरह के मत में यह प्रचलित है कि लिपि का जन्म भाषा के बाद हुआ। पहले तरह के विचारकों के अभितम में भाषा के प्रयोग से पूर्व मनुष्य ने भाषा के अभाव में अपने विचारों और भावों की अभिव्यक्ति के लिए काथ, पैर पटकना शुरू किया, दाँतों को किटकिटाया, होठों को फड़काया और आँखों को तरेरा। मनुष्य की भाषिक अभिव्यक्ति के आदि रूप में इन क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं को लिपि का बीजभाव मानना चाहिए। इस तरह आरम्भ में भावों की अभिव्यक्ति के लिए लिपि एक माध्यम के रूप में प्रकट हुई। धीरे-धीरे विकसित होकर लिपि ने भाषा से सम्बन्ध बना लिया। दूसरे तरह के विचारकों के मत में लिपि का उद्‌भव भाषा के पश्चात हुआ। जबकि यह निश्चित हो चुका है कि मनुष्य के उद्‌भव के साथ-साथ भाषा ने भी उत्पत्ति प्राप्त की और भाषा को ही अक्षुण्ण रखने के लिए मनुष्य द्वारा लिपि की रचना की गयी, तब इस बात में तनिक भी सन्देक नहीं रहा जाता कि लिपि का उद्‌भव भाषा के बाद हुआ है। प्रमाण के तौर पर अब भी देखा जा सकता है कि संसार के अनेक मुनष्य भाषा-ज्ञान तो रखते हैं किन्तु लिपि-ज्ञान (अक्षर-ज्ञान) नहीं रखते। वैसे भी ऐतिहासिक परिपेक्ष्य में देशा जाय तो विदित हो जायेगा कि लिपि का इतिहास लगभग सात हजार वर्षों से अधिक पुराना नहीं है जबकि भाषा का इतिहास उतना ही पुराना ठहरता है जितना कि मनुष्य का इतिहास। अतः लिपिविदों और भाषावेत्ताओं के इस मत से सहमत हुआ जा सकता है कि लिपि भाषा की अनुगामी है, भाषा लिपि की अनुवर्ती नहीं है। लिपित भाषा को अभिव्यक्ति प्रदान करती है जबकि भाषा लिपि को आकृति देती है। भाषा को वर्तमान बनाना लिपि का काम है जबकि लिपि को इतिहास बनाना भाषा का काम है।

26.1.2 लिपि का विकास

ध्वनियों द्वारा भावाभिव्यक्ति के माध्यम-रूप में भाषा का उद्‌भव हुआ तथा चित्रों अथवा प्रतीकों द्वारा भाषिक प्रकटीकरण के माध्यम-रूप में लिपियों का सृजन हुआ। भाषाविद् मानते भी हैं कि भाषा के स्थिरीकरण के बाद ही लिपि की उत्पत्ति हुई है।

पुरानी विचारधारा के लोगों का कहना है कि लिपि को ईश्वर अथवा किसी देवता ने गढ़ा है। भावनात्मक स्तर पर बात तो ठीक है कि ईश्वर ही सब कुछ रचता है किन्तु ईश्वर या विधाता ने बैठकर लिपियों को वर्तमान रूप में निर्मित किया है-ऐसी बात नहीं है। स्वानुभवों की अभिव्यक्ति-हेतु मनुष्यों ने तरह-तरह के ध्वनि-प्रतीकों के निर्माण किए और वे ही शनैः शनैः विकसित एवं परिष्कृत होते गये हैं।

लिपि के सम्बन्ध में जो भी प्राचीनतम अवशेष मिले हैं उनके आधार पर कहा जा सकता है कि 4000 ई. पू. तक लेखन-कला की किसी भी व्यवस्थित प्रणाली का कोई चिन्ह उपलब्ध नहीं है। हाँ प्राचीनतम अव्यवस्थित प्रयास 10000 ई. पू. के मध्य तक लगभग 6000 वर्षों में लिपि का धीरे-धीरे विकास होता रहा। लिपि की इस विकासात्मक श्रृखला में प्रमुखतः निम्नांकित लिपियाँ उपलब्ध होती है–

1. चित्रलिपि
2. प्रतीकलिपि
3. सूत्रलिपि
4. विचार या संकेतलिपि
5. ध्वनिलिपि

1. चित्रलिपिः चित्रलिपि लेखन-कला के इतिहास की पहली सीढ़ी है। इस काल के मानवों ने कंदराओं की दीवालों या प्रस्तर-खण्डों पर मानव-शरीर, वनस्पति एवं ज्यामितीय शक्ल के अन्यान्य चित्र बनाये जो लिपि-संकेत के रूप में जाने गये। विवाहोत्सवों आदि पर बनाये जाने वाले भित्ति-चित्र आदि इसके अवशेष हैं। इसके पुराने चित्र दक्षिणी फ्रान्स,

नोट

स्पेन, यूनान, इटली, पुर्तगाल, साइबेरिया, मिस्र, चीन आदि विभिन्न देशों में भोजपत्र, चट्टान काष्टपट्टिका, हाथीदाँत्, सींग हड्डी वृक्षों की छाल तथा पशु-चर्म आदि पर खुदे उपलब्ध हुए है।

विवाहोत्सव रक्षाबंधन जैसे अवसरों पर ग्रामीण इलाकों में हल्दी आदि का वितरण प्रतीक लिपि का ही अवशेष है।

2. प्रतीक लिपि: विकसित होकर चित्रलिपि ने प्रतीक रूप धारण कर लिया। कह सकते हैं कि एक प्रकार से उसका रूप घिस गया। अंकित प्रतीक स्मृति-चिह्न होते थे। इनसे लिपि के उद्देश्यों की पूर्ति होती थी। कदाचित् रक्षा-बन्धन, विवाहोत्सवों पर ग्रामीण इलाकों में हल्दी-वितरण आदि प्रतीकलिपि के ही अवशेष हैं।

3. सूत्र लिपि: इस लिपि का इतिहास अतिप्राचीन है। सूत्रलिपि की परम्परा अद्यावधि चली आ रही है। आदिम समाज ने अपनी विकास-यात्रा में प्रमुख सन्दर्भ के स्मरण-हेतु एक सरल पथ निर्मित किया था और वही सूत्रलिपि का इतिहास बना। रस्सियाँ में गाँठे बनाकर, उन गांठों का रंग-बिरंग संकेत प्रदान कर, गांठो को छोटा-बड़ा बनाकर आरम्भिक प्रयास किया गया। पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' इस परम्पर का स्वस्थ प्रमाा है। मात्र 14 सूत्रों (अइउण् ऋलृक्, एओङ् आदि) पर समस्त 'अष्टाध्यायी' का विशाल व्याकरणिक ढान्चा खड़ा किया गया है।

इस पद्धति पर छनदशास्त्रीय और गणितीय सूत्रों के निर्माण भी लखित किये जा सकते हैं।

4. विचार या संकेत लिपि: आगे चलकर चित्र, प्रतीक एवं सूत्रलिपियाँ विचार या संकेत लिपि में परिणत हो गईं। इसमें आकृति मौन हो गई और संकेत प्रधान हो गया।

उदाहरण के तौर पर चलते हुए दो आदमियों का कोई चित्र न बनाकर दो समानान्तर रेखाओं (=) से उसका बोध किया गया। इसी प्रकार गणित में प्रयुक्त होने वाले चिह्न, जैसे- (+), ऋण (−), गुणा (×), भाग (÷), प्रतिशत (%) आदि विचार अथवा संकेत लिपि के ही अवशेष हैं।

5. ध्वनि लिपि: लिपि के इतिहास में ध्वन्यात्मक लिपि ही आज भाषा की प्रतिरूप है और लेखन की इस प्रणाली में भाषिक तत्व ध्वनि-विशेष का प्रतिनिधित्व करता है। ध्वनि-लिपि के दो भेद हैं-

(क) अक्षरात्मक (Syllabic)

(ख) वर्णात्मक (Alphabetic)

'अक्षरात्मक लिपि' में चिह्न किसी अक्षर को व्यक्त करता है, वर्ण को नहीं। नागरी लिपि अक्षरात्मक है। उदाहरणार्थ-इसके 'क' चिह्न और 'अ' दो वर्ण मिले है। इसी तरह अरबी, फारसी, बंगला, उड़िया, गुजराती आदि लिपियाँ अक्षरात्मक हैं।

'वर्णात्मक लिपि' में चिह्न पूरे किसी वर्ण का बोध कराता है न कि किसी आधे अक्षर का। रोमन लिपि वर्णात्मक है। इसमें 'K' से 'क' 'B' से 'ब' तथा 'P' से 'प' वर्ण का बोध स्पष्ट हो जाता है।

स्व-मूल्यांकन

दिए गए कथन के सामने सही (✓) अथवा गलत (×) का निशान लगाइए–

1. लिपि का आविष्कार भाषा की उत्पत्ति के बाद में हुआ। ☐
2. लिपि तथा भाषा अन्योन्याश्रित हैं। ☐
3. लिपि ईश्वर प्रदत्त है। ☐
4. किसी एक ही लिपि में भिन्न-भिन्न भाषाओं को लिखा जा सकता है। ☐

26.2 भाषा और लिपि का सम्बन्ध

नोट

भावों की अभिव्यक्ति के सार्थक ध्वनि-समूह को भाषा की संज्ञा दी जाती है। भाषा लिपि का पर्याय नहीं है। भाषा को अंकित करने की व्यवस्थित विधि लिपि है। दूसरे शब्दों में भावां की अभिव्यक्ति हेतु प्रयुक्त चिह्न ही लिपि हैं यद्यपि भाषा के अस्तित्व के लिए लिपि का होना आवश्यक नहीं है तथापि भाषा के अस्तित्व को सिरिता प्रदान करने के लिए पिपि की आवश्यकता पड़ती है। जहाँ तक भावों की अभिव्यक्ति का प्रश्न है, वह लिपि के बिना भी संभव है।

भाषा के विकास के पश्चात् ही लिपि की उत्पत्ति हुई। मनुष्य ने अपने विचारों को सुरक्षित रखने के लिए लिपि का निर्माण किया। मनुष्य उत्पत्ति के साथ भाषा की उत्पत्ति की बात मानी जा सकती है, किंतु अलग-अलग लिपियों का विकास भिन्न-भिन्न समय में हुआ। जहाँ सांस्कृतिक परिवर्तनों ने व्यापक रूप से भाषा के विकास को प्रभावित किया, वहाँ लिपि का विकास किसी विशेष भाषा के माध्यम से हुआ।

भाषा और लिपि में भिन्नता होती है। भाषा ध्वनियों की व्यवस्था है, किंतु लिपि वर्णों का संयोजन है। लिपि किसी विशेष भाषा से बँधी हुई नहीं होती। भिन्न-भिन्न भाषाओं को विशेष लिपि में लिखा जा सकता है,किंतु किसी लिपि में सभी ध्वनि-प्रतीकों के उपलब्ध न होने के कारण उनको लिपिबद्ध नहीं किया जा सकता। लिपि को सार्वभौमिक रूप प्रदान करने हेतु विदेशी भाषाओं के स्वरों (ध्वनियों) के अनुसार उसमें परिवर्द्धन करना आवश्यक होता है। इस प्रकार लिपि भाषा की अनुगामिनी है।

टास्क लिपि के महत्त्व पर एक संक्षिप्त नोट लिखिए।

भाषा लिपि की तुलना में अधिक प्रवाहमान, स्वच्छंद, परिवर्तनशील एवं गतिशील ोती हैं साथ ही लिपि पर तुलनात्मक दृष्टि से परंपरा का अधिक प्रभाव बना रहता है। भाषा के स्वरूप में निरंतर परिवर्तन होता रहता है, किंतु किसी भी लिपि में एकदम बड़ा परिवर्तन करना व्यावहारिक रूप से असंभव होता है, क्योंकि विशिष्ट लिपि में विशाल साहित्य मुद्रित होता है, जिसमें अपार धनराशि एवं समय लगा होता हैं अत: नई लिपि का आविष्कार व्यक्ति भले ही है अनुसंधान की दृष्टि से कर ले किंतु राष्ट्रीय स्तर पर प्रचलित किसी लिपि को समाप्त कर नई लिपि को प्रचलित करना नहीं हो पाता है। राष्ट्रीय लिपि संपर्क लिपि के रूप में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। उसमें सामान्य परिवर्तन-परिवर्द्धन ही संभव होता हैं विश्व की कोई भी लिपि पूर्णतया विकसित नहीं कही जा सकती, उसमें राष्ट्रीय स्तर पर समय-समय पर संशोधन किए जा सकते हैं। उललेखनीय है कि केन्द्रीय हिंदी निदेशालय ने विशेषज्ञों के विचार-विमर्श के बाद देवनागरी में अन्य भाषाओं की ध्वनियों के सूचक प्रतीक विकसित किए, किंतु मुद्रणालयों में विशेष टाइप ढलवाने के उपरान्त ही उन विशेष चिह्नों का प्रयोग संभव हो सकेगा।

क्या आप जानते हैं भाषा ध्वनियों की व्यवस्था है और लिपि वर्णों का संयोजन।

लिपि का महत्त्व नगण्य नहीं है। लिपि की सहायता से भाषा युग-युगों तक स्थायित्व प्राप्त करती है और साहित्य की परंपराओं की रक्षा करती हुई उसके विकास में सहायक होती है। इस प्रकार यह किसी देश की संस्कृति को अक्षुण्ण बनाए रखती है। वस्तुत: लिपि भाषा को संरक्षण एवं गतिशीलता प्रदान करती है। भाषा को सीखने में लिपि का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। विभिन्न भाषाओं को विशेष लिपि में अंकित कर लेने से सामान्य व्यक्ति के लिए कई भाषाएँ सीखना सरल हो जाता है।

लिपि भाषा का शरीर है। लिपि एक अमूर्त्त भाव है जो प्रत्यक्ष अनुीाव से परे है। लिपि भाषा के साथ एक निश्चित

नोट

संबंध है और वह है भाषा में ध्वनि की पर्याप्तता, जिस पर अभिव्यक्ति की सफलता निर्भर होती है। दूसरी ओर अर्थ भाषा की आत्मा है जो भाषा को मनस् तत्व से जोड़ता है। भाषा के अंग हैं– शब्द, अर्थ, भाव, अनुभूति और संवदेना। अर्थ अमूर्त्त एवं गुणात्मक होता है जिसको जानने पर ज्ञान का सार प्राप्त किया जा सकता है। वस्तुत: अर्थ-ग्राहकता पाठक का लक्ष्य होना चाहिए। भाषा-विशेष से पूर्वाग्रह का संबंध लिपि के साथ जोड़ना राष्ट्रीय हित में नहीं हैं देवनागरी लिपि में लिखा हुआ साहित्य केवल हिंदी और रोमन लिपि में लिखा हुआ विभिन्न भाषाओं का साहित्य केवल अंग्रेजी ही नहीं है।

26.3 सारांश

लिपि का सामान्य अर्थ होता है 'लिखावट'। किन्तु लिखावट या लेखन को वैज्ञानिक विश्लेषण में 'लिपि' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। अपने भावों, विचारों या कि अभिव्यक्ति की विभिन्न दशाओं को मिट्टी, पत्थर, छाल और कागज आदि पर जब किसी विशेष चिह्न द्वारा अंकित करते हैं तो वह पद्धति वैज्ञानिक धरातल पर लिपि कहलाती है। लिपि का जब वैज्ञानिक परीक्षण किया जाने लगता है जब वह प्रकरण 'लिपिविज्ञान' का विषय बन जाता है। कहा जा सकता है कि जिस तरह व्यक्त ध्वनियाँ भाषा कहलाती हैं उसी तरह प्रतीकों, चिह्नों और चित्रों आदि क्षरा अंकित किये गये विचार लिपि की संज्ञा प्राप्त करते हैं। परिभाषा के स्तर पर लिपि के लिए किसी शब्दावली की रचना की जाय तो कह सकते हैं कि लिपि लेखन-कला का वह स्वरूप है जिसके द्वारा भाषा को स्थायित्व प्रदान किया जाता है। पुरानी विचारधारा के लोगों का कहना है कि लिपि को ईश्वर अथवा किसी देवता ने गढ़ा है। भावनात्मक स्तर पर बात तो ठीक है कि ईश्वर ही सब कुछ रचता है किन्तु ईश्वर या विधाता ने बैठकर लिपियों को वर्तमान रूप में निर्मित किया है-ऐसी बात नहीं है। स्वानुभवों की अभिव्यक्ति-हेतु मनुष्यों ने तरह-तरह के ध्वनि-प्रतीकों के निर्माण किए और वे ही शनैः शनैः विकसित एवं परिष्कृत होते गये हैं।

भाषा के विकास के पश्चात् ही लिपि की उत्पत्ति हुई। मनुष्य ने अपने विचारों को सुरक्षित रखने के लिए लिपि का निर्माण किया। मनुष्य उत्पत्ति के साथ भाषा की उत्पत्ति की बात मानी जा सकती है, किंतु अलग-अलग लिपियों का विकास भिन्न-भिन्न समय में हुआ। जहाँ सांस्कृतिक परिवर्तनों ने व्यापक रूप से भाषा के विकास को प्रभावित किया, वहाँ लिपि का विकास किसी विशेष भाषा के माध्यम से हुआ। भाषा लिपि की तुलना में अधिक प्रवाहमान, स्वच्छंद, परिवर्तनशील एवं गतिशील ोती हैं साथ ही लिपि पर तुलनात्मक दृष्टि से परंपरा का अधिक प्रभाव बना रहता है। भाषा के स्वरूप में निरंतर परिवर्तन होता रहता है, किंतु किसी भी लिपि में एकदम बड़ा परिवर्तन करना व्यावहारिक रूप से असंभव होता है, क्योंकि विशिष्ट लिपि में विशाल साहित्य मुद्रित होता है, जिसमें अपार धनराशि एवं समय लगा होता हैं अत: नई लिपि का आविष्कार व्यक्ति भले ही है अनुसंधान की दृष्टि से कर ले किंतु राष्ट्रीय स्तर पर प्रचलित किसी लिपि को समाप्त कर नई लिपि को प्रचलित करना नहीं हो पाता है।

26.4 शब्दकोश

1. **अद्यावधि–** इस समय तक
2. **अनुगामी–** पीछे चलने वाला आज्ञाकारी
3. **कंदरा–** गुफा, घाटी
4. **परिवर्द्धन–** बढ़ाया जाना, सम्यक वृद्धि

26.5 अभ्यास-प्रश्न

1. लिपि के उद्भव और विकास पर प्रकाश डालिए
2. भाषा और लिपि का संबंध समझाइए।

उत्तरः स्व-मूल्यांकन **नोट**

1. (✓) 2. (×) 3. (×) 4. (✓)

26.7 संदर्भ पुस्तकें

1. *भाषा विज्ञान*– डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, किताब महल, इलाहाबाद
2. *भाषा विज्ञान: हिंदी भाषा और लिपि*– डॉ॰ रामकिशोर शर्मा लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद
3. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा*– नरेश मिश्र, संजय प्रकाशन, दिल्ली
4. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा का स्वरूप– विकास*–देवेन्द्र प्रसाद सिंह, हिंदी बुक सेंटर, दिल्ली

नोट

इकाई 27: भारत की प्राचीन लिपियाँ: खरोष्ठी एवं ब्राह्मी

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- भारत की प्राचीन लिपियों के संबंध में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- खरोष्ठी एवं ब्राह्मी लिपियों के विकास से परिचित होंगे।

प्रस्तावना

भारत में लिखने की कला का ज्ञान लोगों को अत्यंत प्राचीन काल से है। इसके प्राचीनतम नमूने सिंधु घाटी (पंजाब के मांटगुमरी जिले के हड़प्पा तथा सिंधु के लरकाना जिले के मोहनजोदड़ो में प्राप्त सीलों पर) मिले हैं। सिंधु घाटी की लिपि के प्रकार में अनेक पूर्व विदेशी विद्वानों का यह मत रहा है कि भारत में लिखने का प्रचार बहुत बाद में हुआ। सिंधु घाटी से अलग भारत के पुराने शिलालेखों और सिक्कों पर दो लिपियाँ (ब्राह्मी, खरोष्ठी) मिलती हैं। इसके अतिरिक्त ब्रह्मा और सरस्वती की मूर्ति (जिनके हाथ में पुस्तक बही है) से ी भारत में लेखन-कला प्राचीन काल से प्रचलित होने के प्रमाण मिलते हैं।

27.1 भारत की प्राचीन लिपियाँ– परिचय

भारतीय परिवेश में लेख-कला का उद्‌भव अतिप्राचीन काल में ही लक्ष्य किया जा सकता है। लिपि-वैज्ञानिक मानते हैं कि 500 ई. पू. से भारत में लिपियों के दर्शन होने लगे थे। भारत में अनेक लिपियों का प्रचलन रहा है। जैनियों के 'पन्नवणसूत्र' में 18 तथा बौद्ध-ग्रन्थ 'ललित विस्तर' में 64 लिपियों के उल्लेख मिलते हैं, किन्तु शिलालेखों, सिक्कों एवं अन्य साक्ष्यों के आधार पर प्राचीन भारत में प्रमुखत: तीन लिपियों के प्रचलन के प्रमाण मिलते है–

1. सिन्धुघाटी की लिपि
2. खरोष्ठी लिपि
3. ब्राह्मी लिपि

नोट

27.2 खरोष्ठी लिपि

खरोष्ठी लिपि के प्राचीनतम लेख शहबाजगढ़ी और मनशेरा में मिले है। इसकी प्राप्त सामग्री चौथी सदी ई. पू. की है। इस लिपि का प्रचलित नाम तो खरोष्ठी है किन्तु इसके अन्य नाम भी हैं, जैसे-वैक्ट्रियन, काबुलियन, 'वैक्ट्रोफालि' तथा 'आर्यन' आदि।

नामकरण के आधार:

1. चीनियों का कहना है कि 'खरोष्ठ' नाम के व्यक्ति द्वारा बनाये जाने के कारण इस लिपि का नाम 'खरोष्ठी' पड़ा।
2. संस्कृत के 'काशगर' से 'खरोष्ठ' शब्द बना है। 'काशगर' प्राचीन काल में मध्य एशिया का एक प्रान्त था।
3. गदहे की खाल पर लिखावट मिलने के कारण डॉ. प्राजिलुस्की इसे 'खरपृष्ठी' कहते हैं। 'खरपृष्ठी' का अपभ्रंश रूप 'खरोष्ठी' होता है।
4. आर्मेइक शब्द 'खरोट्ठ' से 'खरोष्ठ' के उद्भव के अंकुर भी तलाशे गये हैं।
5. डॉ; सुनीति कुमार चटर्जी की दृष्टि में हिब्रू के 'खरोशेथ' (Kharosheth) का अर्थ लिखावट होता है। अत: हिब्रू से आत्मसात् यह नाम 'खरोशथ' चला, जिसका संस्कृत रूप 'खरोष्ठ' ओर पुन: 'खरोष्ठी' बना।

नोट्स डॉ. राजबली पाण्डेय ने खरोष्ठी अक्षरों को गदहे के होंठ के रूप में देखकर 'खरोष्ठी' नामकरण का औचित्य स्वीकारा है। इसे ही ईरानी में 'खरपोश्त' कहा गया है।

वैशिष्ट्य:

1. खरोष्ठी लिपि उर्दू की भाँति पहले दायें लिखी जाती थी किन्तु बाद में ब्राह्मी के प्रभाव के कारण बायें से दायें लिखी जाने लगी।
2. खरोष्ठी में कुल 37 अक्षर थे।
3. इसमें संयुक्त व्यञ्जनों का अभाव है।
4. इसमें मात्राओं की प्राय: कमी है।
5. खरोष्ठी में दीर्घ स्वरों का अभाव पाया जाता है।

27.3 ब्राह्मी लिपि

प्राचीन भारत की सर्वश्रेष्ठ लिपि ब्राह्मी ही रही है। इस लिपि के प्राचीनतम नमूने बस्ती जिले (उ. प्र.) में प्राप्त 'पिपरावा' के स्पूत में तथा अजमेर जिले के 'बडली' या 'बर्ली' गाँव के शिलालेख में मिले हैं। इस लिपि में प्राप्त शिलालेखों के आधार पर श्री गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा ने इसका समय ई. पू. 500 से 350 ई. तक माना है। ओझा जी ने ब्राह्मी का सम्बन्ध 'अमराइक' से जोड़ा है।

नामकरण के आधार:

1. चीनी विश्वकोष 'फा-शु-लिन' (688 ई.) में इसके रचयिता कोई ब्रह्मया 'ब्रह्मा' नामक आचार्य बताये गये हैं। अत: रचयिता के नाम के आधार पर इसका 'ब्राह्मी' नाम पड़ा।
2. डॉ. मैक्समूलर ने ब्राह्मी का विकास यूनानी लिपि से माना है।
3. कनिंघम आदि विद्वानों का मानना है कि यह लिपि प्राचीन भारत की चित्रलिपि से विकसित हुई है।

नोट

4. डॉ. राजबली पाण्येय के अनुसार भारतीय आर्यों ने ब्रह्म (वेद = ज्ञान) की रक्षा के लिए इसको बनाया था। अत: इस आधार पर भी इसके ब्राह्मी नाम की पूरी सम्भावना मिलती है।
5. कतिपय विद्वान् ब्राह्मी की उत्पत्ति, 'सामी लिपि' से मानते हैं तो कतिपय विद्वान 'चीनी लिपि' से।

वैशिष्ट्य:

1. ब्राह्मी बायें से दायें की ओर लिखी जाती है।
2. इसकी लिखावट उच्चारण के अनुसार होती है।
3. ब्राह्मी में संयुक्त व्यञ्जनों का अभाव नहीं है।
4. इस लिपि में अनुस्वार अनुनाासिक एवं विसर्ग के लिए अलग-अलग चिह्न हैं।
5. ब्राह्मी में ह्रस्व और दीर्घ स्वरों के लिए अलग-अलग चिह्न हैं।

भारत में ही विकसित उर्दू भाषा फारसी लिपि में लिखी जाती है।
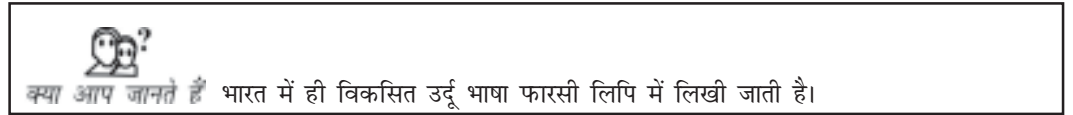
ब्राह्मी लिपि का विकास: ब्राह्मी का प्राचीनतम रूप चौथी सदी ई. पू. का है। इसकी दो शैलियाँ विकसित हुईं-
(क) उत्तरी शैली
(ख) दक्षिणी शैली

इन्हीं दोनों शैलियों से आगे चलकर भारत की और विभिन्न लिपियों का विकास हुआ जिन्हें निम्नांकित रूपों में देखा जा सकता है-
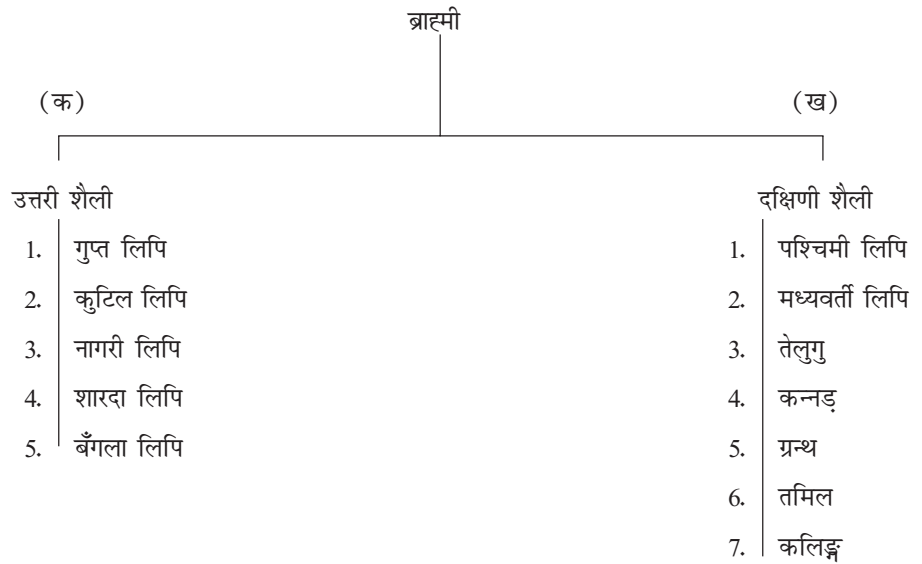
27.3.1 ब्राह्मी की उत्तरी शैली से विकसित लिपियाँ

1. **गुप्त लिपि:** गुप्त राजाओं के समय (चौथी-पाँचवीं सदी) में प्रचारित होने के कारण इसे गुप्त लिपि कहा गया।
2. **कुटिल लिपि:** स्वर मात्रओं की आकृति कुटिल या टेढ़ी होने के कारण इसे कुटिल लिपि कहा गया। इसका विकास गुप्तलिपि से हुआ है। नागरी तथा शारदा लिपियाँ इसी से निष्क्रमित हुई हैं।

3. **नागरी या प्राचीन नागरी लिपि:** दक्षिण भारत में तो नागरी के स्वरूप 8 वीं शताब्दी से ही वर्तमान थे किन्तु उत्तर भारत के अस्तित्व में यह 10 वीं शताब्दी में आयी।

   दक्षिण भारत में इसे नंदि नागरी की संज्ञा मिली है। नागरी या प्राचीन नागरी से विकसित लिपियों में प्रमुख हैं– गुजराती, मराठी, एवं बंगला आदि।
4. **शादरा लिपि:** कश्मीर की अधिष्ठात्री देवी 'शारदा' के आधार पर कश्मीर को 'शारदामण्डल' तथा वहाँ की लिपि को 'शारदा लिपि' कहते हैं। आधुनिक काल की कश्मीरी गुरुमुखी एवं टक्करी आदि लिपियाँ इसी से निकली है।
5. **बँगला लिपि:** दसवीं शताब्दी के आसपास नागरीलिपि की पूर्वी शाखा से बँगला का अभ्युदय माना जाता है। आधुनिक कालीन बँगला, मैथिली तथा उड़िया आदि लिपियाँ इसी से विकसित हुई हैं।

स्व-मूल्यांकन

दिए गए कथन के सामने सही (✓) अथवा गलत (×) का निशान लगाइए–

1. प्राचीन भारतीय लिपियाँ पहले फारसी के प्रभाव के कारण दायें से बायें की ओर लिखी जाती थीं। ☐
2. खरोष्ठी एवं ब्राह्मी लिपियाँ देवनागरी लिपि का ही विकसित रूप हैं। ☐
3. खरोष्ठी लिपि में कुल 37 अक्षर थे। ☐
4. मैक्समूलर ने ब्राह्मी का विकास यूनानी लिपि से माना है। ☐
5. ब्राह्मी लिपि बायें से दायें की ओर लिखी जाती है। ☐

27.3.2 ब्राह्मी की दक्षिणी शैली से विकसित लिपियाँ

1. **पश्चिमी लिपि:** क्षेत्रीय आधार पर निर्धारित पश्चिमी लिपियों को पश्चिमी लिपि कहा गया। 5 वीं शताब्दी के आसपास काठियावाड़, गुजरात खानदेश एवं सतारा आदि में मिलने वाली लिपियों को पश्चिमी लिपि की संज्ञा प्रदान की गई।
2. **मध्यवर्ती:** इस लिपि का प्रयोगात्मक कालखण्ड 5वीं से 8वीं शताब्दी के मध्य निर्धारित किया गया हैं। मध्यवर्ती लिपियों के प्रयोग क्षेत्र में मध्यप्रदेश, हैदराबाद एवं बुन्देलखण्ड की सीमाएँ निर्धारित होती है।
3. **तेलुगु:** 5वीं शताब्दी के बाद बम्बई प्रान्त के दक्षिणी भाग तथा मद्रास के आसपास इस लिपि का व्यवहार आरम्भ हुआ।
4. **कन्नड़:** 14वीं शताब्दी से पहले तथा चौथी शताब्दी के बाद मैसूर तथा मद्रास (चेन्नई) के इर्द-गिर्द कन्नड़ लिपि व्यवहार में दिखलायी पड़ी थी।
5. **ग्रन्थ लिपि:** 7वीं से 15वीं सदी तक मद्रास में प्रचलित इस लिपि का व्यवहार संस्कृत-ग्रन्थों के लिखने में किया जाता था।
6. **तमिल लिपि:** तमिल लिपि का प्रयोग आज भी होता है। तमिल लिपि की समता ग्रन्थ लिपि से की जा सकती है क्योंकि लेखकीय स्वरूप दोनों का लगभग एक-सा है।
7. **कलिङ्ग लिपि:** इसका आरम्भिक प्रयोगात्मक रूप 7वीं सदी का है। नागरी, तेलुगु, कन्नड़ी एवं ग्रन्थ लिपियों के मिश्रित रूप कलिङ्ग में देखे जा सकते हैं। कलिङ्ग लिपि के अक्षर समकोण की तरह निर्मित होते हैं।

इस तरह ब्राह्मी लिपि के विकास का पूरा एक इतिहास है। ई. पू. चौथी शताब्दी से लेकर कुछ दशकों तक इसने अपना पूरा प्रभाव लिपि-जगत् में स्थापित किया। आज भी ब्राह्मी की लगभग समस्त लिपियाँ जीवित है।

नोट

भारत की प्राचीन लिपियों के अतिरिक्त बहुत सारी आधुनिक लिपियाँ भी विकसित हो चुकी है, जिनमें टाकरी, कोछी, डोग्री, लंडा, सिरमौरी, मुल्तानी तथा गुरुमुखी आदि प्रसिद्ध हैं।

27.4 सारांश

भारतीय परिवेश में लेख-कला का उद्‌भव अतिप्राचीन काल में ही लक्ष्य किया जा सकता है। लिपि-वैज्ञानिक मानते हैं कि 500 ई. पू. से भारत में लिपियों के दर्शन होने लगे थे। भारत में अनेक लिपियों का प्रचलन रहा है। जैनियों के 'पन्नवणसूत्र' में 18 तथा बौद्ध-ग्रन्थ 'ललित विस्तर' में 64 लिपियों के उल्लेख मिलते हैं, किन्तु शिलालेखों, सिक्कों एवं अन्य साक्ष्यों के आधार पर प्राचीन भारत में प्रमुखतः तीन लिपियों के प्रचलन के प्रमाण मिलते है– 1. सिन्धुघाटी की लिपि 2. खरोष्ठी लिपि 3. ब्राह्मी लिपि

खरोष्ठी लिपि के प्राचीनतम लेख शहबाजगढ़ी और मनशेरा में मिले है। इसकी प्राप्त सामग्री चौथी सदी ई. पू. की है। इस लिपि का प्रचलित नाम तो खरोष्ठी है किन्तु इसके अन्य नाम भी हैं, जैसे-वैक्ट्रियन, काबुलियन, 'वैक्ट्रोफालि' तथा 'आर्यन' आदि।

1. खरोष्ठी लिपि उर्दू की भाँति पहले दायें लिखी जाती थी किन्तु बाद में ब्राह्मी के प्रभाव के कारण बायें से दायें लिखी जाने लगी।
2. खरोष्ठी में कुल 37 अक्षर थे।
3. इसमें संयुक्त व्यञ्जनों का अभाव है।
4. इसमें मात्राओं की प्रायः कमी है।
5. खरोष्ठी में दीर्घ स्वरों का अभाव पाया जाता है।

प्राचीन भारत की सर्वश्रेष्ठ लिपि ब्राह्मी ही रही है। इस लिपि के प्राचीनतम नमूने बस्ती जिले (उ. प्र.) में प्राप्त 'पिपरावा' के स्पूत में तथा अजमेर जिले के 'बडली' या 'बर्ली' गाँव के शिलालेख में मिले हैं। इस लिपि में प्राप्त शिलालेखों के आधार पर श्री गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा ने इसका समय ई. पू. 500 से 350 ई. तक माना है।

1. ब्राह्मी बायें से दायें की ओर लिखी जाती है।
2. इसकी लिखावट उच्चारण के अनुसार होती है।
3. ब्राह्मी में संयुक्त व्यञ्जनों का अभाव नहीं है।
4. इस लिपि में अनुस्वार अनुनासिक एवं विसर्ग के लिए अलग-अलग चिह्न हैं।
5. ब्राह्मी में ह्रस्व और दीर्घ स्वरों के लिए अलग-अलग चिह्न हैं।

ब्राह्मी लिपि का विकासः ब्राह्मी का प्राचीनतम रूप चौथी सदी ई. पू. का है। इसकी दो शैलियाँ विकसित हुईं–
(क) उत्तरी शैली

(ख) दक्षिणी शैली

ब्राह्मी की उत्तरी शैली से विकसित लिपियाँ

1. गुप्त लिपिः गुप्त राजाओं के समय (चौथी-पाँचवीं सदी) में प्रचारित होने के कारण इसे गुप्त लिपि कहा गया।
2. कुटिल लिपिः स्वर मात्रओं की आकृति कुटिल या टेढ़ी होने के कारण इसे कुटिल लिपि कहा गया।
3. नागरी या प्राचीन नागरी लिपिः दक्षिण भारत में तो नागरी के स्वरूप 8 वीं शताब्दी से ही वर्तमान थे किन्तु उत्तर भारत के अस्तित्व में यह 10 वीं शताब्दी में आयी।
4. शादरा लिपिः कश्मीर की अधिष्ठात्री देवी 'शारदा' के आधार पर कश्मीर को 'शारदामण्डल' तथा वहाँ की लिपि को 'शारदा लिपि' कहते हैं।

नोट

5. बँगला लिपि: दसवीं शताब्दी के आसपास नागरीलिपि की पूर्वी शाखा से बँगला का अभ्युदय माना जाता है।

दक्षिणी शैली से विकसित

पश्चिमी लिपि, मध्यवर्ती, तेलुगु, कन्नड़, ग्रन्थ लिपि, तमिल लिपि, कलिङ्ग लिपि

भारत की प्राचीन लिपियों के अतिरिक्त बहुत सारी आधुनिक लिपियाँ भी विकसित हो चुकी है, जिनमें टाकरी, कोछी, डोग्री, लंडा, सिरमौरी, मुल्तानी तथा गुरुमुखी आदि प्रसिद्ध हैं।

27.5 शब्दकोश

1. **अभ्युदय–** उत्तरोत्तर उन्नति, वृद्धि
2. **निष्क्रमण–** क्रमहीन, बेतरतीब, मन की तृप्ति, जाति से बाहर निकालना।

27.6 अभ्यास-प्रश्न

1. भारत की प्राचीन लिपियों का परिचय दीजिए।
2. ब्राह्मी एवं खरोष्ठी लिपि पर विस्तार से प्रकाश डालिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन

1. (×) 2. (×) 3. (✓) 4. (✓) 5. (✓)

27.7 संदर्भ पुस्तकें

1. *भाषा विज्ञान–* डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, किताब महल, इलाहाबाद
2. *हिंदी भाषा का संरचनात्मक अध्ययन–* डॉ॰ सत्यव्रत, मिलिंद प्रकाशन, हैदराबाद
3. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा–* नरेश मिश्र, संजय प्रकाशन, दिल्ली
4. *भाषा विज्ञान: हिंदी भाषा और लिपि–* डॉ॰ रामकिशोर शर्मा, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद

नोट

इकाई 28: देवनागरी लिपि का नामकरण

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी सक्षम होंगे–

- देवनागरी लिपि के नामकरण को समझने में।

प्रस्तावना

प्राचीन नागरी लिपि का प्रचार उत्तर भारत में नवीं सदी के अंतिम चरण से मिलता है, यह मूलतः उत्तरी लिपि है, पर दक्षिण भारत में भी कुछ स्थानों पर आठवीं सदी से यह मिलती है। दक्षिण में इसका नाम नागरी न होकर नंद नागरी है। आधुनिक काल की नागरी या देवनागरी, गुजराती, महाजनी, राजस्थानी तथा महाराष्ट्री आदि लिपियाँ इस प्राचीन नागरी के ही पश्चिमी रूप से विकसित हुई हैं और इसके पूर्वी रूप से कैथी, मैथिली तथा बांग्ला आदि लिपियों का विकास हुआ है। इसका प्रचार सोलहवीं सदी तक मिलता है। नागरी लिपि को नागरी या देवनागरी लिपि भी कहते हैं।

28.1 देवनागरी लिपि का नामकरण

नागरी लिपि के आठवीं, नौवीं शताब्दी के रूप को 'प्राचीन नागरी' नाम दिया गया है। दक्षिण भारत के विजय नगर के राजाओं के दान-पात्रों पर लिखी हुई नागरी लिपि का नाम 'नंदिनागरी' दिया गया है।

भाषाविज्ञानियों द्वारा देवनागरी लिपि के नामकरण के निम्नलिखित मत सामने आते हैं–

1. **डॉ. धीरेंद्र वर्मा** के मतानुसार मध्ययुग में स्थापत्य कला की एक शैली थी–नागर। इसमें सभी चिह्न किसी न किसी रूप में चतुर्भुज से मिलते-जुलते हैं। इस प्रकार के प, म, ग, भ, झ आदि चिह्नों की शैली विशेष 'नागर' आधार पर इसे नागरी नाम दिया गया है।
2. **डॉ. वर्मा** के द्वितीय मतानुसार प्राचीन समय में उत्तर भारत की विभिन्न राजधानियों में 'नगर' किसी प्रसिद्ध राजधानी का नाम रहा होगा और इसी राजधानी के आधार पर इस लिपि का नाम 'नागरी' पड़ा है।

   डॉ. वर्मा जी का प्रथम मत जहाँ कुछ ही चिह्नों पर आधारित है तो दूसरा मत पूर्ण काल्पनिक होने से स्वीकार्य नहीं है।

नोट

क्या आप जानते हैं नागरी लिपि का प्रचार उत्तर भारत में नवीं सदी में मिलता है। दक्षिण भारत में इसे नंदनागरी नाम से जाना जाता है।

3. कुछ विद्वानों की मान्यता है कि प्राचीनकाल में काशी को 'देव नगर' नाम से जाना जाता था। इस नगर में इस लिपि के उद्‌भव होने से इसे देवनागरी कहा गया है।

   यह मत तर्कसंगत नही लगता, क्योंकि काशी के निकट से प्राप्त प्रमाणों से प्राचीन प्रमाण अन्यत्र से मिले हैं। भारत के विभिन्न स्थानों से इस लिपि के प्रयोग के प्रमाण मिलने से यह मत भी वैज्ञानिक नहीं सिद्ध होता है।
4. विद्वानों के एक वर्ग का मत है कि शिक्षा का केंद्र 'नगर' रहा है। इसलिए लिपि का उद्‌भव नगर में हुआ। 'नगर' में उद्‌भव होने के कारण इसका नाम 'नागरी' लिपि पड़ा है।

   इस मत को भी पूर्णत: तर्कसंगत नहीं मान सकते हैं। क्योंकि प्राचीनकाल में, भारतवर्ष में गुरुकुलीय शिक्षा का प्रचलन था, जिसका केंद्र प्राय: नगर से दूर वनस्थली में होता था। नगरों में शिक्षा केंद्र होने से भी इसे आधार नहीं बना सकते हैं।
5. संस्कृत भाषा को 'देववाणी' भी कहते हैं। संस्कृत भी नागरी में लिखी जाती है। इसलिए नागरी में 'देव' जोड़ कर 'देवनागरी' नाम दिया गया है।
6. कुछ भाषाविद् बुद्ध के 'ललित विस्तर' में आए नाम 'नागलिपि' से संबंधित बतलाते हुए नागरी नामकरण स्वीकार करते हैं।

टास्क आपकी दृष्टि में देवनागरी लिपि के नामकरण से संबंधित कौन-सा तर्क वैज्ञानिक है।

   प्रमाण के अभाव में इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता है।
7. विद्वानों के एक वर्ग का मत है कि बिहार में स्थित पटना का नाम कुछ समय पूर्व पाटलिपुत्र और प्रचीन समय में 'नगर' था वहाँ के राजा चंद्रगुप्त को आदर से 'देव' नाम से पुकारा जाता था। गुप्त काल में पटना में इस लिपि के प्रचलन के आधार पर चंद्रगुप्त नाम 'देव' और पटना नाम 'नगर' के संयुक्त नाम देवनगर से देवनागरी नाम बताया गया है।

   प्राचीनकाल में नागरी के प्रयोग का केंद्र पटना ही रहा हो, ऐसा प्रमाण नहीं मिलता है। यह नामकरण कुछ तर्कपूर्ण लगता है, किंतु वैज्ञानिकता सिद्ध नहीं होती है।
8. कुछ विद्वानों की मान्यता है कि इस लिपि को प्रारंभिक प्रयोग गुजरात के नागर ब्राह्मणों द्वारा किया गया है, जिसके नाम-आधार पर नागरी नाम दिया गया है।

   कल्पना-आधार पर नाम विश्लेषण वैज्ञानिक नहीं है।
9. कुछ विद्वानों द्वारा इसे 'हिंदी लिपि' नाम दिया जाता है। यह नाम पूर्ण भ्रामक है, क्योंकि नागरी मात्र हिंदी की ही लिपि नहीं है वरन् संस्कृत, मराठी और नेपाली आदि भाषाओं की भी लिपि है। हिंदी भाषा और देवनागरी का पारस्परिक संबंध है, किंतु दोनों एक नहीं हैं। यह नाम पूर्णत: अवैज्ञानिक है।
10. श्री आर. शाम शास्त्री के मतानुसार भारतवर्ष धर्म प्रधान देश है। देवों के इन प्रतीक समूह को एकत्र कर देने पर 'देवनगर' की संज्ञा दी जाती थी। इसी आधार पर चिह्नों का चयन कर विकसित लिपि का नाम 'देवनागरी' रखा गया है।

नोट

स्व-मूल्यांकन

रिक्त स्थान की पूर्ति करें–

1. .... मध्यकाल में स्थापत्य कला की एक शैली थी।
2. संस्कृत भाषा को .... वाणी भी कहते हैं।
3. आचार्य विनोबा भावे ने नागरी को .... नाम दिया है।
4. संस्कृत की भी लिपि .... है।

अत: निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि देवनागरी लिपि का नामकरण किस प्रकार हुआ, यह अनिर्णीत है। आचार्य विनोबा भावे ने नागरी के लिए 'लोक नागरी' नाम दिया है। आचार्य ने इस लिपि को विशेष महत्त्व देने के लिए यह नाम दिया है। उनकी मान्यता रही है, "यह लिपि किसी जाति संप्रदाय वर्ग या धर्म-विशेष की नहीं वरन् समस्त भारतीयों की लिपि है। उन्होंने इसे राष्ट्र लिपि के रूप में स्वीकार कर कहा था कि विभिन्न भाषा-भाषियों को अपनी लिपि के साथ नागरी लिपि का भी प्रयोग करना चाहिए।"

वर्तमान समय में देश के विभिन्न क्षेत्रों, धार्मिकों, प्रांतवासियों आदि के द्वारा यदि यह लिपि अपना ली जाए, तो संपर्क लिपि के रूप में इसकी भूमिका महत्त्वपूर्ण हो जाएगी। यह नाम तर्क-संगत है, किंतु इसे पूर्णरूपेण अपनाया नहीं गया है।

नोट्स भारत में जब मूर्तिकला और चित्रकला का विकास नहीं हुआ था, तब से यहाँ विभिन्न प्रतीकों के आधार पर विभिन्न देवी-देवताओं का ध्यान किया जाता रहा है। ऐसे में गोले, त्रिभुज, चतुर्भुज आदि विभिन्न चिह्न का उपयोग किया जाता था।

भाषा-विकास में मानव और देश की उन्नति निहित है। लिपि को पाकर भाषा में स्थायित्व विकसित होता है। भारतीय परिवेश में सुसभ्य अनुकूल विचार वाले व्यक्ति को 'नागर' कहते हैं। भाषा के सुदंर-अनुकूल प्रयोक्ता और उसे स्थायित्व प्रदान करने से प्रयत्नशील 'नागर' (सुसभ्य व्यक्ति) के आधार पर इसका नाम 'नागरी' रखा गया है। संस्कृत को 'देव भाषा' कहते हैं। संस्कृत की भी लिपि नागरी है। इसलिए इसे 'देवनागरी' नाम भी दिया गया है।

28.2 सारांश

प्राचीन नागरी लिपि का प्रचार उत्तर भारत में नवीं सदी के अंतिम चरण से मिलता है, यह मूलत: उत्तरी लिपि है, पर दक्षिण भारत में भी कुछ स्थानों पर आठवीं सदी से यह मिलती है। दक्षिण में इसका नाम नागरी न होकर नंद नागरी है। नागरी लिपि को नागरी या देवनागरी लिपि भी कहते हैं। नागरी लिपि के आठवीं, नौवीं शताब्दी के रूप को 'प्राचीन नागरी' नाम दिया गया है। दक्षिण भारत के विजय नगर के राजाओं के दान-पात्रों पर लिखी हुई नागरी लिपि का नाम 'नंदिनागरी' दिया गया है।

भाषाविज्ञानियों द्वारा देवनागरी लिपि के नामकरण के निम्नलिखित मत सामने आते हैं–

डॉ. धीरेंद्र वर्मा के मतानुसार मध्ययुग में स्थापत्य कला की एक शैली थी–नागर। इसमें सभी चिह्न किसी न किसी रूप में चतुर्भुज से मिलते-जुलते हैं। इस प्रकार के प, म, ग, भ, झ आदि चिह्नों की शैली विशेष 'नागर' आधार पर इसे नागरी नाम दिया गया है।

डॉ. वर्मा के द्वितीय मतानुसार प्राचीन समय में उत्तर भारत की विभिन्न राजधानियों में 'नगर' किसी प्रसिद्ध राजधानी का नाम रहा होगा और इसी राजधानी के आधार पर इस लिपि का नाम 'नागरी' पड़ा है।

डॉ. वर्मा जी का प्रथम मत जहाँ कुछ ही चिह्नों पर आधारित है तो दूसरा मत पूर्ण काल्पनिक होने से स्वीकार्य नहीं है।

एक अन्य मत के अनुसार–संस्कृत भाषा को 'देववाणी' भी कहते हैं। संस्कृत भी नागरी में लिखी जाती है। इसलिए नागरी में 'देव' जोड़ कर 'देवनागरी' नाम दिया गया है।

भाषा-विकास में मानव और देश की उन्नति निहित है। लिपि को पाकर भाषा में स्थायित्व विकसित होता है। भारतीय परिवेश में सुसभ्य अनुकूल विचार वाले व्यक्ति को 'नागर' कहते हैं। भाषा के सुदंर-अनुकूल प्रयोक्ता और उसे स्थायित्व प्रदान करने से प्रयत्नशील 'नागर' (सुसभ्य व्यक्ति) के आधार पर इसका नाम 'नागरी' रखा गया है। संस्कृत को 'देव भाषा' कहते हैं। संस्कृत की भी लिपि नागरी है। इसलिए इसे 'देवनागरी' नाम भी दिया गया है।

28.3 अभ्यास प्रश्न

1. देवनागरी लिपि के नामकरण पर प्रकाश डालिए।
2. देवनागरी लिपि के नामकरण के संबंध में विभिन्न विद्वानों के मत का उल्लेख कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन

1. नागर **2.** देव **3.** लोक नागरी **4.** देवनागरी।

28.4 संदर्भ पुस्तकें

1. *भाषा विज्ञान*– डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, किताब महल, इलाहाबाद
2. *हिंदी भाषा का संरचनात्मक अध्ययन*– डॉ॰ सत्यव्रत, मिलिंद प्रकाशन, हैदराबाद
3. *भाषा और भाषा विज्ञान*– गरिमा श्रीवास्तव, संजय प्रकाशन, दिल्ली
4. *भाषा विज्ञान: हिंदी भाषा और लिपि*– डॉ॰ रामकिशोर शर्मा, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद
5. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा*– नरेश मिश्र, संजय प्रकाशन, दिल्ली

नोट

इकाई 29: देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता अथवा गुण

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता अथवा गुण से परिचित होंगे।

प्रस्तावना

भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा हिंदी की लिपि नागरी है। संवैधानिक रूप में नागरी को राजलिपि का पद प्राप्त है। विश्व की कोई भी वर्णमाला नागरी के समान सर्वांगीण और वैज्ञानिक नहीं है। माना सभी को अन्य वस्तुओं की भाँति अपनी भाषा तथा लिपि ही अच्छी लगती है, किंतु नागरी की वैज्ञानिकता को कोई विद्वान अस्वीकार नहीं कर सकता है। यदि भारतवर्ष की सभी भाषाओं को नागरी लिपि में भी लिखा जाए, तो इसकी उपयोगिता और भी बढ़ जाएगी। देवनागरी संपर्क लिपि बन जाएगी और भारतवर्ष के समस्त भाषाभाषियों में भावादान प्रदान सरल हो जाएगा। इससे राष्ट्रीय एकता का आकर्षक परिवेश मिलेगा।

29.1 देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता अथवा गुण

इस लिपि की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं–

नोट

29.1.1 चिह्न संख्या

कहा जाता है कि नागरी में चिह्नों की संख्या बहुत अधिक है, रोमन में मात्र 26 चिह्न है। विचार करने पर नागरी में स्वर-लगभग 10, मात्रा-लगभग-9, व्यंजन-33 अर्थात लगभग 52 चिह्न हैं। अंग्रेजी में छोटे + बड़े अक्षर अर्थात 26 + 26 = 52 चिह्न हैं। इस प्रकार नागरी के चिह्नों को अधिक कहना तर्क संगत नहीं है। इनकी संख्या अनुकूल और उपयोगी है।

नोट्स नागरी लिपि में सभी व्यंजनों के साथ स्वर 'अ' जुड़ा हुआ होता है जैसे– क्+अ, ख्+अ, ग्+अ आदि।

29.1.2 आदर्श वर्गीकरण

नागरी वर्णमाला का वर्गीकरण पूर्ण वैज्ञानिक है। नागरी वर्णमाला को मुख्यत: दो वर्गों में विभक्त किया गया है–स्वर तथा व्यंजन। स्वर को प्रारंभ में तथा व्यंजन को बाद में स्थान दिया गया है।

स्वर–जिन वर्णों का उच्चारण किसी अन्य ध्वनि की सहायता के बिना किया जा सके और मुख-विवर से हवा अबाध गति से बाहर निकले, उन्हें स्वर की संज्ञा दी जाती है; यथा–अ, आ, इ, ई, उ, ऊ आदि।

व्यंजन–जिन वर्णों का उच्चारण स्वर की सहायता के बिना न किया जा सके तथा उच्चारण-अवधि सीमित और क्षणिक हो, ऐसी ध्वनि के उच्चारण के समय हवा घर्षण करती हुई संकीर्ण मार्ग से निकलती है। इस प्रकार मार्ग में वायु का पूर्ण या अपूर्ण अवरोध होता है, ऐसे वर्णों को व्यंजन की संज्ञा दी जाती है; यथा–क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ आदि।

(क) स्वर वर्गीकरण

स्वर वर्णों की व्यवस्था अपने में पर्याप्त वैज्ञानिक है।

(i) मात्रानुसार–नागरी के स्वरों में ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत रूपों की व्यवस्था द्रष्टव्य है–

- **(क) ह्रस्व**–जिन स्वरों के उच्चारण में अपेक्षाकृत सीमित अर्थात चुटकी बजाने का समय लगता है; जैसे–अ, इ, उ।
- **(ख) दीर्घ**–जिन स्वरों के उच्चारण में ह्रस्व से लगभग दुगना समय लगता है; जैसे–आ, ई, ऊ।
- **(ग) प्लुत**–जिन स्वरों के उच्चारण में दीर्घ स्वर से भी अधिक समय लगता है, ह्रस्व से लगभग तीन गुना समय लगे; जैसे–ओउम् में ओउ।

(ii) संरचना के अनुसार–स्वरों की आकृति के अनुसार की गई व्यवस्था महत्त्वपूर्ण है।

- **(क) मूल स्वर**–जिन संकेतों में मात्र एक स्वर होता है; यथा–अ, इ, उ।
- **(ख) संयुक्त स्वर**–जिन संकेतों में एक से अधिक स्वर हो; यथा–
  ए = अ + इ, ऐ = अ + ई, ओ = अ + ऊ।

(ख) व्यंजन-वर्गीकरण

(i) वर्ग-विभाजन–नागरी में 5-5 व्यंजनों के वर्गों की पूर्ण वैज्ञानिक व्यवस्था है–कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग तथा पवर्ग में क्रमश: कंठ्य, तालव्य, मूर्द्धन्य, दंत्य तथा ओष्ठ्य लिपि चिह्न हैं।

- **(क) कवर्ग**–इस वर्ग के व्यंजन वर्ण जीभ के पश्च भाग से उच्चारित होते हैं। इसलिए इन्हें कंठ्य कहते हैं; यथा–क, ख, ग, आदि।
- **(ख) चवर्ग**–इस (तालव्य) वर्ग के व्यंजन-वर्णों का उच्चारण जीभ की नोक से कठोर तालु पर झटके से मिलने से होता है; यथा–च, छ आदि।

नोट

(ग) टवर्ग–इस (मूर्द्धन्य) वर्ग के व्यंजन-चिह्नों का उच्चारण मूर्द्धा और जीभ की सहायता से होता है; यथा–ट, ठ, ड, ढ, ण।

(घ) तवर्ग–इस (दंत्य) वर्ग के व्यंजन-चिह्नों का उच्चारण दाँत के साथ जीभ की नोंक के मिलने से होता है; यथा–त, थ, द आदि।

(च) पवर्ग–इस (ओष्ठ्य) वर्ग के व्यंजन चिह्नों का उच्चारण दोनों ओठों की सहायता से होता है; उदाहरणार्थ–प, फ, ब, भ, म।

(ii) प्राणत्व-आधार–व्यंजन-वर्णों के उच्चारण-संदर्भ में निकलने वाली हवा को ध्यान में रखकर की गई लिपि-चिह्नों की दो वर्गों की व्यवस्था उत्तम कोटि की है।

(क) महाप्राण–जिन व्यंजनो के उच्चारण में हवा का प्रवाह तीव्र हो तथा हकारत्व विद्यमान हो। प्रत्येक वर्ग के द्वितीय तथा चतुर्थ व्यंजन वर्ण महाप्राण हैं–

कवर्ग–ख, (kh), घ (gh)   चवर्ग–छ (chh) झ (jh)

टवर्ग–ठ (Th), ढ (Dh)   तवर्ग–थ (Th) ध (Dh)

पवर्ग–फ (Ph), भ (Bh)

(ख) अल्पप्राण–जिन व्यंजन वर्णों के उच्चारण में हवा का प्रवाह मंद हो तथा हकारत्व का अंश न हो। प्रत्येक वर्ग के प्रथम, तृतीय तथा पंचम व्यंजन वर्ण, अल्पप्राण हैं–

कवर्ग–क, ग, ङ चवर्ग–च, ज, ञ

टवर्ग–ट, ड, ण   तवर्ग–त, द, न

पवर्ग–प, ब, म

(iii) नासिक्य-आधार–जिन व्यंजनों के उच्चारण में हवा मुख्यत: नाक से निकले, उन्हें नासिक्य व्यंजन कहते हैं। नागरी लिपि के प्रत्येक व्यंजन वर्ग में अनुनासिक व्यंजन को अंत में पाँचवे स्थान पर व्यवस्थित किया गया है; यथा–क, च, ट, त और पवर्ग के क्रमश: नासिक्य चिह्न हैं–ङ, ञ, ण, न, म।

(iv) संरचनानुसार–नागरी वर्णमाला में सामान्य रूप से मूल व्यंजनों को स्थान दिया गया है–संयुक्त व्यंजन वर्णमाला में नहीं हैं। प्रयोग आवश्यक होने पर संयुक्त और द्वित्व रूप बना लेते हैं; यथा–

(क) मूल व्यंजन–क, ख, च, त आदि।

(ख) संयुक्त व्यंजन–क्ष (क्‍ष), त्र (त्‍र), ज्ञ (ज्‍ञ)।

(ग) द्वित्व व्यंजन-क्क, त्त, द्द, (पक्का, रत्ती, भद्दा) आदि।

टास्क हिंदी में प्रचलित विदेशी ध्वनियों का परिचय दीजिए।

29.1.3 लिपि-चिह्न नाम तथा ध्वनि अनुरूपता

नागरी लिपि के वर्णों की यह प्रमुख विशेषता है कि वर्णों के नाम के ही अनुरूप शब्दों में भी उनका उच्चारण होता है; यथा–क-कमल, त-तमाल आदि।

इस प्रकार नागरी वर्ण-ज्ञान होने पर किसी शब्द का शुद्ध उच्चारण संभव और सरल है। रोमन लिपि में यह गुण नहीं है। रोमन के संकेतों की ध्वनियाँ शब्दों से प्रयुक्त होकर कुछ से कुछ हो जाती हैं। प्रत्येक लिपि-संकेत के साथ शब्दों से प्रयुक्त होने वाली उनकी ध्वनि को याद करना पड़ता है। रोमन में इस संदर्भ की अनेकरूपता दिखाई देती है–

नोट

(क) अंग्रेजी के कुछ शब्दों के उच्चारण में कुछ लिपि-संकेतों के नाम की मात्र प्रथम ध्वनि का प्रयोग होता है; यथा–B (बी) 'ब'-Bag (बैग), D (डी) 'ड'-Date (डेट), K (के) 'क'-Kite (काइट)।

(ख) अंग्रेजी के कुछ शब्दों में लिपि-संकेतों के नाम की दूसरी ध्वनि का प्रयोग किया जाता है; यथा– F (एफ) 'फ'-Fan (फैन), L (एल) 'ल'-Lame (लेम), M (एम) 'म'-Man (मैन)।

(ग) अंग्रेजी के कुछ शब्दों में लिपि-संकेतों के लिए किसी भी ध्वनि का प्रयोग नहीं होता है, इनके स्थान पर पूर्ण भिन्न ध्वनि का प्रयोग किया जाता है; यथा–C (सी) 'क'-Cat (कैट), H (एच) 'ह'-House (हाउस), H (एच) 'अ'-Hour (आवर)।

क्या आप जानते हैं नागरी लिपि में नुक्ते अथवा बिंदु का प्रयोग फारसी लिपि के प्रभाव का परिणाम है। जैसे– ड ड़, ढ ढ़, ज ज़, फ फ़ इत्यादि।

29.1.4 एक ध्वनि के लिए एक लिपि चिह्न

नागरी लिपि की यह प्रमुख विशेषता है कि लगभग प्रत्येक ध्वनि के लिए एक संकेत का प्रयोग होता है। रोमन में यह गुण अपेक्षाकृत न्यून है। इसमें एक ध्वनि के लिए एक से अधिक संकेतों के प्रयोग होते हैं; यथा–

क > K (के)-Kite काइट (पतंग)
> Ch (सी एच)-Chemistry कैमिस्ट्रि (रसायन विज्ञान)
> C (सी)-Coat कोट (कोट)
> Ck (सी के)-Back बैक (पीछे)
> Que (क्यू-यू-ई)-Cheque चेक (चेक)
> X (एक्स)-Fox फॉक्स (लोमड़ी)

इस प्रकार 'फ' के लिए F (Fan), Ph (Photo), Gh (Rough) के प्रयोग मिलते हैं, तो 'इ' के लिए i (Tin)] O (Women), Y (System) आदि संकेत प्रयुक्त होते हैं।

29.1.5 एक लिपि-चिह्न के लिए एक ध्वनि

एक लिपि चिह्न के लिए एक ध्वनि का होना वैज्ञानिकता है। नागरी लिपि के किसी वर्ण को शब्द के आदि, मध्य अथवा अंत कहीं भी प्रयोग करें, ध्वनि एक ही होती है। हिंदी में कुछ एक अपवाद मिल सकते हैं, तो रोमन लिपि में यह कमी बहुत खटकती है–

A (ए) अ > Affirm (अफ्फर्म)–निश्चय पूर्वक कहना
आ > Car (कार)–कार
ए > Rate (रेट)–नियत मूल्य
ऐ > At (ऐट)–पर

इसी प्रकार U (यू) का उच्चारण अ (Cut) उ (Put) यू (Unit) आदि रूपों में होता है।

29.1.6 व्यंजन की आक्षरिकता

नागरी लिपि के सभी व्यंजनों के साथ स्वर अ का उच्चारण होता है। यह गुण व्यंजनों की आक्षरिकता कहलाती है। च = च् + अ, त = त् + अ आदि। वह लिपि श्रेष्ठ मानी जाती जिसमें कम समय, कम स्थान और कम खर्च के साथ स्पष्ट और अनुकूल अभिव्यक्ति हो।

नोट

इस प्रकार नागरी के आक्षरिक रूप के लेखन में त्वरा आती है, साथ ही समय तथा स्थान की भी बचत होती है। रोमन लिपि के वर्णों में यह गुण अपेक्षाकृत कम है, जिसके कारण समय स्थान और शक्ति अपेक्षाकृत अधिक लगती है; यथा–

कमल KAMAL, रमन RAMANA, चम-चम CHAMA CHAMA, छम-छम CHHAMA CHHAMA.

स्व-मूल्यांकन

सही विकल्प चुनिए–

1. राजभाषा हिंदी लिखी जाती है–
   (क) खरोष्ठी लिपि में (ख) रोमन लिपि में (ग) देवनागरी लिपि में
2. विश्व में सर्वाधिक वैज्ञानिक लिपि मानी जाती है।
   (क) फारसी (ख) देवनागरी (ग) रोमन
3. एक ही ध्वनि के लिए एक से अधिक संकेतों का प्रयोग होता है–
   (क) रोमन में (ख) फारसी में (ग) अरबी में
4. हिंदी के संयुक्त व्यंजन हैं–
   (क) ङ, ञ, ण, न, म (ख) क्ष, त्र, ज्ञ, श्र (ग) क ख च त

29.1.7 मात्रा का प्रयोग

नागरी लिपि के स्वरों का कभी स्वतंत्र रूप में प्रयोग होता है, तो कभी उनके मात्रा संकेतों का। स्वरों के स्वतंत्र प्रयोग में किसी अन्य लिपि-संकेतों का सहारा नहीं लेना पड़ता है; यथा-

अ-अपनी, इ-इधर आदि।

जब स्वर के स्थान पर उनकी मात्राओं का प्रयोग किया जाता है, तो लेखन का मूलाधार व्यंजन होता है; यथा-

आ > ा-माता, इ > ि-लिपि, उ > ु-कुछ, ऊ > ू-मूल आदि।

यदि मात्रा प्रयोग की व्यवस्था न होती तो स्थान शक्ति एवं समय अधिक लगने से लेखन में त्वरा गुण संभव न होता। ऐसे में लेखन का रूप इस प्रकार होता; यथा-माता = म् आ त् आ, लिपि = ल् इ प् इ, कुछ = क् उ छ् अ। ऐसी वैज्ञानिकता रोमन लिपि में नहीं है। स्वरों के मात्रा रूप के अभाव में उनका स्वतंत्र रूप ही प्रयुक्त होता है; यथा-पतन = PATANA, कमल KAMALA आदि।

29.1.8 ह्रस्व-दीर्घ स्वरों के लिए स्वतंत्र लिपि-चिह्न

यह नागरी की प्रमुख वैज्ञानिकता है। रोमन लिपि में यह गुण आंशिक रूप में भी नहीं है। नागरी लिपि में स्वर के दो रूप हैं-ह्रस्व तथा दीर्घ; यथा–

ह्रास्व स्वर-अ, इ, उ आदि।

दीर्घ स्वर-आ, ई, ऊ आदि।

इस प्रकार स्वर के ह्रस्व तथा दीर्घ, दो रूपों से ध्वनियों का अधिक शुद्ध उच्चारण और लिपिबद्ध करना संभव है; यथा– रम, रमा, राम, रामा।

लत, लता, लात, लाता।

ह्रस्व तथा दीर्घ स्वर ध्वनियों के दो रूपों से उक्त लेखन संभव है, अन्यथा रम, रमा, राम, रामा के लिए एक ही रूप होता। रोमन में 'अ' तथा 'आ' स्वर ध्वनियों के लिए सामान्यत: 'A' का वर्ण का ही प्रयोग होता है, जिसके कारण ऐसी ही स्थिति होती है; यथा–

RAMA = रम, रमा, राम, रामा।

LATA = लत, लता, लात, लाता।

29.1.9. पर्याप्त लिपि-चिह्न

वैज्ञानिक लिपि में संबंधित भाषा की ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए पर्याप्त चिह्नों का होना आवश्यक होता है। नागरी लिपि की यह प्रमुख विशेषता है। रोमन लिपि द्वारा अंग्रेजी की भी सभी ध्वनियों को स्पष्ट रूप में लिपिबद्ध करना अत्यंत कठिन है। रोमन लिपि में महाप्राण ध्वनियों के लिए स्वतंत्र लिपि चिह्न नहीं है। इनको लिपिबद्ध करने के लिए अल्पप्राण ध्वनि के साथ 'H' का प्रयोग किया जाता है; यथा–

ख KH, घ GH, ठ TH, फ PH ।

अंग्रेजी में लिपि-सकेंतों की अपर्याप्तता के कारण पढ़ने में आने वाली समस्याएँ द्रष्टव्य हैं–

AGHAN > अगहन, अघन; PATH– पथ, पठ आदि।

इसके अतिरिक्त सुपाठ्यता और लेखन-सारल्य नागरी लिपि की विशेषताएँ है, जिनसे इसकी वैजानिकता और पुष्ट होती है। इन विशेषताओं को देखते हुए नागरी लिपि को संपर्क लिपि के रूप में प्रयोग करन चाहिए, इससे राष्ट्रीय एकता भी सुदृढ़ होगी।

29.2 सारांश

भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा हिंदी की लिपि नागरी है। संवैधानिक रूप में नागरी को राजलिपि का पद प्राप्त है। विश्व की कोई भी वर्णमाला नागरी के समान सर्वांगीण और वैज्ञानिक नहीं है। माना सभी को अन्य वस्तुओं की भाँति अपनी भाषा तथा लिपि ही अच्छी लगती है, किंतु नागरी की वैज्ञानिकता को कोई विद्वान अस्वीकार नहीं कर सकता है। यदि भारतवर्ष की सभी भाषाओं को नागरी लिपि में भी लिखा जाए, तो इसकी उपयोगिता और भी बढ़ जाएगी। देवनागरी संपर्क लिपि बन जाएगी और भारतवर्ष के समस्त भाषाभाषियों में भावादान प्रदान सरल हो जाएगा।

देवनागरी लिपि की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं–

चिह्न संख्या– नागरी में चिह्नों की संख्या अनुकूल और उपयोगी है।

आदर्श वर्गीकरण– नागरी वर्णमाला का वर्गीकरण पूर्ण वैज्ञानिक है। नागरी वर्णमाला को मुख्यत: दो वर्गों में विभक्त किया गया है–स्वर तथा व्यंजन। स्वर को प्रारंभ में तथा व्यंजन को बाद में स्थान दिया गया है।

स्वर वर्णों की व्यवस्था अपने में पर्याप्त वैज्ञानिक है। स्वरों की आकृति के अनुसार की गई व्यवस्था महत्त्वपूर्ण है।

नागरी में 5-5 व्यंजनों के वर्गों की पूर्ण वैज्ञानिक व्यवस्था है–कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग तथा पवर्ग में क्रमश: कंठ्य, तालव्य, मूर्द्धन्य, दंत्य तथा ओष्ठ्य लिपि चिह्न हैं।

व्यंजन-वर्णों के उच्चारण-संदर्भ में निकलने वाली हवा को ध्यान में रखकर की गई लिपि-चिह्नों की दो वर्गों की व्यवस्था उत्तम कोटि की है।

लिपि-चिह्न नाम तथा ध्वनि अनुरूपता– नागरी लिपि के वर्णों की यह प्रमुख विशेषता है कि वर्णों के नाम के ही अनुरूप शब्दों में भी उनका उच्चारण होता है; यथा–क-कमल, त-तमाल आदि। इस प्रकार नागरी वर्ण-ज्ञान होने पर किसी शब्द का शुद्ध उच्चारण संभव और सरल है। रोमन लिपि में यह गुण नहीं है। रोमन के संकेतों की ध्वनियाँ शब्दों से प्रयुक्त होकर कुछ से कुछ हो जाती हैं।

एक ध्वनि के लिए एक लिपि चिह्न– नागरी लिपि की यह प्रमुख विशेषता है कि लगभग प्रत्येक ध्वनि के लिए एक संकेत का प्रयोग होता है। रोमन में यह गुण अपेक्षाकृत न्यून है। इसमें एक ध्वनि के लिए एक से अधिक संकेतों के प्रयोग होते हैं; यथा–

क > K (के)-Kite काइट (पतंग)

नोट

एक लिपि-चिह्न के लिए एक ध्वनि– एक लिपि चिह्न के लिए एक ध्वनि का होना वैज्ञानिकता है। नागरी लिपि के किसी वर्ण को शब्द के आदि, मध्य अथवा अंत कहीं भी प्रयोग करें, ध्वनि एक ही होती है। हिंदी में कुछ एक अपवाद मिल सकते हैं।

व्यंजन की आक्षरिकता

मात्रा का प्रयोग

ह्रस्व-दीर्घ स्वरों के लिए स्वतंत्र लिपि-चिह्न– यह नागरी की प्रमुख वैज्ञानिकता है। रोमन लिपि में यह गुण आंशिक रूप में भी नहीं है।

पर्याप्त लिपि-चिह्न– वैज्ञानिक लिपि में संबंधित भाषा की ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए पर्याप्त चिह्नों का होना आवश्यक होता है। नागरी लिपि की यह प्रमुख विशेषता है।

इसके अतिरिक्त सुपाठ्यता और लेखन-सारल्य नागरी लिपि की विशेषताएँ है, जिनसे इसकी वैजानिकता और पुष्ट होती है। इन विशेषताओं को देखते हुए नागरी लिपि को संपर्क लिपि के रूप में प्रयोग करन चाहिए, इससे राष्ट्रीय एकता भी सुदृढ़ होगी।

29.3 शब्दकोश

1. **प्लुत–** तीन मात्राओं वाला स्वर, ओड्म
2. **मूर्द्धा–** मुख के बीच का स्थान जहाँ से मूर्धन्य वर्गों का उच्चारण होता है।

29.4 अभ्यास-प्रश्न

1. नागरी लिपि की वैज्ञानिकता पर विचार कीजिए।
2. नागरी वर्णमाला का वर्गीकरण आदर्श वर्गीकरण है। उदाहरण के साथ समझाइए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन

1. (ग) 2. (ख) 3. (क) 4. (ख)

29.5 संदर्भ पुस्तकें

पुस्तकें

1. *भाषा विज्ञान–* डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, किताब महल, इलाहाबाद
2. *हिंदी भाषा का संरचनात्मक अध्ययन–* डॉ॰ सत्यव्रत, मिलिंद प्रकाशन, हैदराबाद
3. *भाषा और भाषा विज्ञान–* गरिमा श्रीवास्तव, संजय प्रकाशन, दिल्ली
4. *भाषा विज्ञान: हिंदी भाषा और लिपि–* डॉ॰ रामकिशोर शर्मा लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद
5. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा–* नरेश मिश्र, संजय प्रकाशन, दिल्ली

इकाई 30: देवनागरी लिपि के दोष/सुधार एवं देवनागरी का वर्तमान मानक रूप

नोट

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे—

- देवनागरी लिपि के दोष एवं दोष सुधार हेतु दिए गए सुझावों से परिचित होंगे।
- देवनागरी लिपि के वर्तमान मानक रूप से परिचित होंगे।

प्रस्तावना

आधुनिक काल में देवनागरी लिपि समस्त हिंदी भाषी प्रदेशों में और भारत के कुछ अन्य प्रांतों में भी प्रमुख की जाती है। किसी भी भाषा में वर्तनी की अनेकरूपता को लेखन का सबसे बड़ा दोष माना जा सकता है। इसके कारण भाषा का अध्ययन जटिल हो जाता है, उसकी वैज्ञानिकता एवं शुद्धता प्रभावित होती है तथा अर्थ बोध सहज नहीं रह पाता। मानक उच्चारणानुरूप लेखन-विधान ही वर्तनी है, परन्तु कभी-कभी उच्चारण की मानाकता पर ही प्रश्नचिन्ह लग जाता है। एक ही शब्द को शिक्षित समाज भी भिन्न-भिन्न रूपों में उच्चरित करता है—सिंह—स् + ई + ह्/स् + ई + घ्। इसी प्रकार कभी-कभी मानक उच्चारण मानक वर्तनी से भिन्न होता है। यथा—उच्चारण, अद्ध्यापक, वर्तनी-अध्यापक। स्पष्ट है कि हिंदी भाषा में भी वर्तनी सम्बन्धी अनेकरूपता देखने को मिलती है। हिंदी-वर्तनी की अनेकरूपता की चर्चा करते हुए आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ने लिखा है कि, ''हिंदी वर्तनी में एकरूपता का अभाव बहुतों को खटकता है। वस्तुत: वह खटकने की चीज भी है; क्योंकि एकरूपता न रहने से यह संशय सदा बना रहता है कि कौन प्रयोग ग्राह्य है और कौन अग्राह्य। वर्तनी की अनेकरूपता के चलते सबसे अधिक उलझन उनको होती है जो भाषा सीखने का उपक्रम करते हैं एक ही शब्द के विविध रूप भ्रम में डाल देते हैं और वे यह निर्णय नहीं कर पाते कि किसे स्वीकार करना चाहिए। उसके चलते मुद्रण में भी कठिनाइयाँ होती हैं। जिस उलझन का अनुभव लिखनेवाले को होता है, उसी का कम्पोजीटर को भी। वह अपनी धारणा के अनुसार किसी शब्द को एक रूप में कम्पोज कर भेजता है और प्रूफ देखने वाला, जो सम्भवत: दूसरे रूप का आग्रही है, दूसरे रूप में संशोधन कर देता है। उदाहरणार्थ,

नोट

यदि कम्पोजीटर ने 'चाहिये' कम्पोज कर दिया, तो प्रूफरीडर ने उसका संशोधन 'चाहिए' कर दिया। इसी तरह कोई 'जायंगे' लिखता है तो कोई 'जायँगे', कोई 'जायेंगे' तो कोई जाएँगे। कभी-कभी 'जायँगे' लिखने वाले भी मिल जाते हैं। यदि इन पर अनुस्वार और चन्द्रबिन्दु के प्रयोग-विकल्प को सामने रखें, तो नौ-दस रूप हो जाते हैं। एक व्यक्ति 'गयी' लिखता है तो दूसरा 'गई'। जहाँ 'गये' लिखा जाता है, वहाँ 'गए' भी। लेखन की यह अनेकरूपता निश्चय ही श्लाघ्य नहीं कही जा सकती।''

आगे वे लिखते हैं, ''अंग्रेजी की वर्तनी नितान्त दोषपूर्ण और अवैज्ञानिक है, इसमें आज तक दो राय नहीं हुई। स्वयं अंग्रेजों में भी इसे निःसंकोच स्वीकार किया है। अंग्रेजी ध्वनि-विज्ञान की शायद ही कोई पुस्तक मिलेगी, जिसमें अंग्रेजी वर्तनी की दोषपूर्णता का उल्लेख न किया गया हो। कुछ लेखकों ने तो बड़े उग्र शब्दों में इसकी भर्त्सना की है। यहाँ चूंकि अनेकरूपता का प्रसंग है, इसलिए यह देख लेना अच्छा होगा कि वह दोष अंग्रेजी में है या नहीं और यदि है तो कितना है। बात यह है कि अंग्रेजी के हजारों शब्दों का उच्चारण बदल गया, किन्तु उनकी वर्तनी आज भी वही है, जो आज से शताब्दियों पहले प्रचलित थी। उदाहरणार्थ Daughter, Laugh, Eight, Through, Thought, Though, Neighbour, Thorough आदि शब्दों को ले लें। इनके आज के उच्चरण और वर्तनी में कितना अन्तर पड़ गया है। इसका कारण यह है कि पहले ये शब्द जिस रूप में बोले जाते थे। आज उनके लिखने का रूप तो वही रह गया है, परन्तु उच्चारण बदल गया है।''

वर्तनी की अनेकरूपता से संस्कृत भी मुक्त नहीं है। 'संस्कृत भाषा' की, और विशेषतः पाणिनीय व्याकरण की वैज्ञानिकता सर्वसम्मत है, किन्तु वहाँ भी एक शब्द के अनेक रूपों की स्वीकृति दीखती है। जैसे, सँस्कर्त्ता, संस्कर्ता, सँसस्कर्त्ता, संस्स्कर्त्ता। इनमें 'त' के वैकल्पिक द्वित्य को छोड़ दें और एक 'त' का प्रयोग करें तो उपर्युक्त चार रूप आठ बन जाएँगे। इस तरह एक संस्कर्त्ता शब्द आठ विभिन्न प्रकारों से लिखा जा सकता है और ये सभी प्रयोग पाणिनी-समस्मत हैं। इसी प्रकार पुंस्कोकिलः, पुँस्कोकिलः दोनों प्रयोग शुद्ध हैं। अर्क-अवर्क्क, ब्रह्मा-ब्रह्म्मा, कर्म-कर्म्म, शय्या-शय्य्या आदि दोनों प्रयोग साधु हैं।

स्पष्ट है कि वर्तनी की अनेकरूपता से कोई भी भाषा मुक्त नहीं है और यद्यपि किसी भी भाषा में वर्तनी की अनेकरूपता को श्रेयस्कर नहीं माना जा सकता, परन्तु यह अस्वाभाविक बिल्कुल नहीं है। आवश्यकता मात्र इस बात की है जहाँ तक सम्भव हो, इस अनेकरूपता को दूर करने का प्रयास किया जाए।

30.1 देवनागरी लिपि के दोष

1. शिरोरेखा सजवट की चीज है इसका प्रयोग अनावश्यक है।
2. कई वर्णों के रूप में साम्य है–ख-रव, ध-घ, भ-म।
3. संयुक्त व्यंजनों–क्ष, त्र, ज्ञ, श्र का प्रयोग अनावश्यक है।
4. कुछ व्यंजन अनुक्रमों के संयुक्त रूप अनावश्यक है–त्त, क्त, द्य, द्म, ह्न, स्र, द्व, द्ध, ह्व।
5. कुछ वर्णों के दो रूप प्रचलित हैं– अ-त्र्प, छ-छ, झ-भ्क, ण-रग़ा, क्ष-छवें।
6. 'र' के चार रूप हैं– यह अवैज्ञानिक है।
7. 'अ' को छोड़कर शेष स्वरों के लिए दो चिह्न; जैसे– आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ-ा, ि, ी, ु, ू, े, ै, ओ, औ होना दोष हैं।
8. नागरी में कई भारतीय और विदेशी भाषाओं को अनेक ध्वनियों के लिए वर्णों का अभाव है।
9. इसमें न्ह्, म्ह्, ल्ह् के लिए स्वतन्त्र चिह्नों का अभाव है।
10. ऋ और ष का प्रयोग अनावश्यक है।

30.2 देवनागरी लिपि के दोष-सुधार हेतु सुझाव

नागरी के इन दोषों तथा अन्य कठिनाइयों को दूर करने के लिए अर्थात् नागरी के मानकीकरण के लिए समय-समय पर विद्वान विचार करते रहे हैं, इनमें प्रमुख हैं– बाबू छत्रधारी सिंह, अम्बिकादत्त व्यास, महावीर प्रसाद द्विवेदी, किशोरीदास वाजपेयी, बाबूराम सक्सेना, भोलानाथ तिवारी, राजेन्द्र द्विवेदी, रमेशचन्द्र मेहरोत्रा, सियाराम तिवारी, अनन्त चौधरी, गोपालराय आदि। हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की लिपि सुधार समिति ने सन् 1914 में इस दृष्टि से कुछ सुझाव दिए थे, जिनमें प्रमुख हैं–

1. संयुक्ताक्षर में द्वितीय 'र' सामान्य रूप से लिखा जाए जैसे– प्र, त्र, ट्र
2. इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ के स्थान पर अि, अी, अु, अू, अे, अै को मान्यता दी जाए।
3. त्र्प्र, भ्र, रा के स्थान पर अ, झ, ण को मान्यता मिले। 'क्त' और 'श' के स्थान पर ल तथा श का प्रयोग हो।
4. म और घ के स्थान पर (म और घ से पृथक् करने के लिए) भ और ध का प्रयोग हो।
5. ह्रस्व 'ए' और ह्रस्व 'ओ' के लिए निम्न चिन्ह स्वीकार किए जाएँ– अे॑, ओ॑।

1947 में उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा गठित आचार्य नरेन्द्रदेव समिति द्वारा प्रस्तुत मुख्य सुझाव निम्नलिखित हैं–

1. क्ष, त्र, ज्ञ को वर्णमाला से हटा दिया जाए।
2. 'इ' की मात्रा वर्ण के आगे आधा करके प्रयोग की जाए, जैसे-केग्सी।
3. 'र' को सर्वत्र 'र' लिखा जाए–प्ेम, त्रुटि (प्रेम, त्रुटि)।
4. 'ळ' को वर्णमाला में स्थान मिले।

उपर्युक्त सुझावों के संदर्भ में डॉ. भोलानाथ तिवारी अपनी राय प्रकट करते हुए कहते हैं–केन्द्रीय हिंदी निदेशालय, दिल्ली ने भी मानक लिपि और वर्तनी सम्बन्धी अपने नियम प्रस्तुत किए हैं, उनका वर्णन करने से पूर्व ऊपर वर्णित नागरी के दोषों पर मैं अपनी विनम्र राय प्रकट करना चाहता हूँ।

(1) शिरोरेखा सजावट की चीज नहीं है। इससे कई वर्णों में भ्रम समाप्त हो जाता है। टंकण और छपाई में इससे कोई असुविधा नहीं होती, अतः इसे जारी रखना चाहिए।

(2) अ-त्र्प्र, छ-छ, झ-भ्र, ण-रा, क्ष-क्ष में प्रचलन और सुविधा के आधार पर प्रथम रूप को मान्यता मिलनी चाहिए।

(3) ख-रव, ध-घ, भ-म के भ्रम को दूर करने के लिए ख, ध और भ रूपों को स्वीकार कर लिया जाए। यो, ध-घ, भ-म में भ्रम शिरोरेखा न लगाने पर अथवा असावधानीवश ही होता है। ऐसी समस्याएँ अन्य लिपियों में भी मिलती हैं जैसे, अंग्रेजी– r-v, g-q, k-R, l-t, u-v आदि। फिर भी, ख, ध, भ को अपनाने पर यह भ्रम भी समाप्त हो जाएगा।

(4) क्ष, त्र, ज्ञ, श्र का पूर्व में उपयोग रहा है, परन्तु अब इनके उच्चारण (क्ष, क्य, क्छ, ज्ञ-ग्य, ज्यं, ज्ञ आदि) में अन्तर आ जाने के कारण इन्हें छोड़ा जा सकता है। वैसे भी इनका प्रयोग प्रायः तत्सम शब्दों में ही किया जाता है।

(5) 'त्त' आदि संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग पहले होता रहा है, वैज्ञानिकता की दृष्टि से अब इनके स्थान पर त्त (त्त), क्त (क्त), द्य (द्य), द्म (द्म), ह्न (ह्न), स्र (स्र), द्व (द्व), द्ध (द्ध), ह्र (ह्र) को ही मान्यता मिलनी चाहिए।

(6) नागरी में 'र' के चार रूप हैं। यों रोमन में भी R के तीन रूप हैं– R, **ɽ**, r तब भी नागरी को अधिक वैज्ञानिक बनाने के लिए र, र्, ्र, ॅ, के स्थान पर सिर्फ 'र' का प्रयोग किया जाए। स्वर रहित 'र' को हल लगाकर-'र्' लिखा जा सकता है।

(7) आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ के लिए एक से अधिक चिह्न कोई दोष नहीं है। ये तो उच्चारण को ठीक प्रकार से अभिव्यक्त करने के लिए आवश्यक हैं। मात्रा इस बात का अहसास कराती है कि उस व्यंजन में से 'अ' स्वर निकल गया है। यदि मात्रा का प्रयोग नहीं करेंगे और उसके स्थान पर स्वर रखेंगे तो शब्द के उच्चारण और लेखन में अन्तर आ जाएगा–नकुल–नकउल। इसी प्रकार अक्षर विभाजन की दृष्टि से भी ये असंगत हो पाएगा न/कुल-नक/उल।

नोट

यदि 'क' के नीचे 'हल' लगाए तब भी इसे उपयुक्त नहीं माना जा सकता। नक्/उल जिस प्रकार रंजक क्रियाएँ मूल क्रिया का अर्थ थोड़ा-सा परिवर्तित करती हैं, उसी प्रकार मात्राएँ भी व्यंजन को कुछ भिन्न रूप दती हैं। यह पूर्णतः व्यंजन के दो या अधिक रूप हैं–A-*a*-a, B-*b*-b, C-c, D-d, E-e, F-f, G-g, H-h आदि। वहाँ यह भी अनियमितता है कि किसी वर्ग के दो चिन्ह हैं और किसी के तीन। हिंन्दी में सिर्फ उ तथा ऊ की दो प्रकार की मात्राएँ हैं–कु-रु, कू-रू। इनमें 'र' में लगने वाली मात्राओं को नीचे लगाया जा सकता है– रु, र।

(8) ध्वनियों के अभाव के सन्दर्भ में यही कहा जा सकता है कि नागरी में हिंदी की सभी ध्वनियों के लए लिपि चिह्नों को लेने में भी संकोच नहीं करती। मराठी चिह्न 'ळ' इस दृष्टि से नागरी में लिया जा सकता है। अन्य ध्वनियों के लिए हिंदी ने नए चिह्न भी स्वीकार किए हैं, जैसे– ऑ, क़, ख़, ग़, ज़, फ़।

(9) न्, म्, ल् क महाप्राण रूपों के लिए हिंदी में प्रारम्भ से ही कोई चिह्म नहीं है। न्ह्, म्ह्, ल्ह् अर्थात् अल्पप्राण में ह् मिलाकर अब तक काम चलाया जा रहा है। कुछ विद्वान इनके इसी रूप के पक्षधर हैं और कुछ इनके नीचे बिन्दु लगाकर काम चलाना चाहते हैं–न्ह्, म्ह्, ल्ह्। मुझे लगता है कि इससे भ्रम समाप्त नहीं होगा। ख्, घ्, झ्, ठ्, ध् आदि के समान इनके भी स्वतन्त्र चिह्म होने चाहिए। मेरी दृष्टि में इनके निम्नलिखित चिह्नों का प्रयोग किया जा सकता है–

न्ह्-ऩ्   म्ह्-म़्   ल्ह्-ल़्

(10) 'इ' की मात्रा पर्याप्त विवादास्पद रही हैं। यह जहाँ लगाई जाती है, वहाँ बोली नहीं जाती। कई शब्दों में तो यह अपने उच्चारण स्थान से दो-तीन वर्ण पहले लगाई जाती है, जैसे–चन्द्रिका–च् + अ + इ + न् + द् + र् + क् + आ। उच्चारण की दृष्टि से इसे 'र्' के बाद लगाना चाहिए परन्तु यह 'न्' की मात्रा 'इ' की 'ि' के क्रम में परिवर्तन का सुझाव दिया है। साथ ही इसके रूप में परिवर्तन करने के लिए भी अलग-अलग सुझाव दिए गए हैं जैसे–

	इ	ई
(1)	ी	
(2)	ी	ी
(3)	ी	

उपर्युक्त सुझावों में 'इ' की मात्रा को छोटी करना व्यावहारिक दृष्ट से उचित नहीं है क्योंकि लेखन में इससे त्रुटि की संभावना हमेशा बनी रहेगी। दूसरे और तीसरे सुझाव में लेखन प्रक्रिया को और बढ़ाया गया है, जो उचित नहीं प्रतीत होता। साथ ही, अन्य मात्राओं की तुलना में वह कुछ असंगत भी जान पड़ता है। ी का ी के साथ भ्रम भी हो सकता है। मेरा सुझाव है कि इस मात्राा को बड़ा-छोटा या कम-ज्यादा न कर सिर्फ ऊपर लगने वाले चिह्न का दिशा-परिवर्तन कर दिया जाए तो लेखन में असुविधा भी नहीं होगी और मात्रा का क्रम भी ठीक हो जाएगा जैसे–

ी	>	–दिशा	(द् + इ + शा)	‸	दीशा
ी	>	–दिया	(द् + इ + या)	‸	दीया
ी	>	–दीया	(द् + ई + या)	‸	दीया

हाँ, यह अवश्य ध्यान रखना होगा कि 'इ' तथा 'ई' दोनों की मात्राएँ ऊपर गोलाकार न आकर कुछ तिरछी आएंगी– *ी, ी*–तभी यह सुझाव सार्थकता प्राप्त करेगा।

(11) अरबी-फारसी से गृहीत ध्वनियों के लिए निश्चित किए गए चिन्हों 'क़', 'ख', 'ग़', ज़', 'फ़', के सम्बन्ध में मेरा मानना है कि सामान्य हिंदी भाषी इनका प्रयोग अवरोही क्रम में इस प्रकार करते हैं–

1.	क	ख	ग	ज	फ	(सर्वाधिक प्रयोग)
2.	क	ख	ग	ज़	फ़	(सबसे कम प्रयोग)
3.	क	ख़	ग	ज़	फ़	

नोट

4.	क	ख़	ग़	ज़	फ़
5.	क़	ख़	ग़	ज़	फ़

अर्थ की दृष्टि से देखें तो क़, ख़, ग़, ज़, फ़ के प्रयोग से अर्थ में अन्तर आता अवश्य है परन्तु यदि इनके स्थान पर क, ख, ग, ज, फ का प्रयोग करें तब भी अर्थ सन्दर्भ में पूर्णत: स्पष्ट हो जाता है–

1. ग़लती करोगे तो सज़ा मिलेगी। (दण्ड)
2. गलती करोगे तो सजा मिलेगी।

दूसरे वाक्य में 'सजा' का कोशीय अर्थ सजाना है परन्तु सन्दर्भ से यह 'दण्ड' ही ज्ञात हो रहा है। अत: अब नुक्तेवाले चिह्नों को वर्णमाला में रखना मात्र संख्या बढ़ाना ही है। पहले चरण में कम-से-कम क़, ख़, ग़ को तो हटा देना चाहिए। ज़ और फ़ को दूसरे चरण में हटाया जा सकता है। उर्दू के जानकार यदि नगरी में लिखें तब उनके लिए भी यह नुक्ता लगाना आवश्यक नहीं है। हाँ, उच्चारण में वे यदि सावधानी रखते हैं तो किसी को आपत्ति नहीं हो सकती।

(12) ऋ और 'ष' का उच्चारण अब क्रमश: 'रि' और 'श' हो गया है, 'ष' को अब वर्णमाला से निकाला जा सकता है, परन्तु 'ऋ' की मात्रा को हटाना अभी सम्भव नहीं है।

ह्रस्व 'ए' और ह्रस्व 'ओ' के लिए क्रमश: ऍ और ओ ॅ चिन्ह अपनाए जा सकते हैं।

'र' किन-किन रूपों में लिखा जाता है?

30.3 देवनागरी लिपि का वर्तमान मानक रूप

केन्द्रीय हिंदी निदेशालय, भारत सरकार ने नागरी लिपि और हिंदी वर्तनी के सम्बन्ध में निम्नलिखित रूपों को मानक स्वीकार किया है–

मानक हिंदी वर्णमाला

स्वर	अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ऋ	ए	ऐ	ओ	औ
मात्राएँ		ा	ि	ी	ु	ू	ृ	े	ै	ो	ौ
अनुस्वार	ं	(अं)									
विसर्ग	:	(अ:)									
अनुनासिकता चिन्ह	ँ										
व्यंजन	क	ख	ग	घ	ङ						
	च	छ	ज	झ	ञ						
	ट	ठ	ड	ढ	ण	ड़	ढ़				
	त	थ	द	ध	न						
	प	फ	ब	भ	म						
	य	र	ल	व	ळ						
	श	ष	स	ह							
संयुक्त व्यंजन	क्ष	त्र	ज्ञ	श्र							
हल चिन्ह	्	(ड्)									

नोट

गृहीत स्वन	ऑ	(ॉ)	ख़,	ज़,	फ़
देवनागरी अंक	१	२	३	४	५
	६	७	८	९	०
भारतीय अंकों का					
अन्तर्राष्ट्रीय रूप	१	२	३	४	५
	६	७	८	९	०

आमतौर पर हिंदी में अनुनासिक (ँ) के स्थान पर अनुस्वार (.) का प्रयोग किया जाता है जैसे–जहां, कहां, दिशाएं, भाषाएं इत्यादि, प्रयोग सही नहीं है। इसके स्थान पर–जहाँ, कहाँ, दिखाएँ, भाषाएँ आदि सही रूप है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मानक देवनागरी का रूप निश्चित हो जाने पर यह विश्व की सर्वाधिक पूर्ण लिपि होगी, सर्वाधिक वैज्ञानिक लिपि तो यह अभी भी है ही। कोई अन्य लिपि स्पष्टता, सरलता एवं सुबोधता की दृष्टि से इसके सम्मुख नहीं ठहर सकती। यह भारत की राष्ट्रलिपि है और हिंदी भारत की राष्ट्रभाषा। राष्ट्रभाषा ही किसी भी राष्ट्र की कलात्मक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक अभिव्यक्ति की आधार होती है। अपनी क्षेत्रीय सीमाओं को लाँघकर समस्त देश में किसी-न-किसी रूप में व्यवहृत होती है। परिनिष्ठित हिंदी तो देवनागरी में लिखी ही जाती है। यदि भारत की समस्त लिपियों के स्थान पर देवनागरी को अधिष्ठित कर दिया जाए तो भाषा-भेद मिटाने में सरकार को बहुत सहायता मिलेगी। भारत का प्राचीन समग्र साहित्य इसी लिपि में मिलता है। इसलिए भाषा-वैज्ञानिकों, वैयाकरणों और भाषा-प्रयोक्ताओं द्वारा यदि इस प्रकार के सुधार एवं परिवर्तन स्वीकार कर लिए जाएँ जिससे इस लिपि में सभी भारतीय भाषाओं को लिखा जा सके तो देवनागरी हमारी राष्ट्रीय एकता का प्रतीक बन सकती है। हिंदी भाषा और देवनागरी जिस गति एवं भावना से दूरी भाषाओं के शब्द ग्रहण कर रही हैं और ध्वनियों के लिए लिपि चिन्ह निर्मित कर रही हैं, यह भाषा एवं लिपि के प्राणवान होने का संकेत है। यही इनकी गत्यात्मकता है, गति ही जीवन है। देवनागरी जीवन्त लिपि है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में विद्वानों का ध्यान हिंदी वर्तनी की अनेकरूपता की ओर आकर्षित हुआ था। इस समय काशी पत्रिका, वैष्णव पत्रिका, बिहार बंधु, हिंदी बंगवासी आदि पत्र-पत्रिकाओं ने एतद्विषयक लेख प्रकाशित किए थे। कुछ पत्र-पत्रिकाओं में वर्तनी को लेकर पर्याप्त वाद-विवाद भी चला। सन् 1886 ई. में क्षत्रधारी सिंह ने इस सम्बन्ध में 'लेख नियम' पुस्तिका प्रकाशित की थी। सन् 1890 ई. में पं. अम्बिकादत्त व्यास की 'विभक्ति विभाग' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। 1898 ई. में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने हिंदी वर्तनी एवं व्याकरण संबंधी समस्याओं पर एक उपसमिति का गठन किया था, जिसके प्रस्तावों को उसने स्वीकार एवं प्रकाशित भी किया।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती के माध्यम से इस दिशा में सर्वाधिक योगदान किया। उनके तथा उस युग के अन्य साहित्यकारों, वैयाकरणों, समीक्षकों-अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, कामताप्रसाद, गुरु, मैथिलीशरण गुप्त, रामचंद्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास आदि के प्रयासों से छायावाद युग आते-आते हिंदी वर्तनी का रूप पर्याप्त स्थिर हो चुका था।

छायावाद युग के बाद हिंदी साहित्य के विकास के साथ-साथ लेखन में वर्तनी सम्बन्धी उच्छृंखलता एवं अनेकरूपता भी बढ़ने लगी। फलतः सरकार तथा अन्य संस्थाओं द्वारा इस संबंध में चिंता व्यक्त की गई। सन् 1953 में डॉ. राधाकृष्णन की अध्यक्षता में एक परिषद की बैठक लखनऊ में हुई, जिसमें अनेक प्रांतों के मुख्यमंत्री, शिक्षामंत्री तथा अनेक भाषाविद् शामिल हुए। परिषद् ने निम्नलिखित सुझाव दिए–

1. रव, ध, भी, द्द के स्थान पर ख, ध, भ, छ को अपनाया जाए।

2. क्ष, त्र, ज्ञ, श्र आदि स्वतंत्र चिन्हों को छोड़कर शेष वर्णों को मिलाकर लिखा जाए–क्र, श्र, त्त, क्स आदि। कल्पना हिन्दुस्तानी, हिंदी अनुशीलन, परिषद पत्रिका, भाषा आदि पत्रिकाओं ने भी इस विषय पर चिन्ता प्रकट करनी प्रारम्भ कर दी। अखिल भारतीय हिंदी प्रकाशक संघ ने इस सम्बन्ध में श्री देवराज के संयोजन में एक उपसमिति का गठन किया। इस समिति द्वारा दिए गए सुझावों का सन् 1960 ई. में एक प्रारूप प्रकाशित किया गया, जिस पर डॉ. नगेन्द्र, रामलाल पुरी, बलराज शास्त्री, इन्द्रनाथ मदान, पं. मु. डाँगरे, कृष्णविकल प्रभृति विद्वानों ने अपनी सम्मति भी भेजी थी। उन्हीं दिनों भारतीय हिंदी परिषद ने भी डॉ. रघुवंश के संयोजन में एक समिति गठित की थी। हजारी प्रसाद द्विवेदी, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, माताप्रसाद गुप्त, हरदेव बाहरी इसके सदस्य थे। इस समिति के सुझावों का प्रारूप सन् 1961 में प्रकाशित हुआ। भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय द्वारा भी इस सम्बन्ध में 1961 ई. में एक विशेष समिति का गठन किया था, जिसने अप्रैल, 1962 में अपनी अन्तिम सिफारिशें प्रस्तुत की। इसके बाद भी समय-समय पर अनेक विद्वान वर्तनी सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करते रहे हैं। ऐसे विद्वानों में प्रमुख हैं–किशोरीदास वाजपेयी, बाबूराम सक्सेना, भोलानाथ तिवारी, राजेन्द्र द्विवेदी, रमेशचन्द्र मेहरोत्रा, सियाराम तिवारी, गोपाल राय, अनंत चौधरी आदि। परन्तु अभी भी अनेक शब्दों के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं हो पाया है। उदाहरणार्थ, भोलानाथ तिवारी 'एक' का बहुवचन रूप 'अनेक' स्वीकार करते हैं तो किशोरीदास वाजपेयी 'अनेक' के साथ अनेकों को भी शुद्ध मानते हैं। प्रायः विद्वान अंग्रेजी International के लिए 'अंतरर्राष्ट्रीय' को शुद्ध मानते हैं, परन्तु लेखन में प्रायः 'अंतर्राष्ट्रीय' वर्तनी का ही प्रयोग किया जा रहा है। यहाँ भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा गठित समिति द्वारा प्रस्तुत और सरकार द्वारा स्वीकृत मानक हिंदी वर्तनी प्रस्तुत की जा रही है–

संयुक्त वर्ण

(क) खड़ी पाई वाले व्यंजन–खड़ी पाई वाले व्यंजनों का संयुक्त रूप खड़ी पाई को हटाकर ही बनाया जाना चाहिए, यथा–

ख्याति, लग्न, विघ्न, व्यास

कच्चा, छज्जा, श्लोक

नगण्य, राष्ट्रीय

कुत्ता, पथ्य, ध्वनि, न्यास, स्वीकृत

प्यास, डिब्बा, सभ्य, रम्य, यक्ष्मा

शय्या, त्र्यम्बक

उल्लेख

(ख) अन्य व्यंजन

1. 'क' और 'फ' के संयुक्ताक्षर–

   संयुक्त, पक्का, दफ्तर, आदि की तरह बनाए जाएँ, न कि संयुक्त पक्का, दफ़्र की तरह।
2. ङ, छ, ट, ठ, ड, ढ, द और ह के संयुक्ताक्षर हल् चिन्ह लगाकर ही बनाए जाएँ यथा–

   (वाङ्मय, लट्ट, बुड्ढा, विद्या, चिह्न, ब्रह्मा आदि।

   वाङमय लट्टू, बुड्ढा, विद्या, चिह्न, ब्रह्मा नहीं)।
3. संयुक्त 'र' के प्रचलित तीनों रूप यथावत रहेंगे, यथा–प्रकार, धर्म, राष्ट्र।
4. 'श्र' का प्रचलित रूप ही मान्य होगा। इसे 'श्र' के रूप में नहीं लिखा जाएगा। त + र के संयुक्त रूप के लिए त्र और त्र दोनों रूपों में से किसी एक के प्रयोग की छूट होगी। किंतु 'क्र' को 'क्र' के रूप में नहीं लिखा जाएगा।

नोट

5. हल् चिह्न युक्त वर्ण से बनने वाले संयुक्ताक्षर के द्वितीय व्यंजन के साथ 'ई' की मात्रा का प्रयोग सम्बन्धित व्यंजन के तत्काल पूर्व ही किया जाएगा, न कि पूरे युग्म से पूर्व, यथा–कुटुटिम, द्‌वितीय, बुद्‌धिमान, चिह्‌नित आदि।

   (कुट्टिम, द्विवतीय, बुद्धिमान, चिहि्नत नहीं)

6. संयुक्त में सुयंक्ताक्षर पुरानी शैली से भी लिखे जा सकेंगे, उदाहरणार्थ– संयुक्त, चिह्न, विद्या, चञ्चल, विद्वान, अङ्क, द्वितीय, बुद्धि आदि।

विभक्ति-चिह्न

1. हिंदी के विभक्ति-चिह्न सभी प्रकार के संज्ञा शब्दों में प्रातिपादिक से पृथक् लिखे जाएँ, जैसे-राम ने, राम को, राम से आदि तथा स्त्री ने स्त्री को, स्त्री से आदि। सर्वनाम शब्दों में ये चिह्न प्रातिपादिक के साथ मिलाकर लिखे जाएँ, जैसे–उसने, उसको, उससे, उसपर आदि।
2. सर्वनामों के साथ यदि दो विभक्ति-चिह्न हों तो उनमें से पहला मिलाकर और दूसरा पृथक् लिखाा जाए, जैसे– उसके लिए, इसमें से।
3. सर्वनाम और विभक्ति के बीच 'ही' 'तक' आदि का निपात हो तो विभक्ति को पृथक् लिखा जाए, जैसे– आप ही के लिए, मुझ तक को।

क्रियापद

संयुक्त क्रियाओं में सभी अंगभूत क्रियाएँ, पृथक्-पृथक्, लिखी जाएँ, जैसे-पड़ा करता है, आ सकता है, जाया करता है, खाया करता है, जा सकता है, कर सकता है, किया करता था, पढ़ा करता था, खेला करेगा, घूमता रहेगा, बढ़ते चले जा रहे हैं आदि।

हाइफ़न

हाइफ़न का विधान स्पष्टता के लिए किया गया है।

1. द्वंद्व समास में पदों के बीच हाइफ़न रखा जाए, जैसे–राम-लक्ष्मण, शिव-पार्वती-संवाद, देख-रेख, चाल-चलन, हँसी-मजाक, लेन-देन, पढ़ना-लिखना, खेलना-कूदना आदि।
2. सा, जैसा आदि से पूर्व हाइफ़न रखा जाए जैसे–तुम-सा, राम-जैसा, चाकू से तीखे।
3. तत्पुरुष समास में हाइफ़न का प्रयोग केवल वहीं किया जाए, जहाँ उसके बिना भ्रम होने की सम्भावना हो, अन्यथा नहीं, जैसे–भू-तत्व। सामान्यत: तत्पुरुष समासों में हाइफ़न लगाने की आवश्यकता नहीं है, जैसे–रामराज्य, राजकुमार, गंगाजल, ग्रामवासी, आत्महत्या आदि। इसी तरह यदि 'अ-नख' (बिना नख का) समस्त पद में हाइफ़न न लगाया जाए तो उसे 'अनख' पढ़े जाने से 'क्रोध' का अर्थ भी निकल सकता है। अ-नति (नम्रता का अभाव); अनति (थोड़ा), अ-परस (जिसे किसी ने न छुआ हो); अपरस (एक चर्म रोग), भू-तत्व (पृथ्वी-तत्व); भूतत्व (भूत होने का भाव) आदि समस्त पदों की भी यही स्थिति है। ये सभी युग्म वर्तनी और अर्थ दोनों दृष्टियों से भिन्न-भिन्न शब्द हैं।
4. कठिन सन्धियों से बचने के लिए भी हाइफ़न का प्रयोग किया जा सकता है, जैसे–द्वि-अक्षर, द्वि-अर्थक आदि।

अव्यय

'तक', 'साथ' आदि अव्यय सदा पृथक् लिखे जाएँ, जैसे-आपके साथ, यहाँ तक। इस नियम को कुछ और उदाहरण देकर स्पष्ट करना आवश्यक हैं हिंदी में आइ, ओह, अहा, ऐ, ही, तो, सो, भी, न, जब, तब, कब, यहाँ, वहाँ, कहाँ, सदा, क्या, श्री, जी, तक, भर, मात्र, साथ, कि, किन्तु, मगर, लेकिन, चाहे, या, अथवा, तथा, यथा, और आदि अनेक

प्रकार के भावों का बोध कराने वाले अव्यय हैं। कुछ अव्ययों के आगे विभक्ति चिह्न भी आते हैं, जैसे–अब से, तब से, यहाँ से, वहाँ से, सदा से आदि। नियम के अनुसार अव्यय सदा पृथक् लिखे जाने चाहिए। जैसे–आप ही, के लिए, मुझ तक को, आपके साथ, गज भर कपड़ा, देश भर, रात भर, दिन भर, वह इतनाभर कर दे, मुझे जाने तो दो, काम भी नहीं बना, पचास रुपए मात्र आदि। सम्मानार्थक 'श्री' और 'जी' अव्यय भी पृथक् लिखे जाएँ, जैसे–श्री राम, कन्हैयालाल जी, महात्मा जी आदि।

समस्त पदों में प्रति, मात्र, यथा आदि पृथक् नहीं लिखे जाएँगे, जैसे–प्रतिदिन, प्रतिशत, मानवमात्र, निमित्तमात्र, यथासमय, यथोचित आदि। यह सर्वविदित नियम है कि समास होने पर समस्त पद एक माना जाता है। अत: उसे पृथक् रूप से न लिखकर एक साथ लिखना ही संगत है।

श्रुतिमूलक 'य', 'व'

1. जहाँ श्रुतिमूलक य, व का प्रयोग विकल्प से होता है, वहाँ न किया जाए, अर्थात किए-किये, नई-नयी, हुआ-हुवा आदि में से पहले (स्वरात्मक) रूपों का ही प्रयोग किया जाए। यह नियम क्रिया, विशेषण, अव्यय आदि सभी रूपों और स्थितियों में लागू माना जाए, जैसे–दिखाए गए, राम के लिए, पुस्तक लिए हुए, नई दिल्ली आदि।
2. जहाँ 'य' श्रुतिमूलक व्याकरणिक परिवर्तन न होकर शब्द का ही मूल तत्त्व हो वहाँ वैकल्पिक श्रुतिमूलक स्वरात्मक परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है, जैसे–स्थायी, अव्ययोभाव, दायित्व आदि। यहाँ स्थाई, अव्यईभाव, दाइत्व नहीं लिखा जाएगा।

अनुस्वार तथा अनुनासिकता-चिह्न (चंद्रबिंदु)

अनुस्वार (ं) और अनुनासिकता चिह्न (ँ) दोनों प्रचलित रहेंगे।

1. संयुक्त व्यंजन के रूप में जहाँ पंचमाक्षर के बाद स्वर्गीय शेष चार वर्णों में से कोई वर्ग हो तो एकरूपता और मुद्रण/लेखन की सुविधा के लिएए अनुस्वार का ही प्रयोग करना चाहिए, जैसे–गंगा, चंचल, ठंडा, संध्या, संपादक आदि में पंचमाक्षर के बाद उसी वर्ग का वर्ण आगे आता है, अत: पंचमाक्षर के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग होगा (गङ्गा, चञ्चल, ठण्डा, सन्ध्या, सम्पादक का नहीं)। यदि पंचमाक्षर के बाद किसी अन्य वर्ग का कोई वर्ण आए अथवा वही पंचमाक्षर दुबारा आए तो पंचमाक्षर अनुस्वार के रूप में परिवर्तित नहीं होगा, जैसे–वाड्मय, अन्य, अन्न, सम्मेलन, सम्मति, चिन्मय, उन्मुख आदि। अत: वांमय, अंय, अंन, संमेलन, संमति, चिंमय, उंमुख आदि रूप ग्राहय नहीं हैं।
2. चन्द्रबिन्दु के बिना प्राय: अर्थ में भ्रम की गुंजाइश रहती है, जैसे-हंस : हँस, अंगना : अँगना आदि में। अतएव ऐसे भ्रम को दूर करने के लिए चन्द्रबिन्दु का प्रयोग अवश्य किया जाना चाहिए। किन्तु जहाँ (विशेषकर शिरोरेखा के ऊपर जुड़ने वाली मात्रा के साथ) चन्द्रबिन्दु के प्रयोग में छपाई आदि में बहुत कठिनाई हो और चन्द्रबिन्दु के स्थान पर बिन्दु (अनुस्वार चिह्न) का प्रयोग किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न न करे, वहाँ चंद्रबिंदु के स्थान पर बिंदु के प्रयोग की छूट दी जा सकती है, जैसे–नहीं, में मैं। कविता आदि के प्रसंग में छन्द की दृष्टि से चन्द्रबिन्दु का यथास्थान अवश्य प्रयोग किया जाए। इसी प्रकार छोटे बच्चों की प्रवेशिकाओं में जहाँ चंद्रबिंदु का उच्चारणा सिखाना अभीष्ट हो, वहाँ उसका यथास्थान सर्वत्र प्रयोग किया जाए, जैसे–कहाँ, हँसना, आँगन, सँवारना, मै ँ, मे ँ, नही ँ आदि।

नोट

स्व-मूल्यांकन

सही विकल्प चुनिए–

1. र कितने रूपों में लिखा जाता है–
   (क) चार (ख) पाँच (ग) दो
2. रोमन में R कितने रूपों में लिखा जाता है–
   (क) चार (ख) दो (ग) तीन
3. अर्धविवृत रूप में लिखी जाने वाली ध्वनि किस भाषा से ली गई है–
   (क) गुरुमुखी से (ख) रोमन से (ग) अंग्रेजी से
4. अरबी फारसी ध्वनियों के लिए नागरी लिपि में क्या व्यवस्था की गई है–
   (क) व्यंजन के नीचे बिंदी लगाकर
   (ख) वर्ग के ऊपर अर्धविक्रम बनाकर
   (ग) हल लगाकर

विदेशी ध्वनियाँ

1. अरबी-फ़ारसी या अंग्रेजीमूलक वे शब्द जो हिंदी के अंग बन चुके हैं और जिनकी विदेशी ध्वनियों का हिंदी ध्वनियों में रूपान्तर हो चुका है, हिंदी रूप में ही स्वीकार किए जा सकते हैं, जैसे-कलम, किला, दाग आदि (क़लम, क़िला, दाग़ नहीं) पर जहाँ उनका शुद्ध विदेशी रूप में प्रयोग अभीष्ट हो अथवा उच्चारणगत भेद बना आवश्यक हो वहाँ उनके हिंदी में प्रचलित रूपों में यथास्थान नुक्ते लगाए जाएँ, जैसे-खाना : ख़ाना, राज : राज़ फन : फ़न। सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि अरबी-फ़ारसी एवं अंग्रेजी, की मुख्यत: पाँच ध्वनियाँ (क़, ख़, ग़, ज़ और फ़) हिंदी में आई हैं जिनमें से दो (क़ और ग़) तो हिंदी उच्चारण (क, ग) में परिवर्तित हो गई हैं, एक (ख़) लगभग हिंदी 'ख' में खपने की प्रक्रिया में है और शेष दो (ज़, फ़) धीरे-धीरे अपना अस्तित्व खोने/बनाये रखने के लिए संघर्षरत हैं।
2. अंग्रेजी के जिन शब्दों में अर्धविवृत 'ओ' ध्वनि का प्रयोग होता है, उनके शुद्ध रूप का हिंदी में प्रयोग अभीष्ट होने पर 'आ' की मात्रा (ा) के ऊपर अर्धचंद्र का प्रयोग किया जाय (ऑ, ॉ) जहाँ तक अंग्रेजी और अन्य विदेशी भाषाओं से नए शब्द ग्रहण करने और उनके देवनागरी लिप्यन्तरण का संबंध है, अगस्त-सितम्बर, 1962 में वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग द्वारा वैज्ञानिक शब्दावली पर आयोजित भाषाविदों की संगोष्ठी में अन्तरर्राष्ट्रीय शब्दावली के देवनागरी लिप्यन्तरण के संबंध में की गई सिफ़ारिश उल्लेखनीय है। उसमें कहा गया है कि अंग्रेजी शब्दों का देवनागरी लिप्यंतरण इतना क्लिष्ट नहीं होना चाहिए कि उसके लिए वर्तमान देवनागरी वर्णों में अनेक नए संकेत-चिह्न लगाने पड़ें। अंग्रेजी शब्दों का देवनागरी लिप्यंतरण मानक अंग्रेजी उच्चाण के अधिक-से-अधिक निकट होना चाहिए। उसमें भारतीय शिक्षित समाज में प्रचलित उच्चारण संबंधी थोड़े-बहुत परिवर्तन किए जा सकते हैं। अन्य भाषाओं के शब्दों के संबंध में भी यही नियम लागू होना चाहिए।
3. हिंदी में कुछ शब्द ऐसे हैं, जिनके दो-दो रूप बराबर चल रहे हैं। विद्वत्समाज में दोनों रूपों की एक-सी मान्यता है। फ़िलहाल इनकी एकरूपता आवश्यक नहीं समझी गई है। कुछ उदाहरण हैं–गरदन/गर्दन, गरमी/गर्मी, बरफ़/बर्फ, बिलकुल/बिल्कुल, सरदी-सर्दी, कुरसी/कुर्सी, भरती-भर्ती, फुरसत/फुर्सत, बरदाश्त/बर्दाश्त, वापिस/वापस, आखीर/आखिर, बरतन/बर्तन, दोबारा/दुबारा, दूकान/दुकान, बीमारी/बिमारी आदि।

नोट

अरबी-फारसी से ग्रहीत ध्वनियाँ जिनमें व्यंजन में नीचे बिंदी लगा दी जाती है उससे न सिर्फ उच्चारण में फर्क आता है बल्कि अर्थ भी बदल जाता है जैसे–ज़लील, जलील। यहाँ पहले का अर्थ नीच अथवा अपमानित से है जबकि दूसरे का अर्थ पूज्य है।

संस्कृतमूलक

तत्सम शब्दों की वर्तनी में सामान्यत: संस्कृत रूप ही रखा जाए, परंतु जिन शब्दों के प्रयोग में हिंदी में हल् चिह्न लुप्त हो चुका है, उनमें उसको फिर से लगाने का यत्न न किया जाए जैसे–'महान', 'विद्वान' आदि के 'न' में।

स्वन-परिवर्तन

संस्कृतमूलक तत्सम शब्दों की वर्तनी को ज्यों-का-त्यों ग्रहण किया जाए। अत: 'ब्रह्मा', को 'ब्रम्हा', 'चिह्न' को 'चिन्ह', 'उऋण' को 'उरिण' में बदलना उचित नहीं होगा। इसी प्रकार ग्रहीत, दृष्टव्य, प्रदर्शिनी, अत्याधिक, अनाधिकार आदि अशुद्ध प्रयोग ग्राह्य नहीं हैं। इनके स्थान पर क्रमश: गृहीत, द्रष्टव्य, प्रदर्शनी, अत्यधिक, अनधिकार ही लिखना चाहिए। जिन तत्सम शब्दों में तीन व्यंजनों के संयोग की स्थिति में एक द्वित्वमूलक व्यंजन लुप्त हो गया है, उसे न लिखने की छूट है, जैसे–अर्द्ध/अर्ध, उज्ज्वल/उज्वल, तत्त्व/तत्व आदि।

विसर्ग

संस्कृत के जिन शब्दों में विसर्ग का प्रयोग होता है, वे यदि तत्सम रूप में प्रयुक्त हों तो विसर्ग का प्रयोग अवश्य किया जाए, जैसे–'दु:खानुभूति' में। यदि उस शब्द के तद्भव रूप में विसर्ग का लोप हो चुका है तो उस रूप में विसर्ग के बिना भी काम चल जाएगा, जैसे–'दुख-सुख के साथी'।

'ऐ' 'औ' का प्रयोग

हिंदी में (ै), औ (ौ) का प्रयोग दो प्रकार की ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए होता है। पहले प्रकार की ध्वनियाँ 'है', 'और' आदि में हैं तथा दूसरे प्रकार की 'गवैया', 'कौवा' आदि में। इन दोनों प्रकार की ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए इन्हीं चिह्नों (ऐ, ै: औ, ौ) का प्रयोग किया जाए। 'गवय्या', 'कव्वा' आदि संशोधनों की आवश्यकता नहीं है।

पूर्वकालिक प्रत्यय 'कर' क्रिया से मिलाकर लिखा जाए, जैसे–मिलाकर, खा-पीकर, रो-रोकर आदि।

अन्य नियम

1. शिरोरेखा का प्रयोग प्रचलित रहेगा।
2. फुलस्टॉप को छोड़कर शेष विराम चिह्न वही ग्रहण कर लिए जाएँ, जो अंग्रेजी में प्रचलित हैं, यथा–
   (- –, ; ? ! : =)
   (विसर्ग के चिह्न को ही कोलन का चिह्न मान लिया जाए)
3. पूर्ण विराम के लिए खड़ी पाई (।) का प्रयोग किया जाए।
   हिंदी के संख्यात्मक शब्दों की मानक वर्तनी इस प्रकार है–
   एक से सौ तक संख्यावाचक शब्दों का मानक रूप

एक	दो	तीन	चार	पाँच	छह	सात	आठ	नौ	दस
ग्यारह	बारह	तेरह	चौदह	पंद्रह	सोलह	सत्रह	अठारह	उन्नीस	बीस
इक्कीस	बाईस	तेईस	चौबीस	पच्चीस	छब्बीस	सत्ताईस	अट्ठाईस	उनतीस	तीस

नोट

इकतीस	बत्तीस	तैंतीस	चौंतीस	पैंतीस	छत्तीस	सैंतीस	अड़तीस	उनतालीस	चालीस
इकतालीस	बयालीस	तैंतालीस	चवालीस	पैंतालीस	छियालीस	सैंतालीस	अड़तालीस	उनचास	पचास
इक्यावन	बावन	तिरपन	चौवन	पचपन	छप्पन	सतावन	अठावन	उनसठ	साठ
इकसठ	बासठ	तिरसठ	चौंसठ	पैंसठ	छियासठ	सड़सठ	अड़सठ	उनहत्तर	सत्तर
इकहत्तर	बहत्तर	तिहत्तर	चौहत्तर	पचहत्तर	छिहत्तर	सतहत्तर	अठहत्तर	उनासी	अस्सी
इक्यासी	बयासी	तिरासी	चौरासी	पचासी	छियासी	सतासी	अठासी	नवासी	नब्बे
इक्यनवे	बानवे	तिरानवे	चौरानवे	पचानवे	छियानवे	सतावने	अठानवे	निन्यानवे	सौ

केन्द्रीय हिंदी निदेशालय द्वारा प्रस्तुत मानक रूप बाध्यकारी नहीं है और इनसे भिन्न सभी रूपों को निश्चित रूप से अमानक नहीं का जा सकता। परन्तु यह भी सत्य है कि धीरे-धीरे 'मानक' के रूप में इनकी मान्यता बढ़ती जा रही है।

30.4 सारांश

आधुनिक काल में देवनागरी लिपि समस्त हिंदी भाषी प्रदेशों में और भारत के कुछ अन्य प्रांतों में भी प्रमुख की जाती है। किसी भी भाषा में वर्तनी की अनेकरूपता को लेखन का सबसे बड़ा दोष माना जा सकता है। इसके कारण भाषा का अध्ययन जटिल हो जाता है, उसकी वैज्ञानिकता एवं शुद्धता प्रभावित होती है तथा अर्थ बोध सहज नहीं रह पाता। मानक उच्चारणानुरूप लेखन-विधान ही वर्तनी है, परन्तु कभी-कभी उच्चारण की मानाकता पर ही प्रश्नचिन्ह लग जाता है।

स्पष्ट है कि वर्तनी की अनेकरूपता से कोई भी भाषा मुक्त नहीं है और यद्यपि किसी भी भाषा में वर्तनी की अनेकरूपता को श्रेयस्कर नहीं माना जा सकता, परन्तु यह अस्वाभाविक बिल्कुल नहीं है। आवश्यकता मात्र इस बात की है जहाँ तक सम्भव हो, इस अनेकरूपता को दूर करने का प्रयास किया जाए।

देवनागरी लिपि के दोष

1. शिरोरेखा सजवट की चीज है इसका प्रयोग अनावश्यक है।
2. कई वर्णों के रूप में साम्य है—ख-रव, ध-घ, भ-म।
3. संयुक्त व्यंजनों—क्ष, त्र, ज्ञ, श्र का प्रयोग अनावश्यक है।
4. कुछ व्यंजन अनुक्रमों के संयुक्त रूप अनावश्यक है—त्त, क्त, द्य, द्य, ह्र, स्र, द्व, द्ध, ह्व।
5. कुछ वर्णों के दो रूप प्रचलित हैं— अ-त्र्प, छ-छ, झ-भ्क, ण-रा़ा, क्ष-छवें।
6. 'र' के चार रूप हैं— र, और ज' । यह अवैज्ञानिक है।
7. 'अ' को छोड़कर शेष स्वरों के लिए दो चिह्म; जैसे— आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ-ा, ि, ी, ु, ू, े, ै, ओ, औ होना दोष ना हैं।
8. नागरी में कई भारतीय और विदेशी भाषाओं को अनेक ध्वनियों के लिए वर्णों का अभाव है।
9. इसमें न्ह्, म्ह्, ल्ह् के लिए स्वतन्त्र चिह्नों का अभाव है।
10. ऋ और ष का प्रयोग अनावश्यक है।

नागरी के इन दोषों तथा अन्य कठिनाइयों को दूर करने के लिए अर्थात् नागरी के मानकीकरण के लिए समय-समय पर विद्वान करते रहे हैं,

प्रयाग की लिपि सुधार समिति ने सन् 1914 में इस दृष्टि से कुछ सुझाव दिए थे, जिनमें प्रमुख हैं—

नोट

1. संयुक्ताक्षर में द्वितीय 'र' सामान्य रूप से लिखा जाए जैसे– प्र, त्र, ट्र
2. इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ के स्थान पर अि, अी, अु, अू, अे, अै को मान्यता दी जाए।
3. त्र्र, भ्क, रा के स्थान पर अ, झ, ण को मान्ययता मिले। 'क्त' और 'श' के स्थान पर ल तथा श का प्रयोग हो।
4. म और घ के स्थान पर (म और घ से पृथक् करने के लिए) भ और ध का प्रयोग हो।
5. ह्रस्व 'ए' और ह्रस्व 'ओ' के लिए निम्न चिन्ह स्वीकार किए जाएँ– अे॑, ओ॑।

1947 में उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा गठित आचार्य नरेन्द्रदेव समिति द्वारा प्रस्तुत मुख्य सुझाव निम्नलिखित हैं–

1. क्ष, त्र, ज्ञ को वर्णमाला से हटा दिया जाए।
2. 'इ' की मात्रा वर्ण के आगे आधा करके प्रयोग की जाए, जैसे–केग्सी।
3. 'र' को सर्वत्र 'र' लिखा जाए–प्रेम, त्रुटि (प्रेम, त्रुटि)।
4. 'ळ' को वर्णमाला में स्थान मिले।

30.5 शब्दकोश

1. **अर्थविवृत–** आधा खुला हुआ,
2. **प्रतिपादिक–** निर्धारित, निश्चित
3. **मानकीकरण–** मानक रूप स्थिर करना
4. **निपात–** पतन, अध:पतन, विनाश

30.6 अभ्यास-प्रश्न

1. देवनागरी लिपि के दोष-सुधार हेतु दिए गए सुझावों पर प्रकाश डालिए।
2. देवनागरी लिपि के वर्तमान मानक रूप का विस्तार से उल्लेख कीजिए।
3. देवनागरी लिपि के दोषों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन

1. (क) 2. (ख) 3. (ग) 4. (क)

30.7 संदर्भ पुस्तकें

1. *भाषा विज्ञान–* डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, किताब महल, इलाहाबाद
2. *हिंदी भाषा का संरचनात्मक अध्ययन–* डॉ॰ सत्यव्रत, मिलिंद प्रकाशन, हैदराबाद
3. *भाषा और भाषा विज्ञान–* गरिमा श्रीवास्तव, संजय प्रकाशन, दिल्ली
4. *भाषा विज्ञान: हिंदी भाषा और लिपि–* डॉ॰ रामकिशोर शर्मा, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद
5. *भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा–* नरेश मिश्र, संजय प्रकाशन, दिल्ली